श्री अरविंद-साहित्य
खण्ड 13

पुनर्जन्म और क्रमविकास

REBIRTH AND EVOLUTION

श्री अरविंद

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
19[illegible]2

अनुवादक :
श्यामसुन्दर झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण, वर्ष 19[illegible]2

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु॰ 18-25 Price Rs..18-25

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस,
श्री अरविंद आश्रम,
पांडिचेरी-2.

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य-में भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'पुनर्जन्म और क्रमविकास' पुस्तक श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके मूल लेखक श्री अरविंद, अनुवादक श्यामसुन्दर झुनझुनवाला और पुनरीक्षक रवींद्र हैं। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

(केन्द्रीय हिंदी निदेशालय)

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,

नयी दिल्ली।

पुनर्जन्म और क्रमविकास

(1)

पुनर्जन्मकी समस्या

पृष्ठ 1

(2)

क्रमविकास

पृष्ठ 225

(3)

पृथ्वीपर अतिमानसिक आविर्भाव

पृष्ठ 291

(4)

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

पृष्ठ 368

पुनर्जन्मकी समस्या

प्रकाशकका वक्तव्य

यह पुस्तक तीन खण्डोंमें है। मूल लेख पहले 'आर्य' पत्रिकामें छपे थे। पहले खण्डके लेख 1915 में नवम्बर और दिसम्बरमें, फिर 1919 में मार्चसे दिसम्बरतकके अंकोंमें आये थे। स्वतंत्र लेख होनेपर भी इनका धाराक्रम स्पष्ट है।

दूसरे खण्डके लेख 1920 में अगस्तसे अक्तूबरतकमें प्रकाशित हुए थे और तीसरे खण्डके लेख 1920 के नवम्बर-दिसम्बरमें और 1921 के जनवरी महीनेमें। यह लेख-माला अधूरी रह गयी थी और बादमें इसको पूरा करनेका विचार भी हुआ था, किन्तु कुछ हल्के संशोधनोंके अलावा और कुछ नहीं हुआ। संशोधन इस पुस्तकमें समाविष्ट हैं।

अन्तमें परिशिष्टके रूपमें श्री अरविंदके पत्र दिये गये हैं। पत्रोंमें जीवकी मृत्युके बादकी यात्रापर भी प्रकाश मिलता है।

विषय सूची

पुनर्जन्मकी समस्या

पहला खण्ड

पुनर्जन्म और कर्म

1. पुनर्जन्म 1
2. पुन: शरीरधारी अन्तरात्मा 12
3. पुनर्जन्म, क्रमविकास, आनुवंशिकता 19
4. पुनर्जन्म और आन्तरिक विकासक्रम 27
5. पुनर्जन्मका महत्व 37
6. ऊर्ध्वारोही एकत्व 50
7. संवृति और क्रमविकास 60
8. कर्म 73
9. कर्म और स्वतंत्रता 81
10. कर्म, इच्छा और परिणाम 95
11. पुनर्जन्म और कर्म 102
12. कर्म और न्याय 111

दूसरा खण्ड

कर्म-रेखाएँ

1. आधार 123
2. पार्थिव नियम 130
3. मन:प्रकृति और कर्म-विधान 142

तीसरा खण्ड

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

1. कर्मकी उच्चतर रेखाएँ 159
2. सत्यकी उच्चतर रेखाएँ 166

परिशिष्ट

श्री अरविंदके पत्र . 175

पहला खण्ड

पुनर्जन्म और कर्म

एक

पुनर्जन्म

पुनर्जन्मका मत लगभग उतना ही पुरातन है जितना कि स्वयं विचार-चिन्तन, और उसकी उत्पत्ति अज्ञात है। अपनी-अपनी पूर्वमान्यताओंके अनुसार हम उसे या तो प्राचीन मनोवैज्ञानिक अनुभवका फल मान सकते हैं जिसका सदैव पुनर्नवीकरण किया जा सकता और जिसकी सत्यताका परीक्षण किया जा सकता है और फलतः वह सत्य रहता है, या हम उसे दार्शनिक मतवाद और विचक्षण कल्पना कह कर बिदा कर दे सकते हैं : परन्तु इन दोनों ही दशाओंमें यह सम्भावना रहती है कि जैसे यह सिद्धान्त, हम जहाँ तक देख सकते हैं, लगभग मानवीय विचार-चिन्तनके जितना पुरातन है, वैसे ही वह तब तक टिका भी रहे जब तक मानवप्राणियोंकी विचारक्रिया चलती रहेगी।

पूर्वकालमें यह सिद्धान्त यूरोपमें "ट्रांसमाइग्रेशन" (देहान्तरण) के अनोखे नामसे चलता था। इससे पाश्चात्य मनके सामने पाइथागोरसके अन्तरात्माका मनमानी यात्रा करनेवाले पक्षीकी तरह दिव्य मानवीय रूपमेंसे निकलकर गिनी-पिग या गदहे-के शरीरमें चले जानेका विनोदमय चित्र उपस्थित होता था। इस सिद्धान्तका दार्शनिक आदर यूनानके प्रशंसनीय किन्तु फिर भी दुःसाध्य शब्द "मेटमसाइकोसिस" में हुआ जिसका अर्थ उसी चैत्य व्यक्तिके द्वारा एक नये शरीरमें अन्तरात्माका अनुप्रवेशन होता है। यूनानी भाषा विचार और शब्दका सुखद गठबंधन करनेमें सदा भाग्यवती रही है और इससे अधिक अच्छा शब्द नहीं मिल सकता। परन्तु अंग्रेजीमें जबर्दस्ती घुसानेसे वह बस एक लम्बा और पंडिताऊ शब्द बनकर रह जाता है, उसके सूक्ष्म यूनानी भावकी कोई स्मृति नहीं रहती और उसे छोड़ देना पड़ता है। अब "रीइनकार्नेशन" (पुनर्देहधारण) का चलन है, परन्तु इस शब्दमें जो भाव है वह तथ्यके प्रति स्थूल या बाह्य दृष्टिकी ओर झुकता है और बहुत सारे प्रश्न खड़े कर देता है। मैं "रिबर्थ" शब्दको पसन्द करता हूं, क्योंकि वह संस्कृतके विस्तीर्ण, वर्णहीन, परन्तु पर्याप्त शब्द "पुनर्जन्म" के भावको व्यक्त करता है और जो मूलभूत भाव इस सिद्धान्तका सार-तत्त्व और प्राण है उसके अलावा किसी चीजके साथ हमें नहीं बांधता।

आधुनिक मनके लिये पुनर्जन्म एक कल्पना और मतसे अधिक कुछ नही है; वह कभी भी न तो आधुनिक विज्ञानकी पद्धतियोंसे प्रमाणित हुआ है, न वैज्ञानिक संस्कृति द्वारा गठित नये आलोचक मनको उसका संतोषजनक प्रमाण ही मिला है। किन्तु

वह निष्प्रमाणित भी नहीं हुआ है, कारण, आधुनिक विज्ञान न तो मानव-अन्तरात्माके पूर्वजीवनके बारेमें कुछ जानता है, न उत्तरजीवनके बारेमें, वस्तुतः वह तो अन्तरात्माके बारेमें कुछ भी नहीं जानता और न जान ही सकता है, उसका क्षेत्र मांस, मस्तिष्क और स्नायु भ्रूण और उसकी रचना तथा विकासतक ही सीमित है। फिर, आधुनिक आलोचक-के पास कोई ऐसा साधन भी नहीं जिससे पुनर्जन्मकी सत्यता या असत्यता स्थापित की जा सके। वस्तुतः आधुनिक आलोचना, सूक्ष्म अनुसंधान और सावधानीभरी सुनिश्चितताका सारा आडम्बर करके भी, बहुत निपुण सत्यान्वेषी नहीं; सन्निकट भौतिक प्रदेशके बाहर वह असहाय सी रहती है। वह तथ्योंको खोज निकालनेमें तो कुशल है, परन्तु जहाँ वे तथ्य अपनेसे ही अपने निष्कर्षोंको हमारे सामने सतहपर लाकर रख देते हों उससे भिन्न स्थलोंमें उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह तथ्योंके आधारपर निकाले गये उन सर्वसामान्य निष्कर्षोंके बारेमें निश्चित हो सके जिन्हें वह एक पीढ़ीमें इतने विश्वासके साथ घोषित करती है और दूसरीमें बिल्कुल खंडित। उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे वह निश्चयके साथ किसी संदिग्ध ऐतिहासिक प्रतिपादनकी सत्यता या असत्यताका पता लगा सके; एक शताब्दीके विवादके बाद भी वह ईसा मसीहके अस्तित्वके बारेमें हाँ या ना नहीं कह सकी है। तो वह इस पुनर्जन्म-जैसे विषयपर कैसे विचार कर सकती है जो कि मनोविज्ञानकी वस्तु है और जिसका निर्णय भौतिककी अपेक्षा मनोवैज्ञानिक प्रमाणसे ही करना होगा ?

समर्थकों और विरोधियों द्वारा सामान्यतः जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे प्रायः काफी निरर्थक होती हैं। वे, अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी, जगत्‌की किसी भी चीजको प्रमाणित या निष्प्रमाणित करनेके लिये अपर्याप्त ही होती हैं। उदाहरणके लिये, पुनर्जन्मको अप्रमाणित करनेके लिये जिस तर्कको प्रायः जीतके भावसे सामने रखा जाता है वह यह है कि हमें अपने विगत जन्मोंकी याद नहीं है, अतः विगत जीवन थे ही नहीं। यह देखकर हँसी सी आती है कि ऐसे तर्कको वे लोग गंभीरतासे उपस्थित करते हैं जो यह कल्पना करते हैं कि वे बौद्धिक शिशुओंकी अपेक्षा अधिक कुछ हैं। यह तर्क मनोवैज्ञानिक आधारपर आगे बढ़ता है, फिर भी हमारी सामान्य या स्थूल स्मृति-की प्रकृतिकी ही अवहेलना कर देता है जब कि यह स्मृति ही वह एकमात्र वस्तु है जिसका उपयोग प्राकृत मनुष्य कर सकता है। हमारे वर्तमान जीवनके बारे में कोई संदेह नहीं, किन्तु उसकी भी हमें कितनी बातें याद हैं? जो समीप है उसके लिये हमारी स्मृति सामान्यतः अच्छी रहती है, पर ज्यों-ज्यों उसके विषय दूर हटते जाते हैं त्यों-त्यों वह अस्पष्ट या कम व्यापक होती जाती है, और भी दूर होनेपर वह केवल कुछ प्रमुख बिन्दुओं-को ही पकड़ पाती है और अन्तमें, हमारे जीवनके आरम्भिक कालके विषयमें निरी

रिक्ततामें जा पड़ती है। क्या हमें मांकी छातीपर शिशु-रूपमें रहनेकी सरल अवस्थाकी, सरल वास्तविकताकी स्मृति है? और फिर भी वह शैशवावस्था, बौद्ध मतके अतिरिक्त अन्य सभी मतोंके अनुसार, इसी जीवनका अंग और इसी व्यक्तिकी अवस्था थी जिसे उसकी याद वैसे ही नहीं है जैसे उसे अपने विगत जीवनकी याद नहीं हो पाती। तो भी हम यह माँग करते हैं कि यह स्थूल स्मृति, मनुष्यके असंस्कृत मस्तिष्ककी यह स्मृति जिसे हमारे शैशवका स्मरण नहीं और जो हमारे शैशवके बादके वर्षोंकी इतनी सारी बातें खो चुकी है, फिर भी यह याद रखे कि शैशवावस्थासे पहले, जन्मसे पहले, स्वयं उसकी रचनासे पहले क्या था। और यदि वह यह याद नहीं रख सकती, तो हम घोषणा करेंगे, "निष्प्रमाणित हो गया तुम्हारा पुनर्देहधारणका सिद्धान्त।" हमारी सामान्य मानवीय युक्तिबुद्धिकी अकलमन्द बेअकली इस प्रकारकी तर्कणामें और आगे न जा सकी। स्पष्ट है कि हमें यदि अपने विगत जीवनोंको याद करना है, चाहे वास्तविकता और स्थितिके रूपमें, चाहे उनकी घटनाओं और प्रतिमाओंके रूपमें, तो यह केवल चैत्यिक स्मृतिके जगनेसे ही हो सकेगा जो स्थूलकी सीमाओंको लांघकर स्थूल सत्तापर स्थूल मस्तिष्क-व्यापारकी डाली हुई छापोंसे भिन्न छापोंको फिरसे जीवित करेगी।

यदि हमें विगत जीवनोंके बारेमें स्थूल स्मृति या ऐसी चैत्यिक जागृतिके प्रमाण मिल भी जायँ, तो भी इससे सन्देह है कि यह मत पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रमाणित माना जायगा। आजकल हम ऐसे बहुतसे उदाहरणोंके बारेमें सुनते हैं जो बड़े विश्वासके साथ उपस्थित किये जाते हैं, परन्तु उनके साथ उन प्रमाणोंकी सामग्री नहीं होती जिनकी सत्यता जाँच ली गयी हो और जिनकी समीक्षा उत्तरदायित्वके भावसे की गयी हो, जब कि उस सामग्रीसे ही चैत्यिक गवेषणाके परिणामोंको गुरुत्व मिलता है। जबतक वे प्रमाण्यके दृढ़ आधारपर न खड़े हों, सन्देहवादी उन्हें मनगढ़न्त कल्पना कहकर सदा आपत्ति उठा सकता है। यदि इस तरह कही गयी बातोंके सत्यकी परीक्षा हो भी जाय, तो भी यह कहनेका अवकाश रहता है कि वे यथार्थतः स्मृतियाँ नहीं हैं, प्रत्युत कहनेवालेको सामान्य स्थूल साधनों द्वारा ज्ञात थीं या दूसरों द्वारा सुझायी गयी थीं और उसने उन्हें या तो चेतन प्रवंचना द्वारा या आत्म-प्रवंचना और आत्म-विभ्रमकी किसी प्रक्रिया द्वारा पिछले जन्मोंकी फिरसे साकार हो उठी निर्दोष स्मृतिमें परिवर्तित कर दिया है। और यदि यह भी मान लें कि प्रमाण इतने सबल और निर्दोष हैं कि इन परिचित उपायोंसे उनसे पीछा न छुड़ाया जा सके, तो भी यह सम्भव रहता है कि उन्हें पुनर्जन्मके प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय; एक ही तथ्य-समुदायके लिये मन सैकड़ों सैद्धान्तिक व्याख्याएँ खोज सकता है। आधुनिक दृष्टि और अनुसंधानने सभी चैत्यिक सिद्धान्तों और सामान्यीकरणोंपर इस सन्देहकी छाया डाल दी है।

उदाहरणके लिये हम जानते हैं कि स्वचालित लेखन या मृतकोंके सन्देशोंके व्यापार-को लेकर यह विवाद उठता है कि वह व्यापार वाहरसे, विदेह मनोंसे आता है या कि अन्दरसे, अवगूढ़ चेतनासे; वह सन्देश-संचार शरीर-मुक्त व्यक्तित्वसे सचमुच और उसी समय आता है या कि वह विचारके पारेंद्रिय संक्रमणकी किसी ऐसी छापका सतहपर उठना है जो उस समय जीवित रहते मनुष्यके मनमेंसे आयी थी परन्तु हमारे अवगूढ़ मनके अन्दर डूबी पड़ी थी। पिछले जन्मोंकी साकार होनेवाली स्मृतिकी साखीके विरूद्ध भी इसी प्रकारके सन्देह किये जा सकते हैं। यह दावा किया जा सकता है कि इनसे हमारे अन्दर एक निश्चित रहस्यमयी क्षमता, एक ऐसी चेतना प्रमाणित होती है जिसे वीती घटनाओंआ कोई अव्याख्येय ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु ये घटनाएँ हमसे भिन्न अन्य व्यक्तित्वोंसे सम्वद्ध होती हैं और उनके वारेमें हमारी यह मान्यता कि वे विगत जीवनोंके हमारे ही व्यक्तित्वकी घटनाएँ हैं, एक कल्पना है, विभ्रम है, या फिर मानसिक भूल-भ्रान्तिके निःसन्दिग्ध व्यापारोंमेंसे उस दशाका उदाहरण है जिसमें हम अपनी देखी हुई उन वस्तुओं और अनुभूतियोंको जो हमारी अपनी नहीं होतीं अपनी ही मान लेते हैं। ऐसीसाखियोंके संग्रहसे बहुत कुछ प्रमाणित होगा, किन्तु संशयात्माके लिए तो पुनर्जन्म तो प्रमाणित नहीं हो सकेगा। यदि ये साखियाँ पर्याप्त रूपमें प्रचुर, यथातथ्य, भरपूर और अन्तरंग हों तो ये एक/ऐसा वातावरण अवश्य रच देंगी जिसके कारण अन्तमें मानवजाति इसे एक नैतिक निश्चितिके रूपमें सर्वसामान्य स्वीकृति दे देगी। परन्तु प्रमाण एक भिन्न वस्तु है।

आखिरकार, जिन चीजोंको हम सच्ची मानते हैं उनमेंसे अधिकांश यथार्थमें नैतिक निश्चितियोंसे अधिक कुछ नहीं होतीं। हमारा गहरेसे गहरा अडिग विश्वास है कि पृथ्वी अपनी ही धुरीपर घूमती है, परन्तु, जैसा कि एक बड़े फ्रेन्च गणितज्ञने बताया है, यह तथ्य प्रमाणित नहीं हुआ है; यह केवल एक सिद्धान्त है जो कुछ दृश्यमान् तथ्यों की अच्छी तरह व्याख्या करता है, इससे अधिक कुछ नहीं। कौन जानता है कि इसका स्थान इस या किसी अन्य शताब्दीमें इससे एक अधिक अच्छा या अधिक वुरा मत न ले लेगा? सारे दृश्य खगोलीय व्यापारोंकी व्याख्या गैलीलियोके आनेके पहले ग्रहों-के और न जाने किन-किन अन्य सिद्धान्तों द्वारा भली भाँति होती थी, फिर गैलीलियो-का अपने "फिर भी यह गतिशील है" के सिद्धान्तको लेकर आना हुआ जिसने पोप और वाइविलको, विद्वानोंके विज्ञान और तर्कको निर्भूल माननेकी भावनाको डिगा दिया। यह वात निश्चित-सी है कि यदि हमारी मनोवुद्धि न्यूटनके पूर्ववर्ती प्रदर्शनों द्वारा पूर्वग्रह और पक्षपात से इतनी प्रभावित न होती तो गुरुत्वाकर्षणकी वास्तविकताओं-की व्याख्याके लिये प्रशंसनीय सिद्धान्तोंका आविष्कार किया जा सकता था[1]। यह

[1] यह आइंस्टीनके सिद्धान्तोंके आनेसे पहले लिखा गया था।

हमारी बुद्धिका चिर-जटिल और अन्तर्निहित महारोग है; कारण, वह कुछ भी नहीं जाननेसे शुरू करती है और उसे व्यवहार करना होता है अनन्त सम्भावनाओंसे, और जबतक हम यह नहीं जान लेते कि तथ्योंके किसी समुदायके पीछे वस्तुतः क्या है तबतक उन तथ्योंकी सम्भाव्य व्याख्याओंका अन्त नहीं आता। अन्तमें हम वस्तुतः केवल उसे ही जानते हैं जिसे कि हम देखते हैं, लेकिन वहाँ भी कोई सन्देह भूतकी तरह पीछे पड़ा रहता है; उदाहरणके लिये, हरा हरा है और सफेद सफेद, किन्तु यह मालूम होता है कि रंग रंग नहीं, वरन् और कुछ है जिससे रंगकी प्रतीति होती है। दृश्य वास्तविकतासे परेके लिये हमें यथोचित तार्किक सन्तोष, प्रमुख सम्भावना और नैतिक निश्चितिसे तुष्ट रहना होगा,—कमसे कम तबतक जबतक कि हममें यह देखनेकी क्षमता न आ जाय कि हममें इन्द्रियाश्रित बुद्धिसे उच्चतर क्षमताएँ भी हैं जो विकसित होनेकी प्रतीक्षा कर रही हैं और जिनके द्वारा हम श्रेष्ठतर निश्चितियोंतक पहुँच सकते हैं।

संशयात्माके सामने हम पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी ओरसे कोई ऐसी प्रबल सम्भावना या कोई ऐसी निश्चितता प्रतिपादित नहीं कर सकते। अभी तक जो भी बाह्य साक्ष्य प्राप्त है वह बिलकुल ही प्रारम्भिक है। पाइथागोरस महानतम मुनियोंमेंसे थे, परन्तु उनका यह कथन कि वह ट्रवायमें लड़नेवाले एंटिनोरिड नामक व्यक्ति थे और एत्रियसके कनिष्ठ पुत्र द्वारा मारे गये थे दावा मात्र है, और उनका ट्रवायकी ढालको पहचानना किसी ऐसे व्यक्तिको विश्वास न दिला सकेगा जो पहलेसे ही विश्वास न करता हो। अभीतकके आधुनिक साक्ष्य पाइथागोरसके प्रमाणकी अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक नहीं हैं। बाह्य प्रमाणकी अनुपस्थितिमें, जब कि बाह्य प्रमाण ही हमारी जड़-शासित संवेदनात्मक बुद्धिके लिये एकमात्र निर्णयात्मक प्रमाण है, हमें पुनर्जन्मवादियोंकी यह युक्ति मिलती है कि अबतक उपस्थित किये गये किसी भी मतकी अपेक्षा उनका मत सारे तथ्योंकी व्याख्या अधिक अच्छी तरह करता है। यह दावा ठीक है, परन्तु यह किसी भी प्रकारकी निश्चितता नहीं उत्पन्न करता। पुनर्जन्मका मत, कर्मके सिद्धान्त-के साथ मिलकर, हमें चीजोंकी एक सरल सममित, सुन्दर व्याख्या देता है; परन्तु, इसी तरह, ग्रहोंके सिद्धान्तने भी हमें कभी व्योमकी गतिविधिकी एक सरल, सममित, सुन्दर व्याख्या दी थी। फिर भी हमें अभी एक बिलकुल ही अलग व्याख्या मिली है जो कहीं अधिक जटिल है, अपनी सममिततामें कहीं अधिक गोथिक शैलीवाली और डाँवाडोल है, अस्तव्यस्त अनन्तताओंमेंसे विकसित एक अव्याख्येय व्यवस्था है, और उसे हम इस विषयका सत्य मानते हैं। किन्तु फिर भी, यदि हम विचार मात्र करें, तो शायद देखेंगे कि यह भी समूचा सत्य नहीं है; पर्देके पीछे इससे बहुत अधिक ऐसा कुछ है जिसे हम अभीतक नहीं खोज सके हैं। अतः पुनर्शरीरधारणके सिद्धान्तकी

सरलता, सममितता, सुन्दरता और सन्तोषकारिता उसकी निश्चितताका परवाना नहीं।

जब हम ब्योरोंमें जाते हैं तो अनिश्चितता बढ़ जाती है। उदाहरणके लिये, पुनर्जन्म-से प्रतिभा, अन्तर्जात क्षमता और कितने ही अन्य मनोवैज्ञानिक रहस्योंके व्यापारों-की व्याख्या होती है। परन्तु तब विज्ञान अपनी आनुवंशिकताकी सर्वपर्याप्त व्याख्या लेकर प्रवेश करता है,—किन्तु पुनर्जन्मकी भाँति , यह व्याख्या भी केवल उन्हींके लिये सर्वपर्याप्त होती है जिन्हें उसपर पहलेसे विश्वास हो। इसमें सन्देह नहीं कि आनुवंशिकताके दावोंको अनुचित रूपसे बहुत ही बढ़ा-चढ़ा दिया गया है। वह हमारी शारीरिक रचना, हमारी प्रकृति, हमारी प्रणिक विशेषताओंके सब कुछकी तो नहीं, बहुत कुछकी ही व्याख्या करनेमें सफल हुई है। उसका प्रतिभा, अन्तर्जात क्षमता और उच्च प्रकारके अन्य मनोवैज्ञनिक व्यापारोंकी व्याख्या करनेका प्रयत्न मिथ्याभिमानी वैफल्य है। परन्तु इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे मनःस्वरूपमें जो कुछ मूलभूत है उसका विज्ञानको पता नहीं हो,—वैसे ही जैसे कि आदिकालीन खगोल-वेत्ताओंको उन नक्षत्रोंकी रचना और विधानका ज्ञान नहींके बराबर था जिनकी गति-विधिका वे काफी ठीक-ठीक अवलोकन कर सके थे। ऐसा नहीं लगता कि विज्ञान जब अधिक और ज्यादा अच्छी तरह जान लेगा तब भी वह इन चीजोंकी व्याख्या आनु-वंशिकतासे कर सकेगा; परन्तु वैज्ञानिक यह तर्क भली भाँति कर सकता है कि वह अभी तो अपने अनुसंधानोंके आरम्भमें ही है, उसके जिस सामान्य सिद्धान्तोंने इतनी चीजोंकी व्याख्या कर दी है वह सबकी व्याख्या भी भली भाँति कर सकेगा और, चाहे कुछ भी हो, प्रमाण्य तथ्योंके साधनकी दृष्टिसे उसकी प्राक्कल्पनाको पुनर्शरीरधारणके सिद्धान्तकी तुलनामें अधिक अच्छा आरम्भ मिला है।

तो भी, यहाँतक पुनर्शरीरधारणवादीका तर्क अच्छी और आदरणीय युक्ति है, भले ही निर्णयात्मक नहीं। परन्तु एक दूसरी युक्ति जो अधिक जोर-शोरसे उपस्थित की जाती है,—कमसे कम, जिस रूपमें वह सामान्यतः अपक्व मनको आकर्षित करनेके लिये उपस्थित की जाती है उसमें,—वह मुझे उस विरोधी युक्तिके बराबर लगती है जो स्मृतिके अभावके सहारे पेश की जाती है। यह वह नैतिक युक्ति है जिससे जगत्के प्रति ईश्वरके व्यवहार या जगत्के अपने-आपके प्रति व्यवहारका समर्थन करनेका प्रयत्न किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जगत्के लिये अवश्य ही कोई नैतिक शासन होना चाहिए या, कमसे कम, विश्वमें पुण्यके बदले पुरस्कारका और पापके बदले दण्डका कोई विधान होना चाहिए। परन्तु हमारी संभ्रमित और अस्तव्यस्त पृथ्वीपर ऐसा कोई दण्ड या पुरस्कारका विधान नहीं दिखायी देता। हम देखते हैं कि

भला आदमी कष्टकी चक्कीमें पीसा जाता है और दुष्ट व्यक्ति जयपत्रके हरेभरे वृक्षकी तरह फलता फूलता है और जव उसका अन्त आता है तो उसे बुरी तरह काटकर फेंक नहीं दिया जाता। किन्तु यह तो असह्य है। यह क्रूर असंगति है, ईश्वरकी बुद्धिमत्ता और न्यायशीलतापर आक्षेप है, लगभग इस बातका प्रमाण है कि ईश्वर हैं नहीं; हमें इसका उपचार करना ही होगा। और यदि ईश्वर नहीं हैं तो हमारे लिये सदाचारका कोई और विधान होना ही चाहिये।

कितना सुखकर हो यदि हम भले आदमीकी पहचान और उसके भलेपनका माप भी इसके द्वारा कर सकें कि उसे अपने पेटमें डालनेके लिये कितना घी मिलता है और वैंकमें वह कितने खनखनाते रूपये जमा कर सकता है और उसे कौन-कौनसे विभिन्न सौभाग्य प्राप्त हैं,—कारण, क्या परमेश्वरको कड़ा और सम्माननीय लेखाकार नहीं होना चाहिए? हाँ, और यह भी कितना सुखकर होगा यदि हम दुष्टको सारे लुकाव-छिपावसे वाहर निकालकर उसपर अँगुली उठा सकें और चीख सकें, "रे दुष्ट व्यक्ति! तू यदि बुरा न होता तो ईश्वर द्वारा या, कमसे कम, शुभ द्वारा शासित जगत्‌में इस भाँति चिथड़ोंमें, भूखा, अभागा, शोकग्रस्त, मनुष्योंके वीच आदरसे वंचित क्यों रहता? हाँ, तेरी दुष्टता प्रमाणित हो गयी है, कारण, तू चिथड़ोंमें है। ईश्वरका न्याय स्थापित हो गया है।" सौभाग्यसे परम प्रज्ञा मनुष्यके वचकानेपनकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठतर है, अतः ऐसा होना असम्भव है। परन्तु हम एक वातसे सान्त्वना ले सकते है। ऐसा लगता है कि यदि भले आदमीको पर्याप्त सौभाग्य, घी और रूपये नहीं मिले हैं, तो इसका कारण यह है कि वह यथार्थमें वहुत दुष्ट व्यक्ति है जो अपने अपराधोंके वदले कष्ट पा रहा है,—परन्तु वह अपने गत जीवनमें ही दुष्ट था जो अपनी मांके पेटमें अकस्मात् परिवर्तित हो गया; और यदि वह सामने आता दुष्ट फल-फूल रहा है और जगत्‌को गौरवसे रौंद रहा है तो यह उसके भलेपनके कारण है, एक विगत जीवनके भलेपनके कारण, उस समयका वह सन्त वादमें विलकुल वदलकर, —क्या पुण्यकी कालिक निःसारताके कारण ही? —पाप-सम्प्रदायमें आ गया है। तो अव सव कुछकी व्याख्या हो गयी, हर चीजका औचित्य प्रमाणित हो गया। हम अपने पापोंके लिये दूसरे शरीरमें कष्ट पाते हैं, हम अपने इस शरीरके पुण्योंके लिये अन्य शरीरमें पुरस्कृत होंगे; और इसी भाँति अनन्त काल चलता रहेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि दार्शनिकोंको यह धन्धा जँचा नहीं और उन्होंने पाप और पुण्य दोनोंसे छुटकारा पानेके लिये, यहाँ तक कि हमारे सर्वोच्च शुभके रूपमें, यह प्रस्ताव रखा कि इतने विस्मय-कारी रूपसे शासित जगत्‌मेंसे किसी भाँति वाहर निकल भागा जाय।

यह स्पष्ट है कि यह व्यवस्था प्राचीन आध्यात्मिक-भौतिक रिश्वत और धमकीका,

भलोंके लिये दीर्घ सुखोंके स्वर्ग और दुष्टोंके लिये शाश्वत आग या पाशविक उत्पीड़नके नरकका ही एक भिन्न रूप है। जगत्‌के विधानके वारेमें यह भाव कि वह प्रमुखतः पुरस्कार और दण्डका निर्वाहक है, परम पुरुषके वारेके इस भावका सगोत्र है कि वह न्यायाधीश, पिता और विद्यालयके शिक्षककी तरह है जो अपने अच्छे वच्चोंको हमेशा मिठाईयाँ वाँटता और नटखट छोकरोंको वरावर सोंटी लगाता रहता है। यह उस वर्बर और अन्यायी प्रणालीका भी सगोत्र है जिसमें सामाजिक अपराधोंके लिये नृशंस और अपमानजनक दण्ड दिया जाता है और जिसपर मानव-समाज अभी भी आधारित है। अपने-आपको अधिकाधिक ईश्वरके प्रतिरूपमें घड़नेके स्थानपर मनुष्य निरन्तर ईश्वरको ही अपने प्रतिरूपमें घड़नेका आग्रह करता है, और ये सारे भाव हमारे अन्दर रहनेवाले वालक, वर्वर और पशुके प्रतिविम्व हैं जिन्हें रूपान्तरित करने या जिनसे आगे बढ़नेमें हम अभी तक विफल रहे हैं। यदि यह इतना अधिक स्पष्ट न होता कि मनुष्य अपने भूतकालके कूड़े-करकटको अपने ज्ञानियोंके गंभीरतर विचारोंके साथ टाँक देनेके विलाससे अपने-आपको वंचित नहीं रखना चाहता तो हमें यह आश्चर्य होता कि ये बालवत् कल्पनाएँ वौद्ध और हिन्दू धर्म जैसे गंभीर दार्शनिक धर्मोंमें कैसे प्रवेश कर गयीं।

चूँकि ये विचार इतने अधिक प्रमुख रहे थे अतः मानवजातिको प्रशिक्षित करनेमें उनकी उपयोगिता निस्सन्देह रही होगी। शायद यह भी सत्य है कि परमेश्वर शिशु-अन्तरात्माके साथ उसके वालकपनके अनुसार ही व्यवहार करता है और भौतिक शरीरकी मृत्युके वाद भी कुछ समयतक उसे अपनी स्वर्ग और नरक-सम्वन्धी संवेदनात्मक कल्पनाएँ जारी रखने देता है। शायद इस जीवनके वादके जीवन और पुनर्जन्मको दण्ड और पुरस्कारके क्षेत्रोंके रूपमें माननेकी आवश्यकता थी क्योंकि वे हमारी अर्ध-मनोभावापन्न पशुवृत्तिके लिए उपयुक्त थे। परन्तु एक विशेष स्थितिके बाद इस प्रणालीका कार्यकर प्रभाव जाता रहता है। मनुष्य स्वर्ग और नरकमें विश्वास करते हैं, परन्तु मजेसे पाप करते जाते हैं, अन्तमें पोपकी दया या पादरी द्वारा अन्तिम पापमोचन या मृत्यु-शय्याके पश्चात्ताप या गंगा-स्नान या वाराणसीकी पावन मृत्यु द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं,—हम अपने वचपनसे ऐसे वचकाने उपायों द्वारा छुटकारा पाते हैं! और अन्तमें मन वयस्क हो जाता है और शिशुकक्षकी सारी अनर्थक वातोंको तिरस्कारसे दूर हटा देता है। पुनर्जन्मका पुरस्कार और दण्डका सिद्धान्त यदि अपेक्षाकृत कुछ उन्नत है या, अन्ततः, कम अपरिष्कृत रूपसे सनसनी पैदा करता है, तो भी वह उतना ही प्रभावहीन निकलता है। और ऐसा होना अच्छा भी है। कारण, यह वात असह्य है कि दिव्य सामर्थ्यवाला मनुष्य पुरस्कारके लिये पुण्यात्मा वने और भयके कारण पापको छोड़े। स्वार्थी कायर या ईश्वरके साथ क्षुद्र मोलतोल करने

वालेकी अपेक्षा सवल पापी होना वेहतर है; उसमें अधिक दिव्यता होती है, ऊपर उठनेकी अधिक क्षमता होती है। गीताने सत्य ही कहा है, कृपणाः फलहेतवः। और यह अकल्पनीय है कि इस विशाल और तेजस्वी जगत्की योजना इन तुच्छ और निकृष्ट हेतुओंपर आधारित हो। इन मतोंमें विवेक है ? तो वह शिशुकक्षका विवेक है वचकाना है। सदाचार-नीति ? तो वह सदाचार-नीति कीचड़की है, पंकिल है।

पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी सच्ची भित्ति अन्तरात्माका क्रमविकास, या यूँ कहें, उसका जड़तत्त्वके पर्देमेंसे प्रस्फुटन और उसकी क्रमिक आत्म-प्राप्ति है। वौद्ध धर्मने इस सत्यको अपने कर्म और कर्म-निवृत्तिके सिद्धान्तमें प्रच्छन्न रूपसे तो समाविष्ट रखा था, परन्तु वह उसे प्रकाशमें लानेमें असफल रहा; हिन्दू धर्मने इसे पुरातन कालसे ही जाना था, परन्तु वादमें उसकी भावव्यंजनामें वह सही सन्तुलनको खो वैठा। अव हम फिरसे उसी प्राचीन सत्यको एक नयी भाषामें कहनेमें समर्थ हुए हैं और कुछ विचार-पंथ ऐसा कर भी रहे हैं, किन्तु पुरानी पपड़ियाँ अभी तक गंभीरतर वुद्धिमत्ताके साथ जुड़ी रहना चाहती हैं। और यदि यह क्रमिक प्रस्फुटन सच है तो पुनर्जन्मका सिद्धान्त एक वौद्धिक आवश्यकता है, तर्कणामें अनिवार्य उपपरिणाम है। परन्तु उस विकासक्रमका लक्ष्य क्या है ? रूढ़िगत या सकाम पुण्य नहीं, किसी संविभाजित भौतिक पुरस्कारकी आशामें अच्छाईकी छोटी-छोटी मुद्राओंकी ठीक-ठीक गिनती नहीं, वरन् दिव्य ज्ञान, वल, प्रेम और शुचिताकी निरन्तर वृद्धि। ये वस्तुएँ ही यथार्थ पुण्य हैं और यह पुण्य अपना पुरस्कार आप ही है। प्रेमके कार्योंका एकमात्र सच्चा पुरस्कार है आत्माके सर्वग्राही आलिंगन और विश्वानुरागके उल्लासके मिलनेतक प्रेमके आनन्द और सामर्थ्यमें सदा वर्द्धित होते जाना; सम्यक् ज्ञानके कर्मोंकाएकमात्र पुरस्कार है अनन्त ज्योतिकी ओर निरन्तर वर्द्धित होते जाना; सम्यक् शक्तिके कर्मोंका एकमात्र पुरस्कार है दिव्य शक्तिको अधिकाधिक धारण करना और शुचिताके कर्मोंका एकमात्र पुरस्कार है अहंसे अधिकाधिक मुक्त होकर उस निर्मल विशालतामें पहुँचना जहाँ सभी वस्तुएँ दिव्य समतामें रूपान्तरित और समन्वित हो जाती हैं। कोई और पुरस्कार खोजना मूर्खता और वालेय अज्ञानके साथ वँध जाना है; और इन चीजोंको भी पुरस्कारके रूपमें देखना अपक्वता और अपूर्णता है।

अव सुख और दुःख, समृद्धि और दुर्भाग्यकी वात ? ये अन्तरात्माके प्रशिक्षणमें उसके अनुभव हैं, उसके लिये सहायक, अवलम्व, साधन, अनुशासन, कठोर परीक्षाएँ हैं,—और प्रायः समृद्धि दुःखकी अपेक्षा अधिक कठिन परीक्षा है। वस्तुतः, विपदा और कष्टको प्रायः पापके दण्डकी अपेक्षा पुण्यका पुरस्कार माना जा सकता है, क्योंकि अपने प्रस्फुटनके लिये संघर्ष करनेवाले अन्तरात्माका वह सवसे वड़ा सहायक और शोधक

सिद्ध होता है। उसे केवल न्यायाधीशका कठोर निर्णय, उत्तेजित शासकका क्रोध या बुराईके कारणपर बुराईके परिणामका यान्त्रिक प्रतिक्षेप मानना अन्तरात्माके प्रति ईश्वरके व्यवहारों और उसके विकासक्रमके नियमके बारेमें ऐसी दृष्टि है जिससे अधिक छिछली दृष्टि सम्भव नहीं। और, जागतिक वैभव धन और सन्तानकी, कला, सौन्दर्य तथा शक्तिके बाह्य भोगकी बात? यदि वे अन्तरात्माको हानि पहुँचाए बिना प्राप्त हो सकें और उनका भोग इस भाँति किया जा सके कि वे हमारे भौतिक जीवनपर दिव्य हर्ष तथा कृपाकी बाढ़ हैं तो अच्छा है। परन्तु पहले हमें उनकी खोज दूसरोंके लिये, बल्कि सबके लिये करनी चाहिये, और अपने लिये केवल वैशव अवस्थाके अँगके रूपमें या पूर्णताको समीपतर लानेके साधनके रूपमें

अन्तरात्माको जैसे अपनी अमरताके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही अपने पुनर्जन्मके प्रमाणकी भी नहीं। क्योंकि एक समय आता है जब वह चेतन रूपसे अमर और अपने शाश्वत तथा अक्षर सारतत्वके प्रति सबोध रहता है। एक बार यह उपलब्धि हो जाय तो अन्तरात्माकी अमरताके पक्ष और विपक्षमें होनेवाले सारे बौद्धिक प्रश्न स्वयंसिद्ध और नित्य विद्यमान सत्यके सामने अज्ञानके व्यर्थ कोलाहल-की तरह दूर हो जाते हैं; ततो न विचिकित्सते। अमरत्वमें सच्चा सक्रिय विश्वास तभी होता है जब वह हमारे लिये बौद्धिक सिद्धान्त नहीं, बल्कि श्वास लेनेकी भौतिक वास्तविकता जैसा स्पष्ट तथ्य बन जाता है और इसीकी तरह उसके लिये भी प्रमाण अथवा तर्ककी आवश्यकता नहीं रहती। इसी भाँति एक समय आता है जब अन्तरात्माको अपने शाश्वत तथा क्षर क्षणगत स्वरूपका बोध होता है; तब उसे पीछेके उन युगोंका बोध होता है जिनसे गतिधाराके वर्तमान संगठनका निर्माण हुआ, वह देखता है कि अविच्छिन्न अतीतमें उसकी तैयारी कैसे हुई थी, वह अतीतकी आन्तरात्मिक स्थितियों, परिवेशों, और क्रियाशीलताके उन विशेष रूपोंको स्मरण करता है जिन्होंने उसके वर्तमान उपादानोंको निर्मित किया है, और यह जानता है कि वह अविच्छिन्न भविष्यमें विकास द्वारा किसकी ओर बढ़ रहा है। यही पुनर्जन्ममें सच्चा सक्रिय विश्वास है, और यहाँ भी प्रश्नकारिणी बुद्धिकी क्रीड़ा बन्द हो जाती है; अन्तरात्माकी दृष्टि और अन्तरात्माकी स्मृति ही सब कुछ हैं। अवश्य ही, विकासके तंत्रका और पुनर्जन्मके नियमोंका प्रश्न रह जाता है जिसमें बुद्धिकी, उसकी पूछताछकी, उसकी सर्व-सामान्यीकरण-वृत्तिकी कुछ क्रीड़ा फिर भी हो सकती है। और यहाँ, जितना अधिक विचार और अनुभव किया जाय, पुनर्शरीरधारणके साधारण, सरल और कटे-छँटे सिद्धांतकी प्रमाणिकता उतनी ही अधिक संदिग्ध लगने लगती है। यहाँ अवश्य ही एक अधिक बड़ी जटिलता है, 'अनन्त' की सम्भावनाओंमेंसे एक अधिक संश्लिष्ट सामंजस्य

और अधिक दुष्कर गतिका नियम विकसित हुआ है। परन्तु यह ऐसा प्रश्न है जिसके लिये लम्बे और प्रचुर विवेचनकी आवश्यकता है, क्योंकि इसका धर्म सूक्ष्म है; अणु ह्येष धर्मः।

दो

पुनःशरीरधारी अन्तरात्मा

जनसाधारणमें मानव-विचार अविवेचित विचारोंकी मोटी और स्थूल स्वीकृति ही होता है; वह उनीदे संतरीकी तरह होता है और हर अच्छी वेशभूषावाली या रमणीय रूपवाली या किसी परिचित संकेत-शब्दसे मिलते जुलते शब्द बुदबुदानेवाली चीजको फाटकके कन्दर आने देता है। ऐसा विशेष रूपसे सूक्ष्म वातोंमें, उन वातोंमें होता है जों हमारे भौतिक जीवन तथा परिवेशके ठोस तथ्योंसे दूर होती हैं। जो लोग साधारण वातोंमें सावधानी और चतुराईसे तर्क करते हैं और भूल-भ्रान्तिके विरुद्ध जागरूक रहनेको वौद्धिक या व्यवहारिक कर्त्तव्य समझते हैं वे भी जव उच्चतर और अधिक कठिन भूमिपर पहुँचते हैं तो अत्यधिक असावधानताकी ठोकर खानेसे तुष्ट हो जाते हैं। जहाँ यथार्थता और सूक्ष्म विचार सवसे जरूरी हैं, वहीं वे उसके प्रति सवसे अधिक अधीर रहते हैं और उनसे जिस श्रमकी माँग की जाती है उससे कतराते हैं। मनुष्य इन्द्रियगोचर चीजोंके वारेमें तो सूक्ष्म विचार कर सकता है, परन्तु सूक्ष्मके वारेमें सूक्ष्मतासे विचार करना हमारी बुद्धिकी स्थूलताके लिये अत्यधिक श्रमकारी होता है; अतः हम सत्यपर पुचारा मारकर वैसे ही तुष्ट हो जाते हैं जैसे एक चित्रकारने अभीष्ट फल प्राप्त न कर सकनेपर अपनी कूचीको चित्रपर दे मारा। हम परिणाममें उत्पन्न धव्वेको ही किसी सत्यका निर्दोष रूप माननेकी भूल करते हैं।

अतः यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मनुष्य पुनर्जन्म-जैसे विषयपर स्थूल रूपसे विचार करके सन्तुष्ट हो जाय। जो लोग उसे स्वीकार करते हैं, वे सामान्यतः उसे एक वनी-वनायी चीज की तरह , या तो कटे-छँटे मत या स्थूल सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं। उनके लिये यह अस्पष्ट और लगभग अर्थहीन मान्यता पर्याप्त होती है कि अन्तरात्मा नये शरीरमें पुनर्जन्म लेता है। परन्तु अन्तरात्मा क्या है और अन्तरात्माके पुनर्जन्मका अर्थ सम्भवतः क्या हो सकता है ? हाँ, इसका अर्थ होता है पुनः शरीरधारण; अन्तरात्मा, वह चाहे जो कुछ हो,मांसकी एक पेटीमेंसे निकल गया था और अव मांसकी एक दूसरी पेटीमें आ रहा है। वात सीधी सादी लगती है, —कह सकते हैं कि यह अरवकी कहानियोंके 'जिन' की तरह है जो अपनी शीशीमेंसे निकलकर वाहर फैल जाता और फिर सिकुड़कर उसीमें वापस आ जाता है, या शायद तकियेकी तरह जिसे एक खोलसे निकालकर दूसरे खोलमें डाल दिया जाता है। या अन्तरात्मा अपनेसे ही मांके गर्भमें किसी शरीरको

घड़ता और फिर उसमें रहने लगता है, या यूँ कहें, मांसकी एक वेशभूषाको उतारकर देता और दूसरीको पहन लेता है। परन्तु जो इस भाँति एक शरीरको "छोड़ता" और दूसरेमें "प्रवेश" करता है, वह है क्या ? क्या वह एक चैत्य शरीर और सूक्ष्म रूप जैसा अन्य कुछ है जो स्थूल शारीरिक रूपमें प्रवेश करता है ?—वह शायद प्राचीन रूपकका पुरूप है जो मनुष्यके अंगूठेसे बड़ा नहीं, या क्या वह कोई निराकार और स्पर्शातीत वस्तु ही है जो हाड़-मांसकी इन्द्रियगोचर आकृति वन जानेके अर्थमें शरीर धारण करती है ?

सामान्य या गँवारू धारणाके अनुसार अन्तरात्माके जन्मकी बात ही नहीं है, वल्कि जगत्‌में एक नये शरीरका जन्म होता है जिसमें एक पुराना व्यक्तित्व निवास करता है। वह व्यक्तित्व उससे भिन्न नहीं होता जिसने किसी दिन अभीके परित्यक्त शरीरके ढाँचेको छोड़ दिया था। सोहनलाल जिस मांस-पिण्डमें रहता था उसमेंसे वाहर निकलकर जानेवाला सोहनलाल ही है; यह सोहनलाल ही कल या कुछ शताब्दियों वाद मांसके दूसरे पिण्डमें पुनः शरीर धारण करेगा और अपने पार्थिव अनुभवोंकी धाराका किसी नये नामसे और भिन्न परिवेशमें आरम्भ करेगा। उदाहरणके लिये, एचिलिस मेसिडोनियावासी फिलिपके पुत्र सिकन्दरके रूपमें पुनर्जन्म लेता है, तव वह हेक्टरका नहीं, डेरिअसका विजेता होता है, उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है, और उसकी नियति अधिक विशाल; परन्तु तंव भी वह एचिलिस ही है, वही व्यक्तित्व है जिसने पुनर्जन्म ले लिया है, केवल शारीरिक परिस्थितियाँ भिन्न हैं। पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें एक ही व्यक्तित्वका इस-प्रकार उत्तरजीवी होना ही आजके यूरोपीय मनको आकर्पित करता है; कारण, व्यक्तित्वका, इस मानसिक, स्नायविक और शारीरिक सम्मिश्रणका, जिसे हम अपना आपा कहते हैं, विलोपन या विघटन सहना ही जीवनसे अनुराग रखनेवालेके लिये कठिन होता है, और उसकी उत्तरजीविता तथा भौतिक पुनःप्राकटयका आश्वासन ही वड़ा आकर्षण है। उसे स्वीकार करनेमें जो एक आपत्ति वस्तुतः वाधा देती है वह है स्मृतिका स्पष्ट विनाश। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहता है कि स्मृति ही मनुष्य है, और हमारे व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताका लाभ ही क्या यदि भूतकालकी स्मृति न वनी रहे, यह वोध न रहे कि हम अव भी और सदा ही वही व्यक्ति हैं ? उसकी क्या उपादेयता रही ? कहाँ मजा रहा ?

प्राचीन भारतीय विचारकोंने,—यहाँ मैं लोक-प्रचलित विश्वासकी वात नहीं कर रहा जो काफी असंस्कृत था और जिसने इस विपयपर विचार ही नहीं किया,—प्राचीन वौद्ध तथा वेदान्ती चिन्तकोंने सारे क्षेत्रका पर्यवेक्षण एक वहुत भिन्न दृष्टिकोणसे किया था। वे व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताके प्रति आसक्त नहीं थे, उन्होंने इस उत्तर-

जीविताको अमरताका ऊँचा नाम नही दिया था, उन्होंने देखा था कि व्यक्तित्व एक सतत परिवर्तित होता सम्मिश्रण है और इस दशामे एक ही व्यक्तित्वकी उत्तरजीविता एक अर्थहीन बात, एक शाब्दिक अन्तर्विरोध है। उन्होंने वस्तुत यह अनुभव किया था कि एक सातत्य तो है और उन्होंने यह ढूँढना भी चाहा कि उस सातत्यका निर्धारक क्या है और उसमे जो अभिन्न व्यक्तित्वका भाव प्रविष्ट होता है वह भ्रम है या किसी वास्तविकताका, किसी यथार्थ सत्यका प्रदर्शन, और यदि पिछली बात ठीक है, तो वह सत्य क्या हो सकता है। बौद्धोंने किसी भी यथार्थ व्यक्तित्वको नही माना। उन्होंने कहा कि न तो आत्मा है, न व्यक्ति ही, बस क्रियारत शक्तिका एक अविच्छिन्न स्रोत है, जैसे किसी नदीका अविच्छिन्न बहाव हो या अग्नि-शिखाका अविच्छिन्न जलना। यह अविच्छिन्नता ही मनमे अभिन्न व्यक्तित्वका मिथ्या भाव उत्पन्न करती है। मै आजके दिन वही व्यक्ति नही हूँ जो एक वर्ष पहले था, वह व्यक्ति भी नहीं हूँ जो एक ही क्षण पहले था, बात वैसे ही है जैसे सामनेके घाटमे बहता हुआ पानी वही पानी नहीं है जो कुछ क्षण पहले उधरसे गुजरा था, एक ही धारामे निरन्तर प्रवाह ही अभिन्न व्यक्तित्वकी मिथ्या प्रतीतिको बनाये रखता है। अत स्पष्ट है कि कोई अन्तरात्मा नही है जो पुन शरीर धारण करता हो, प्रत्युत केवल कर्म है जो उसी अविरत दीखनेवाली धारामे अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होता रहता है। कर्म ही शरीर धारण करता है; कर्म ही सतत परिवर्तनशील मनोवृत्ति और भौतिक शरीरोकी सृष्टि करता है जो, हम मान सकते हैं, विचारो और सवेदनोके उस परिवर्तनशील सम्मिश्रणका परिणाम है जिसे हम हम कहते हैं। वह अभिन्न "हम" है नही, न वह कभी था, न कभी होगा। व्यवहारतया, जबतक व्यक्तित्वकी भूल बनी रहती है, तबतक उससे बहुत अन्तर नही पडता और हम अज्ञानकी भाषामे कह सकते हैं कि हम एक नये शरीरमे पुनर्जन्म लेते हैं, व्यवहारतया हमे उसी भूलके आधारपर आगे बढना है। परन्तु एक यह महत्व-पूर्ण बात मिल गयी है कि यह सब भूल है, और एक ऐसी भूल है जिसका अन्त हो सकता है, उस सम्मिश्रणको नयी रचना किये बिना सदाके लिये खण्डित किया जा सकता है, अग्निशिखाको बुझाया जा सकता है, जिस धाराने अपने-आपको नदी कहा था उसका विनाश किया जा सकता है। और तब है अ-सत्ता, अवसान, भूल-भ्रान्तिका अपने-आपमेसे छुटकारा।

वेदान्ती एक भिन्न निष्कर्षपर पहुँचता है, वह एक अभिन्नको, एक आत्माको, एक स्थायी अपरिवर्तनशील सद्वस्तुको स्वीकार करता है,—परन्तु वह हमारे व्यक्तित्व-से भिन्न है, जिस सम्मिश्रणको हम हम कहते हैं उससे भिन्न। कठोपनिषद्मे यह प्रश्न एक बहुत ही शिक्षाप्रद रीतिसे उठाया गया है जो हमारे वर्तमान विषयके लिये बिलकुल

प्रासगिक है। अपने पिता द्वारा मृत्युलोकमे भेजा गया नचिकेतस उस लोकके अधिपति यमसे यो प्रश्न करता है जो मनुष्य आगे चला गया है, जो हमसे विदा लेकर चला गया है, उसके बारेमे कुछ लोग कहते हैं कि वह है और दूसरे कहते हैं कि "वह यह नही है", तो उनमे कौन ठीक है ? उस महा यात्राका सत्य क्या है ? यही प्रश्नका रूप है और पहली नजरमे ऐसा लगता है कि यह अमरता शब्दके यूरोपीय अर्थमे उसकी समस्याको, अभिन्न व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताकी समस्याको उठा रहा है। परन्तु नचिकेतस जो पूछ रहा है वह यह नही है। यमके तीन वरदानोमेसे दूसरेमे वह उस पवित्र अग्निका ज्ञान पा चुका है जिसके द्वारा मनुष्य भूख और प्यासको पार कर जाता, दु ख और भयको बहुत पीछे छोड जाता और निश्चित रूपसे आनन्द पाता हुआ स्वर्गमे निवास करता है। उस अर्थमे तो वह अमरताको स्वीकृत जैसा मान लेता है, जैसा कि उस दूरस्थ लोकमे स्थित होनेसे वह अवश्य करेगा। वह जिस ज्ञानकी माँग कर रहा है, उसमे वह गभीरतर, सूक्ष्मतर समस्या समाविष्ट है जिसके बारेमे यमका कथन है कि पुरातन कालमे देवोंने भी इस विषयपर विवाद किया था और इसे जानना आसान नही है, क्योकि उसका धर्म सूक्ष्म है, कोई ऐसी वस्तु उत्तरजीविनी रहती है जो वही व्यक्ति प्रतीत होती है, जो नरकमे उतरती, स्वर्गमे चढती और पृथ्वीपर एक नये शरीरके साथ वापस आती है, परन्तु क्या यथार्थत वही व्यक्ति उत्तरजीवी होता है ? उस मनुष्यके बारेमे क्या हम यथार्थत कह सकते हैं "वह अभी तक है" ? क्या इसकी जगह बल्कि हमे यह न कहना चहिये कि "वह अब यह और नही है"? यम भी अपने उत्तरमे मृत्युके बाद उत्तरजीविताकी बात बिलकुल नही कहते और वह केवल एक-दो श्लोकोमे उस सतत पुनर्जन्मका वर्णन मात्र कर देते हैं जिसे सभी गम्भीर विचारकोंने सर्वमान्य सत्यके रूपमे स्वीकार किया था। वह जिसकी बात करते हैं वह 'आत्मा' है, यथार्थ 'मनुष्य' है, इन सारे बदलते हुए रूपोका प्रभु है, उस 'आत्मा'के ज्ञानके बिना व्यक्तित्वकी उत्तरजीविता अमर जीवन नही, अपितु निरन्तर मृत्युसे मृत्युकी ओर यात्रा है, अमर केवल वही बनता है जो व्यक्तित्वसे परे सच्चे व्यक्तित्वको प्राप्त करता है। तबतक मनुष्य सचमुच अपने ज्ञान तथा कर्मोंकी शक्तिसे बार-बार जन्म लेता प्रतीत होता है, एक नामके बाद दूसरा नाम आता है, एक रूपके स्थानपर दूसरा रूप आता है, परन्तु अमरता नही आती।

तो यही वह यथार्थ प्रश्न है जिसे बौद्ध तथा वेदान्ती इतने भिन्न रूपसे रखते और उत्तर देते हैं। नये शरीरोमे व्यक्तित्वकी सतत पुनर्रचना होती है, परन्तु यह व्यक्तित्व क्रियाशील शक्तिकी क्षर सृष्टि है जो कालमे आगे प्रवाहित होती जाती है और कभी भी, एक क्षणके लिये भी, वहीकी वही नही होती, और जो अह-बोध हमे शरीरके जीवनसे

चिपकाए रखता और आसानीसे यह विश्वास दिलाता है कि वह वही भाव और रूप है, कि सोहनलाल ही पुनर्जन्ममे सिदि हुसेन हो गया है, वह मनकी रचना है। एचिलिसने सिकन्दर वनकर पुनर्जन्म नही लिया था, वरन् अपने कार्योमे लगी जिस शक्ति-धाराने एचिलिसके क्षण-क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की थी वह आगे वहती गयी और उसने सिकन्दरके हर क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की। किन्तु प्राचीन वेदान्तने कहा कि फिर भी इस क्रियारत शक्तिसे परे कुछ और है जो उसका स्वामी है, वह है जो उससे अपने लिये नये नाम और रूप वनवाता है, और वही है आत्मा, पुरुष, मनुष्य और सच्चा व्यक्ति। अह-वोध उसकी विकृत मूर्ति मात्र है जो शरीरधारी मनके वहते स्रोतमे प्रतिविम्वित होती है।

तो क्या आत्मा ही शरीर लेता और वार-वार शरीर वदलता है? परन्तु आत्मा तो अविनाशी, अक्षर, अज, अमर है। आत्मा न तो शरीरमे जन्म लेता है, न उसमे रहता ही है, इसके विपरीत शरीर ही आत्मामे जन्म लेता और उसमे रहता है। कारण, *आत्मा सर्वत्र एक है,* —हम कहते हैं, *सव शरीरोमे एक ही है,* परन्तु *यथार्थमे,* वह विभिन्न शरीरमे सीमित और वँटा हुआ नही है, सिवाय इसके कि वह सर्वोपादान आकाश जैसा है जो विभिन्न पदार्थ वन गया लगता है और एक अर्थमे उनके अन्दर है। वल्कि ये सारे शरीर आत्मामे हैं, परन्तु यह भी देश-धारणाकी कल्पना ही है, और ये शरीर उसके अपने प्रतीक तथा आकृतियाँ मात्र हैं जिनकी सृष्टि उसीने कपनी स्व-चेतनामे की है। जिसे हम वैयक्तिक अन्तरात्मा कहते हैं वह भी अपने शरीरसे वढकर है, कम नही, उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है और फलत उसकी स्थूलतासे वँधा नही है। मृत्युके समय वह अपने रूपसे विदा नही लेता, वरन् उसे उतार फेकता है, अत महान् आत्मा प्रयाणके समय इस मृत्युके वारेमे सशक्त भाषामे कह सकता है, "मैंने शरीरको थूक दिया है।"

तो वह क्या है जिसे हम शारीरिक ढाँचेमे निवास करता अनुभव करते है? वह क्या है जिसे आत्मा इस आशिक शारीरिक चोलेको उतारकर फेकते समय शरीरसे खींच लेता है, जिसने स्वय उसको नही, अपितु उसके अगोके एक भागको आच्छादित कर रखा था? वह क्या है जिसके वाहर निकलनेसे यह विछोह-पीडा होती है, वियोग-का यह तेज सघर्ष और कष्ट होता है, उग्र सम्वन्ध-विच्छेदका यह भाव पैदा होता है? इसका उत्तर हमे वहुत सहायता नहीं देता। वह सूक्ष्म या चैत्य ढाँचा है जो हृत्तन्त्रियो द्वारा, प्राण-शक्तिकी, स्नायविक ऊर्जाकी उन डोरियो द्वारा भौतिक शरीरके साथ वँधा होता है जो प्रत्येक भौतिक रेशेमे वुन दी गयी है। शरीरके प्रभु इसे ही खीच निकालते हैं और प्राण-डोरियोका उग्र रूपसे तोडा जाना या तेजीसे या धीरे-धीरे ढीला

किया जाना, सयोजिका शक्तिका चला जाना ही, मृत्युकी वेदना और उसकी कठिनाई-का कारण है।

तो हम प्रश्नका रूप वदल दे और यह पूछे कि जव आत्मा अक्षर है तो वह क्या है जो क्षर व्यक्तित्वको प्रतिविम्वित और स्वीकार करता है? वास्तवमे एक अक्षर आत्मा, एक सत्-व्यक्ति होता है जो इस सदा-परिवर्तनशील व्यक्तित्वका अधिपति है, और फिर यह व्यक्तित्व सदा-परिवर्तनशील शरीरोको धारण करता है, परन्तु सदात्मा सदा ही अपने वारेमे यह जानता है कि वह क्षरसे ऊपर है, वह उसे देखता और उसका भोग करता है, परन्तु उसके अन्दर उलझता नही। वह क्या है जिसके द्वारा परिवर्तनोका भोग करता और उन्हे अपना अनुभव करता है, जव कि वह यह भी जानता है कि वह स्वय इन सवसे अप्रभावित है? मन और अह-वोध केवल निम्न उपकरण हैं, उसका अपना कोई अधिक मूलभूत रूप अवश्य होगा जिसे 'यथार्थ मनुष्य' व्यक्त करता है, मानो अपने ही सामने और परिवर्तनोके पीछे रखता है जिससे वह उन्हे आधार दे सके और प्रतिविम्वित कर सके, साथ ही उनके द्वारा वस्तुत परिवर्तित भी न हो। यह अधिक मूलभूत रूप मनोमय पुरुष या मनोमय व्यक्ति है जिसे उपनिषदोंने प्राण तथा शरीरका नेता कहा है, मनोमय प्राण-शरीर-नेता। वही अह-वोधको मनमे एक क्रिया-व्यापारके रूपमे वनाए रखता है और हमे आत्माकी कालरहित अभिन्नताके प्रतिपक्षमे कालके अन्दर अविच्छिन्न व्यक्तित्वकी दृढ धारणाको रखनेमे समर्थ करता है।

परिवर्तनशील व्यक्तित्व यह मनोमय पुरुष नही है, वह प्रकृतिके विविध उपादानोका सम्मिश्रण है, प्रकृतिकी रचना है, पुरुष विलकुल नही। और वह एक वहुत जटिल सम्मिश्रण होता है जिसमे वहुतहसी परते होती हैं, एक परत अन्नमय व्यक्तित्वकी, एक परत स्नायवीयकी, एक परत मनोमयकी, एक अन्तिम स्तर अति-मानसिक व्यक्तित्वका भी। और फिर इन परतोके अन्दर भी प्रत्येक स्तरके अन्दर कई स्तर होते हैं। हमसे व्यक्तित्वका नाम पानेवाली इस आश्चर्यजनक सृष्टिके विश्लेपणकी तुलनामे पृथ्वीकी एकके वाद एक करके आनेवाली परतोका विश्लेपण एक सरल चीज है। वार-वार शारीरिक जीवन धारण करनेवाला मनोमय पुरुष अपने नये पार्थिव अस्तित्वके लिये नया व्यक्तित्व घडता है, वह भौतिक जगत्की सर्वसामान्य जड-सामग्री, प्राण-सामग्री, मानस-सामग्रीमेसे सामग्री लेता है और पर्थिव जीवनमे निरन्तर नयी सामग्रीको आत्मसात् करता जाता है, और जो खर्च हो चुका है उसे वाहर फेकता जाता है, अपने शारीरिक, स्नायविक और मानसिक तन्तुओको वदलता रहता है। परन्तु यह सारा सतही कार्य होता है, पीछे भूतकालके अनुभवकी नींव रहती है जिसे स्थूल स्मृतिमे आनेसे रोक रखा जाता है ताकि उपरितलीय चेतना अतीतके

चेतन भारसे कष्ट या बाधा न पाय, वरन् जो तात्कालिक कार्य हाथमे लिया हुआ है उसपर केन्द्रित रहे। तथापि, भूतकालके अनुभवकी वह नीव व्यक्तित्वकी दृढ आधार-शिला है, उससे भी अधिक है। वह हमारा वास्तविक कोष है, अपने परिवेशके साथ होनेवाले अपने वर्तमान ऊपरी वाणिज्य अतिरिक्त भी हम उस कोषका सदा सहारा ले सकते हैं। वह वाणिज्य हमारे लाभोमे वृद्धि करता है, परवर्ती जीवनके लिये नीवमे परिवर्तन करता है।

इसके अतिरिक्त, फिर, यह सब भी सतहपर ही है। हमारे 'स्व' का एक छोटासा भाग ही हमारे पार्थिव जीवनकी ऊर्जाओमे रहता और कार्य करता है। जैसे भौतिक विश्वके पीछे अन्य लोक हैं, हमारा जगत् जिनका अतिम परिणाम ही है, वैसे ही हमारी आत्म-सत्ताके लोक हैं जो हमारी सत्ताके इस बाह्य रूपको बाहर प्रकट करते हैं। अवचेतन और अतिचेतन वे समुद्र हैं जिनमेसे और जिनकी ओर यह नदी बहती है। अत हमारा अपने बारेमे यह कहना कि हम बार-बार शरीर धारण करनेवाला अन्तरात्मा हैं, हमारे अस्तित्वके चमत्कारको एक अति सरल रूप दे देना है, यह कथन उस परम ऐन्द्रजालिकके इन्द्रजालको एक अति सुविधाजनक और अति स्थूल सूत्रमे प्रस्तुत करता है। ऐसी कोई निश्चित चैत्य सत्ता नही है जो मासके एक नये खोलमे प्रवेश कर रही हो, एक पुनर्अन्तरात्मानुप्रवेश, एक नये चैत्य व्यक्तित्वका पुनर्जन्म और साथ ही एक नये शरीरका जन्म होता है। और इसके पीछे रहता है पुरुष, अपरिवर्तनशील सत्ता, इस सश्लिष्ट सामग्रीका व्यवहार करनेवाला स्वामी, इस आश्चर्यजनक कौशलका शिल्पी।

यही वह आरम्भ-विन्दु है जहाँसे हमे पुनर्जन्मकी समस्यापर विचार करनेके लिये अग्रसर होना होगा। अपने-आपको इस भाँति देखना कि अमुक-अमुक व्यक्ति मासके एक नये खोलमे प्रवेश कर रहा है अज्ञानमे ठोकरे खाते फिरना है, जडमय मन और इन्द्रियोकी भूलको पक्का करना है। शरीर एक सुविधा है, व्यक्तित्व एक सतत रचना है जिसके विकासके लिये कर्म तथा अनुभव उपकरण है, परन्तु वह आत्मा जिसकी इच्छासे और जिसके आनन्दके लिये यह सब है, इस शरीरसे भिन्न है, कर्म और अनुभवसे भिन्न है, और वे जिस व्यक्तित्वको विकसित करते हैं उससे भी भिन्न है। इसकी अवज्ञा करना अपनी सत्ताके सम्पूर्ण रहस्यकी अवज्ञा करना है।

तीन

पुनर्जन्म, क्रमविकास, आनुवंशिकता

क्रमविकास और आनुवशिकता, ये दो सत्य, प्रकाशमय परिणामकी विशाल परिधि और वडी तात्त्विक महत्तावाले ये दो आविष्कार, आजकी विचारधाराके अग्रभागमे आते हैं। मै समझता हूँ कि हमे इनको अपनी सत्तापर एक सुस्थापित और कभी न बुझनेवाले आलोककी तरह, एक सतत प्रकाशके दीपोकी तरह मानना होगा, जिन्हे अभीतक पूरा सँवारा नही गया है, फिर भी जो उस हद्तक सुनिश्चित हैं जिस हदतक मनुष्यके लिये बौद्धिक ज्ञानके विकासकी चलचित्रकी तरह निरन्तर वदलती प्रक्रियामे कोई चीज सम्भव हो सकती है। इनके वारेमे कहा जाता है कि जो मन हमारे आधुनिक विज्ञानके ठीक-ठीक, जिज्ञासु और वहुविधत खोजी, किन्तु अन्तमे फिर भी आश्चर्यकारी रूपसे सीमित रहते अवलोकन और आश्चर्यकारी रूपसे सीमित रहती युक्तिवुद्धि द्वारा शासित, घडा गया और अपने दृढ साँचोमे ढाला गया है, उस मनकी विशेषता रहनेवाली दृष्टिरीतिके लिये ये ही जीवनका लगभग सारा मूलभूत भाव हैं। विज्ञान अपने ढगसे महान् द्रष्टा और जादूगर है, उसमे दोनो ही प्रकारकी, स्थूल और सूक्ष्म, ध्यानसे देखनेवाली और दूरदर्शिनी दृष्टिशक्तियाँ हैं, छानवीन और विश्लेषणके सकल्पको विघटन करनेवाली शक्ति और उद्भासक तथा समन्वयात्मक क्रियान्वयनकी सर्जनशक्ति है। विज्ञानने महान् स्रष्ट्रीकी मध्यवर्तिनी गुप्त प्रक्रियाओ-मेसे अनेकोका उनकी माँदतक पीछा किया है, और हमे जो आविष्कार-क्षमता मिली है उसके द्वारा एक पग आगे भी वढ सका है और बेहतर भी कर सका है। मनुष्य अनन्तताके वीच वामन ही है, जगम होते हुए भी गुरुत्वाकर्षण के वलके कारण मिट्टीकी एक तुच्छ परतके सामीप्यके साथ जडा हुआ है, किन्तु उसने विज्ञानके द्वारा, सचमुचमे, विश्व-जननीके प्रतिपक्षमे अच्छी सख्यामे अक प्राप्त कर लिये हैं। परन्तु यह सव पूर्णताके किसी अशमे केवल सवसे निचले वाधक भौतिक क्षेत्रकी सीमाओमे ही किया गया है।

चैत्यिक तथा आध्यात्मिक रहस्योका सामना करनेके लिये, जैसा कि मनके खुले आरम्भिक जगत्के सम्वन्धमे भी होता है, विज्ञानको अभी तक वालककी ज्ञानहीन दृष्टि और उसके टटोलते हुए हाथ ही प्राप्त हैं। भौतिक क्षेत्रमे इतने सुनिश्चित, प्रकाशकारी और अप्रतिरोध्य रहनेवाले विज्ञानको इन क्षेत्रोमे केवल एक वडी चमकती

भिनभिनाती अस्तव्यस्तता ही दीखती है जिसके बारेमे जेम्सने सानुप्रयास कथनकी शायद अपरिशुद्ध स्पष्टताके साथ कहा है कि वह इद्रियानुभवगम्य जगत्के प्रति ऐसे नवजात शिशुकी दृष्टि है जो जगत्मे जन्मकी रहस्यमयी सीढियोसे लुढकता आ गया है। विज्ञानके सामने जब चेतनाके वे व्यापार आते हैं जो उसके लिये अभी तक उसकी आश्चर्यजनक बेतरतीब सगतियाँ और चेतनाके अव्याख्यात चमत्कार हैं, तब वह सतर्क सशयात्मकताकी अपारदर्शी ढालके पीछे रहकर कल्पनाकी भूलोसे तो अपनी रक्षा कर लेता है,—परन्तु प्रसगवश उसी कारणसे एक अपर्याप्त अधिष्ठापनकी बहुल भूलोमे जा गिरता है। विज्ञान डूबते हुए आदमीकी पकडकी दृढतासे – मानसिक क्रिया और सकेतात्मक या उपकरणात्मक शारीरिक क्रियाओके बीच कुछ सुपरीक्षित सादृश्योके साथ – यद्यपि इस तरहसे व्यवहृत इस शब्दका कोई अर्थ नही निकलता, सुरक्षाके तत्त्वोसे चिपका रहता है जिनके बारेमे वह समझता है कि वे उसे उन सादृश्योमे प्राप्त हैं। वह कृत-सकल्प है कि यदि हो सके तो प्रत्येक अतिभौतिक व्यापारकी व्याख्या किसी भौतिक वास्तविकताके द्वारा करें, उसके लिये मनकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाका अस्तित्व तभी हो सकता है जब कि वह शरीरकी किसी कार्यकी प्रक्रियाका ही परिणाम या प्रतिदान हो, अन्यथा नहीं। यह दृढ सकल्प प्रतीयमानत युक्तिसगत है और निश्चेय तथा दृढ रूपसे ठोस सत्यके लिये सतर्क है, परन्तु अपने विरोधाभासी दु साहसमे यथार्थत आत्यतिक है और विज्ञानके लिये, कमसे कम वर्तमानमे, द्रुत आविष्कारकी सम्भावनाको एक काफी सकडे वृत्तके अन्दर बन्द करता है। जब वह भौतिक सत्यको मनोवैज्ञानिक क्षेत्रतक विस्तृत करता है, तो वहाँ भी अपर्याप्तताकी भावना पीछा करती आती है और उसे दूषित कर देती है। और, विस्तृत उपयोगमे यह अपर्याप्तता उसके आनुवशिकता तथा क्रमविकासके सिद्धान्तोमे तब बहुत ही स्पष्ट दिखायी देती है जब वह उन्हे उनके भौतिक सत्यकी निरापद भूमिसे आगे बढनेके लिये बाध्य करता है और उन्हींके द्वारा हमारी चैत्यिक सत्ताके सूक्ष्म, जटिल, दुर्ग्राह्य व्यापारपर प्रकाश डालनेके लिये उद्यम करता है।

मेरा अनुमान है कि अभी भी यत्रतत्र ऐसे लोग हैं जिन्हे भौतिक क्रमविकासके सिद्धान्तके प्रति गुप्त या प्रकट अविश्वास है और जो यह मानते हैं कि यह सिद्धान्त एक दिन खगोल शास्त्रके प्टोलमाइक मत[1] या चिकित्सा शास्त्रके यूनानी दोष-सिद्धातकी तरह मृत सामान्य सिद्धान्तोके कूडाखानेमे चला जायगा, परन्तु यह विरल और

[1] दूसरी शताब्दिके यूनानी खगोलवेत्ता प्टोल्मीका सिद्धान्त था कि स्वर्गीय ग्रह पृथ्वीके चारो ओर एक विशेष रीतिसे घूमते हैं। (अनु.)

अतिशय संशयात्मकता है। फिर भी यह देखना हमारे प्रयोजनके लिये अनुपयोगी या अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान प्रचलित विचारोंके विपरीत, इस सामान्यीकृत विचारका वैज्ञानिक विवरण अन्य सामान्यीकृत विचारोंकी एक अच्छी संख्याकी तरह, अभीतक निश्चयात्मक रूपसे प्रमाणित नहीं हुआ है, भलेही अभी उसे प्रमाणित मान लिया जाता है। परन्तु, तो भी, कुल मिलाकर देखें तो उसके पक्षमें तथ्यों और संकेतोंका समूह इतना बड़ा है कि वह दुर्दम्य लगता है, और हम इस निष्पत्तिका विरोध नहीं कर सकते कि सारी चीज इसी तरीकेसे या किसी ऐसे ही तरीकेसे हुई होगी और जातियों तथा वर्गोंका जो असंदिग्ध, ऊपर उठता और फैलती शाखाओंवाला क्रम सजीव अस्तित्वके प्रति हमारी असावधान दृष्टिके सामने भी आ जाता है, उसकी किसी अधिक विश्वासनीय व्याख्याकी कल्पना करना कठिन है। कमसे कम एक चीज तो अब बौद्धिक रूपसे निश्चित लगती है; हम अब यह विश्वास नहीं कर सकते कि इन सूर्यों और मण्डलों-को असीम देशमें पूरी तरह गढे-गढ़ाये रूपमें फेंक दिया गया था और चिरकालके लिये व्यवस्थित कर दिया गया और इन सारी असंख्य जातियोंके रूपोंको बने-बनाये और भलीभाँति कटे-छिले रूपमें सात दिनोंमें या चाहे और कितने ही दिनोंमें किसी सनकके आकस्मिक प्रस्फोट या सुरा-देवकी उत्तेजनासे या यांत्रिक कल्पनाकी सकुल क्रिया-शीलतासे किसी कालातीत स्रष्टाके आदेशसे पृथ्वीपर रोप दिया गया था। प्राचीन हिन्दू चिन्तकोंने आनुक्रमिक विकासका जो संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया था जिसके अनुसार पहले निम्नतर रूपोंके प्राणी आये और बादमें मनुष्य आया जो कि पृथ्वीपर अध्यात्म-तत्त्वके जीवन-विकासका शिरमौर है, इसकी परिपुष्टि भौतिक विज्ञानकी धीर और ब्यौरेवार संवीक्षाने की है,—यह एक युग-युगीन विकास रहा है किन्तु इससे आगे इसी सिद्धान्तकी कालचक्रमें सतत आवृत्तिके बारेमें जो हिन्दू कल्पना है उसका भौतिक प्रमाण अवश्य ही नहीं मिल सकता।

अब एक और यह बात समान रूपसे निश्चित लगती है कि केवल समस्त जीवनका बीज ही एक नहीं था,—यहाँ भी उपनिषद्की महान् संबोधि भौतिक अन्वेषणके निष्कर्षोंकी पूर्वगामिनी रही है, एकं बीजं बहुधा शक्ति-योगात्, एक ही बीजको वैश्व आत्म-सनातन शक्तिकी प्रक्रियासे बहुतेरे रूपोंमें विन्यस्त किया है,—अपितु सर्जिका 'शक्ति' अथवा सर्जक 'भाव' की क्रियाधारामें इधर उधर चाहे जितने विचलन हों विकासका तत्त्व एक ही है और पग-पगपर विकासका नींव-विन्यास भी एक ही रहता है। ऐसा लगता है कि प्रकृति मौलिक, विस्तृत और परिवर्तनशील धारणाओंकी असाधारण दरिद्रतासे आरम्भ करती और अपनी सूक्ष्मतर परिणामी विभिन्नताओंकी असाधारण समृद्धिकी ओर बढ़ती है जिसका अर्थ होता है जातियोंके सतत सूक्ष्म

विभेदनोकी गढाई और व्यक्तिमे अद्वितीयताके परिणामकी प्राप्तिके लिये आश्चर्यजनक आग्रह। लगभग ऐसा दीखता है मानो प्रकृतिके भौतिक सामजस्योकी प्रक्रियामे इस सत्यका कोई रूपात्मक प्रभाव या प्रतीकात्मक प्रतिरूप उत्पन्न करना अभिप्रेत था कि सारी वस्तुएँ मूलत एक ही सत्,पर वह सत् हैं जो अपनी अनन्त विभिन्नताओका आग्रह रखता है, और यह सकेत भी है कि इस शाश्वत एकतामे शाश्वत अनेकता है, अनन्त सत् सत्ताओकी अनन्त विविधतामे स्वय पुनरावृत्त होता है, प्रत्येक सत्ता अद्वितीय होती है और फिर भी वही एकमेव होती है। सत्ताके प्रत्यक्ष तथ्योसे ही प्राप्त हो सकनेवाले तत्त्वमीमासीय सकेतोकी खोज करनेवाले मनको भी शायद यह बात सर्वथा काल्पनिक न लगे।

जो कुछ भी हो, सजीव वस्तुओके प्राकृतिक सामजस्यकी प्रचुर जटिलताओमे यह स्पष्ट व्यवस्था मिल गयी है,—जीव द्रव्यका एक ही वीज, विकसित होता एक ही नीव-विन्यास, समृद्ध सख्यामे विविधताएँ जिनकी युक्तिसगत प्रक्रिया आरोहणकारी क्रम होगी और वह क्रम सूक्ष्म, परन्तु फिर भी वहुत ही स्पष्ट श्रेणियोमेसे होता हुआ, अमार्जितसे जटिल, कम सगठितसे अधिक सगठित, निम्नतरसे श्रेष्ठतर प्ररूपकी ओर जा रहा होगा। इस जीवन-वृक्षको देखनेपर मनमे सवसे पहले यह प्रश्न तुरन्त उठना चाहिये कि क्या सचमुच यह युक्तिसगत प्रक्रिया ही विश्व-इतिहासका वास्तविक क्रम थी, और तव, एक दूसरा प्रश्न जो इस समस्यासे स्वभावत उठता है वह यह है कि यदि ऐसा है तो प्रत्येक अभिनव रूप क्या अपने प्रकृतिक पूर्वगामीमेसे कुछ परिवर्तित होकर विकसित हुआ, या किसी अज्ञात प्रक्रियासे, एक नयी, स्वतत्र और एक प्रकारसे आकस्मिक सृष्टि वनकर आया। पहली दशामे हमे भौतिक विकासक्रमकी वैज्ञानिक व्यवस्था मिलती है,—दूसरीमे ठीक मालूम नही, शायद कोई अदृश्य विश्व स्रष्टा था जिसने पृथ्वीके आरम्भिक विकास-कालमे सव कुछ प्रस्फुटित किया और अव उस धन्धेको पूरा ही या लगभग पूरा वन्द कर दिया है, और इसके फलस्वरूप हमे अव उस प्रकारका कोई नया भौतिक विकास नही मिलता, परन्तु, हो सकता है कि जो प्ररूप वन चुके हैं उन्हीमे क्षमताका विकास होता हो। विज्ञान एक सर्वथा प्राकृतिक, यान्त्रिक और पूर्णतया अविच्छिन्न भौतिक विकासक्रमकी प्रतिष्ठा करता है, उस विकासक्रमके वढते परिवर्तनकी धाराएँ तो वहुतसी और भिन्न भिन्न होती है, परन्तु उनमे कोई व्यवधान या अन्तराल नही रहता। यह सच है कि ऐसी एक ही नही, वहुतेरी कडियाँ लुप्त हैं जिनकी पूर्ति भूतकालके समृद्धतम अवशेष भी नही कर सकते, और हम ऐसी स्थितिमे नही है कि किसी नितान्त मताग्रहितासे इस सम्भावनाको अस्वीकार कर दे कि छलाँग लगाते हुए, तेजीमे लाँघते हुए भी प्रगति हो सकती है, वह प्रगति शायद एक सकुल चैत्यिक

अथवा जैव-चैत्यिक तैयारीसे भी हो सकती है जिसके परिणाममे एक नया प्ररूप प्रकट हुआ और उस नये प्ररूप तथा उसके पूर्वगामी जीवन-रूपोके बीच कोई खाई रह गयी। विशेषत मनुष्यके बारेमे अभी तक अत्यधिक अनिश्चितता है कि वह, जो कि प्रकृतिके अन्य पुत्रोसे इतना मिलता है और फिर भी इतना भिन्न है, किस तरह अस्तित्वमे आया। तो भी, रिक्त स्थलोकी व्याख्या कर दी जा सकती है, भौतिक कोणसे कम अराजक दृष्टिके समर्थनमे सार्थक तथ्योका बहुत बडा समूह है, और ऐसे भौतिक विश्वमे जिसमे आगे बढनेके लिये भौतिक सिद्धान्त ही ठीक आधारभूत नियम प्रतीत होता है, यह दृष्टिकोण ही अधिकतम सम्भाव्य मालूम होता है।

परन्तु यदि हम अनुक्रमिक निर्धारणकी अधिकसे अधिक सावधान और कठोर अविच्छिन्नताको मान ले तो भी यह प्रश्न उठता है कि विकासक्रमकी प्रक्रिया क्या सचमुच इतने ऐकान्तिक रूपसे भौतिक और जैविक रही है जैसा कि वह प्रथम दृष्टिमे दीखती है। यदि ऐसा है तो हमे केवल वर्गानुवशिकताके किसी कठोर सिद्धान्तको ही नही, वरन् आनुवशिक प्रगतिशील परिवर्तनके नियमको और समस्त मानसिक तथा आध्यात्मिक व्यापारके शुद्ध भौतिक कारणको भी स्वीकार करना होगा। अपने-आपमे आनुवशिकताका अर्थ है शारीरिक आकार और जैव विशिष्टताओका पहलेके जीवनसे उसके बाद आनेवाले जीवनमे सतत सचरण। यह तो बहुत स्पष्ट है कि आनुवशिक सचरणकी ऐसी सर्वसामान्य शक्ति जाति या वर्गके अन्दर ही रहती है, जैसा वृक्ष होता है वैसा ही बीज होता है और जैसा बीज होता है वैसा ही वृक्ष भी, इसी तरह शेर शेरको जन्म देता है, बिल्ली या गेडेको नही, मनुष्य मानव-प्राणीको जन्म देता है, किसी ओरागओटाग[1]को नही, —फिर, आजकल एक अनोखी और आश्चर्य-कारिणी कल्पना पढनेमे आती है जो प्राचीन मतको उलट-पुलट देती है, वह यह है कि शायद कुछ वानरजातियाँ मनुष्यके पूर्वज न होकर उसके अपविकसित वशज हो। किन्तु और आगे, यदि भौतिक विकासक्रम ही समूचा तथ्य है तो जिन परिवर्तनोसे नये वर्गोकी सृष्टि की जाती या की गयी है उन परिवर्तनोके आनुवशिक सचरणकी भी समर्थता रहना चाहिये,—केवल सम्मिश्रण या सकरणकी प्रक्रियामे ही नही, प्रत्युत एक आन्तरिक विकासके द्वारा जो बीजके अन्दर सचित और प्रदत्त है। इसे भी बहुत भली भाँति मान लिया जा सकता है, क्योकि पारिवारिक तथा वैयक्तिकवैशिष्टयोका सचरण सुविदित व्यापार है, भले ही उसकी वास्तविक प्रक्रिया और युक्तियुक्त आधारको अभी तक नही समझा गया है। परन्तु तब सचरित वस्तुएँ केवल शारीरिक और जैविक

[1] सुमात्रा और बोर्निओके वनोमे पाया जानेवाला मानवाकार वानर।(अनु0)

ही नही, प्रत्युत मनोगत या, कमसे कम, जैव-चैत्यिक गुण और सामर्थ्य होती हैं, रूढिगत स्नायवीय अनुभव तथा मानसिक प्रवृत्तिकी पुनरावृत्तियाँ होती हैं। इसके अनुसार हमे यह मानना होता है कि शारीरिक बीज ही इन सारी चीजोको सचरित करता है। हमे यह स्वीकार करनेको कहा जाता है कि यदि मानव-बीजका उदाहरण ले तो यद्यपि उसमे विकसित मानव-चेतना नही समायी रहती, फिर भी वह ऐसी चेतनाकेसामर्थ्योंको अपने साथ लिये रहता है जिससे वे सन्ततिकी विचारशील और सगठित मनोवृत्तिमे अपनेसे दुबारा उत्पन्न होते हैं। यदि हमे इस बातको स्वीकार करना भी पडे तो भी उसमे एक अव्याख्येय विरोधाभास तबतक रहता है जब तक हम या तो यह न मान ले कि इसके पीछे कुछ और हैं, जड प्रक्रियाके आवरणके पीछे एक चैत्यिक शक्ति है या, फिर, मन प्राणकी प्रक्रिया मात्र है और प्राण जडकी प्रक्रिया मात्र। अत अन्तमे हमे यह मानना होगा कि भौतिक सिद्धान्त जडके अन्दर प्राणके उद्भवके रहस्यकी और इसी तरह प्राणके अन्दर मनके उद्भवके रहस्यकी व्याख्या विशुद्ध जड कारणो और जड सघटनके द्वारा करनेमे समर्थ है। यहीं उन कठिनाइयोकी भीड लगने लगती है जो इस सिद्धान्तको, कमसे कम अभी तक, निराशाजनक अपर्याप्तताका दोषी ठहराती हैं, और उस अपर्याप्तताका स्वरूप, उसका मर्म, उसकी सबसे बडी बाधा, पीछेकी ठीक उसी वस्तुके लिये, किसी चैत्यिक तत्वके लिये, एक प्रच्छन्न आन्तरात्मिक प्रक्रियाके लिये और विकासक्रमके सत्यके एक अधिक जटिल और कम जडवादी विवरणके लिये अवकाश छोडते है।

जडवादी मान्यता यह है – और यह आनुमानिक मान्यतासे बढकर नही है क्योकि यह कभी प्रमाणित नही हुई – कि निर्जीव जडका विकास किन्ही अज्ञात अवस्थाओमे अचेतन प्राणके व्यापारमे परिणत होता है जो अपने यथार्थ स्वरूपमे जड ऊर्जाकी क्रिया और प्रतिक्रिया मात्र हैं, और फिर किन्ही अज्ञात अवस्थाओमे उसीका विकास सचेतन मनके व्यापारका परिणाम होता है जो अपने यथार्थ स्वरूपमे जड ऊर्जाकी ही क्रिया और प्रतिक्रिया है। यह चीज प्रमाणित नही हुई है, परन्तु दावा यह किया जाता है कि इससे अन्तर नही पडता, इसका अर्थ केवल यही है कि हमे अभी तक पर्याप्त ज्ञान नही है। परन्तु एक दिन हम जानेगे,—अनुमान कर सकते हैं कि जब किसी उपयुक्त रूपसे सगठित स्नायविक शरीरमे और जीव-विज्ञानके किसी गैलीलिओमे अधिक समृद्ध रूपसे मस्तिष्कमे वह आवश्यक दैहिक प्रतिक्रिया घटित हो चुकी होगी जिसे हम या तो सबोधि या युक्ति-बुद्धिकी वह धारा कहते है जिसके अन्तमे आविष्कार प्राप्त होता है, तब हम जानेंगे,—और तब यह महान् और सरल सत्य वैसे ही प्रमाणित होगा जैसे कि इतनी सारी अन्य चीजे प्रमाणित हुई हैं जिनका मानवजातिकी छिछली सामान्य

वुद्धिने कभी उपहास किया था। परन्तु कठिनाई यह है कि उसका प्रमाणित होना सम्भव नही लगता। प्राण अपेक्षाकृत वहुत कम कठिनाई खडी करता है, किन्तु उसके प्रसगमे भी ऐसी रसायनिक अथवा अन्य स्थूल और यात्रिक अवस्थाओका आविष्कार जिनमे प्राणको प्रकट होनेके लिये उद्दीप्त किया जा सकता है, इतना ही प्रमाणित करेगा कि वे शरीरमे प्राणकी अभिव्यक्तिको लिये अनुकूल या आवश्यक अवस्थाएँ हैं,—वस्तुओकी प्रकृतिको देखते हुए ऐसी अवस्थाएँ होनी ही चाहिये,—परन्तु यह नही कि प्राण विश्वव्यापी सत्ताकी शक्तिका कोई अन्य, नया और उन्चतर वल नही है। स्थूल अवस्थाओ और उद्दीपनके साथ प्राणके प्रत्युत्तरोका सम्वन्ध वहुत स्पष्टतासे प्रमाणित करता है कि प्राण और जड सम्वद्ध हैं और ये दो प्रकारकी ऊर्जाएँ एक दूसरीपर क्रिया करती हैं, जैसा करना कि सह-अस्तित्व रखनेके लिये उनके लिये वस्तुत आवश्यक भी है,—यह एक वहुत प्राचीन ज्ञान है, किन्तु इससे इस तथ्यसे छुटकारा नही मिलता कि शारीरिक प्रत्युत्तरके साथ साथ एक ऐसा तत्व रहता है जो स्नायवीय उत्तेजनाकी प्रकृतिवाला और एक आरम्भिक या दमित चेतना लगता है और वही चीज नही होता जो कि उसकी सगिनी शारीरिक प्रतिक्रिया होती है।

हम जव मनकी वातपर आते हैं, तो देखते हैं,—और शरीरी मनमे अन्यथा हो भी कैसे सकता था?—कि एक प्रत्युत्तर है, पारस्परिक क्रिया है, सम्वन्ध है, चाहे तो कहे कि एक सादृश्य है, परन्तु सादृश्यका कोई भी परिमाण यह नहीं दिखला सकता कि कोई भी शारीरिक उत्तर किस तरह एक चेतन क्रिया, वोध, भावावेग या विचार-प्रत्ययमे परिवर्तित किया जा सकता या वैसा हो जा सकता या अपने-आप ही वैसा परिणाम सघटित कर सकता है, न ही वह यह प्रमाणित कर सकता है कि प्रेम रसायनिक उत्पत्ति है या कि प्लाटोका भाव-सिद्धान्त या होमरका इलियड या योगीका विश्वचैतन्य दैहिक प्रतिक्रियाओका साम्मिलन या घूसर मस्तिष्क-द्रव्यके परिवर्तनोका सश्लेप या वैद्युत स्फुलिगोका ज्वलत चमत्कार मात्र है। केवल यही नहीं है कि सामान्य वुद्धि और कल्पना इन सिद्धान्तोसे चौकती है,—इस आपत्तिकी तो अवहेलना की जा सकती है, केवल यही नही है कि वोध, युक्ति-वुद्धि और सवोधिको एक वलात्कृत और अति विस्तारित अनुमितिके निमित्त अलग हटा देना होता है, अपितु यह भी है कि जिम वस्तुकी व्याख्या करनी है और जिस वस्तुसे उमकी व्याम्व्या करनी चाही जाती है इन दोनोके वीच अन्तरकी एक खाई है जो पाटी नही जा सकती, भले ही हम स्नायवीय मम्वन्वो और मनो-दैहिक मेतुओको कितना ही क्यो न स्वीकार कर ले। और यदि भौतिक वैज्ञानिक अनेक मकेत-कारी तथ्योकी वात कहता है और एक दिन इन दुर्दम कठिनाइयोपर विजय पानेकी आशा करता है, तो दूसरी ओर ऐमे चैत्य व्यापारोका आरम्भिक ममूह भी है जो मम्भवतया

वैज्ञानिकके सिद्धान्तको अगाध जलराशिमे डुबो दे। इन सदा स्पष्ट रहनेवाली आपत्तियोकी अलघ्यता अधिक व्यापक क्षेत्रमे मानी जाने लगी है, किन्तु चूँकि भूतकालका अधिकार अभी भी बहुत टिका हुआ है, अत उनपर आग्रह करना आवश्यक है जिससे कि हमे ऐसे अधिक उदार अभ्युपगमोकी ओर बढनेका स्पष्ट अधिकार हो जो हमारी सत्ताकी समस्याको किसी यान्त्रिक सरलतामे घटा डालनेका असामयिक प्रयत्न नही करते।

इनमेसे एक यह प्राचीन दृष्टि है कि केवल मन और अन्तरात्मापर शरीर और प्राणके प्रभावको ही नही, अपितु शरीर तथा प्राणपर अन्तरात्माके प्रभावको भी विचारमे लेना होगा। क्रमविकासका भाव इसमे भी है, परन्तु शरीर और प्राणके क्रमविकासको, यहाँ तक कि मनके वर्द्धनको भी, एक ऐसे आन्तरात्मिक क्रमविकासकी आनुषगिक वस्तुएँ माना जाता है काल जिसका गतिपथ है और अनेक अन्य लोकोके बीच पृथ्वी जिसका रगमच। इस सिद्धान्तके प्राचीन भारतीय विवरणमे क्रमविकास, आनुवशिकता और पुनर्जन्म विश्वव्यापी प्रस्फुटनकी तीन सहचारी प्रक्रियाएँ हैं, क्रमविकास इनके जुलूसका लक्ष्य है, पुनर्जन्म प्रधान पद्धति, आनुवशिकता स्थूल अवस्थाओमेसे एक है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्याके सारे सश्लिष्ट तत्वोकी सामजस्यपूर्ण व्याख्याके लिये, कमसे कम, एक ढाँचा प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक विचार दैहिक सत्तासे आरम्भ करता और चैत्यिकको शरीरका परिणाम और परिस्थिति बना देता है, क्रमविकासका यह दूसरा विचार अन्तरात्मासे आरम्भ करता और शारीरिक सत्तामे एक ऐसे उपकरणको देखता है जिससे जडके विश्वमे लीन अध्यात्म-सत्ता अपने प्रति जाग्रत् होगी।

चार

पुनर्जन्म और आन्तरात्मिक विकासक्रम

जीवन और वस्तुओके वारेमे मनुष्य आजकल जो विचार वनाते हैं, वे अधिकतम अशमे व्यावहारिक निर्माण होते हैं। वे उस वुद्धिके ही रूप होते हैं जो अपने लिये अपने परिपार्श्वका केवल एक कामचलाऊ विवरण पानेसे सरोकार रखती है जिससे हमारे व्यक्तित्वकी वृद्धि, क्रिया और तुष्टिके तात्कालिक व्यवसायके लिये पर्याप्त सकेत-सूत्र मिले, जो ऐसी वस्तु हो जो हमारी कालगत यात्राके लिये व्यवहार्य, जीवनयोग्य, प्रभावशाली हो। यदि वस्तुओकी किसी यथार्थ सत्यतासे उसका सादृश्य या सीधा सम्पर्क है तो यह वहुत-कुछ सयोगकी वात है। यदि हम अपनी सहज और आसानीसे माननेवाली वुद्धिको उसकी सत्यताका विश्वास दिला सके और विचार, कर्म तथा जीवनानुभवके लिये उसके परिणामोको उपयोगी और फलप्रद पाते हो तो इतना भर पर्याप्त लगता है। यह सच है कि हमारे अन्दर एक अन्य, अव्यावहारिक वुद्धि है जो वौद्धिक और प्राणिक व्यक्तित्वकी इस माँगसे छुटकारा पानेका उद्योग करती है, वह वस्तुओके सत्यको निरावृत रूपमे और निष्काम भावसे देखना चाहती है, रागहीन, स्वच्छ और विशुद्ध मनकी स्थिर जलराशिमे सत्यकी सच्ची मूर्तिको प्रतिविम्वित करना चाहती है। परन्तु इस अधिक स्थिर और श्रेष्ठतर वुद्धिकी क्रियाएँ दो अति वडी कठिनाइयोसे वाधा पाती हैं। प्रथमत , यह करीव करीव असम्भव लगता है कि उसे हमारे वाकी भागसे, सामान्य वौद्धिकतासे, विश्वास करनेकी इच्छासे, वुद्धिकी उस सहज प्रवृत्तिसे पूरा छुडा दिया जाय जो पसन्द और निर्वाचनके एक प्रकारके सूक्ष्म तत्व द्वारा उस विचार-रीतिको वने रहनेमे सहायता देती है जो हमारे व्यक्तिगत झुकाव या हमारी प्रकृतिके सम्पादित ढाँचेके उपयुक्त होती है। और फिर, हमारी वुद्धि जिस सत्यको प्रतिविम्वित करती है, वह सत्य क्या है? आखिरकार यह परम सत्यका कोई परोक्ष प्रतिरूप है, न कि उसका साक्षात्-दृष्ट आत्मा और शरीर, वह एक ऐसा प्रतिरूप है जो, यदि कोई 'सद्वस्तु' सत्यत है भी तो—उस 'सद्वस्तु' के गेमे तथ्य, प्रतीक, प्रक्रियासे घडा गया है जिसका अनुमान हम आत्मा और विद्यमान वस्तुओके विपयमे मानव-मनके लिये प्राप्य रहनेवाले वहुत ही सीमित अनुभवसे कर सकते हैं। अतएव जवतक कोई ऐसा साधन नही हो जिसके द्वारा ज्ञान सारे आवरणोको विदीर्ण करके स्वय 'सद्वस्तु' के अनुभवतक पहुँच सके, या जव तक कोई विश्व्यापी 'शब्द',

दिव्य मानस या अतिमानस न हो जो अपने-आपको और सब वस्तुओको जानता हो और हमारी चेतना उसे प्रतिबिम्बित कर सके या उसके स्पर्शमे आ सके, तबतक एक अपर्याप्तता और अनिश्चिति पीछा करती हुई सदा ही हमारी बुद्धिकी उच्चतम शक्ति और विस्तृततम पहुँचमे भी अपनी बाधिका पकड बनायी रखेगी और मानव-ज्ञानका सारा श्रम उससे आक्रान्त रहेगा।

ये अक्षमताएँ जगत्के अस्तित्व और हमारे अपने अस्तित्वके स्वरूपके मूलभूत प्रश्नोके लिये जितनी उलझनवाली होती हैं उससे अधिक और कही नही, किन्तु इन्ही प्रश्नोके लिये विचारशील मानवजातिको सबसे अधिक अनुरागपूर्ण रुचि होती है, क्योकि हमारे लिये अन्तमे यही चीज अत्यन्त महत्वकी होती है, कारण, प्रत्येक अन्य वस्तु, किसी क्षण विशेषकी स्थूल तात्कालिक व्यावहारिकताको छोडकर, इसी बातके समाधानपर निर्भर करती है। और तात्कालिक व्यावहारिकताका प्रश्न भी, जब तक यह महान् प्रश्न निर्णीत नही हो जाता, एक ऐसी यात्रामे ठोकर खाते आगे बढते जाना मात्र होता है जिसका गन्तव्य या लक्ष्य, अर्थ या आवश्यकता, हमे मालूम नहीं। धर्म यह दावा करते हैं कि उन्होने इन महती समस्याओका समाधान प्रेरित अथवा अपौरुषेय निश्चितिके साथ कर दिया है, परन्तु उनकी विभिन्नताओकी विपुलता यह दिखलाती है कि उनमे भी विचारोका, परम सत्यके पृथक पहलुओका चुनाव किया गया है,—सशयात्मा कहेगा कि वे कल्पना और मिथ्यात्वके दिखावे हैं,—और सीमित आध्यात्मिक अनुभवसे बना निर्माण है। उनमे भी निर्वाचित और सकल्पित विश्वासका, किसी उच्च व्यावहारिक लक्ष्य तथा उपयोगिताका तत्त्व है, वह चाहे जीवके जीवनके दु ख या अवास्तवतामेसे परित्राणके लिये हो, चाहे स्वर्गिक आनन्द या धार्मिक-नैतिक विधान और पथ-प्रदर्शनके लिये। यह बहुत ही स्पष्ट है कि दार्शनिक पद्धतियाँ महान् चिन्तनशील विचारोके केवल साध्य और निर्वाचित निर्माण हैं। अधिक प्राय वे सुनिश्चित निश्चितियाँ होनेकी अपेक्षा बल्कि युक्तिबुद्धिकी सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं, या यदि वे आध्यात्मिक अनुभवपर आधारित हैं तो भी वे निर्वाचनात्मक निर्माण ही हैं, अज्ञेय भगवान् या अनिर्वचनीय अनन्तमे खुलनेवाले द्वारकी ओर ले जानेवाला एक प्रकारका कोई महान् वास्तुशिल्पीय मार्ग है। आधुनिक वैज्ञानिक मनने हमे सारे निरे बौद्धिक निर्माणोसे छुटकारा देने और सत्य और केवल निश्चित सत्यके आमने-सामने खडा करनेकी घोषणा की, उसने मनुष्यको धर्मके विलक्षण भार और दर्शनशास्त्रकी धुंधली व्यर्थताओसे छुटकारा दिलानेके अधिकारका दावा किया। परन्तु अब धर्म और दर्शन विज्ञानपर टूट पडे हैं और उन्होने विज्ञानको समान रूपसे, उसके अपने ही तथ्य-कथनके आधारपर, मानवीय युक्तिबुद्धिकी दोनो

सर्वव्यापी कठिनाइयोके अधीन होनेका अपराधी ठहराया है। स्वय विज्ञानकी पद्धति युक्तिबुद्धिका केवल एक अन्य व्यवहार्य और फलदायक निर्माण लगती है जब कि वह बुद्धि भौतिक जगत्का और उसके साथके हमारे मम्बन्धोका एक कार्योपयोगी विवरण अपने-आपको दे रही होती है, वह इससे अधिक और कुछ नही लगती। और, उसका ज्ञान अपने तथ्यो और अपने दृष्टिकोणके परिसीमनसे घातक रूपमे बद्ध रहता है। विज्ञान भी सत्यकी केवल एक आशिक मूर्ति ही रचता है, उस मूर्तिपर बहुत ही अनिश्चितिके लक्षणकी छाप रहती है और अपर्याप्तताकी दुष्ट छाप तो और भी अधिक स्पष्टतासे लगी होती है।

हमे मानना होगा कि चूँकि मानवीय युक्तिबुद्धि अज्ञानके आरम्भ-विन्दुसे चलती और अज्ञानके एक विशाल पर्यावारिक वृत्तमे विचरण करती है, अत वह अवश्य ही प्राक्कल्पना, पूर्वानुमान और मत द्वारा अग्रसर होगी जिनकी सत्यताका परीक्षण हमारी बुद्धि और अनुभवको विश्वास करानेवाली किसी रीतिसे करना होगा। परन्तु भेद यह होता है कि धार्मिक मन किसी मत या पूर्वानुमानको श्रद्धासे, एक विश्वासेच्छा, एक भावुक निश्चितिसे स्वीकार करता है,—वस्तुत वह इन्हे मत या पूर्वानुमानके नाम ही नही देता, क्योकि उसके लिये ये अनुभूत वस्तुएँ हैं,—और उनकी सत्यताका प्रमाण उसे वर्द्धित होती आध्यात्मिक सबोधि और अनुभूतिमे मिलता है। सत्ताकी वास्तविकताओ और आवश्यकताओके साथ उनका सगत मेल रहनेके नाते दार्शनिक मन उन्हे स्थिरता और विवेकसे स्वीकार करता है, उनकी सत्यताका परीक्षण वह युक्तिबुद्धि और बौद्धिकभावापन्न सबोधिकी सारी माँगोके प्रति एक व्यापक और अटूट सामजस्य द्वारा करता है। परन्तु सशयधर्मी मन,—निरा सन्देह करनेवाला या हठधर्मी अस्वीकृति करनेवाला मन नही, जो सामान्यत सशयधर्मी मनका नाम अपने लिये हड़प लेता है, प्रत्युत सावधान, निष्पक्ष और सयत जाँच-पडताल करनेवाला, खुला और सन्तुलित मन,—अपनी प्राक्कल्पनाओको एक अस्थायी रूपसे मानता है और उनकी सत्यताका परीक्षण वह निर्देश्य तथ्योकी उस किसी भी श्रेणी या कोटिके समर्थन द्वारा करता है जिसे वह प्रमाणके लिये अपना मानदण्ड मानता है और निर्णायक अधिकार या सत्यताका रूप देता है। इन तीनो पद्धतियोके लिये काफी स्थान रहता है, और इसका कोई कारण नही कि हमारा आधुनिक सश्लिष्ट मन इन सबोको एक साथ लेकर ही क्यो न आगे वढे। कारण, यदि सशयात्मिका मनोवृत्ति या अस्थायी रूपमे स्वीकार करनेवाली मनोवृत्ति हमे अपनी सत्यकी मूर्तिको विचार और ज्ञानकी नयी सामग्रीके प्रकाशमे परिवर्तित करनेके लिये अधिक तैयार करती है तो धार्मिक मन भी, वशर्ते कि वह नवीन आध्यात्मिक अनुभवकी ओर दृढता और गभीरतामे

खुला हो, अधिकाधिक विशालतर आलोककी ओर अधिक तेजीसे बढ सकता है, और इस बीच हम उसके सहारे निश्चित डग भरते हुए चल सकते हैं और अपनी सत्ताके विकास तथा पूर्णताके प्रधान कार्यमे निरापदतासे चल सकते हैं। दार्शनिक मनका यह उपयोग है कि यदि वह दार्शनिक सिद्धान्तके किसी बन्द वृत्त द्वारा सकुचित न हो जाय तो वह हमारी मनोवृत्तिको आवश्यक विशालता और खुलापन देता है और इसके अतिरिक्त, हमारी अन्य क्रियाके सामजस्यको उच्चतर बुद्धिकी व्यवस्थित स्वीकृति द्वारा समर्थन देता है।

अन्तरात्मा तथा पुनर्जन्मके इस विषयकी आरम्भिक प्राक्कल्पना अब हमारे सामने बिलकुल खुल गयी है, व्यवधान गिर पडा है। कारण, अब यदि कोई बात निश्चित है तो वह यह है कि भौतिक विज्ञान प्रक्रियाओंके सकेत-सूत्र तो दे सकता है, किन्तु वस्तुओके सत्यको हस्तगत नही कर सकता। इसका अर्थ यह होता है कि जगत् तथा अस्तित्वका समूचा रहस्य भौतिक नहीं है और हममे भी हमारा शरीर हमारी समूची सत्ता नही। अत प्रकृतिमे, और हममे भी, कोई अतिभौतिक तत्त्व है जिसे हम अन्तरात्मा कह सकते हैं,—अन्तरात्माका ठीक-ठीक सार-द्रव्य चाहे जो कुछ भी हो,—और उस अतिभौतिक तत्त्व द्वारा ही हमारे उन महत्तर सत्यो तथा सूक्ष्मतर अनुभवोको पानेकी सम्भावना है जो भौतिक विज्ञान द्वारा खीचे गये सकीर्ण और कठोर वृत्तको बडा करेगे और हमे सद्वस्तुके समीपतर लायेंगे। आध्यात्मिक अनुभवकी जो कोई भी निश्चितियाँ हमारे आन्तरिक विकासके लिये हमारी भूमि या हमारे आत्मज्ञानके मार्ग-स्तम्भ हो गयी हैं उनपर दृढतासे बढ़नेसे हमे रोकनेवाला अब कुछ भी नही है, अधिकतम युक्तिधर्मी मनको भी रोकनेवाला अब कुछ नहीं है,—क्योकि सच्चे युक्तिबुद्धिवादके लिये, सच्ची स्वतन्त्र विचारणाके लिये अब यह आवश्यक नही रह गया है कि, जैसा कुछ समय तक अति जल्दबाजी और असहिष्णुतासे पहले किया जाता था, उन्हे अन्तरात्माको नही मानना और आध्यात्मिक दर्शन तथा धर्मके सत्योका तिरस्कार करना ही मान लिया जाय। वस्तुत आध्यात्मिक अनुभवकी निश्चितियाँ अन्तरात्माकी वास्तविकताएँ हैं। किन्तु उस ज्ञानका ठीक-ठीक ढाँचा और उसका सबसे अच्छा निर्माण हम तबकर सकेंगे जब कि नये अभिवर्द्धित सबोधि-स्फुरणोकी सहायतासे आगेका आध्यात्मिक अनुभव हो, वह अनुभव विस्तीर्ण दार्शनिक युक्तिबुद्धिके सुझावो द्वारा प्रमाणित हो और भौतिक तथा अभौतिक विज्ञानोसे हमे जो कोई भी सहायक तथ्य मिल सकते हो उनका फलदायक रूपमे उपयोग किया जा रहा हो। ये अन्तरात्माकी प्रक्रियाके सत्य हैं, इनके पूरे प्रकाशको हमारे बाहरके और हमारे अन्तरके जगत्के प्रेक्षण और परीक्षणात्मक ज्ञान द्वारा आना होगा।

अन्तरात्माका अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाय तो अकेली यह बात अपनी किसी आवश्यकताके बलपर और किसी अनिवार्य अगले डग द्वारा पुनर्जन्मको माननेकी ओर नही ले जाती। यह अनिवार्य परिणाम केवल तभी आयगा यदि आन्तरात्मिक क्रमविकास जैसी कोई चीज हो, वह क्रमविकास सदा अपने-आपको चरितार्थ करता हो और अस्तित्व-व्यवस्था तथा काल-प्रक्रियाके नियमका अटल अग हो। इसके अतिरिक्त, वैयक्तिक अन्तरात्मा है, ऐसी कोई मान्यता पुनर्जन्मके सत्यकी पहली शर्त है। कारण, अस्तित्वके विषयमे एक सत्याभासी मत है जो एक सर्वात्माको, एक विश्वव्यापी सत्ता तथा सभूतिको मानता है जिसका कोई सवेद्य परिणाम भौतिक जगत् है, परन्तु वह यह नही मानता कि हमारी आध्यात्मिक वैयक्तिकताका कोई स्थायी सत्य भी है। वह सर्वात्मा निरन्तर विकसित हो सकता है, अपनी सभूतिका क्रमविकास धीमे-धीमे किन्तु आग्रहसे कर सकता है, परन्तु प्रत्येक मानव-व्यक्ति या प्रतीयमान वैयक्तिक प्राणी इस विचारधाराके अनुसार सर्वात्मा और उसके क्रमविकासका एक क्षण मात्र है, उस सर्वात्मामेसे उस रचनाके द्वारा उद्भूत होता है जिसे हम जन्म कहते हैं और उसीमे उस विघटन द्वारा वापस जा पडता है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। परन्तु यह सीमाकारी विचार केवल तभी ठहर सकता है जब कि हम यह मानते हो कि एक सर्जनात्मक जैव क्रमविकास और उसका भौतिक आनुवशिकता-का उपकरण ही हमारी सारी मनोमयी और आध्यात्मिक सत्ताका सारा कारण है, परन्तु ऐसा हो तो हमारा कोई यथार्थ अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता नही है, हमारा आन्तरात्मिक व्यक्तित्व या हमारी आध्यात्मिक सभूति हमारे प्राण तथा शरीरका फल ही है। अब पुनर्जन्मका प्रश्न वैयक्तिक प्राणीके भूत और भविष्यके एक ही मूल-भूत प्रश्नपर लगभग पूरा निर्भर करता है। यदि सारी प्रकृतिकी सृष्टिको शारीरिक जन्मपर आश्रित माना जाय तो व्यक्तिके शरीर, प्राण और अन्तरात्मा उसके पूर्ववशके शरीर, प्राण और अन्तरात्माका जारी रहना मात्र हैं, और आन्तरात्मिक पुनर्जन्मके लिए कोई स्थान नही। मानव-व्यक्तिकी भूतकालमे उनसे स्वतत्र सत्ता नही होती, न उसका कोई स्वतत्र भविष्य हो सकता है, वह अपनी सन्ततिमे अपनी दीर्घतर स्थायिता पा सकता है,—जैसा कि उपनिषद्ने कहा है सन्तान उसका द्वितीय या धारावाहिक आत्मा हो सकता है,—परन्तु उसके लिये कोई अन्य पुनर्जन्म नही है। किसी मनोमय अथवा अध्यात्ममय पुरुषकी अध्यक्षतामे वैयक्तिकताका कोई अविच्छिन्न धाराप्रवाह नही है जो शरीरके विघटनके बाद विजयी रूपसे टिका रहता हो। दूसरी ओर, यदि हममे कोई ऐसा तत्त्व हो, यही नही, वह यदि सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व भी हो जिसकी व्याख्या इस तरह नही की जा सकती, किन्तु जो जातिमानस और शारीरिक पूर्वज-

परम्परासे भिन्न अतीतको मानकर चलता हो या भावी विकासक्रमको स्वीकार करता हो, तो किसी प्रकारका आन्तरात्मिक पुनर्जन्म तर्कसगत आवश्यकता हो जाता है।

अब, ठीक यही वह स्थल है जहाँ शारीरिक तथा प्राणिक क्रमविकास और आनुवशिकताके ये दावे गिरते लगते हैं कि वे ही हमारी समूची मनोमयी और अध्यात्ममयी सत्ताके कारण हैं। अवश्य ही यह दिखाया जा चुका है कि हमारा शरीर और हमारी प्राणक्रियाका सबसे अधिक स्थूल अग बहुत प्रधानत आनुवशिकताके ही परिणाम हैं, परन्तु इस तरह नही कि पूर्वजोकी देनसे भिन्न किसी सहायक और शायद वस्तुत प्रधान चैत्यिक कारणका बहिष्कार किया जाय। कह सकते हैं कि यह भी दिखाया गया है कि हमारी चेतन प्राणिकता और मनके वे अग जो उसपर निर्भर करते हैं, स्वभावका कुछ अश, चरित्रका कुछ अश, कुछ अन्तर्वेग और प्रवणताएँ, ये चीजे बहुत दूरीतक क्रमवैकासिक आनुवशिकता द्वारा घडी – या केवल प्रभावित ही ?—होती हैं, परन्तु ऐसा नही है कि वे सम्पूर्णतया इसी शक्तिके कारण होती हो, ऐसा नही है कि अन्तरात्मा नहीं है, ऐसी आध्यात्मिक सत्ता नही है जो इस उपकरण-समूहको स्वीकार तो करती हो, उसका उपयोग भी करती हो, किन्तु उसका सृष्ट परिणाम नही हो या अपनी सभूतिमे असहाय रूपसे उसके अधीन नही हो। हमारे मनके उच्चतर अगोपर आध्यात्मिक स्वतन्त्रताकी एक निश्चित छाप और भी अधिक लगी होती है। वे क्रमवैकासिक आनु-वशिकताकी सर्वथा असहाय रचनाएँ नही हैं परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि ये सारी चीजे परिवेश और उसके दबावो और अवसरोके प्रभावमे बहुत अधिक रहती हैं। और हम चाहे तो इससे एक सीमाकारी निष्कर्ष निकाल सकते हैं, हम कह सकते हैं कि ये विश्वव्यापी अन्तरात्माका एक पर्व हैं, उसकी उस क्रमविकास-प्रक्रियाका अग हैं जो निर्वाचनके सहारे होती है, जाति, न कि व्यक्ति, अविच्छिन्न तत्त्व है और हमारा सारा वैयक्तिक प्रयत्न और अर्जन जो कि सत्यत. नही, प्रतीयमान रूपसे ही स्वतन्त्र है, मृत्युके साथ समाप्त हो जाता है और हमारे प्राप्त लाभका केवल उतना ही अश रह जाता है जिसे जातिमे चालू रखनेका चुनाव विश्वव्यापिनी सत्ता या स्थायी सभूतिमे रहनेवाली किसी गुप्त इच्छा या चेतन आवश्यकताने किया हो।

परन्तु जब हम अपने उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्वोपर आते हैं तो देखते है कि वहाँ हमे एक बहुत ही स्पष्ट और परम स्वतन्त्रता मिलती है। हम अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिकी शासिका शक्तिसे अपने आन्तरात्मिक क्रमविकासको परिवेश द्वारा या जाति-अन्तरात्माके चाप द्वारा हो सकनेवाले किसी भी निर्धारणसे बहुत आगे ले जा सकते हैं। अन्य लोकोमे बादके जीवनके प्रमाण या अतीतके जन्मोकी किसी स्मृतिसे सर्वथा अलग रहकर यह बात ही उस सिद्धान्तको पर्याप्त माननेसे इन्कार करनेके लिये

पर्याप्त आधार होती है जिसके अनुसार व्यक्तिकी सत्ता क्षणिक है और क्रमवैकासिक विश्वसत्ता ही एकमात्र सत्य। अवश्य ही, इससे यह नही दर्शित होता कि वैयक्तिक सत्ता सर्वात्मासे स्वतन्त्र है, हो सकता है कि वह कालमे उसका एक रूप होनेके अतिरिक्त और कुछ न हो। परन्तु हमारे प्रसगके लिये यह काफी है कि वह एक स्थायी आन्तरात्मिक रूप है जो शरीरके जीवन द्वारा निर्धारित नही होता, उसके विघटनसे समाप्त भी नही होता, वरन् उसके बाद भी स्वतन्त्र रूपसे बना रहता है। कारण, यदि वह इस तरह भविष्यमे शारीरिक जाति-सातत्यसे स्वतन्त्र है, यदि वह इस तरह कालमे अपने भावी आन्तरात्मिक क्रमविकासका निर्धारण करनेमे अपनी समर्थता प्रदर्शित करता है, तो उसका कोई ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व गुप्त रूपमे सदा ही रहा होगा और उसने अपने अतीतके कालगत आन्तरात्मिक क्रमविकासको यथार्थमे, यद्यपि निस्सन्देह किसी अन्य और परीक्ष आग्रहसे ही, अवश्य निर्धारित किया होगा। सम्भवतया वैश्व अविच्छिन्नताकी अवधिमे वह केवल सर्वात्माके अन्दर ही अस्तित्वमे रहा हो, उसीमेसे उद्‌गत होकर उसमे गया हो, और अन्तमे उसीके अन्दर चला जाय। या इसके विपरीत, हो सकता है कि उसके अन्दर उसका अस्तित्व वैश्व अविच्छिन्नतासे पहले या, यह कहना अधिक अच्छा होगा, उससे स्वतन्त्र रूपमे रहा हो, और किसी प्रकारका शाश्वत व्यक्ति हो। परन्तु पुनर्जन्मके मतके लिए यह काफी होता है कि वस्तुत व्यक्तिकी एक गुप्त आन्तरात्मिक अविच्छिन्नता है, न कि शरीरोका भौतिक ताता ही जिसे सर्वात्मा मानसिक या आध्यात्मिक वैयक्तिकताके बिलकुल अल्पकालिक भ्रमसे अनुगर्भित करता हो।

अस्तित्वके विषयमे ऐसे मत हैं जो वैयक्तिक अन्तरात्माको तो स्वीकार करते हैं, किन्तु आन्तरात्मिक क्रमविकासको नही। उदाहरणके लिए एक यह अनोखा सिद्धान्त है कि अन्तरात्माका कोई अतीत तो नही, परन्तु भविष्य होता है, वह शरीरके जन्म द्वारा सृष्ट है, परन्तु शरीरकी मृत्युसे उसका नाश नही होता। किन्तु यह मान्यता उग्र और अयौक्तिक है, यह एक ऐसी कल्पना है जिसकी सत्यताका परीक्षण नही हुआ है, जिसमे सत्याभास भी नही। इसमे यह कठिनाई निहित है कि इसके अनुसार प्राणीका आरम्भ तो कालमे हुआ परन्तु वह शाश्वत होकर टिका रहता है, इसके अनुसार एक अमर सत्ता है जो अपने अस्तित्वके लिए शारीरिक जननकी क्रियापर निर्भर है, फिर भी स्वय सदैव और सम्पूर्णतया अभौतिक है और उस जननके परिणामगत शरीरसे स्वतन्त्र है। ये युक्तिबुद्धिके लिए अलघ्य आपत्तियाँ हैं। परन्तु यह कठिनाई भी रहती है कि इस जीवको विरासतमे एक ऐसा अतीत मिलता है जिसके लिए वह किसी भी भाँति उत्तरदायी नही, या वह ऐसी आधिपत्यकारिणी प्रवणताओके भारके नीचे रहता

है जो उसपर उसके अपने कर्म द्वारा आरोपित नही हैं, और फिर भी वह अपने भविष्यके लिए उत्तरदायी है जिसके बारेमे ऐसा माना जाता है कि वह किसी भी तरह उस बहुधा शोचनीय रहनेवाली विरासत या उस अन्याय्य सृष्टि द्वारा निर्धारित नही है और सम्पूर्णतया जीवकी अपनी ही करनी है। हम जैसे हैं वैसे बनाये जानेमे हमारा कोई वश नही और फिर भी हम जैसे हैं उसके लिए हम उत्तरदायी हैं या, कमसे कम, हम बादमे कैसे होंगे, उसके लिये उत्तरदायी हैं, और हम मूलावस्थामे क्या हैं, बडी दूरीतक अनिवार्यतया उसीसे यह निर्धारित होता है कि हम बादमे क्या होंगे। और, हमारे लिये सुयोग भी केवल यही है। प्लेटो और बर्बरको, भाग्यवान् ऋषि-पुत्र या मुनि-पुत्र और आरम्भसे अन्ततक किसी बडे आधुनिक नगरकी नीचेसे नीचेकी दुर्गन्धभरी भ्रष्टतामे डूबे हुए जन्मजात तथा प्रशिक्षित अपराधीको अपने समूचे शाश्वत भविष्यका निर्माण समान रूपसे इस एक ही असम जीवनके कर्म या विश्वासो द्वारा करना है। यह ऐसा विरोधाभास है जो अन्तरात्मा और युक्तिबुद्धि, नैतिक बोध और आध्यात्मिक सबोधि, दोनोको ठेस पहुँचाता है।

फिर यह सजातीय विचार भी है,—और इसके पीछे एक सत्य अस्पष्टतासे झिलमिला रहा है,—कि मनुष्यका अन्तरात्मा एक उच्च, शुद्ध और महान् वस्तु है, वह अन्तरात्मा भौतिक जीवनमे आ गिरा है और उसे शरीरमे अपनी प्रकृतिके व्यवहार और अपने कर्मो द्वारा अपना उद्धार करना ही होगा, अपनी स्वर्गिक स्व-प्रकृतिमे वापस जाना ही होगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि उस कठिन वापसी यात्राको पूरा करनेके लिये एक ही पार्थिव जीवन सबके लिए पर्याप्त नही होता, बल्कि अधिकतम लोगोसे यह यात्रा पूरी ही छूटी रह जा सकती और रह जाती है। और तब हमे या तो यह कल्पना करनी होगी कि अमर अन्तरात्माका विनाश हो सकता है या वह शाश्वत नर्कके लिए अभिशप्त हो सकता है, या नहीं तो उसे जो यह दीन अन्याधीन जीवन प्रतीयमान रूपसे दिया गया है इसके अलावा उसके अन्य अस्तित्व भी हैं, जीवके ऐसे जीवन या स्थितियाँ हैं जो उसके पतन और निश्चित उद्धारके अन्तिम कार्यान्वयनके बीच आती हैं। परन्तु इनमेसे पहली कल्पनामे उस अन्य विरोधाभासकी सारी कठिनाइयाँ रहती हैं। अन्तरात्माके नीचे आनेके कारणकी समस्याके अलावा यह देख सकना भी कठिन है कि ये विभिन्न अन्तरात्मा सीधे स्वर्गिक सत्तासे पतित होकर तत्काल ही इतने विपुल अन्तरवाली श्रेणियोमे कैसे आ गये और वह भी इस तरह कि प्रत्येक अन्तरात्मा उन अन्यथा क्रूर और असम अवस्थाओंके लिए उत्तरदायी हो गया जिनमे रहकर उसे अपना शाश्वत भविष्य इतने सक्षेपमे निर्धारित करना होता है। यदि वर्तमान अवस्थाओके सारे परिणामोके लिये और वह बहुधा अपने अति अल्प, अनिच्छुक और कभी-कभी

सर्वथा आशाहीन अवसरका जो व्यवहार करता है उसका हिसाब इस भाँति कडाईसे देनेके लिये उसे बाध्य ठहराया जाय तो अवश्य ही प्रत्येकका कोई अतीत रहा होगा जिसने उसे उसकी वर्तमान अवस्थाओके लिये उत्तरदायी बनाया। हमारी मानवताका स्वरूप ही ऐसा है कि अन्तरात्माका एक भिन्न-भिन्न निर्माता अतीत होगा और एक परिणामगत भविष्य भी।

अत हालका वह मत अधिक युक्तिसगत है जो यह कहना चाहता है कि जब भौतिक तत्त्व और पशुका क्रमविकास इतना काफी दूर बढ गया कि पृथ्वीपर मानव-शरीरको धारण करना सम्भव हो सके, तब आत्मा या मनोमय पुरुष एक अन्य और महत्तर लोकसे उतर आया और उसने भौतिक जीवनको अगीकार किया। वह उस बिन्दुसे आरम्भ करते मानव-जीवनोकी उस लम्बी धाराकी ओर वापस देखता है जो हममेसे प्रत्येकको अपनी-अपनी वर्तमान अवस्थामे ले आयी है, और आगे एक अब भी अविच्छिन्न चलती धाराकी ओर देखता है जो सबको उनकी अपनी-अपनी कोटियो द्वारा और उनके अपने-अपने समयमे उस जिस किसी भी सम्पूर्ण रूपान्तर, पुनर्गमनकी ओर ले जायगी जो आत्म-शरीरधारी मानव-अन्तरात्माकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके लम्बे प्रयासका सिरमौर है। परन्तु, यहाँ भी फिर, वह क्या है जो आध्यात्मिक पुरुष तथा उच्चतर मन प्रकृति और भौतिक पुरुष तथा निम्नतर पशुप्रकृतिके इस सम्बन्धको उत्पन्न करता है? वह क्या है जो यह आवश्यक करता है कि यहाँ मनुष्य बन जानेवाला आत्मा निम्नतरजीवनको इस प्रकार ऊपर उठा ले? ऐसा निश्चय ही प्रतीत होगा कि कोई पूर्व सम्बन्ध रहा है, अधिकारकारी मनोमय या आध्यात्मिक पुरुष सब समय इस निम्नतर जीवनको, जिसमे वह इस तरह रह रहा है, मानवीय अभिव्यक्तिके लिये अवश्य तैयार कर रहा होगा। तब सारा क्रमविकास आरम्भसे ही एक व्यस्थित अविच्छिन्नता होगा और मन तथा अध्यात्म-तत्त्वका हस्तक्षेप कोई आकस्मिक अव्याख्येय चमत्कार नही, अपितु जो सदैव पीछे विद्यमान था, उसीका आगे आना होगा, अभिव्यक्त जीवनका एक ऐसी शक्ति द्वारा खुले रूपमे ऊपर उठाया जाना होगा जो जीवनके विकासक्रमपर गुप्त रूपसे सदैव अध्यक्षता कर रही थी।

पुनर्जन्मके इस सिद्धान्तकी यह मान्यता रहती है कि भौतिक जगत्मे सत्ताका एक क्रमविकास है जो जडतत्त्वसे शरीरधारी मनकी ओर होता है और एक विश्वव्यापी आत्मा है जो इस क्रमविकासका अन्तरात्मा है, साथ ही हमारे वैयक्तिक आत्माओका विश्वात्मामे अस्तित्व रहता है और वे अपने ऊर्ध्वमुखी मार्गका अनुसरण करते हैं, फिर चाहे वह मार्ग अपने अन्तमे हमे इगित करनेवाली जिस किसी भी अभिप्रेत परिणति या मुक्ति या दोनोकी ओर ले जाय। इसका अर्थ इससे भी बहुत अधिक हो सकता है,

परन्तु इतना तो है ही कि आन्तरात्मिक क्रमविकास यथार्थ तथ्य है और अधिकाधिक उच्चतर रूपोका धारण प्रथम प्राकट्य। निस्सन्देह ऐसा हो सकता है कि हम मानव-अन्तरात्माके लिये एक भूत तथा भविष्य तो माने किन्तु उन्हे इस पार्थिव लोकसे नीचे और ऊपर रखे और पृथ्वीपर केवल एक ही सायोगिक या सोद्देश्य जीवनको माने। परन्तु इसका अर्थ होगा प्रगतिशील अस्तित्वकी दो श्रेणियोका होना, जो परस्पर असम्बद्ध होगी और फिर भी एक अल्प क्षणके लिये मिलती होगी। पर्यटक मानव-अन्तरात्मा व्यवस्थित पार्थिव विकासक्रममे प्रवेश कर रहा होगा, और लगभग तत्काल ही उससे बाहर निकल जा रहा होगा, इसमे न तो कोई सयोजक कारण होगा, न कोई आवश्यकता ही होगी। परन्तु खास करके यह बात आध्यात्मिक तथा अति-पार्थिव सत्ता रहनेवाले अन्तरात्माकी पार्थिवता-प्रधान पशु-सत्ता और प्रकृतिके व्यापारकी, मुक्तिके लिए उसके सघर्षकी, और निम्नतर प्रकृतिको अधिगत करनेमे विभिन्न शरीरोमे उसे जो सफलता मिली है उसकी अन्तहीन भिन्नताओकी श्रेणियोकी पर्याप्त व्याख्या नही करती। एक भूतकालका पार्थिव आन्तरात्मिक क्रमविकास जो हमारी मिश्रित सत्ताकी इन विभिन्नताओ और श्रेणियोकी पर्याप्त व्याख्या करता हो, और एक भावी आन्तरात्मिक क्रमविकास जो हमे आत्माके देवत्वको मुक्त करनेके लिए प्रगतिशील रूपसे सहायता देता हो,—ये ही जड-तत्त्वकी बेडियोमे पडे उस अन्तरात्माके श्रमकी एकमात्र न्याय्य और यथोचित व्याख्या प्रतीत होते हैं जो भौतिक विश्वमे प्राण, मन तथा आत्माके सर्वसामान्य प्रगतिशील प्राकट्यके बीच मानवताकी परिवर्तनशील श्रेणीको पा चुका है। ऐसे आन्तरात्मिक क्रमविकासके लिए पुनर्जन्म एकमात्र सम्भव साधन-तन्त्र है।

पाँच

पुनर्जन्मका महत्व

जो एक प्रश्न अपनी सारी जटिलताओके कारण दर्शनशास्त्रका कुलयोग है और जिसपर मनुष्यकी सारी गवेषणा अन्तमे पहुँचती ही है, वह है हमारी अपनी समस्या,—हम यहाँ क्यो हैं और हम क्या हैं, हमारे पीछे, आगे और चारो ओर क्या है, हमे अपने साथ, अपनी आन्तरिक अवस्थाओ और अपने बाह्य पर्यावरणके साथ क्या करना है। क्रमवैकासिक पुनर्जन्मको यदि हम एक बार सत्य मान सके और उसके पूर्वपदो और परिणामोको पहचान सके तो हमे इस विचारमे उस चिर-प्रश्नके इन सारे सम्बन्धित पहलुओके उत्तरके लिए एक बहुत पर्याप्त सूत्र मिल जाता है। एक आध्यात्मिक क्रमविकास है, विश्व जिसका दृश्य है और पृथ्वी जिसकी भूमि और रगमच, किन्तु उसकी योजना हमारे अभी भी सीमित रहते ज्ञानसे ऊपर अगम्य रखी जाती है,—जीवनको इस रूपमे देखना एक प्रकाशमयी कुँजी है जो अन्धकारके बहुतसे द्वारोमे लग सकती है। परन्तु हमे उसे सही फोकसमे देखना है, उसके सही अनुपातोको खोजना है और, विशेषतया, उसे उसकी यान्त्रिक प्रक्रियाकी अपेक्षा उसकी आध्यात्मिक अर्थ-वत्तामे अधिक देखना है। वैसा ठीक-ठीक कर सकनेमे विफल होनेसे हम बहुत दार्शनिक चातुरीमे उलझ जायँगे, या इस ओर या उस ओर अतिरजित नकारोकी ओर जले जायँगे और उसके विषयमे हमारी जो उक्ति होगी उसकी तर्कवत्ता चाहे कितनी ही पूर्ण क्यो न हो, मनुष्यकी समग्र बुद्धि और सश्लिष्ट अन्तरात्माको तो फिर भी उससे सन्तोष और विश्वास नही होगा।

बारबार होते जन्म हमारे आन्तरात्मिक अस्तित्वकी प्रक्रिया हैं, यह निरा विचार हमे इस एक ही शरीरगत जीवनकी सरल भौतिक सत्यतासे बहुत आगे नही ले जाता जो कि हमारे चेतन सवेदन तथा स्मृतिका पहला तथ्य और हमारे सारे चिन्तनोका अवसर है। पुनर्जन्म वस्तुत हमे हमारे वर्तमान आरम्भबिन्दुके पीछे और सत्ताके क्षेत्रोमे हमारी दौडके इस चरणसे पहले आए हुए अतीतका, पहलेकी फलप्रसू यात्राओका और पहलेके बहुत सारे शरीरोमे होनेवाले आन्तरात्मिक अस्तित्वकी याद दिलाता है जिन्होने ही हमारे वर्तमान रूपकी रचना की है। परन्तु इसका उपयोग या लाभ ही क्या यदि हमारे पूर्व-अस्तित्व और हमारी दृढ अविच्छिन्नतामे कोई प्रगतिशील अर्थ-वत्ता न हो? हमारे सामने मृत्युकी सन्निकट कोरी दीवारका जो अवरोध आता है

उसे पुनर्जन्म हमारी दृष्टिसे दूर पीछे ढुलका देता है, हमारी पार्थिव यात्रा एक ऐसी लम्वी या छोटी सडककी तरह कम हो जाती है जो अचानक किसी वन्द गलीमे ले जाकर उलझा देती हो और जिसपर वापस भी नही लौटा जा सके, हमारे शारीरिक विघटनके डकका क्रूरतम विष हर लिया जाता है। कारण, मनुष्य के लिये, जो कि विचारशील, सकल्पशील, अनुभवशील प्राणी है, मृत्युका भार शरीरकी इस हीन पेटी या रथका खो जाना नहीं है, वल्कि मृत्यु जिस अन्धी चैत्यिक अन्तावस्थाके आनेका सकेत देती है, मृत्युका जो रूप हमारे सकल्प, विचार, अभीप्सा और प्रयासके निर्वुद्धि भौतिक अन्तका है, हृदयके दयालु और मधुर सम्वन्धो और स्नेहोको निष्ठुरतासे तोड देनेका है, हमे अस्तित्वकी महिमा और आनन्दकी कान्तिमयी झाँकियाँ देनेवाले उस अद्भुत और सर्वाधार आन्तरात्मिक वोधकी व्यर्थकारिणी शस्तिदायिनी विच्छिन्नशीलताका है,—वही वह विस्वरता और कठोर परिणामहीनता है जिसे अविश्वसनीय और अस्वीकार्य मानकर विचारशील जीवित प्राणी उसके विरुद्ध विद्रोह करता है। एक ओर हमारे प्राण, मन और चैत्य तत्त्वका अमरत्वके लिए उत्तप्त और कठोर प्रयास जो अवसानको केवल तव स्वीकार कर सकते हैं जव कि वे अपने ही स्वभावकी ज्वालाकी ओर शत्रु-भावसे मुड जायँ, और दूसरी ओर इस अमरत्व-प्रयासका वह खडन जिसे जीवन और मृत्यु दोनोको ही निश्चेष्ट भावसे सहमति देनेवाला शरीर अपनी निष्प्रभ स्वीकृति द्वारा हमपर लादता है,—यही हमारी द्विविध प्रकृतिका समूचा कष्टदायी अन्तर्विरोध है जिसमे मेल नही वैठाया जा सकता। पुनर्जन्म इस कठिनाईको लेता और इसका समाधान इस भावसे करता है कि एक आन्तरात्मिक अविच्छिन्नता है जिसमे शारीरिक पुनरावृत्तिकी गश्त रहती है। अन्य अभौतिक समाधानोकी तरह यह समाधान भी शरीरके सकेतोके विरोधमे अन्तरात्माके सकेतोको अधिकार देता है और उत्तरजीवनकी माँगका समर्थन करता है, परन्तु कुछ अन्य समाधानोसे भिन्न रूपमे वह शारीरिक जीवनको यह कह कर उचित ठहराता है कि वह अन्तरात्माके अविच्छिन्न स्वानुभवके लिए उपयोगी है, शरीरमे हमारा अति क्षिप्र कार्य कोई एकाकी सयोग-घटना या कोई आकस्मिक अन्तराल नही रह जाता, उसके जो कार्य और सम्बन्ध अन्यथा सयोग-जनित रह जाते उनके लिये उसे एक परिपूर्तिकारी भविष्य और एक सर्जक अतीत दोनोसे औचित्य-समर्थन प्राप्त होता है। परन्तु केवल टिके रहना ही, यान्त्रिक सातत्य ही पर्याप्त नही, हमारी अभौतिक सत्ताका सारा अर्थ नही, उत्तरजीवन और सातत्यका समूचा प्रकाशमय अर्थ नहीं, यदि आरोहण न हो, विस्तरण न हो, अपने आत्माके वलमे ज्योतिकी ओर सीधा वर्द्धन न हो, तो हमारे उच्चतर अग यहाँ अधूरे रह कर परिश्रम कर रहे हैं, जड भूमिमे हमारे जन्मको किसी पर्याप्त सार्थकताका औचित्य

नही प्राप्त होता। तब हम उस अवस्थासे शायद ही अधिक अच्छे होते जिसमे मृत्यु हमारा अन्त होती, क्योकि तब अन्तमे हमारा जीवन परिणामविहीन, अकस्मात् समाप्त कर दी गयी और शीघ्र-अभिशस्त व्यर्थताके स्थानपर अनिश्चित कालके लिये चालू रखी गयी और पुनर्नवीकृत और कुछ कालके लिए परिणाम देनेवाली व्यर्थता ही हो जाता है।

पुनर्जन्मके कारण यह भी है कि हमारे चारो ओरका जगत्, हमारा परिवेश, उसके सुझाव, उसके अवसर क्षणभगुर भौतिक प्रस्फुटनके क्षेत्रकी तरह या ऐसे 'जीवन' की तरह नही रह जाते जो व्यक्तिकी बहुत थोडी परवाह करता हो और जिसका व्यक्तिके लिये बहुत थोडा अर्थ हो, भले ही वह जातिको अपने अनिश्चित दीर्घतर कालके दौरान शायद बहुत कुछ दे सकता हो। जगत् हमारे लिए आन्तरात्मिक अनुभवका एक क्षेत्र, आन्तरात्मिक पुनरावर्तनोकी एक प्रणाली, आत्म-कार्यान्वयनका एक साधन, शायद चेतन पुरुषके प्रभावी आत्म- प्रतिबिम्बोका आकारग्रहण हो जाता है। परन्तु यदि हमारा पुनरावर्तन उपलब्धिके एक बहुत सीमित, सदैव अधूरे रहते वृत्तके अन्दर केवल थोडेसे निर्धारित प्ररूपोमे पुनरावृत्ति अथवा हिचकिचाता उतार-चढाव हो तो उसका क्या लक्ष्य होगा? कारण, यदि कोई ऊर्ध्वमुखी निर्गम न हो, अन्तरात्माकी अनन्तताओमे जानेके लिये कोई अन्तहीन प्रगति या परित्राण-मार्ग या अभिवर्द्धन न हो तो इसका यही परिणाम निकलता है। हम क्या हैं इसके बारेमे पुनर्जन्म हमे कहता है कि हम वह अन्तरात्मा हैं जो आत्म-शरीरधारणका चमत्कार निरन्तर सम्पन्न करता है, परन्तु वह क्यो शरीर धारण करता है, इस अन्तरात्माको यहाँ अपने साथ क्या करना है और उसे इस जगत्का क्या उपयोग करना है जो उसे उसके भव्य रगमचके रूपमे, उसकी कठिन और नमनीय सामग्रीके रूपमे और बहुविध उत्तेजना तथा सुझावोके घेरा डालनेवाले तोपखानेके रूपमे दिया गया है, ये बाते पहलेकी अपेक्षा शायद ही अधिक स्पष्ट होती हैं। परन्तु पुनर्जन्मको इस रूपमे देखनेसे कि वह आध्यात्मिक विकासक्रमके लिए अवसर और साधन है प्रत्येक अपूरित स्थल भर जाता है। यह दृष्टि जीवनको यान्त्रिक पुनरावर्तनके स्थानपर अर्थपूर्ण आरोहण बना देती है, यह हमारे सामने विकसित होते अन्तरात्माके दिव्य प्रदेशोका उन्मेष करती है, यह लोक-लोकोको आध्यात्मिक आत्म-विस्तरणकी लडी बना देती है, यह हमे अपने अध्यात्म-तत्त्वके आत्म-ज्ञानकी खोजमे, अपने जीवनमे एक बुद्धियुक्त और दिव्य अभिप्रायकी आत्म-परिपूर्तिकी खोजमे लगा देती और सभीको अभी या बादमे एक महान् प्राप्तिका निश्चित वचन देती है।

यान्त्रिक पुनरावर्तनके वृत्तकी उत्पीडक भावना और पूर्ण निष्क्रमणकी राहकी अनुरागपूर्ण खोज पुनर्जन्मके सत्यके प्राचीन कथनोका पीछा करती रही और इससे उनके गहरे जाकर थाह लेनेके बावजूद भी असन्तोषप्रद अपर्याप्तताकी निश्चित छाप उनपर पडी रह गयी,—वे कथन तर्क-असगत नही हैं, क्योकियदि एकबार उनके आधार-वाक्योको मान लिया जाय तो वे यथेष्ट तर्कसगत हैं परन्तु उनसे सन्तोष नही मिलता, क्योकि वे हमे हमारी सत्ताका औचित्य नही दिखाते। कारण, विश्व-क्रियाकलापकी दिव्य उपादेयता उनसे छूटी रहनेके कारण वे ईश्वरकी, स्वय हमारी और जीवनकी व्याख्या पर्याप्त रूपमे विशाल, धीर और स्थिर सम्पूर्णतासे करनेमे विफल होते हैं, उनकी नकारवृत्ति अत्यधिक होती है, हमारी रागका भावात्मक अर्थ उन्हे नही मिलता और वे आध्यात्मिक व्यर्थता तथा वैश्व विसगतिका एक विपुल सुर बजता छोड देते है। हमारी सत्ता या हमारी अ-सत्ताके अर्थके विषयमे किसी भी कथनने पुनर्जन्मपर बौद्ध मतसे अधिक आग्रहपूर्ण बल नही दिया है, परन्तु जब वह सबल प्रस्थापना करता है तो अधिक सबल नकारके लिए ही। वह जन्मके पुनरावर्तनको एक विस्तीर्ण यान्त्रिक शृखलाके रूपमे देखता है, वह कष्ट और विरुचिके भावसे ऊर्जाके एक अति विशाल विश्वचक्रको देखता है जिसके चक्राकार घूमते रहनेमे कोई दिव्य अर्थ नही है, जिसका आरम्भ अज्ञानमयी कामनाका प्रतिष्ठापन है और अन्त है इसमेसे बाहर निकल जानेका इसे विफल करनेवाला आनन्द। यह चक्र अ-सत्ताकी शान्तिमे खलल डालता हुआ और ऐसे जीवोकी सृष्टि करता हुआ जिनका एकमात्र कठिन सुयोग और सारा आदर्श व्यवसाय अपना अवसान करना है निरर्थक घूमता रहता है। सत्ताके विषयमे यह धारणा विश्वके सम्बन्धमे, उसमे हमारी सृष्टि और हमारे निर्णयात्मक अवसानके सम्बन्धमे, हमारे प्रथम जड-शासित बोधका ही विस्तरण होती है। वह प्रत्येक बिन्दुपर शारीरिक जीवन-सम्बन्धी हमारे प्रथम प्रत्यक्ष अवलोकनको लेती है और उसकी सारी परिस्थितियोका पुनर्कथन हमारे अस्तित्वके विषयमे एक अधिक अभौतिक तथा आध्यात्मिक भावकी भाषामे करती है।

जड विश्वमे हमे यान्त्रिक पुनरावर्तनोका एक अति विशाल तन्त्र ही दिखायी देता है। जो दीर्घायु और बृहत् है उसका शासन एक विशाल यान्त्रिक पुनरावर्तन करता है, जो क्षणिक और लघु है उस सबपर एक वैसे ही किन्तु अधिक दुर्बल यान्त्रिक पुनरा-वर्तनका आधिपत्य रहता है। अनेको सूर्य अस्तित्वमे छलाँग लगाते आते हैं, उनकी ज्वाला देश-विस्तारमे चक्कर लगाती है, वे अपनी शक्ति गतिधारामे खर्च कर देते, निष्प्रभ पड जाते और अवसान प्राप्त करते हैं, वे शायद फिरसे अस्तित्वमे ज्वलित हो उठते हैं और अपनी यात्राको दुहराते है, या नही तो अन्य सूर्य उनका स्थान ले लेते

और उनका चक्कर पूरा करते हैं। कालकी ऋतुएँ अपने अन्तहीन और अपरिवर्तन-शील चक्रकी पुनरावृत्ति करती रहती हैं। जीवनका वृक्ष सदा अपने विविध पुष्पोको प्रस्फुटित करता, उन्हे झाड गिराता और उनकी पुनरावृत्त होती ऋतुमे फिरसे उन्ही फूलोमे खिल उठता है। मनुष्यका शरीर जन्म लेता, वर्द्धित होता, ह्रसित होता और विनष्ट हो जाता है परन्तु वह अन्य शरीरोको जन्म देता है जो वही एक ही व्यर्थका चक्र बनाए रखते हैं। इस सारी कृतसकल्प और स्थायी प्रक्रियामे बुद्धिको चकरानेवाली बात यह है कि उसके अन्दर इस सरल तथ्यके अतिरिक्त कोई अर्थपूर्ण अन्तर्मर्म, कोई सार्थक्य नही दिखायी देता कि जीवन निष्कारण और निरुद्देश्य है और वैयक्तिक अवसान-की रद्दकारिणी या क्षतिपूरिका वास्तविकता उसपर हावी रहती या उसे भार-मुक्त करती है। और ऐसा इसलिए है कि हम यन्त्र-प्रक्रियाको तो देखते हैं परन्तु उसका व्यवहार करनेवाली शक्तिको नही, न ही उस आशयको जो उसके व्यवहारमे रहता है। परन्तु जिस क्षण हम जान लेते हैं कि एक आत्म-प्रज्ञ और अनन्त 'अध्यात्म-पुरुष' है जो विश्वपर तपोलीन है और वस्तुओमे एक प्रच्छन्न, धीमे-धीमे आत्म-प्राप्ति करने-वाला अन्तरात्मा है, तो हम यह माननेकी आवश्यकतापर पहुँच जाते हैं कि उसकी चेतनाके भीतर एक भाव है, एक ऐसी वस्तु है जिसकी धारणा की गयी है, जिसका सकल्प किया गया है, जिसे गतिशील किया गया है और सुनिश्चित रूपसे करना है, इन बडे आयोजित क्रियाकलापो द्वारा प्रगतिशील रूपसे पूरा करना है।

परन्तु जीवनकी अनम्य यान्त्रिक व्यवस्थाका प्रतिपादन करनेवाला बौद्ध सिद्धान्त पुरुष, आत्मा या शाश्वत सत्‌को नही मानता। वह केवल सतत सभूतिके व्यापारको लेता और उसे भौतिक स्तरसे अभौतिकमे उठा ले जाता है, जैसे हमारे स्थूल मनके लिये ऊर्जा, क्रिया, गति स्पष्ट रहती है जो भौतिक विश्वमे रूपो और शक्तियोको अपनी जड शक्तियो द्वारा रचनेमे समर्थ है, वैसे ही विश्वके सम्बन्धमे जो बौद्ध मतकी दृष्टि है उसके लिये एक ऊर्जा है, एक कर्म है जो अपनी भाव और साहचर्यकी चैत्यिक क्षमताओ द्वारा इस शरीरी अन्तरात्माके जीवनकी रचना करता है जिसमे पुनरावर्तनोकी अविच्छिन्न धारा चलती है। जैसे शरीर एक विलयशील निर्माण, एक सम्मिश्रण तथा सम्मिलन है, वैसे ही अन्तरात्मा भी एक विलयशील निर्माण और सम्मिलन है, स्थूल जीवनकी तरह आन्तरात्मिक जीवन भी अपना निर्वाह उन्ही क्रियाओ तथा गतियोके अविच्छिन्न प्रवाह और पुनरावृत्ति द्वारा करता है। जैसे जीवनोकी यह सतत आनुवशिक क्रममाला जीवनके उस एक ही विश्वव्यापी तत्त्वकी दीर्घतर स्थायिता होती है और यह दीर्घतर स्थायिता वैसे ही शरीरोके अनवरत सृजन द्वारा, यान्त्रिक पुनरावर्तन द्वारा होती है, वैसे ही अन्तरात्माके पुनर्जन्मकी प्रणाली भी आन्तरात्मिक

हाथमे नही लिया है, न ही उन्हें मजाकमे बनाया है[1] उसे जानना और अधिकृत करना विश्वव्यापी पुरुषकी प्रच्छन्न सार्थकताओको पाना और चेतन रूपसे परिपूरित करना, यही मानव-आत्माको सौंपा गया कार्य-भार है।

पुनर्जन्मके विषयमे ऐसे कथन या विचार भी है जो जीवनके अधिक भावात्मक अर्थको स्थान देते और उसके गुप्त स्रोतके रूपमे सत्ताके बल और आनन्दमे अधिक तगडा विश्वास रखते है, परन्तु अन्तमे वे सबके सब मनुष्यकी सीमाओ और उसकी इस असमर्थतापर ठोकर खाते हैं कि उसे विश्व-व्यवस्थामे इनके बन्धनमेसे बाहर निकलनेका मार्ग नही दिखायी देता, क्योकि वेइसे सनातन कालसे निर्धारित वस्तु मानते हैं, शाश्वतीम्य समाभ्य, चिरकाल विकसनशील और सर्जनशील चक्र नही, अपरिवर्तन-शील चक्र। वैश्णवोका यह विचार कि यह ईश्वरकी लीला है वस्तुओके मर्ममे रहनेवाले प्रच्छन्न आनन्दपर जा पहुँचता है और इस प्रकार रहस्यके अन्तस्तलमे भेदन करनेवाली एक ज्योतिर्मयी किरण है, परन्तु वह अकेला ही उसकी सारी गुत्थीको नही सुलझा सकता। यहाँ जगत्मे प्रच्छन्न आनन्दकी लीलाके अतिरिक्त अधिक कुछ है, ज्ञान है, बल है, एक इच्छा और एक परिश्रम है। इस प्रकार देखनेसे पुनर्जन्म भगवान्की एक मौजका रूप अत्यधिक ले लेता है जिसका लक्ष्य उसकी क्रीडाको छोड और कुछ न हो, परन्तु हमारा जगत् इतना अधिक बडा और श्रमपूर्ण है कि उसकी व्याख्या इस तरह नही की जा सकती। हमारी सभूतिको जो उतार-चढाववाला आनन्द दिया जाता है, वह लुकाछिपी और खोजका खेल है, यहाँ उसकी किसी दिव्य सपूर्तिकी आशा नही है, उसके वृत्त अन्तमे यात्राके योग्य नही लगते और जीव इस खेलकी असन्तोषप्रद भूलभूलैयोमेसे मुक्ति पानेकी ओर ही प्रसन्नतासे मुडता है। तान्त्रिक समाधान हमे एक परमा अतिचेतन ऊर्जाकी बात कहता है जो यहाँ बहुसख्यक जगतो और कोटिसख्यक भूतोमे अपने-आपको डालती है और उसकी व्यवस्थामे जीव जन्म-जन्मातरमे उठता जाता है और उसके लाखो रूपोका तब तक अनुसरण करता है, जब तक कि अन्तमे वह मानवीय धाराक्रममे अपने स्वीय दिव्यत्वकी चेतना तथा शक्तियोकी ओर खुल न जाय और उनके द्वारा द्रुत आलोकीकरणसे शाश्वत अतिचेतनाकी ओर वापस न चला जाय। अन्तमे हमे एक सन्तोषप्रद समन्वयका आरम्भ, अस्तित्वका कुछ औचित्य, पुनर्जन्ममे एक अर्थपूर्ण परिणाम, विश्वकी महान् गतिधाराके लिए एक उपयोग और एक अस्थायी ही सही, परन्तु पर्याप्त सार्थक्य मिलता है। आधुनिक

[1] कुरानका भव्य और सारगर्भित कथन, "क्या तू यह सोचता है कि बहिश्त और धरती और उनके बीच जो कुछ है वह सब मैंने मजाकमे बनाया है?" (अनु.)

मन जब पुनर्जन्मको स्वीकार करनेकी ओर झुकता है तो वह पुनर्जन्मको बहुत कुछ इन जैसी ही रेखाओपर देखना चाहता है। परन्तु यहाँ जीवकी दिव्य सम्भावनाओपर बहुत ही हल्का जोर दिया गया है, यहाँसे बच निकलकर अतिचेतनामे पहुँचनेके आग्रहमे उतावली बरती गयी है, इतने सक्षिप्त और इतने अपर्याप्त प्रस्फुटनके लिए परमा ऊर्जा अति लम्बी और दीर्घकाय तैयारीकी रचना करती है। यहाँ कोई रिक्त स्थल है, कोई रहस्य अभी भी अज्ञात है।

हमारे अपने विचारकी कुछ सीमाएँ हैं जिनपर ये सारे समाधान ठोकर खाते हैं, और इन बाधाओमे प्रमुख हैं हमारी विश्वके यान्त्रिक स्वरूपकी भावना और अपने वर्तमान मानवीय प्ररूपसे श्रेष्ठतर प्ररूपकी ओर आगे देख पानेमे हमारी अक्षमता। हम अतिचेतन आत्माको उसकी दीप्ति और स्वतन्त्रतामे देखते हैं और विश्वको उसके यान्त्रिक पुनरावर्तनोके चक्रके निश्चेतन बन्धनमे, या हम अस्तित्वको अमूर्त सत्ता और प्रकृतिको यान्त्रिक शक्तिकी तरह देखते है, चेतन अन्तरात्मा इन दोनो विपरीतोके बीच कडीकी तरह होता है, परन्तु स्वय वह इतना असम्पूर्ण है कि हमे इस कडीमे वह रहस्य नही मिल सकता, न ही हम उसे समन्वयनके सबल स्वामीके रूपमे अपना सकते हैं। तब हम जन्मको अन्तरात्माकी भूल घोषित करते हैं और अपनी मुक्तिका एकमात्र सुयोग इन जन्मजात बन्धनोको उतार फेकने और विश्वातीत चेतनाकी ओर या अमूर्त सत्ताकी स्वतन्त्रताकी ओर उग्र उत्क्रमणमे देखते हैं। परन्तु यदि पुनर्जन्म सचमुच कोई लम्बी घसीटती जँजीर न रहकर बल्कि आरम्भमे अन्तरात्माके आरोहणका सोपान हो और अन्तमे महान् आध्यात्मिक अवसरोका अनुक्रम, तो क्या होगा? और, पुनर्जन्मका तथ्य ऐसा ही होगा यदि अनन्त सत्ता वैसी न हो जैसी वह तार्किक बुद्धिको लगती है, *यदि वह अमूर्त सत्ता न हो प्रत्युत वैसी हो जैसी वह सबोधिको और* गभीरतर आध्यात्मिक अनुभवमे दीखती है, यदि वह आध्यात्मिक चिन्मयी सद्वस्तु हो और वह सद्वस्तु यहाँ भी उतनी ही वास्तव हो जितनी किसी भी सुदूर अतिचेतनामे। कारण, तब विश्वप्रकृति कोई ऐसा यन्त्र-विन्यास नही रह जायगी जिसका अपनी निश्चेतन यन्त्र-विधिको छोडकर कोई और रहस्य न हो और जिसमे अपनी पुनरावर्तिका क्रियावत्ताको छोडकर कोई और अभिप्राय न हो, वह तब अपनी प्रक्रियाओकी महिमामे—महिमानम् अस्य — छिपे विश्वात्माकी चेतन ऊर्जा होगी। और, जडतत्त्वकी निद्रामेसे, वनस्पति और पशु-जीवनमेसे होकर जीवन-शक्तिकी मानवीय कोटिमे ऊपर उठता हुआ और वहाँ अपने शाही और अनन्त राज्यपर अधिकार करनेके लिए अज्ञान और सीमासे लोहा लेता हुआ अन्तरात्मा वह मध्यस्थ होगा जो प्रकृतिकी सूक्ष्मताओ और वृहत्ताओमे छिपे अध्यात्म-तत्त्वको प्रकृतिमे प्रस्फुटित करनेके लिए नियुक्त हुआ है।

यही जीवन तथा जगत्का सार्थक्य है जिसे क्रमवैकासिक पुनर्जन्मका विचार हमारे सामने खोलता है, जीवन तब तत्काल ही 'अध्यात्म-तत्त्व' के प्रस्फुटनके लिए प्रगतिशील ऊर्ध्वमुख धाराक्रम हो जाता है। वह परम सार्थक्यसे युक्त हो जाता है, उसके शक्ति-रूपमे अध्यात्म-तत्त्वकी रीतिका औचित्य प्रमाणित होता है, वह तब कोई बुद्धिहीन और खोखला स्वप्न, कोई शाश्वत उन्माद, महत् यान्त्रिक श्रम या अन्तहीन व्यर्थता नही रह जाता, वरन् एक विशाल आध्यात्मिक इच्छा एव प्रज्ञाके कार्योके जोड हो जाता है मानव-अन्तरात्मा और विश्वात्मा एक उदात्त और दिव्य अर्थसे एक दूसरेकी आँखोमे देखते है।

हमारे अस्तित्वको घेरनेवाले प्रश्नोकी व्याख्या अब तुरन्त ही एक निश्चित सन्तोषप्रद परिपूर्णतासे हो जाती है। हम तो विश्वातीत आत्मा तथा पुरुषका वह अन्तरात्मा ही है जो अपने-आपको विश्वमे सतत क्रमवैकासिक शरीरधारणमे प्रस्फुटित कर रहा है जिसका शारीरिक रूप आकारका एक पादपीठ मात्र है जो अपने विकास क्रममे अध्यात्मकी ऊपर उठती कोटियोके समकक्ष होता है, परन्तु यथार्थ भाव और प्रेरक हेतु आध्यात्मिक वर्द्धन ही होता है। हमारे पीछे हैं आध्यात्मिक विकासक्रमके अतीतके सत्र, अध्यात्मतत्त्वकी ऊपर उठती श्रेणियाँ जिनका आरोहण किया जा चुका है, जिनसे हम निरन्तर पुनर्जन्म द्वारा विकसित होते हुए वह हो गए हैं जो हम हैं, और अभी भी आरोहणके इस वर्तमान और बीचके मानवीय सत्रका विकास कर रहे हैं। उस प्रस्फुटनके वैश्व रूपकी सतत प्रक्रिया ही हमारे चारों ओर ह भूतकाल-के सत्र उसमे समाए हुए हैं, परिपूरित हुए हैं, हमारे द्वारा उनका अतिक्रमण हुआ है, परन्तु सर्वसामान्य और विविध प्ररूपमे वे तब भी आधार तथा पृष्ठभूमिकी तरह पुनरावृत्त होते है, वर्तमान सत्र वहाँ अलाभदायी पुनरावर्तनकी तरह नही, वरन् जो कुछ भी अतीतके तत्त्व द्वारा प्रस्फुटित किया जाना है उसकी सक्रिय गर्भावस्थाकी तरह हैं, सर्वदा अकोको असहाय रूपसे पुनरावृत्त करते अयौक्तिक दशामालविक पुनरावर्त्तनकी तरह नही, वरन् 'अनन्त' की शक्तियोके विस्तृत होते धाराक्रमकी तरह। हमारे सामने हैं महत्तर शक्यताएँ, वे सोपान जिनपर हम अभी तक चढे नही है, वे सशक्ततर अभिव्यक्तियाँ जो अभिप्रेत हैं। अध्यात्म-तत्त्वके ऊर्ध्वमुख आत्म-प्रस्फुटनका यह साधन होना ही हमारे यहाँ होनेका कारण है। अपने प्रति और अपने सार्थक्योके प्रति हमारा कर्त्तव्य है विकसित होना और उन्हे दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द तथा बहुगुणित एकत्वके महत्तर साथक्योकी ओर उन्मीलित करना, और अपने परिवेशके प्रति हमारा कर्तव्य है उसे आध्यात्मिक हेतुओके लिए चेतन

रूपसे प्रयुक्त करना और विश्वमे भगवान्के पूर्ण स्वरूप और आत्म-कल्पनाके आदर्श प्रस्फुटनके लिये उसे अधिकाधिक एक साँचा बनाना। अवश्य ही यही वस्तुओके अन्दर रहनेवाली वह इच्छा है जो अपनी ही सान्त आकृतियोको अपनी ही अनन्त 'सद्वस्तु' से अधिकाधिक अनुगर्भित करनेकी ओर महान् और मज्ञान, धीर और अविश्राम-शील रहती हुई, किन्ही भी चक्रोसे होकर बढती है।

यह सब वर्तमानकी आकृतियोमे रहनेवाले मनके लिए, जैसा कि प्रत्यक्षवादी अनुसधानमे सलग्न सतर्क सशयात्मक मनके लिये होना ही चाहिए, अभ्युपगमसे अधिक कुछ नही, *क्योकि क्रमविकास यदि स्वीकृत विचार है तो भी पुनर्जन्म तो अनुमान मात्र* है। ऐसा मानने पर भी यह उन सरल और बालोचित धार्मिक समाधानोसे बेहतर अभ्युपगम है जो जगत्को एक सर्वशक्तिमान् मानवीय मनोधर्मी स्रष्टाकी मनमौज और मनुष्यको उसकी श्वास लेती मिट्टीकी कठपुतली बना देते हैं और, कमसे कम, उस विचारके जितना अच्छा अभ्युपगम है जिसके अनुसार एक जड और निश्चेतन शक्ति चेतनाके अनिश्चित और क्षणभगुर, फिर भी अविच्छिन्न व्यापारमे किसी भाँति सयोगसे पहुँच गयी है, या जैसा कि बर्गसनका सिद्धान्त है, एक सृजनशील प्राण विश्व-व्यापिनी मृत्युके बीच उत्पीडित होकर परिश्रम कर रहा है, परन्तु सतत विद्यमान है, या उस विचारके जितना अच्छा है जिसके अनुसार प्रकृति, माया या शक्तिकी यान्त्रिक क्रिया हो रही है और वास्तविक या अवास्तविक व्यक्ति उसमे या उसके भीतर सयोगसे पहुँच जाता या अन्धेके द्वारा ले जाये जाते अन्धेकी तरह तब तक भटकता रहता है, दन्द्रम्यमाण अन्धेनैव नीयमानो यथान्ध, जब तक कि वह आध्यात्मिक मुक्ति द्वारा उसमेसे बाहर न निकल सके। असकीर्ण दार्शनिक जिज्ञासाको यह बात अस्तित्वकी ज्ञात रेखाओसे बेमेल नही लगेगी, सत्ताके तथ्यो तथा आवश्यकताओ या युक्तिबुद्धि और सबोधिकी माँगोसे विस्वर नही लगेगी, भले ही वह एक ऐसे तत्त्वको मानना है जो अब तक अनुपलब्ध है, ऐसी वस्तुओको मानना है जिन्हे अभी भी होना बाकी है, क्योकि यह बात विकासक्रमके तो विचारमे ही अन्तर्निहित रहती है। यह बात धार्मिक अनुभव या अभीप्सामे कुछ परिवर्तन ला सकती है, किन्तु उनमे किसीका भी आमूल प्रत्याख्यान नही करती,—क्योकि वह न तो स्वर्गलोकमे अतिचेतना अथवा आनन्दके साथ ऐक्य होनेसे, न भगवान्के साथ किसी व्यक्तिक अथवा निर्व्यक्तिक सम्बन्ध होनेसे असगत है, क्योकि ये चीजे आध्यात्मिक प्रस्फुटनकी चोटियाँ भली भाँति हो सकती हैं। इसका सत्य निर्भर करेगा आध्यात्मिक अनुभव तथा कार्यान्वयनपर, किन्तु मुख्यत इस महत्वपूर्ण प्रश्नपर, "क्या मनुष्यकी आन्तरात्मिक क्षमताओमे कोई ऐसी वस्तु है जो उसकी सत्ताके लिये वर्तमान मन शक्तिसे महत्तर किसी अन्य

तत्त्वकी आशा देती है और क्या उस महत्तर तत्त्वको उसके शरीरी जीवनके लिये प्रभावी बनाया जा सकता है ?" यही वह प्रश्न है जिसे मनोवैज्ञानिक समीक्षासे जाँचना बाकी रह गया है, यही वह समस्या है जिसे मनुष्यके आध्यात्मिक क्रमविकासके दौरान सुलझाना है।

इस प्रकारकी क्रमवैकासिकी अभिव्यक्तिकी दार्शनिक आवश्यकता, सम्भावना और सुनिश्चित वास्तवताके अति-तात्त्विक प्रश्न भी हैं, किन्तु उन्हे यहाँ और अभी लानेकी आवश्यकता नही है, इस समय पुनर्जन्मसे हमारा सम्बन्ध केवल अनुभवके सदर्भमे उसकी वास्तविकता और उसके धारावाहिक सार्थक्यसे, इस स्पष्ट वास्तविकतासे है कि हम किसी प्रकारकी अभिव्यक्तिके अग हैं और किसी प्रकारके क्रमविकासके चापके नीचे आगे बढ रहे हैं। हमे एक शक्ति क्रियारत दीखती है और हम यह जानना चाहते हैं कि उस शक्तिमे कोई सचेतन इच्छा, कोई व्यवस्थित विकास है या नही, और हमे पहले यह खोजना होता है कि वह किसी सगठित यदृच्छा या निश्चेतन स्व-बाधित अन्धे विधानका परिणाम है या कि विश्वव्यापी बुद्धि या प्रज्ञाकी योजना। एक बार जब हम यह देख लेते हैं कि एक चिदात्मा है और यह गतिधारा उसकी एक अभिव्यजना है, या यदि हम इसे अपने कार्यकारी अनुमानके रूपमे भी स्वीकार कर लेते हैं, तो हम आगे बढने और यह पूछनेको बाध्य होते हैं कि क्या यह विकसित होता क्रम मनुष्यकी वर्तमान अवस्थापर समाप्त हो जाता है, या कि उसके गर्भमे और कुछ भी है जिसकी ओर इस क्रम और मनुष्यको बढना है, जो एक असमाप्त प्राकट्य है, एक महत्तर अप्राप्त पर्व है, और ऐसा हो तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य उसी महत्तर वस्तुकी ओर ही बढ रहा होगा, उसकी तैयारी और उसकी उपलब्धि ही उसकी नियतिमे आगे आनेवाला चरण होगी। क्रमविकासके उस नये डगकी ओर ही उसका जातीय इतिहास अवचेतन रूपसे प्रवृत्त हो रहा होगा और श्रेष्ठतम व्यक्तियोकी क्षमताएँ इस महत्तर जन्मको सम्पन्न करनेके लिये ही अर्ध-चेतन रूपसे उद्योग कर रही होगी, और चूँकि पुनर्जन्मका ऊर्ध्वमुख क्रम सदा ही क्रमविकासकी श्रेणियोका अनुसरण करता है, उसके लिये भी यह अभिप्रेत नही हो सकता कि वह अभीष्ट डगकी ओर कोई ध्यान न देकर रुक जाय या अकस्मात् मुडकर अतिचेतनमे चला जाय। चेतनाके अन्य स्तरोपर जो जीवन है उसके साथ और जो कोई भी विश्वातीत अतिचेतना हो उसके साथ हमारे जन्मके सम्बन्धके विषयकी समस्याएँ महत्वपूर्ण हैं, परन्तु उनका समाधान अवश्य ही ऐसा कुछ होना चाहिये जिसका विश्वगत 'अध्यात्म-पुरुष' के अभिप्रायसे सामजस्य हो, सब कुछको एक एकत्वका अग होना चाहिये, न कि आध्यात्मिक असम्बद्धताओ और असगतियोकी उलझन। इस विचारधारामे ज्ञातसे अज्ञातकी ओर हमारा पहला सेतु यही आविष्कार होगा

कि क्रमविकासका अभी तक असमाप्त रहनेवाला सोपान पार्थिव धाराक्रममे कितनी दूर तक ऊपर जा सकता है। इस आविष्कारका अभी तक प्रयत्न नही किया गया है, किन्तु हो सकता है कि पुनर्जन्मका सारा धारावाहिक सार्थक्य इसी एक बातमे लिपटा पडा हो।

छः

ऊर्ध्वारोही एकत्व

मनुष्यका मन दृष्टिकी स्पष्ट सरलताको चाहता है, कोई उक्ति जितनी तीक्ष्ण होती है, उतनी ही अधिक उग्रतासे वह मनको पकडती और उसके स्वीकृत किये जानेकी सम्भावना होती है। यह केवल हमारी विचारक्रियाकी प्रथम अपरिष्कृत अवस्थाके लिये ही स्वभाविक नही है, और इसलिये ही अधिक आकर्षक नही है कि इससे वस्तुओसे व्यवहार करना हर्षप्रद रूपसे सरल हो जाता है और जाँच-पडतालकी चिन्ता और चिन्तनके श्रमके अति विशाल परिमाणसे रक्षा हो जाती है, वरन् यह चीज परिवर्तित होकर एक अधिक सावधान मनोवृत्तिके उच्चतर स्तरोतक हमारे साथ रहती है। भाग्य-निर्णायिका ग्रन्थिके साथ अपनाया गया सिकन्दरी तरीका वस्तुओके उलझे जालसे व्यवहार करनेका हमारा स्वभाविक और प्रिय तरीका है,—आसान कटाई, शाही तरीका, यह और यह नही, वह और वह नहीका आसान दर्शनशास्त्र, सबल हाँ और ना,सरल विभाजन, सशक्त विरोधियोंका जोडा, श्रेणियोंकी साफ काट। हमारी वुद्धि विभाजनो द्वारा कार्य करती है, हमारी सामान्य अतार्किक विचारक्रिया भी हमारे सामने इतनी अन्तहीन जटिलताके साथ आनेवाले अनुभवका लटपटाता और घपला करता सक्षिप्त विश्लेषण तथा आयोजन है। परन्तु स्वच्छतम और स्पष्टतम विभाजन ही हमे सवसे अधिक आराम देता है, क्योकि वह हमारी अभी भी बाल-बुद्धि ही रहनेवाली बुद्धिपर निर्णायिका और प्रकाशमयी सरलताका भाव अकित करता है।

परन्तु सीधी और सरल विचारणासे रीझा रहनेवाला औसत मन ही सरल समाधानोकी ओरके इस झुकावसे प्रभावित होनेवालोमे अकेला नहीं होता। इसके लिए वह प्रसिद्ध उदाहरण ले जिसमे सभी सबल मनुष्योको प्रिय रहनेवाली शाही ताकतसे विचार करते हुए महान् डाक्टर जॉनसनने वर्कलेके सारे दर्शनशास्त्रको केवल एक पत्थरपर लात लगाकर यह कहते हुए नष्ट कर दिया, "यह रहा मेरा जडतत्त्वकी सत्यताका प्रमाण"। दार्शनिक भी यद्यपि प्रसगवश जटिल तर्कणाकी ओर प्रवण रहता है, तथापि सवसे अधिक हर्षित वह तव होता है जब वह उसके द्वारा किसी भव्य रूपसे निर्णायक उपसहारपर, ब्रह्म और अब्रह्मके वीच, सद्वस्तु और अवास्तवताके वीच या इतने सारे मतवादोके आधार होनेवाले मानसिक विरोधोकी जमातमेसे किन्हीके भी बीच किसी साफ कटाई करनेवाले विभेदपर पहुँचता है। दर्शनशास्त्रके इन शाही रास्तोमे

यह सुविधा रहती है कि ये तत्त्वमीमासीय बुद्धिके डगोके लिये खूब विशद रूपमे कटे होते हैं और साथ ही सामान्य मनको अपने अन्तमे आनेवाले शिखरकी भव्य उच्चतासे, प्रभुताशाली सिद्धान्त-सूत्रके गगनभेदी मैटरहोर्न[1] शिखरसे आकर्षित और अभिभूत करते हैं। उदाहरणके लिये हम उस प्राचीन प्रसिद्ध वाक्य "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या" को ले, इसमे कितने भव्य उच्छेदकारी प्रवाहकी ध्वनि है, और ये चार विजयी शब्द ईश्वर, मनुष्य, जगत् और जीवनके सारे व्यापारको अस्ति और नास्ति-के अपने असुलहकारी विरोधमे तुरन्त ही और सदाके लिये निपटा देते लगते हैं। लेकिन आखिरकार जब हम शायद इस विषयके बारेमे अधिक विस्तृत रूपसे विचार करने लगते हैं तो देख सकते हैं कि इस दिशामे प्रकृति तथा अस्तित्वका आशय वह नही है जो मनुष्यका है, कि यहाँ एक बडी जटिलता है जिसका हमे धैर्यसे पीछा करना होगा और कि फलदायक सत्य देनेके लिये सबसे अधिक सम्भावना उन चिन्तन-विधियोकी होगी जो उपनिषदोके प्रेरणाजात चिन्तनकी तरह अनेक पहलुओको एक ही साथ लेती हैं और अनेको विरोधी उपसहारोमे मेल बैठाती हैं। उपनिषदोमेसे सहस्रो दर्शनशास्त्रोके लिये सामग्री काट निकाली जा सकती है, मानो वे एक अलौकिक और अगाध खदान हो और जैसे हमारी वसुधरा माताके वैभवपूर्ण वक्षस्थलको या व्योम पिताकी सम्पदाओको रिक्त नही किया जा सकता वैसे ही इस खदानको भी रिक्त नही किया जा सकता।

इन सरल काटछाँटोकी परिचित प्रक्रियाका काम मनुष्यने अपने मानवीय रूपके बोधसे शुरू किया, उसने इस जगत्मे अपने-आपको एक पृथक्, अद्वितीय और अलग सत्ता बना लिया और यह मान लिया कि उसीके लिये या उसे ही केन्द्र बनाकर प्रत्येक अन्य वस्तुकी रचना की गई है, और बाकी सब कुछ,—अवमानवीय अस्तित्व, पशु, वनस्पति, निष्प्राण पदार्थ, प्रत्येक वस्तु, परमाणु भी,—उसे अपने-आपसे एक भिन्न सृष्टि, पृथक्, अन्य प्रकृतिधारी लगने लगा, उसने सबको अन्तरात्माविहीन कह कर तिरस्कृत किया, उसने अपने-आपको ही एकमात्र अन्तरात्माधारी सत्ता माना। उसने प्राणकी ओर देखा, अपने मनको खीचनेवाले कुछ लक्षणोसे उसकी परिभाषा बनायी और बाकी सारे अस्तित्वको निर्जीव, निष्प्राण कह कर अलग कर दिया। उसने अपनी पृथ्वीकी ओर देखा और चूँकि वह शरीरधारी अन्तरात्माओ या सजीव प्राणियोकी एकमात्र स्थली है अत उसे विश्वका केन्द्र बना डाला, परन्तु अन्य असख्य स्वर्गिक पिण्डोको पृथ्वीके दिवसको आलोक देने या उसकी रात्रिको भारमुक्त करनेवाले

[1] यूरोपमे एक 14000 फीट ऊँचा पर्वत। (अनु.)

प्रकाशके रूपमें माना गया। उसने यदि इस एकमात्र पार्थिव जीवनकी अपर्याप्तता देखी तो पूर्ण स्वर्गिक अस्तित्वकी एक अन्य विपरीत परिभाषाकी रचनाके लिये, और उसका स्थान उसने अपनेसे ऊपर दीखते आकाशोंमें निर्धारित किया। उसने अपने "मैं" या "स्व" की ओर देखा और उसकी धारणा एक पृथक् शरीरधारी अहंके रूपमें, अपने सारे पार्थिव तथा स्वर्गिक अर्थोंके केन्द्रके रूपमें बनायी और सारी अन्य सत्ताको अपनेसे भिन्न मानकर एक ऐसी वस्तु मानकर अलग कर दिया जिसका अस्तित्व उसके लिये ही था और जिसका वह इस छोटी सी निमग्नकारिणी हस्तीके लिये अच्छासे अच्छा उपयोग कर सके। उसने जब इन प्राकृतिक इन्द्रियशासित विभाजनोंसे आगे देखा तब भी उसने इसी तर्कसंगत नीतिका अनुसरण किया। अध्यात्म-तत्त्वकीधारणामें उसने उसे तीक्ष्णतासे एक ऐसी वस्तुकी तरह काटकर अलग कर दिया जो अपने-आपमें अलग है और जो कुछ अध्यात्म-तत्त्वनहीं है उस सबके विपरीत है, अध्यात्म-तत्व और जड़के बीच या अधिक विस्तीर्ण रूपमें, एक ओर अध्यात्म-तत्त्वऔर दूसरी ओर मन, प्राण तथा शरीर, इनके बीच एक विरोध उसके आत्म-प्रत्ययका आधार बन गया। तब आत्माकी धारणा इस रूपमें करते हुए कि वह एक विशुद्ध सत्ता है, अन्य सब कुछको अनात्मा सर्वथा भिन्न प्रकृतिवाला कहकर उससे पृथक् कर दिया गया। प्रसंगवश, उसे उसने अपने हठीले विभाजक मनकी आँखसे अपने पृथक आत्माकी तरह देखा और, जैसे उसने अहंकी तुष्टिको पृथ्वीपर अपना सारा व्यवसाय बना डाला था, वैसे ही उसने अन्तरात्माके वैयक्तिक उद्धारको उसका एकमात्र सर्वमहत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तथा स्वर्गिक कार्य बना डाला। या उसने विश्वसत्ताको देखा और व्यक्तिकी वास्तविकताको अस्वीकार किया उसकी किसी भी जीवन्त एकता या सह-अस्तित्वशाली वास्तविकता-को माननेसे इन्कार किया, या उसने विश्वातीत निर्विशेषको देखा जो व्यक्ति और विश्वसे पृथक् है और इस कारण व्यक्ति और विश्व असत्की चीज बन गये। उसके साफ काटछाँट करनेवाले और विश्वस्त भावसे पैनी धार चलानेवाले मनके लिये सत्ता और सभूति दो विपरीत श्रेणियाँ हैं जिनमेंसे किसी एकको अस्वीकार करना ही होगा या अस्थायी निर्माण या समष्टिकी तरह मानना होगा या भ्रमके फीके वर्णसे विवर्ण कर देता होगा, सभूति सत्ताके शाश्वत प्रदर्शनके रूपमें स्वीकृत नहीं होगी। इन्द्रिय-निर्देशित या मानवीय बुद्धिकी ये धारणाएँ अभी भी हमारा पीछा कर रही हैं, परन्तु विचारशील बुद्धिवृत्तिको यह अधिकाधिक प्रकट होता है कि ये धारणाएँ चाहे निर्णायिका और सन्तोषदायिनी क्यों न लगें और प्राणक्रिया, मनोक्रिया, आत्मिक क्रियाके लिये सहायिका क्यों न हों, ये अभी भी, जैसा कि हम अब इनके बारेमें कहते हैं, बनायी हुई चीजें हैं। इनके पीछे एक सत्य है, परन्तु ऐसा सत्य जो इन पार्थक्योंके लिये वस्तुत. अनुमति नहीं

देता। हमारे श्रेणी-निर्धारण अति दृढ दीवारे खडी कर देते हैं, जब कि सारे सीमातट केवल तट होते हैं, न कि पार नही की जा सकनेवाली खाडियाँ। वस्तुओके अन्दर जो अनन्त रूपसे परिवर्तनशील अध्यात्म-पुरुष है वह अपने-आपको अपनी सर्वत्र-विद्यमानताके प्रत्येक रूपके अन्दर समूचा ले जाता है, आत्मा, सत्-पुरुष, एक साथ ही प्रत्येकके अन्दर अद्वय है, हमारे समुदायोमे सर्वसामान्य है और सारी सत्ताओमे एक है। ईश्वर अपनी अविभाज्य एकतामे एक साथ ही वहुत सारी विधियोसे गतिशील होता है।

मनुष्य विश्वमे एक पृथक् और सर्वथा विलक्षण प्राणी है, इस धारणाको प्रकृति-प्रक्रियाके धैर्यपूर्ण और तटस्थ अवलोकनने वुरी तरह झकझोर डाला है। मनुष्य पृथ्वीपर अपनी सानी नही रखता, उसका कोई समकक्ष नही, और उसे विशेष सुविधा भी प्राप्त है, किन्तु उसकी सत्ता एकाकी नही होती, उसके पीछे सारा विकासक्रम है जो दुर्वल शरीर, सकीर्ण प्राण और सीमित मनमे शरीर धारण करनेवाले आध्यात्मिक महानताके इस जिज्ञासुकी व्याख्या करता है और यह जिज्ञासु अपनी वारीमे अपनी सत्ता और खोजके द्वारा विकासक्रमकी व्याख्या देता है। पशु मनुष्यको तैयार करता और उसकी अपूर्ण पूर्वाकृति होता है, स्वय पशुकी तैयारी वनस्पतिमे की जाती है, क्योकि पार्थिव विस्तरणमे जो कुछ पहले आया है पशु भी उसके द्वारा अस्पष्ट रूपसे पहले देखा गया था। स्वय मनुष्य विद्युदणु और परमाणुकी चमत्कारपूर्ण क्रीडाको हाथमे लेता है, जीवद्रव्यके जटिल विकासके वीचसे अवप्राणिक वस्तुओके रसायनिक जीवनको ऊपर खीचता है, वनस्पतिकी आदि स्नायवीय प्रणालीको सम्पूर्णीकृत पशु-प्राणीकी दैहिक रचनामे पूर्ण वनाता है, अपने भ्रूणीय विकासमे पशु-रूपके अतीत क्रमविकासकी निष्पत्ति और द्रुत पुनरावृत्ति मानव-पूर्णताके अन्दर करता है और, एक वार जब मनुष्य जन्म ले लेता है तो पृथ्वीमुखी और अधोमुखी पशु-प्रवणताकी भूमिसे वह अध्यात्म-पुरुषके सीधे खडे आकारकी ओर उठता है जो अपने आगेके स्वर्गमुखी विकासक्रमकी ओर ऊपर देखना आरम्भ कर चुका होता है। जगत्का सारा पार्थिव अतीत मनुष्यमे सक्षिप्त रूपमे होता है, और केवल ऐसा ही नही है कि प्रकृतिने मानो यह स्थूल चिह्न दिया है कि उसने मनुष्यमे अपनी विश्वव्यापिनी शक्तियोका एक सार-सग्रह रच रखा है, वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी वह अपनी अवचेतन सत्तामे प्रकृतिके अधिक अँधियाले और पशुसे नीचेके प्राणके साथ एक रहता है, अपने मन तथा प्रकृतिमे पशुको समाये रखता है और इन सारे अध स्तरोसे उठकर अपने सचेतन मानवत्वमे आता है।

मनुष्यमे अन्तरात्मा जो कुछ भी हो वह कोई पृथक् आध्यात्मिक सत्ता नही जिसका शेष पार्थिव परिवारसे कोई सम्वन्ध नही हो, वरन् ऐसा लगता है कि वह उस

सारेको हाथमे लेता हुआ और अध्यात्म-तत्त्वकी एक नयी शक्ति और अर्थ द्वारा उसके सार्थक्यका अतिक्रमण करता हुआ उसीमेसे उपजा है। पृथ्वीपर मानव-प्ररूपकी सार्वभौमिक प्रकृति यही है, और यह अनुमान करना न्याय है कि व्यष्टि-अन्तरात्माका विगत इतिहास जो कुछ भी रहा हो, उसने सार्वभौमिक प्रकृति और विकासक्रमकी धाराका अनुसरण किया होगा। जो पृथक्कारी अभिमान यह चाहता है कि हम अपने-आपको एक अन्य तथा महत्तर सृष्टि माने और जो इसके लिये प्रकृतिके एकत्वको खडित करना चाहता है, उसका कोई भौतिक समर्थन नहीं है, यही नही, इसके विपरीत यह पाया गया है कि सारे प्रमाण उसका खडन करते हैं। फिर, इसका कोई आध्यात्मिक समर्थन माननेका भी कोई कारण नही। मानवजातिका भौतिक इतिहास अवप्राणिक जीवन और पशुजीवनमेसे मानवत्वकी महत्तर क्षमतामे विकसित होना रहा है, हमारा वर्तमान स्वभाव जो कि पशुस्वभाव है और उसके अतिरिक्त ऐसा कुछ भी है जो उसका अतिक्रमण करता है, जिस आन्तरिक इतिहासका निर्देशन करता है, वह इतिहास अवश्य ही उसी मोडके सहारे मानवताके अन्तरात्मामे पहुँचनेवाला समसामयिक और सगी विकास रहा होगा। जिस प्राचीन भारतीय विचारने मनुष्यकी वैयक्तिक प्रकृतिको सार्वभौमिक प्रकृतिसे या मनुष्यके आत्माको अद्वय सर्वसामान्य आत्मासे पृथक् करनेसे अस्वीकार किया, उसने अपनी दृष्टिके इस परिणामको स्वीकार किया। इस प्रकार तत्रने मानव-जन्मके लिये तैयारीके रूपमे वनस्पति तथा पशुयोनिमे आठ करोड जीवनोकी कुल राशि बनायी है, और हम इस सख्यासे बँधे बिना इस विचारकी ताकतको समझ सकते हैं कि जिस आन्तरात्मिक विकासक्रम द्वारा मानव-जाति अस्तित्वमे आयी है या शायद निरन्तर आती है, वह कितना कठिन है। एक पशु-अतीत इस प्रकार रहा ही होगा, इस मान्यतासे हम केवल तभी निस्तार पा सकते हैं यदि हम यह कहें कि सारी अवमानवीय प्रकृति अन्तरात्माहीन है।

परन्तु ऐसा कहना उस मानवीय मनके अन्धे, उतावले और धृष्ट विच्छेदोमेसे ही है जो पृथक् आत्म-बोधके अपने ही बन्दीगृहमे बन्द रहकर शेष प्राकृतिक सत्ताके साथकी अपनी सजातीयताको देखनेसे इनकार करता है। यदि अन्तरात्मा या अध्यात्म-तत्त्व पशुमे निम्नतर स्तरपर कार्य कर रहा है तो इस कारण हमारा उसको अन्तरात्माहीन मान लेना वैसे ही उचित नही होगा जैसे यह उचित नही होगा कि कोई अतिमानवीय या दिव्य प्राणी हममे हमारी आधी पशु-प्रकृतिकी रेंगती, नीचेकी ओर खिंचती निकृष्टताके कारण हमे अन्तरात्माहीन मन माने। हम जब किसी भी मानव-प्राणीके बारेमे यह रूपक देते हैं कि उसमे अन्तरात्मा नहीं है तो यह रूपक ही होता है, इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमे पशु-प्ररूपका अन्तरात्मा उस अधिक विकसित अन्तरात्मा-

प्ररूपकी अपेक्षा अत्यधिक प्रधान हो गया है जिसे हम मानवजातिके सुष्ठुरतर आध्यात्मिक रूपके अन्दर पानेकी आशा करते हैं। किन्तु यह पशु-तत्त्व हममेसे प्रत्येक मातृपुत्रमे है, यह हमारी विरासत है, हम सभीको अपनी पृथ्वी-मातासे उत्तराधिकारमे मिली वस्तु है. और यदि हमारी सत्ताका यह तत्त्व, इस उत्तराधिकारका भार हमारे अपने अतीतकी कमाई न हो, किसी विगत रचनात्मक अनुभवसे बचा रखी गयी शक्ति न हो, तो भला हम उसे आध्यात्मिकतया पा ही कैसे सकते हैं? कर्मका आध्यात्मिक नियम यह है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रकृति उसकी भूतकालकी ऊर्जाओका परिणाम ही हो सकता है, यह मानना कि अन्तरात्मा ऐसे अतीतके कर्मको जारी रखता है जो उसका अपना नही था, इस नियमपर अलग रेखा खीच देना और एक अज्ञात तथा अपरिक्षित तत्त्वकोअन्दर ले आना है। परन्तु यदि हम इसे मानते हैं तो हमे उस तत्त्वका लेखाजोखा भी करना होगा, हमे यह व्याख्या करनी होगी या यह खोजना होगा कि सारी पशु-प्रकृतिसे अछूती रहनेवाली अध्यात्म-सत्ता किस विधान, किस सम्बन्ध, किस आवश्यकता, किस विलक्षण वरण-प्रेरणासे पशुताकी ऐसी देह और प्रकृतिको धारण करती है जिसे उसने सत्ताकी निम्नतर श्रेणीके लिये प्रस्तुत किया था। यदि अतीतके व्यक्तित्व या सम्बन्धकी कोई बन्धुता और परिणाम नही हैं तो यह मान्यता अस्वाभाविक और असम्भव हो जाती है। अत यह निष्कर्ष सबसे अधिक न्याय्य और सगत होता है कि मनुष्यमे जो पशु-प्रकृति है,—और वस्तुत हम यदि उसके मनका ठीकसे अध्ययन करे तो पाते हैं कि वह बहुत प्रकारोके पशु-अन्तरात्माओको या बल्कि पशु-प्रकृतियोके सम्मिश्रणको अपने अन्दर बसाए रखता है,—इसका कारण यह है कि विकसित शरीरकी तरह उसमे विकसित होते आत्माका अतीतका अवमानवीय विकासक्रम रहा है। यह निष्कर्ष विश्वप्रकृतिके एकत्व और विकसित होते क्रमको सरक्षित रखता है, और इसका उस पारस्परिक क्रिया और सादृश्यके सतत प्रमाणसे भी मेल खाता है जिसे हम आन्तरिक और बाह्य, स्थूल और मनोमय व्यापारके बीच देखते हैं,—यह ऐसी समरूपता और सहचारिता है जिसकी व्याख्या कुछ लोग मनको स्नायु और शरीरके कार्यका परिणाम और अकन कह कर करनाचाहेगे, परन्तु जिसकी अधिक अच्छी व्याख्या हम तब कर सकते हैं जब कि हम प्राणिक तथा शारीरिक व्यापारमे आन्तरात्मिक क्रियाका परिणाम और गौण अकन देखे जिसका वह सकेत करता है और जिसे वह साथ ही साथ हमारी इन्द्रियबद्ध मनोवृत्तिसे छिपाता भी है। अन्तमे तब वह अन्तरात्मा या अध्यात्म-तत्त्वको जड विश्वमे होनेवाली चमत्कारिक सयोग-घटना या हस्तक्षेप नही बताता, वरन् उसे उस विश्वमे सदा ही विद्यमान और उसकी व्याख्या तथा उसके अस्तित्वका रहस्य बताता है।

अन्तरात्माका पशुजीवन रहा है और अतीतमे उसके अवमानवीय जन्म रह हैं जो धीमे-धीमे और सतर्कतासे मनुष्य-योनिके जन्मकी तैयारी करते रहे हैं, इसकी मान्यता प्राकृतिक श्रेणी-व्यवस्थाकी इस आकस्मिक रेखापर नही रुक जा सकती। कारण, मनुष्य अपनी सत्तामे केवल अपनेसे नीचेके पशु-अस्तित्वका ही नही, अपितु पशुसे नीचेके अधिक अस्पष्ट अस्तित्वका भी साराश समाये रखता है। किन्तु यदि तिरस्कृत पशु-रूप और पशु-मनमे अन्तरात्माकी विद्यमानताको मानना भी हमारे लिये कठिन है तो पशुसे नीचेकी प्रकृतिकी जड अवचेतनामे उसकी विद्यमानता-को मानना तो और भी कठिन है। प्राचीन विश्वासधारामे यह मान्यता सुखदतम भावसे रहती थी, उसे सजीव और निर्जीव दोनोमे सर्वत्र अन्तरात्माका, जीवन्त देवत्वका दर्शन हुआ था, और उसकी दृष्टिमे कोई भी वस्तु आध्यात्मिक अस्तित्वसे रहित नही थी। बीचमे, स्पष्ट खण्डोके लिये अनुराग रखनेवाली तार्किक और अमूर्त-कारिणी मानसिक बुद्धिने इन सारे विशाल विश्वासोको काल्पनिक अन्धविश्वास या आदिम सर्वात्मवाद अथवा जीववाद कह कर बुहार निकाला और, अपनी सीमाकारिणी तथा विभाजित परिभाषाओसे अधिकृत होकर, उसने मनुष्य और पशु, पशु और वनस्पति, सजीव और निर्जीव सत्ताके बीच तीक्ष्ण विभागीय विभेद कर डाला। परन्तु अब, असहनशील विभाजनोकी यह प्रणाली हमारी अभिवर्द्धनशील युक्तिबुद्धिकी आँखोके सामने तेजीसे लुप्त हो रही है। पशु-मनोवृत्तिमे जिसकी शुरुआत भर हुई है, मानव-मन उसीमेसे एक विकास है, उस अवर प्ररूपमे भी एक प्रकारकी दमित युक्तिबुद्धि है, क्योकि यह नाम अनुभव, साहचर्य, स्मृति और स्नायवीय प्रत्युत्तरसे मिलनेवाले सहज वृत्तिगत और अभ्यासगत निष्कर्षको भी भली भाँति दिया जा सकता है, और स्वय मनुष्य इन वस्तुओसे आरम्भ करता है लेकिन वह इस पशु-विरासतमेसे विवेकशील इच्छा और बुद्धिकी स्वतन्त्र मानवीय आत्म-वियुक्तिकारी क्षमताका विकास करता है। औरअब यह स्पष्ट है कि स्नायवीय प्राण जो कि मनुष्य और पशुमे उस स्थूल मनका आधार है, वनस्पतिमे भी एक मूलभूत एकसमानतामे रहता है, केवल यही नही, वरन् वह एक प्रकारकी स्नायवीय मनोगठन द्वारा हमसे सजातीय रहता है और इसका अर्थ यह होता है कि वहाँ एक दमित मन रह रहा है। यह सकेत करना अब अन्याय नही होगा कि वनस्पतिमे अवचेतन रहनेवाला मन,—परन्तु वनस्पति-अनुभवकी चोटियोपर क्या वह केवल अर्ध-अवचेतन नही है?—पशुदेहमे सचेतन हो जाता है। जब हम और नीचे जाते हैं तो इस बातके सकेत पाते हैं कि प्राणसे नीचे, जडसे जड भौतिक रूपोमे भी, ठीक उसी प्राण-ऊर्जा और उसके प्रत्युत्तरोके आरम्भिक तत्त्व सवृत हैं।

और तब यह प्रश्न उठता है, कही ऐसा तो नहीहै कि प्रकृतिमे कोई अभग सातत्य

है, कोई विखडन और विभाग नही हैं, पाटी नही जा सकनेवाली खाडियाँ और पार नही किये जा सकनेवाले तट नही है, वरन् एक सम्पूर्ण एकत्व है, जड दमित प्राणसे अनुगर्भित है, मन दिव्यतर बुद्धिकी दमित ऊर्जासे अनुगर्भित है, प्रत्येक नया रूप या जन्म-प्ररूप दमित शक्तियोके अनुक्रममे एक - एक पर्वका उन्मेष करता है, परन्तु इस स्थलपर भी विकासक्रमका अन्त नही होता, प्रत्युत यह विशाल और भरी हुयी बुद्धि 'अध्यात्म-पुरुष' की महत्तर और अभी दमित रहती आत्म-शक्तिको मुक्त करनेका एक साधन है। इस प्रकार हमारी आँखोके सामने जगत्‌मे एक आध्यात्मिक विकासक्रम आता है जिसे एक आन्तरिक शक्ति अपनी ही प्रच्छन्न शक्तियोको अपनी सम्पूर्ण और उच्चतम सत्यताकी ओर प्रस्फुटित करती हुई अपने रूपगत जन्मोकी श्रेणियोके सोपान-पर ऊपर उठाती है। पुरातन वेदका शब्द सामने आता है,—अप्रकेतम् सलिलम् सर्वम् इदम्, निश्चेतनाके सारे समुद्रमेसे, तपसस्तन्महिना अजायत एकम्, वह एकमेव आध्यात्मिक सत् ही अपनी ही ऊर्जाकी महिमा द्वारा जन्म लेता है। जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं उसका प्रथम प्राकट्य इस विकासक्रममे कहाँपर होता है? तब हम यह पूछने-को बाध्य होते हैं, क्या वह वहाँ विद्यमान नही रहा होगा, वहाँ प्रथम आरम्भसे ही नही रहा होगा, भले ही जडमे निद्रित, या कह सकते हैं निद्राचारी रहा हो? मनुष्य यदि केवल अधिक प्रसारवाले स्थूल मनसे युक्त श्रेष्ठतर पशु ही होता तो हमारा यह कहना धारणागम्य हो सकता था कि कोई अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता नही है, अपितु जडके रूपोके धाराक्रममे बस 'ऊर्जा' की तीन क्रमागत शक्तियाँ ही हैं। परन्तु इस मानवीय बुद्धिमे इसके शिखरपर अध्यात्मतत्त्वकी एक महत्तर शक्ति प्रकट होती ही है, हम एक ऐसी चेतनातक ऊपर उठते हैं जो अपने स्थूल साधनो और सूत्रोसे सीमित नही। यद्यपि प्रथम दृष्टिमे ऐसा लग सकता है, तथापि वह उच्चतम वस्तु मनका अभौतिक उन्नयन नही है, मन भी सजीव जडतत्त्वका सूक्ष्म उन्नयन नही। यह महिमामयी वस्तु हमारी सत्ताका तो स्वयम्भू उपादान और बल ही प्रमाणित होती है, अन्य सारी वस्तुएँ तुलनामे उसके अपने न्यूनतर रूप ही लगती हैं जिन्हे वह प्रगतिशील प्राकट्यके लिये काममे लेती है, अन्तमे अध्यात्म-तत्त्व केवल अन्तिम ही नही, वरन् प्रथम भी, आदि और अन्त, और अस्तित्वके आरम्भसे उसका समूचा रहस्य प्रमाणित होता है। हम इस सबकी एक अगाध धारणापर आते हैं, सर्वम् इदम्, जिसमे हम देखते हैं कि जडके अन्दर एक अस्पष्ट सर्वत्रविद्यमान प्राण है, एक प्रच्छन्न प्रसुप्त मन उस प्राणसे सक्रिय होता है, मनकी उस निद्रामे एक सर्वज्ञाता और सर्वप्रवर्तक 'अध्यात्म-पुरुष' आश्रय ग्रहण किये हुए सवृत है। किन्तु तब अन्तरात्माकी कल्पना किसी ऐसे विकास या जन्मके रूपमे नही करनी होगी जिसके आगमनकी तिथि निश्चित की जा सकती हो,

न विकासक्रमकी किसी ऐसी भूमिकाके रूपमे ही जो उसे रूपायणका प्रथम सामर्थ्य ला देती हो, वल्कि यहाँ सब कुछ एक ऐसे प्रच्छन्न अन्तरात्माके द्वारा रूपधारण है जो प्राणकी आत्म-खोजमे वर्द्धमान आत्म-विवेकके सामने अधिकाधिक अभिव्यक्त होता है। समस्त रूपधारण अन्तरात्माका एक सतत और फिर भी प्रगतिशील जन्म, सभव या सभूति है, केवल सूक्ष्मत , मनत चेतन मानव या पशु-अस्तित्व ही नहीं, अपितु जो मूक, अन्धा और बुद्धिहीन है वह भी वही है, यह सारी अनन्त सभूति 'अध्यात्म-सत्ता' का का रूपके अन्दर जन्म है। यही वह सत्य है, बुद्धिके लिये प्रथमत धूमिल या अस्पष्ट किन्तु आन्तरिक अनुभवके लिये बहुत दीप्तिमान, जिसपर प्राचीन भारतका पुनर्जन्म-विषयक विचार अधिष्ठित था।

परन्तु उसी व्यक्तिका बारबार जन्म होना प्रथम दृष्टिमे इस अभिभूतकारी विश्वव्यापी एकत्वमे अपरिहार्य नही जान पडता। तार्किक बुद्धिको यह बात एक प्रतिकूलोक्ति लग सकती है क्योकि यहाँ सब कुछ एक ही पुरुष, आत्मा, अस्तित्व है जो प्रकृतिके अन्दर जन्म लेता, बहुसख्यक रूपोको धारण करता, अपने आत्म-प्राकट्य-की भूमिकाओकी वहुत सारी श्रेणियोपर चढता जाता है। अस्तित्वको आत्मा और अनात्मा (जो "मै" है और जो "मै" नही है) मे सक्षिप्त रूपसे काट देना जो कि वस्तुओके सम्बन्धमे हमारे अहमात्मक विचारके लिए सुविधाजनक था, कर्मकी ओर मनका इतना सबल मोड था, उसके जन्मके पृथक्कारी व्यापार और सम्मिलित अग्रसरणके चेतन परिवर्तनको अवलम्ब देनेके लिए उस अद्वय 'अध्यात्म-सत्ता' का एक व्यावहारिक या यान्त्रिक साधन ही प्रतीत होगा, विश्वव्यापिनी बुद्धिकी ऐद्रजालिक चतुराई ही लगेगा, यह सत्ताका केवल प्रतीयमान तथ्य है, उसका सत्य नही,—वस्तुत कोई पार्थक्य नही है, केवल एक विश्वव्यापी एकत्व है, अद्वय आत्मा है। किन्तु क्या यह फिर एक विपरीत चरमताकी ओर झूल जाना नही होगा? जैसे अह सत्ताके एकत्वमे अत्यधिक विखडन था, वैसे ही यह एकत्व-सागरका भाव जिसमे हमारा जीवन चचल और क्षणिक तरग मात्र होता है, किसी ऐसी वस्तुको हिंस्र रूपसे काट निकालना हो जा सकता है जो विश्व-व्यवस्थाके लिये अपरिहार्य हो। जीवनगत 'अध्यात्म-सत्ता' की विधाओमे वैयक्तिकता उतनी ही महत्वपूर्ण वस्तु है जितनी कि विश्वात्मकता। व्यक्ति उसकी सत्ताका वह सशक्त रहस्य है जिसपर विश्वसत्ता वल देती, सहारा लेती और अपनी सारी क्रियाओकी शक्ति-ग्रन्थि वनाती है जैसे-जैसे व्यक्तिमे चेतना, दृष्टि, ज्ञान और\ किन्ही भी दिव्य सामर्थ्यो तथा गुणोकी वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वह वढते परिमाणमे अपने अन्दर वैश्वके प्रति चेतन होता है, साथ ही विश्वसत्तामे अपने प्रति भी, अपने एक ऐसे अतीतके प्रति भी चेतन होता है जिसका एक ही अचिर देहमे न तो

आरम्भ हुआ है, न अन्त, प्रत्युत जो भावी परिपूर्तियोकी ओर उन्मीलित हो रहा है। हमारे जन्ममे विश्वपुरुषका उद्देश्य यदि आत्म-चेतन होना और अपनी सत्ताको अधिकृत और उसका भोग करना है, तो भी यह व्यक्तिके प्रस्फुटन और पूर्णता द्वारा ही किया जाता है, यदि अपनी ही क्रियाओसे बच निकलना अन्तिम लक्ष्य हो, तो भी बच निकलनेवाला व्यक्ति ही होता है जब कि विश्वपुरुष अपने बहुसख्यक जन्मोको कभी भी अन्त न होनेवाले रूपसे अनवरत चलाये रखनेमे तुष्ट लगता है। अत व्यक्ति 'अध्यात्म-सत्ता' की यथार्थ शक्ति प्रतीत होगा, न कि निरा भ्रम या साधन, बात वहाँ तक भिन्न होगी जहाँ तक कि, जैसा कुछ लोग कहते हैं, विश्वसत्ता भी अति विशाल भ्रम या भव्य आरोपित साधन हो। इस विचारधाराके अनुसार हम इस विचारपर पहुँचते हैं कि एक महान् आध्यात्मिक अस्तित्व है, विश्व और व्यक्ति उसकी दो सहचरी शक्तियाँ हैं, उसकी अभिव्यक्तिके सिरे हैं, उसकी सत्ताकी सक्रिय की गयी वास्तविकताओकी अनिश्चित परिधि और बहुविध केन्द्र हैं।

एक ऊर्ध्वमुखी एकत्व, भौतिक अस्तित्वमे सवृत एक अध्यात्म-सत्ता जो बहुत सारी श्रेणियोपर अद्भुत रूपसे चढती हुई प्राणसे होकर सगठित मनकी ओर और मनसे आगे अपने सपूर्ण आत्म-विवेकके उन्मेषकी ओर जाती है, व्यक्तिके द्वारा अपने आत्मोत्कर्षके लिये उस श्रेणीक्रम और शक्तिका अनुसरण,—वस्तुओको देखनेका यह तरीका अपनी जटिलताके बीच सामजस्यपूर्ण तो अवश्य है और एक विशेष सर्वालिगनकारी दायरेके लिये नमनीय और समर्थ भी, इसे हम अपने पुनर्जन्म-विषयक विचारोके आधारकी तरह ले सकते हैं। यदि मानवीय मन पृथ्वीपर उसकी सम्भावनाका अन्तिम शब्द है तो पुनर्जन्मका मनुष्यमे अवश्य अन्त हो जाना चाहिये और किसी आकस्मिक समाप्ति द्वारा उसे या तो अन्य लोकोके किसी जीवनकी ओर या अपने आध्यात्मिक वृत्तको रद्द करनेकी ओर अग्रसर हो जाना होगा। परन्तु यदि अध्यात्म-तत्त्वकी उच्चतर शक्तियाँ हैं जो कि जन्म द्वारा प्राप्य हैं, तो आरोहण समाप्त नही हुआ है, मानवताके ऊँचे सोपानतक पहुँचे हुए और उसकी पूर्णताके लिए ऊपर उठाये जानेवाले जीवके सामने महत्तर क्षितिज हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि यह ऊर्ध्वारोही पुनर्जन्म किसी चेतन सत्ताका जडमेसे लम्बे ऊपर उठते रॉकेटकी तरह छूट निकलना नही हो, न वह मनमे उसकी कोई चक्कर काटती गतिधारा ही हो जिसकी नियति प्रशान्त शून्य या किसी नीरव और कालातीत आनन्त्यके किसी उच्च वायुमे खडित और विघटित हो जानेकी हो, प्रत्युत वह परम देवके किसी महत् कार्य और उच्च आविर्भावकी ओर प्रगति हो जिससे शाश्वत सृष्टिमे उस देवके अटल प्रयोजनको ज्ञानमय और महिमावान् सार्थक्य मिलेगा। या, कमसे कम, वह शाश्वतकी अनन्त शक्यताकी एक शक्ति तो हो ही सकता है।

-

सात

संवृति और क्रमविकास

क्रमविकासके बारेमे जो पाश्चात्य विचार है वह रूपायणकी प्रक्रियाका कथन है, हमारी सत्ताकी व्याख्या नही। प्रकृतिके भौतिक तथा जीव-विषयक तथ्योतक सीमित रहनेवाला यह विचार क्रमविकासके अर्थको खोजनेका प्रयत्न नहीं करता, यदि करता भी है तो सक्षिप्त या छिछले तरीकेसे और अपने बारेमे यह घोषणा करके तुष्ट रहता है कि वह एक सर्वथा रहस्यपूर्ण और अव्याख्येय ऊर्जाका सामान्य नियम है। क्रमविकास एक गतिक समस्या हो जाता है जो अपनी पहेलीको एक स्वत चालित नियमिततासे क्रियान्वित करनेमे सतुष्ट है,-किन्तु उसका हल निकालनेके लिये नही, क्योकि, चूँकि उसे अपने बारेमे कोई समझ नही है, और चूँकि वह यान्त्रिक ऊर्जाकी अन्धी चिरकालीन स्वचलता है, अत उसका न मूल है, न अन्त। उसका शायद आरम्भ हुआ था या सदा ही आरम्भ हो रहा है, वह शायद कालमे रुक जायगा या कही पर सदा ही रुक जा रहा है और अपने आरम्भोकी ओर वापस जा रहा है, किन्तु उसका कोई "क्यो" नही है, उसके आरम्भ और अवसानके लिये केवल एक "कैसे" की बडी खलबली और बतगड है, क्योकि उसके कार्योमे आध्यात्मिक अभिप्रायका स्रोत नही, प्रत्युत केवल एक अविश्रामशील भौतिक अनिवार्यताकी शक्ति है। क्रमविकासके बारेका प्राचीन विचार दार्शनिक सबोधिका फल था, आधुनिक विचार वैज्ञानिक प्रेक्षणका प्रयत्न है। ये दोनो जिस प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं, प्रत्येकमे कुछ छूटा रह जाता है, किन्तु प्राचीन विचार इस गतिधाराके अन्तर्मर्मतक पहुँचा था जब कि आधुनिक विचार रूप और बाह्यतम यन्त्रविधिको पाकर तुष्ट है। साख्य चिन्तकोने हमारे सामने समूची क्रमवैकासिकी प्रक्रियाके मनोमय तत्त्वोको रखा, मन और इन्द्रियका और जडके सूक्ष्म आधारका विश्लेपण किया और कार्यकारिणी ऊर्जाके कुछ रहस्योका सन्धान प्राप्त किया, परन्तु प्रकृतिके भौतिक श्रमके ब्यौरेकी ओर उसकी दृष्टि नही गयी। उन्होने इसमे भी केवल छायी हुई सक्रिय और प्रकट शक्तिको ही नही, अपितु प्रच्छन्न आधार-दात्री और आध्यात्मिक सत्ताको भी देखा, किन्तु उनकी इस दृष्टिमे विश्लेपणकारिणी बुद्धिकी अतिशयता थी, वह तीक्ष्ण विखडनो और सममित विरोधोके प्रेमसे ग्रस्त थी। उसने पुरुष तथा शक्तिके बीच पार्थक्यकी मूल और शाश्वत खाई या रेखा खीच दी। आधुनिक वैज्ञानिकने भौतिक पद्धतिको उसकी सूक्ष्म क्रियाओ तकमे देखा है और वह

इस पद्धतिकी एक पूरी योजना और सिद्धान्त-प्रथा वनानेका प्रयत्न करता है, किन्तु प्रत्येक डगमे समाये हुए चमत्कारकी ओर अन्धा रहता या विशाल व्यवस्थित व्यापारके तुष्ट प्रेक्षणमे उसका अर्थ खो देनेमे सुखी रहता है। परन्तु इसका विस्मय वना रहता है, यह सकल अस्तित्वका अव्याख्येय आश्चर्य है,—जैसा कि प्राचीन शास्त्रोमे भी कहा गया है –

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य ।
आश्चर्यवच्चैनम् अन्य शृणोति
श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥

"कोई इसे देखता आश्चर्यवत् है, कोई इसकी चर्चा आश्चर्यवत् करता है, कोई इसे आश्चर्यवत् सुनता है, परन्तु यह क्या है इसे, सव कुछ सुननेपर भी, कोई नही जानता।" हम यह तो जानते हैं कि क्रमविकास है, परन्तु यह नही कि वह क्या है, वह अभीतक प्रकृतिके आरम्भिक रहस्योके बीच रहस्य बना हुआ है।

कारण, वस्तुओमे स्थित अध्यात्म-तत्त्वकी गहरी और अगाध विधिके विषयमे मनुष्यकी युक्तिबुद्धिके विवरणो और समाधानोकी जो रीति है, उसके फलस्वरूप क्रमविकास जितने प्रश्नोको सुलझाता है उनसे अधिकको खडा करता है, वह अपने ठोस व्यवस्थित तथ्यके सारे रूपके वावजूद भी सृष्टिकी समस्याका अन्त नही करता है, जैसे ऐसा न तो बाह्य सर्वशक्तिमान् स्रष्टाको माननेवाली धार्मिक प्रस्थापना कर सकी, न भ्रमवादीकी अघटन-घटन-पटीयसी रहस्यवादी माया ही कर सकी जो असम्भवको घटित करनेमे बहुत निपुण है और जिसके अनुसार उस भावातीत और भावहीन 'तत्' मे कोई भावयुक्त और विलक्षण सत् असत् शक्ति है जो सत् असत् जगत्की सृष्टि करनेमे स्वत समर्थ है, सत् इस कारण कि उसका होना बहुत ही स्पष्ट है, असत् इस कारण कि वह स्वप्नमयी अवास्तविक क्षणभगुरताओकी जोडतोड कर बनायी गयी सघनता है। इससे समस्या लम्बी ही हो जाती है, और भी पीछे हटा दी जाती है, उसका रूप सूक्ष्म और व्यवस्थित, किन्तु और भी अधिक कठिन और जटिल हो जाता है। परन्तु जब हमारी जिज्ञासा केवल क्रमविकासके ही प्रश्नतक सीमित रहती है तब भी ज़ो स्पष्ट वाह्य वास्तविकताएँ देखनेमे आयी हैं उनके सारभूत सार्थक्यकी कठिनाई उठती ही हैं, प्रश्न होते हैं, क्रमविकासका क्या अर्थ है, क्रमविकास किसका होता है, वह किससे और किस आवश्यकताकी शक्तिसे होता है? वैज्ञानिक यह प्रतिपादित करके तुष्ट होता है कि एक आद्य जड तत्त्व या वस्तु है,—वह चाहे परमाणवीय हो, चाहे विद्युतीय, चाहे आकाशीय या अन्तमे जो कुछ भी वह प्रमाणित हो—और वह वस्तु अपनी ही

अन्तर्निहित ऊर्जाकी प्रकृतिके कारण या अपने अन्दर और ऊपर कार्य करती ऊर्जाकी ही प्रकृतिके कारण,—ये दोनो चीजे एक नही हैं, और यद्यपि इनका विभेद प्रक्रियाके आरम्भमे अमहत्त्वपूर्ण लग सकता है, तथापि अन्तमे महत्त्वपूर्ण परिणामशाली रहता है,—किसी अव्याख्यात नियमके कारण, परिणामोकी किसी नियत व्यवस्था या अन्य अपरिवर्तनीय तत्त्वके कारण, जडके अनेक विभिन्न आधारभूत रूपो और शक्तियोको या ऊर्जाकी अनेक विभिन्न सवेद्य और प्रभाविणी गतियोको उत्पन्न करता है ऐसा लगता है कि ये अस्तित्वमे तब आते हैं जब जडके सूक्ष्म आद्य कण विभिन्न रूपसे विन्यस्त परिमाणो, मात्राओ और सम्मिलनोमे साथ मिलते हैं और बाकी सब कुछ सगठित ऊर्जाकी बदलती, विकसित होती, चढती गतिधारा और उसका क्रमवैकासिक परिणाम है जो इस स्थूल उपादानके आधारपर निर्भर करता है। यह सब दृश्य वास्तविकताका सही कथन है या हो सकता है,—किन्तु हमे यह नही भूलना है कि हालका समय विज्ञानके मूलभूत सिद्धान्तमे उलटपुलट और द्रुत पुनरायोजनकी बडी हलचलका समय रहा है,—परन्तु यह बात हमे उस प्रधान, सर्व-महत्त्वपूर्ण वस्तुकी ओर नही ले जाती जिसे हम जानना चाहते हैं। विश्वको मनुष्य जिस प्रकार देखता और अनुभव करता है, उसमे उसकी युक्तिबुद्धिके लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कोई आद्य तथा शाश्वत उपादान है सारी वस्तुएँ जिसके रूप हैं, और एक शाश्वत आद्या ऊर्जा है समस्त कर्म-गति और परिणाम जिसके नाना परिणाम है। परन्तु सारा प्रश्न यह है, इस उपादानकी सत्यता क्या है और इस ऊर्जाका तत्त्वभूत स्वरूप क्या है ?

अब, यदि हम जड तत्त्वमेसे अ-जडके क्रमवैकासिक प्रस्फुटनको इस क्रियाका सबसे कम व्याख्येय भाग माने तो भी क्या वह विकास कोई सृजन है या विमोचन, किसी ऐसी वस्तुका जन्म है जिसका अस्तित्व पहले कभी नही था या किसी ऐसी वस्तु-का धीमे-धीमे बाहर लाया जाना जो दमित तथ्य या शाश्वत शक्यताके रूपमे पहलेसे अस्तित्वमे थी ही ? और जब हम प्राण और मनके अभी तक अव्याख्यात रहनेवाले व्यापार आते हैं तो इस प्रश्नका सार्थक्य अधिक तीक्ष्ण हो जाता है और महत्व अपरिमेय। क्या प्राण निष्प्राण वस्तुमेसे कोई सर्जन है या कि एक नयी शक्ति, जड और भौतिक ऊर्जामेसे आकस्मिक या मन्थर परिणामकी तरह आनेवाली शक्ति ? और सचेतन मन, क्या वह निश्चेतन या अवचेतन प्राणमेसे कोई सर्जन है, या क्या ये शक्तियाँ और देवत्व इस कारण प्रकट होते हैं कि ये विद्यमान सदा ही थे, भले ही अपने छिपे या दमित भाव और क्रियाशीलतामे नामन और सद्वस्तुकी ऐसी आवृत अवस्थामे जो हमारी पहचानमे न आ सके ? और अन्तरात्मा तथा मनुष्यकी क्या बात है ? क्या अन्तरात्मा हमारे मनोवासित प्राणका नया परिणाम या सर्जन है ?—जैसा कि बहुतेरे लोग मानते

हैं, क्योकि वह आत्म-चेतन, उज्जवल और पहचानमे आनेवाली शक्तिके रूपमे केवल तब स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है जब कि विचारवर्मी प्राण अपनी तीव्रताकी किसी ऊँची मात्रापर पहुँचता है। या क्या वह चिरस्थायी सत्ता नही, वह आद्य रहस्य नही जो अपने छिपे रूपको अभी प्रकट कर रहा है और जिस ऊर्जाको हम प्रकृति कहते हैं उसका चिर-साथी है, उसका गुप्त अधिवासी या उसका आत्मा और सत्यता ही है? और मनुष्य, क्या वह किसी जड ऊर्जाकी जैव सृष्टि है जो किसी तरह अप्रत्याशित और सर्वथा अव्याख्येय रूपसे अनुभव और विचार करना आरम्भ कर सकी? या कि मनुष्य अपने यथार्थ आत्म-रूपमे वह आन्तरिक सत्-पुरुष और बल है जो क्रमविकासका सारा आशय और प्रकृतिका स्वामी है? और प्रकृति, क्या वह प्रच्छन्न अध्यात्म-पुरुषकी स्वाभिव्यक्ति, स्व-रूपायण, स्व-सृजनकी शक्ति ही है? और मनुष्य, वह अपनी वर्तमान समर्थताके बाडेमे चाहे कितना भी घिरा पडा हो, क्या वह प्रकृतिमे पहला प्राणी है जिसमे वह बल क्रियाके अग्रभागमे, भौतिक सत्ताके इस बाह्यकक्षमे चेतन रूपसे आत्म-सृजनशील होना शुरु करता है, उसके सारे मानवीय सार्थक्य या उसकी दिव्य सम्भावनाको जितना भी कार्यान्वित और प्रकट कर सके, अधिकाधिक आत्म-चेतन विकासक्रम द्वारा करनेमे वहाँ जुट जाता है? यही वह स्पष्ट निष्कर्ष है जिसपर हम अन्तमे तब पहुँचते ही है यदि हम एक बार आध्यात्मिक विकासक्रमको सारी विश्व-क्रियाकी कुजी, इस सारी उठती सृष्टिकी यथार्थता मान ले।

क्रमविकास शब्दके अन्तर्विष्ट अर्थमे, उसके मूलस्थ भावमे यह बात रहती है कि पहले कोई सवृति अवश्य ही हुई है। यदि प्रकृतिके सारे कर्मका रहस्य प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्ता है तो हमे उस भावके अन्दरके मूलके समूचे बलको जानना होगा। तब हम यह माननेको बाध्य हो जाते हैं कि जो कुछ विकसित हो रहा है वह पहलेसे ही सवृत होकर विद्यमान था, वह चाहे निष्क्रिय रूपमे रहा हो या सक्रिय रूपमे, वह हर दशामे भौतिक प्रकृतिके कोषमे हमसे छिपा हुआ था। जो अध्यात्म-पुरुष अपने-आपको यहाँ देहमे अभिव्यक्त करता है वह आरम्भसे अवश्य ही सारे जड-तत्त्वमे और जड-तत्त्वकी प्रत्येक ग्रन्थि, गठन और कणमे सवृत रहा होगा, प्राण, मन और जो कुछ भी मनसे ऊपर है, वे भौतिक ऊर्जाके सारे क्रियाकलापमे सुप्त, निष्क्रिय या प्रच्छन्न शक्तियाँ रहे होगे। नही तो एकमात्र विकल्प यह रह जाता है कि हम साख्य चिन्तकोकी भाँति अपनी सत्ताके दोनो पार्श्वोंके बीच तीक्ष्ण विखडन कर डाले, परन्तु इससे अध्यात्म-सत्ता तथा प्रकृतिके बीच अत्यधिक विभाजन हो जाता है। प्रकृति निश्चेष्ट और यान्त्रिक वस्तु होगी, किन्तु वह अपने-आपपर अध्यात्म-सत्ताके किसी चापके पडनेसे अधिक सक्रिय होकर अपने कार्यमे जुटेगी। अध्यात्म-सत्ताका अर्थ वह पुरुष होगा

जो चेतन होगा और अपने सार-रूपमे प्राकृतिक क्रियाकलापसे स्वतन्त्र होगा, परन्तु प्रकृति-की किसी प्रतिक्रियाके प्रत्युत्तरमे अपनी चेतनाको परिवर्त्तित करेगा या परिवर्त्तित करता प्रतीत होगा। प्रकृति सक्रिय शक्तिकी गतियोको प्रतिविम्वित करेगी, पुरुष उसके क्रियाकलापोको आत्म-चेतन अमर सत्ताकी चेतनासे आलोकित करेगा। ऐसा हो तो प्रकृतिके वारेमे विज्ञानकी क्रमविकासपर आधारित यह दृष्टि उचित ठहरेगी कि प्रकृति एक विराट् यान्त्रिक ऊर्जा है, प्राण, मन और प्रकृतिगत आन्तरात्मिक क्रिया उसके विकसित होते क्रियाकलापोका क्रम। हमारी चेतना स्वय-प्रचालित और विश्रामहीन यान्त्रिक क्रियाशीलताका अनुमन्ता आध्यात्मिक साक्षीके अनुभवके प्रत्युत्तरशील सुरोमे दीप्तिमान् अनुवाद ही होगी। परन्तु इस विचारमे वाधक कठिनाई हमारी अपनी उच्चतम दृष्टिका सर्वथा विपरीत स्वभाव है, कारण, अन्तमे और ज्यो-ज्यो विश्वव्यापिनी शक्तिकी ऊर्जा अपनी स्व-सम्भावनाओकी ढलानपर चढती जाती है, त्यो-त्यो प्रकृति अधिक स्पष्ट रूपसे अध्यात्म-शक्ति वनती जाती है और उसका सारा यन्त्र-विन्यास उसके उपायकुशल स्वामित्वकी आकृतियाँ मात्र रह जाता है। अग्निशिखाके वलको अग्निशिखासे विभक्त नही किया जा सकता, जहाँ अग्निशिखा है वही वह वल है, और जहाँ वह वल है वही वह आग्नेय तत्त्व है। हमे वापस इस विचार-पर पहुँचना होगा कि विश्वमे एक अध्यात्म-सत्ता विद्यमान है और, यदि उसके बलके कार्योंकी प्रक्रिया और उसका प्राकट्य क्रमविकासके डगोमे है, तो यह वाध्य होकर मानना होता है कि पहले एक सवृति हुई ही है।

वस्तुओमे स्थित यह अध्यात्म-सत्ता आरम्भसे प्रत्यक्ष नही, अपितु अभिव्यक्तिके वढते प्रकाशमे स्वय-प्रकटित है। हम देखते हैं कि प्रकृतिकी दबाकर रखी गई शक्तियाँ अपनी मूल सवृतिमेसे विमुक्त होने लगती हैं, अपनी अनन्त समर्थताके रहस्योको कर्मा-वेगमे प्रकट करती हैं, अपने आपपर और आधारदायी निम्नतर तत्त्वपर चाप डालती हैं कि वे उसकी जिस निम्नतर गतिपर निर्भर करनेको वाध्य रहती हैं वह उनके अपने प्ररूपके उपयुक्त एक उच्चतर क्रियाके अधीन हो जाय और वह तत्त्व उनके आत्म-प्रकटनकारी कार्यान्वनोमे उनकी अपनी महिमाको अनुभव करे। प्राण जडको पकडमे लेता और उसमे अपनी प्रचुर सर्जनात्मिका शक्तिकी असख्य आकृतियाँ भरता है, उसमे वह भरता है अपने सूक्ष्म और परिवर्तनशील प्रतिमानोको, जन्म और मृत्यु, विकास, कर्म और प्रत्युत्तरके लिए अपने उत्साहको, अनुभवके अधिकाधिक सश्लिष्ट सगठनके लिये अपने सकल्पको, अपने सुख, दु ख और कर्मके सवोध झकोरेकी आत्म-चेतनाके लिये अपनी कम्पित खोज और टोहको। मन प्राणको पकडमे लेता है उसे सकल्प तथा वुद्धिके आश्चर्योके हेतु उपकरण वनानेके लिए। अन्तरात्मा मनको

अविकृत करता है और उसे सौन्दर्य, शुभ, प्रज्ञा और महानताके आकर्षणसे किसी अर्ध-दृष्ट आदर्श और उच्चतम जीवनकी ओर ऊपर उठाता है। और इस सारी चमत्कारिक गतिधारा और महानताओके ऊर्ध्वक्रममे प्रत्येक डग अधिक ऊँची सीढीपर पैर रखता है और वस्तुओमे जो सदा-गुप्त और सदा-स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्म-सत्ता है उसकी एक स्पष्टतर, विशालतर और परिपूर्णतर व्याप्ति तथा दृष्टिकी ओर उन्मीलित होता है। भौतिक विकासक्रमपर गडी आँखोको सृष्टिकी यान्त्रिक महिमा और सूक्ष्मता ही देखनेमे आती है, परन्तु मनकी ओर उन्मीलित होते प्राणका विकासक्रम, अपने स्व-प्रकाश और कर्मके अन्तरात्माकी ओर उन्मीलित होते मनका विकासक्रम, मनकी सीमित शक्तियोमेसे आध्यात्मिक सत्ताके आनन्त्योकी देदीप्यमान प्रदीप्तिकी ओर अन्तरात्माका विकासक्रम, ये अधिक सार्थक वस्तुएँ हैं और हमे अपने-आपको व्यक्त करती गुह्यताके महत्तर और सूक्ष्मतर प्रदेशोमे ले जाते हैं। भौतिक विकासक्रम केवल वाह्य चिह्न है, अवलम्बदायी ढाँचेकी अधिकाधिक सश्लिष्ट और सूक्ष्म अभिवृद्धि है, रूपकी विकसित होती वाह्य छन्द-गठन है जो आध्यात्मिक सामजस्यके उठते सुरोको जड-तत्त्वमे वनाये रखनेके लिये रचित है। ये सुर ज्यो-ज्यो वढते हैं, आध्यात्मिक सार्थक्यका हमसे मिलना होता है, परन्तु जवतक हम सरगमके शिखरपर नही पहुँच जाते तवतक हमारे अधिकारमे उसका पूर्ण अर्थ नही आ सकता जिसके लिये ये सारे प्रथम रूपाचारी साधन वाह्य रेखाओ, रूप-रेखा या स्थूल अकनकी तरह वनाये गये थे। स्वय प्राण केवल रगा हुआ वाहन है, शारीरिक जन्म 'अध्यात्म-सत्ता' के अधिकाधिक श्रेष्ठतर जन्मोके लिये एक सुविधा ही।

अत क्रमविकासकी आध्यात्मिक प्रक्रिया एक अर्थमे सृष्टि है, परन्तु वह आत्म-सृष्टि है, ऐसे कुछका वनाया जाना नहीं है जो कभी नही था, वल्कि जो 'सत्ता' मे निहित था उसका व्यक्त किया जाना है। सस्कृतमे "सृष्टि" शब्दका अर्थ है प्रकृतिकी क्रियाओ-मे सृजन, एक छूट निकलना। एक व्यजक रूपकमे उपनिषद्ने मकडेकी उपमा प्रयुक्त की है जो कि अपने जालको अपने-आपमेसे निकालता और उस इमारतकी सृष्टि करता है जिसमे वह अपना स्थान लेता है। इस पुरातन शास्त्रमे इस उपमाका प्रयोग जड-तत्त्वमेसे वस्तुओके विकासक्रमके लिये नही, वरन् शाश्वत आनन्त्यमेसे कालिक सभूतिके मूल प्राकट्यके लिये किया गया है, स्वय जड-तत्त्व और यह भौतिक विश्व अनन्तकी आध्यात्मिक सत्तामेसे वाहर लाया गया ऐसा जाल ही या वस्तुत उसका एक अश है, अधिक कुछ नही। परन्तु जव हम जड-ऊर्जामे अन्तर्लीन रहनेकी अवस्थामेसे वस्तुओके उन्मज्जनको देखते हैं तो उसके लिये भी उसी सत्य, उसी नियमको सार्थक पाते हैं। यहाँ हम लगभग एक दोहरे विकासक्रमकी वात कह सकते हैं। 'अनन्त' मे अन्तर्निहित

शक्ति उसमेसे अपनी क्रियाकी निर्मितिको चिरकाल एक ऐसे विश्वमे बाहर लाती है जिसके अन्तिम उतरते सोपानका आधार होती है अध्यात्म-तत्त्वकी सारी शक्तियोकी सवृति,—यह सवृति रूप और सरचनात्मिका क्रियाके लिये शक्तिके आत्म-विस्मृत अनुरागमे एक निश्चेतन निमग्नतामे होती है। तब एक आरोहण होता है और एक-एक करके शक्तियोकी प्रगतिशील उन्मुक्ति होती है, ऐसा तब तक होता जाता है जब तक कि ज्ञान ,द्वारा और अपने कर्मपर प्रभुत्व द्वारा आत्म-व्यक्त और उन्मुक्त अध्यात्म-पुरुष अपनी सत्ताकी शाश्वत परिपूर्णताको पुन अधिकृत नही कर ले जो तब अपनी प्रकृतिके बहुविध और एकीबद्ध वैभवोको आच्छादित करती और उन्हे अपनी पकडमे लिये चलती है। जो कुछ भी हो, जिस आध्यात्मिक प्रक्रियाका एक डग हमारा मानव-जन्म है और एक अश हमारा जीवन, वह एक ऐसी महिमाका (अस्य महिमानम्) व्यक्त किया जाना प्रतीत होती है जो गुप्त, अन्तर्निष्ठ और स्वतः निबद्ध है, वस्तुओके रूप और क्रियाओमे निमग्न है। हमारे जगत्का क्रियाकलाप एक क्रमविकासको, जडकी स्थूल जटिलतामे एकत्र और कुडलित एक बहुविध शक्तिके बहिर्प्रवाहको चित्रित करता है। वस्तुओके क्रमागत जन्मोकी ऊर्ध्वमुखी प्रगति शाश्वत ऊर्जाकी निद्राके प्रथम अवात कोषमे बन्द चेतनाके जागरण और अधिकाधिक विशाल प्रकाशमे उठना है।

इसका एक प्रतिरूप कुडलिनीके यौगिक अनुभवमे मिलता है। मूलाधारमे, शारीरिक स्नायवीय तन्त्रके पृथ्वी-केन्द्रमे शाश्वत शक्ति कुडलित है। वहाँ वह नागकी तरह कुडलित होकर सोयी रहती और उस सबसे भरी होती है जिसे वह अपनी सत्तामे एकत्र रखती है, परन्तु जब वह अबाध प्रवाहित होते श्वाससे, उस शक्तिकी खोजमे लग जानेवाली प्राण-धारासे आघात पाती है तब वह जग जाती और ज्वलन्त होकर मेरुरज्जुकी सीढीपर चढती हुई उठती और चेतनाके सवृत तथा सक्रिय रहस्योके चक्रोको एक-एक करके बलात् खोलती जाती है और अन्तमे शिखरपर वह अध्यात्म-तत्त्वको प्राप्त करती, उससे जुडती और एक हो जाती है। इस तरह वह निश्चेतनागत सवृतिमेसे अपनी शक्तियोकी खुलती महिमाओके धारा-क्रममेसे होकर अध्यात्म-तत्त्वकी श्रेष्ठतम शाश्वत अतिचेतनामे चली जाती है। हमारे चारो ओरके जगत्में भी यह रहस्यमयी विकसनशीला प्रकृति ऐसे मार्गका अनुसरण करती है। निश्चेतन सत्ता उत्पत्ति-स्थानकी अपेक्षा जडीभूत ऊर्जाका वैसा कक्ष अधिक है जिसमे अध्यात्म्-तत्त्वकी सारी शक्तियाँ एकत्र रहती हैं, वे वहाँ विद्यमान रहती हैं, परन्तु जड ऊर्जाकी अवस्थाओमे रहकर कार्य करती हैं, जैसा कि हम कहते हैं, सवृत रहकर और फलत अपने स्वरूपमे प्रत्यक्ष होकर नही, क्योकि वे ऐसे क्रिया-रूपमे चली गयी है जो उनकी अपनी सच्ची श्रेणीसे नीचे है और जिसमे वे लक्षण जिनके द्वारा हम उन्हे पहचानते हैं और

सोचते है कि हम उन्हे जानते हैं, दमित किये जाकर क्रियाकी एक गौण और अलक्षित शक्तिमे रहते हैं। प्रकृति जैसे-जैसे सोपानपर चढती है, वह उनको उनकी ऊर्जाके पहचानमे आनेवाले क्रमोमे उन्मुक्त करती है, उन क्रियाओको व्यक्त करती है जिनसे वे अपना और अपनी श्रेष्ठताका अनुभव कर सकती है। उच्चतम शिखरपर वह उस अध्यात्म-तत्त्वके आत्मज्ञानमे ऊपर उठती है जिससे उसका कर्म अनुगर्भित था, परन्तु जो अपनी क्रियाओके रूपोमे सवृत या प्रच्छन्न था और इस कारण जिसे उसकी सत्यताकी महत्तामे जाना नही जा सका था। पुरुष और प्रकृति,—अपनी ऊर्जाओके रहस्यका सन्धान पाती प्रकृति – प्रकृतिमे स्थित जीवके आध्यात्मिक विकासक्रमकी चोटीपर एक हो जाते हैं। वहाँ वह जीव उच्चतम सत्यकी मुक्तिमे अपनी स्व-सत्ताके सार्थक्यके प्रति जाग्रत् होता है। तब वह यह जानने लगता है कि उसके जन्म एक शाश्वत पुरुषके जन्म, उसीके रूप-धारण थे, वह यह जानने लगता है कि स्वय वह वही पुरुष है, न कि प्रकृतिका प्राणी, और वह अपनी सच्ची और आध्यात्मिक प्रकृतिकी प्रकटित, परिपूर्ण तथा उच्चतम शक्तिपर अधिकार पानेकी ओर ऊपर उठता है। और, चूँकि मुक्ति आत्माधिकार होती है, अत वह मुक्ति हमारे लिये आध्यात्मिक विकासक्रमके किरीटके रूपमे आती है।

हमे इस सवृतिके सारे सार-भरे सार्थक्यपर विचार करना होगा। जड-ऊर्जामे सवृत अध्यात्म-सत्ता वहाँ अपनी सारी शक्तियोके साथ विद्यमान है, प्राण, मन तथा महत्तर अतिमानसिक शक्ति जडमे सवृत हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि वे सवृत हैं तो इसका क्या अर्थ होता है? क्या हमारा यह अभिप्राय होता है कि ये सारी चीजे सर्वथा भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ हैं जो तत्त्वभूत पृथक्ताके कारण एक दूसरीसे अलग कटी हुई हैं, किन्तु पारस्परिक क्रियामे साथ-साथ लपेटी हुई हैं? या कि हमारा अभिप्राय यह है कि एक ही सत्-पुरुष है जिसकी एकमेव ऊर्जा है जिसमे बलके प्रकाशकी भिन्न-भिन्न छायाएँ हैं जो प्रकृतिके वर्णक्रममे सभेद हो उठती हैं? जब हम कहते हैं कि प्राण जडमे या जडशक्तिमे ही सवृत है, क्योकि आखिरकार जड उसी शक्तिकी एक अपने-आपसे काती गयी विविध रचना ही लगती है, तो क्या हमारा अभिप्राय यह नही होता कि यह सारी विश्वव्यापिनी क्रिया, हमे जो निश्चेतन और निष्प्राण क्रिया लगती है वह भी, रूपायणमे व्यस्त अध्यात्म-सत्ताकी प्राण-शक्ति ही है और हम उसे इस कारण नही पहचानते कि वह वहाँ ऐसे निम्नतर क्रममे विद्यमान है जिसमे वे लक्षण जिनसे हम प्राणको पहचानते हैं, स्पष्ट नही होते या जड आवरणकी निष्प्रभतामे केवल थोडे ही विकसित हुए हैं? तब जड ऊर्जा होगी जडके घनत्वके अन्दर भरा हुआ प्राण जो उसके अन्दर अपनी तीव्रतर और पहचानमे आनेवाले शक्तिकी टोहमे होगा जिसे

वह जडकी प्रच्छन्नतामे अपने अन्दर पाता और क्रियामे विमुक्त करता है। स्वय प्राण एक गुप्त मनकी, उस मनकी ऊर्जा होगा जो अपने ही रूपोके अन्दर वन्दी हो गया है और अपनी चेतनाकी तीव्रतर और पहचानमे आनेवाली शक्तिके लिये प्राणकी स्नायवीय चाहोमे स्पन्दित हो रहा है और उस शक्तिको वह प्राणिक और भौतिक दमनके अन्तर्गत ढूंढ लेता और सवेदनशीलतामे विमुक्त करता है। निस्सन्देह, व्यवहारत, ये शक्तियाँ एक-दूसरीपर भिन्न ऊर्जाओकी तरह क्रिया करती हैं, किन्तु तत्त्वत वे एक ही ऊर्जा होगी और उनकी पारस्परिक क्रिया उस अध्यात्म-तत्त्वका वल होगी जो अपनी उच्चतर शक्तियोसे अपनी निम्नतर शक्तियोपर क्रिया कर रहा होगा, पहले उनपर निर्भर कर रहा होगा, किन्तु फिर भी अपने आरोहण-क्रममे उनसे ऊपर चले जाने और उनपर प्रभुता पानेकी ओर मुड रहा होगा। हो सकता है कि मन भी वहुत श्रेष्ठतर तथा अतिमानसिक चेतनासे नि सृत एक निम्नतर क्रम और रूपायण ही हो, और श्रेष्ठतर ज्योति तथा इच्छासे युक्त वह चेतना भी आध्यात्मिक सत्ताकी एक विशिष्ट स्रष्ट्री शक्ति, वह शक्ति हो जो सकल वस्तुओमे, मन, प्राण और जडमे, वनस्पति, धातु और परमाणुमे गुप्त रहती हुई, विश्वके भाव और सामजस्यको अपनी अनिवार्य क्रिया द्वारा निरन्तर आश्वस्त करती हो। और फिर अध्यात्म-तत्त्व क्या है? वह अनन्त सत्ता, शाश्वत, अमर पुरुष, साथ ही—और जडवादीके यान्त्रिक अद्वैतवाद और विश्वके आध्यात्मिक मनके वीच यही अन्तर है,—सर्वदा एक चिन्मय आत्म-सविद् पुरुष ही तो है जो यहाँ एक ऐसे जगत्मे प्रकट हो रहा है जो हमारी धारणाओके अनुसार सान्त है किन्तु फिर भी जिसकी प्रत्येक गति अनन्तकी साक्षिणी है? और यह जगत् इसी लिये है कि अध्यात्म-सत्ताको अपने अनन्त अस्तित्वका आनन्द है और अपने अनन्त आत्म-परिवर्तनका आनन्द भी, जन्म इसलिये है कि चेतना मात्रके साथ उसकी अपनी सत्ताकी शक्ति रहती है और सत्ताकी शक्ति आत्म-स्रष्ट्री होती है और उसे अपनी आत्म-सृष्टिका हर्ष होगा ही। कारण, सृष्टिका अर्थ स्वाभिव्यक्तिके अलावा और कुछ नही, और अन्तरात्माका शरीरमे जन्म उसकी अपनी स्वाभिव्यक्तिकी एक रीतिके अलावा और कुछ नही। अत यहाँकी सारी वस्तुएँ अध्यात्म-तत्त्वकी अभिव्यक्ति, रूप, ऊर्जा, क्रिया हैं, जड-तत्त्व भी अध्यात्म-तत्त्वका रूप ही है, प्राण अध्यात्म-तत्त्वकी सत्ताकी शक्ति ही है, मन अध्यात्म-तत्त्वकी चेतनाकी क्रिया ही। सारी प्रकृति ईश्वरका एक प्रदर्शन, एक क्रीडा है, उस अद्वय आध्यात्मिक सत्-पुरुषकी शक्ति, क्रिया और आत्म-सृष्टि है। अध्यात्म-पुरुषके सामने प्रकृति एक साथ ही उसकी शक्तियोका वीर्य, उपकरण, माध्यम, अवरोध और परिणाम उपस्थित करती है, और ये सवके सव, उपकरण भी और अवरोध भी, क्रमिक और विकासमान् सृष्टिके लिये आवश्यक

तत्त्व हैं।

परन्तु यदि अध्यात्म-पुरुषने अपनी शाश्वत महत्ताको जड विश्वके अन्दर सवृत कर दिया है और वहाँ वह अपनी शक्तियोको एक गुप्त आत्म-ज्ञानसे विकसित कर रहा है, उन्हे सत्ताके जड रूपकी स्वारोपित कठिनाइयोके बीच एक भव्य अनुक्रममे व्यक्त कर रहा है, उन्हे प्रकृतिकी प्रथम आवरिका और निमग्न निश्चेतनामेसे वियुक्त कर रहा है, तो यह मानने या देखनेमे कठिनाई नही होती कि मानवतामे रूपायित यह अन्तरात्मा उस परम सत्ताकी ही एक सत्ता है और वह भी, जन्मोके धाराक्रममे वर्द्धित होती स्वाभिव्यक्ति द्वारा जडगत सवृतिमेसे बाहर निकल आया है और इनमे प्रत्येक श्रेणी आरोहणका एक नया कूट है जो अध्यात्म-सत्ताकी उच्चतर शक्तियोकी ओर खुलता है और वह अभी भी ऊपर उठ रहा है और अपने जन्मकी वर्तमान दीवारोसे सदाके लिये सीमित नही रहेगा, अपितु यदि हम चाहे तो वह एक दिव्य मानवतामे जन्म ले सकता है। हमारी मानवता सान्त और अनन्तका सचेतन सन्धि-स्थल है और इस भौतिक जन्ममे भी उसी अनन्तकी ओर अधिकाधिक बढना हमारा सौभाग्य है। यह अनन्त, यह अध्यात्म-पुरुष जो कि हमारे अन्दर बसता है, किन्तु मन या शरीरमे आबद्ध या बन्द नही है, हमारा अपना आत्मा है और अपने आत्माका पता पाना और वही हो जाना, जैसा कि प्राचीन मुनिगण जानते थे, सदा ही हमारे मानव-प्रयासका लक्ष्य रहा है, क्योकि यह प्रकृतिकी सारी अपरिमित क्रियाका लक्ष्य है। परन्तु प्रकृति आत्म-प्राप्तिकी श्रेणियो द्वारा ही अपनी आध्यात्मिक वास्तवताकी ओर अभिवर्द्धित होती है। स्वय मनुष्य द्विविध रूपसे सवृत प्राणी है, मनमे और मनके नीचे उसका अधिकाश भाग अवगूढ चेतनामे या अवचेतनामे सवृत है और मनसे ऊपर उसका अधिकाश भाग आध्यात्मिक अतिचेतनामे सवृत है। जब वह अतिचेतनामे चेतन हो जाता है तब उसकी सत्ताकी ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो उठती हैं, वह आलोक युक्तिबुद्धिके टिमटिमाते दीपसे भिन्न होता है जो अपना प्रकाश कुछ कोनोमे ही डाल सकता है, तब क्षेत्राधिपति अपनी सत्ताके इस सारे विस्मयपूर्ण क्षेत्रको वैसे ही आलोकित कर देता है जैसे सूर्य अपनी ही महिमाओमेसे सृष्ट समूची विश्व-व्यवस्थाको आलोकित कर देता है। केवल तभी वह अपने मन, प्राण और शरीरकी सत्यताको भी जान सकता है। मन महत्तर चेतनामे परिवर्तित होगा, उसका प्राण परम देवकी साक्षात् शक्ति और क्रिया होगा, उसका शरीर भी श्वास लेती मिट्टीका यह स्थूल दीपक न रहकर आध्यात्मिक सत्ताकी ही प्रतिमूर्ति और देह होगा। पर्वतके शिखरपर वह रूपान्तर, दिव्य जन्म, वह वस्तु है जिसकी ओर ये सारे जन्म श्रमपूर्ण डगोकी धारा हैं। जडके अन्दर अध्यात्म-तत्त्वकी सवृति आरम्भ है, परन्तु दिव्य

जन्मका आध्यात्मिक अगीकार क्रमविकासकी परिपूर्ति है।

जीवनको देखनेकी पूर्व और पश्चिमकी दो विधियाँ हैं, दोनो एक ही सत्यताके आमने-सामनेके पक्ष हैं। व्यावहारिक सत्य, जिसपर जीवन-वीर्यसे प्रेम रखनेवाले, प्रकृतिमे ईश्वरके सारे नृत्यसे प्रेम रखनेवाले आधुनिक यूरोपकी प्राणिक विचारधारा इतना प्रबल और एकान्तिक बल देती है, और शाश्वत अक्षर सत्य, जिसकी ओर स्थिरता और स्थितिका प्रेमी भारतीय मानस एकान्तिक प्राप्तिके लिये वैसे ही अनुरागके साथ मुडना चाहता है, इनके बीच कोई ऐसा विच्छेद और कलह नही है जिसकी घोषणा वर्तमानमे पक्षावलम्वी मन द्वारा, पृथक्कारिणी युक्तिबुद्धि द्वारा की जाती है। 'अध्यात्म-सत्ता' ही अद्वय, शाश्वत एव अक्षर सत्य है, और 'अध्यात्म-सत्ता' के बिना स्वय-स्रष्टा विश्वके व्यावहारिक सत्यका न तो कोई मूल्य होगा, न कोई भित्ति होगी, उसकी कोई सार्थकता नही होगी, वह आन्तरिक निर्देशनसे रिक्त होगा, अपने अन्तमे खो गया होगा, एक ऐसी आतिशवाजीका प्रदर्शन होगा जो गिर पडने और आकाशमे नष्ट हो जानेके लिये ही शून्यमे ऊपर छूट उठती हो। परन्तु व्यावहारिक सत्य न तो असत्का स्वप्न है, न भ्रम ही, न सृजनशीला कल्पनाके किसी निरर्थक उन्मादमे लम्वी विच्युति ही, नही तो इसका अर्थ होगा शाश्वत 'अध्यात्म-पुरुष' को एक शरावी या स्वप्नदर्शी वना देना, उसे अपनी ही अतिकाय भ्रान्तियोका मूर्ख बना देना। विश्वजीवनके सत्य दो प्रकारके हैं,—अध्यात्म-तत्त्वके सत्य जो कि शाश्वत और अक्षर हैं, और ये ही वे महान् वस्तुएँ हैं जो अपने-आपको सभूतिमे बाहर डाल देती हैं और वहाँ अपनी क्षमताओ और अर्थवत्ताओको निरन्तर चरितार्थ करती हैं, और उनके साथ चेतनाकी क्रीडा, विसगतियाँ, सगीत-वैविध्य, सम्भावनाओके सुर, प्रगतिशील अकन, प्रत्यावर्तन, विकृतियाँ, सामजस्यकी महत्तर आकृतिमे ऊपर उठते सपरिवर्तन, और अध्यात्म-पुरुषने इन सवसे अपना विश्व बनाया है और सदा वनाता है। परन्तु उसके अन्दर वह अपने-आपको ही वनाता है, वह स्वय ही स्रष्टा है और सृष्टिकी ऊर्जा भी, क्रियाका कारण और पद्धति और परिणाम भी, यान्त्रिक और यन्त्र भी, सगीत और सगीतज्ञ भी, कवि और काव्य भी, अतिमानस, मन, प्राण और जड भी, पुरुष भी और प्रकृति भी।

हमारी समस्याके समाधानोमे एक मूलगत भूल हमारे पीछे लगी रहती है। हम एक परस्पर-विरोधके प्राकटयसे चकरा जाते हैं, हम पुरुषको प्रकृतिके विरुद्ध, अध्यात्म-सत्ताको उसकी सृष्टिशीला ऊर्जाके विरुद्ध खडा करते हैं। परन्तु पुरुष और प्रकृति दो शाश्वत प्रेमी हैं जो अपने सनातन एकत्वको अविकृत किये रहते हैं और अपने सतत भिन्नत्वका उपभोग करते हैं, वे एकत्वमे अपने भिन्नत्वकी वहुविध क्रीडाके अनुरागसे भरपूर रहते हैं और भिन्नत्वके डग-डगमे एकत्वकी गुप्त भावना या प्रकट

चेतनासे भरपूर। प्रकृति पुरुषको अपने अन्दर ले लेती है जिससे सृष्टिके अनुरागमे तल्लीन प्रकृतिके साथ एक हुआ पुरुष समाधिमे सो जाता है और तब प्रकृति भी अपनी सृष्टिशीला ऊर्जाके आवर्त्तमे सोयी हुई लगती है, और यही जड-तत्त्वके अन्दर सवृति है। ऊर्ध्वमे, ऐसा हो सकता है, पुरुष प्रकृतिको अपने अन्दर ले लेता हो जिससे आत्माधिकारमे तल्लीन पुरुषके साथ एक हुई प्रकृति समाधिमे सो जाती है और पुरुष भी अपनी ही स्वत निवद्ध अचल सत्ताकी गहराईमे सोया हुआ लगता है। परन्तु तव भी इस मारे छन्द और तालके अन्दर, ऊपर, नीचे और चारो ओर अध्यात्म-पुरुषकी शाश्वतता होती है, उस पुरुषने ही अपने-आपको इस भाँति जीव तथा प्रकृतिमे चित्रित किया है और वह इस सवृति तथा क्रमविकास द्वारा अपने अन्दर जो कुछ सृष्ट करता है उस सबका भोग पूर्ण बोधके साथ करता है। जीव अपने-आपको प्रकृतिमे तब परिपूरित करता है जब वह उसके अन्दर उस शाश्वतताकी चेतना, हर्ष एव बलको अधिकृत करता और प्रकृतिगत सभूतिको आध्यात्मिक सत्ताकी परिपूर्णतासे रूपान्तरित करता है। वह सतत आत्म-सृष्टि जिसे हम जन्म कहते हैं वहाँ उन सबका पूर्ण उन्मेष पाती है जिन्हे उसने अपनी प्रकृतिके अन्दर धृत रखा था और अपने अधिकतम सार्थक्यको भी प्रकट करती है। सम्पूर्ण जीव अपने समूचे आत्मा और समूची प्रकृतिको अधिकृत रखता है।

अतएव यह सारा क्रमविकास भौतिक प्रकृतिगत आत्माका अपनी आध्यात्मिक सत्तापर चेतन अधिकारकी ओर बढना है। वह आरम्भ करता है रूपसे,—प्रतीयमानत शक्तिके एक रूपसे—जिसमे एक अध्यात्म-पुरुष बसता और प्रच्छन्न रहता है, उसका अन्त एक ऐसे अध्यात्म-पुरुषमे होता है जो अपनी शक्तिका चेतन निर्देशन करता और प्रकृतिमे अपनी सत्ताके निर्बाध हर्षके लिये अपने रूपोकी रचना करता या उन्हें धारण करता है। क्रमविकासके आरम्भमे वह प्रकृति है जो अपने आत्म और अध्यात्म-पुरुषको अपने अन्दर सवृत और दमित रखती है, तब अस्तित्वका स्वामी पुरुष बन्दी होकर प्रकृतिकी जन्म तथा कर्म-विधाओके अधीन हो जाता है,—फिर भी ये विधाएँ उस पुरुषकी ही होती हैं और वह पुरुष ही प्रकृतिकी सत्ताका निर्धारक और उसकी क्रियाओका धर्म होता है, फिर, क्रमविकासके चरमोत्कर्षमे पुरुष प्रकृतिको धृत रखता है, तब प्रकृति उसमे चेतन रहती है, पुरुषकी सम्पूर्णता द्वारा सम्पूर्ण होती है, उसकी मुक्ति द्वारा मुक्त और उसकी पूर्णतामे पूर्ण होती है। हमारे सारे जन्म इसी आत्मा तथा पुरुषके जन्म हैं, वही प्रकृतिमे जीव या अन्तरात्मा बन जाता या उसे प्रकट करता है। हमारे अस्तित्वका लक्ष्य है 'होना' —कोई अन्य उद्देश्य या लक्ष्य नही, क्योकि 'होने' की चेतना और आनन्द समूचा आरम्भ, मध्य और अन्त है, कारण वही वह है

जिसका न आदि है न अन्त। परन्तु विकासक्रमके ढगोमे इसका अर्थ होता है तब तक अधिकाधिक वर्द्धित होते जाना जब तक कि हम अपनी आत्म-परिपूर्णताको न पा ले, जन्ममात्र प्रगतिशील आत्म-प्राप्ति है, आत्मोपलब्धिका साधन है। आध्यात्मिक जीवनके अनन्त आलोक, सामर्थ्य और आनन्दकी ओर ज्ञानमे, बलमे, आनन्द, प्रेम और ऐक्यमे वर्द्धित होना, अपने-आपको तब तक विश्वभावमय करते जाना जब तक कि हम सकल सत्ताके साथ एक न हो जायँ, और हमारे वर्तमान सीमित आत्माका तब तक सतत अतिक्रमण करते जाना जब तक कि वह परिपूर्णत उस विश्वातीततत्वकी ओर उन्मीलित न हो जाय जिसमे विश्वसत्ताका निवास है, और उसीपर अपनी सारी सभूतिको अधिष्ठित करना, यही उस तत्त्वका सम्पूर्ण विकास है जो अभी प्रकृतिमे अँधेरेमे लिपटा पडा है या अर्ध-विकसित अवस्थामे कार्य कर रहा है।

आठ

कर्म

कर्मके सिद्धान्तमे हमे एक अकाट्य सत्य मिलता है,—सदैव उसके उस रूपमे नही जो उसे पुराकालमे मिला था, वरन् उसके मर्मगत भावमे,—जो तुरन्त ही मनको आकर्षित करता और बुद्धिकी सहमति प्राप्त करता है। और वह अधिक कठोर युक्ति-बुद्धि भी, जो कि पहली दृष्टिकी धारणाओमे विश्वास नही करती और सत्याभासी समाधानोकी आलोचिका रहती है, कडीसे कडी सवीक्षाके वाद भी यह नही पाती कि अधिक सतही बुद्धिने, जो कि हमारी मन शक्तिके मार्गोकी द्वारपालिका है, इस विषयमे धोखा खाकर किसी तडक-भडक वाले अतिथिको, किसी मिथ्या दावेदारको हमारे ज्ञान-भवनमे प्रवेश दे दिया हो। कर्मके भावको एक साथ ही दार्शनिक तथा व्यावहारिक सत्यके ठोमत्वका अवलम्ब मिलता है, उन गहरीसे गहरी सार्वभौमिक अखडनीय सत्यताओकी आधारशिला मिलती है जिनसे अगाधकी थाह खोजते मानव-मनकी मदा ही भेट होगी, हमारे साथ जगत्‌का व्यवहार सचमुचमे इसी भाँति होता है, यहाँ एक ऐसा नियम है जो अपने-आपको इसी भाँति अनुभूत कराता है और जिससे हमारा सारा अहमात्मक अज्ञान, हठ और हिंस्रत्व जा टकराता है, जैसा कि यूनानी कविने मनुष्यकी दर्पमयी धृष्ठता और समृद्धिशाली अभिमानके वारेमे कहा था, जियस[1]के सिंहासनकी नीवसे, थेमिस[2] के सगमरमर-चरणोसे, अनन्के के[3] वज्रकठोर वक्षसे जा टकराता है। कर्मके आत्म-पर्याप्त और निष्पक्ष नियममे इसके रहस्य-रूपमे एक शाश्वत तत्त्व है, न्यायी तथा सत्यनिष्ठ देवोकी अपरिवर्तनशील क्रियाका आधार है, देवाना ध्रुवा व्रतानि।

कर्मके इस सत्यको पूर्वीय जगत्‌मे किसी-न-किसी रूपमे सदा माना जाता रहा है, किन्तु उसका स्पष्टतम और परिपूर्णतम सार्वभौमिक प्रतिपादन करने और उसे अधिकतम आग्रहपूर्ण महत्त्व देनेका श्रेय बौद्ध मतावलम्बियोको ही मिलेगा। पश्चिममे भी यह विचार सदा वारबार आता रहा है, किन्तु उसकी बाह्य और खण्ड झाँकियाँ

1 देवराज (अनु०)

2 विधान एव न्यायकी देवी (अनु०)

3 विधि, अनिवार्यता, अवश्यम्भाविताकी देवी (अनु०)

ही मिली हैं, वह अनुभवके एक व्यावहारिक सत्यकी मान्यताकी तरह और अधिकतर एक व्यवस्थित नैतिक विधान या भवितव्यताकी तरह ही रहा है जिसे मनुष्यकी स्वेच्छा और वलके विरोधमे खडा किया गया परन्तु यह विचार किसी भी विधानके राज्यको न माननेवाले अन्य विचारो द्वारा, किसी श्रेष्ठतर स्वेच्छाचारिता या किसी दिव्य ईर्षाको माननेवाले अस्पष्ट विचारो द्वारा, जैसी कि यूनानियोकी धारणा थी – एक अन्धी भावी या अवोधगम्य नियति या अवश्यम्भाविताको माननेवाले विचारो द्वारा, और वादमे इन विचारो द्वारा आच्छादित हो गया कि एक मनमानी करनेवाला विधाता है जो फिर भी निस्सन्देह सर्ववुद्धिमान् है और जिसकी विधाएँ रहस्यमयी हैं। और इस सवका अर्थ यह था कि एक शक्तिकी क्रियाकी कोई खण्डित आधी झाँकी तो मिली थी, किन्तु उसकी क्रियाका विधान और उसकी प्रकृति दृष्टिसे ओझल रह गये। ऐसा होना सचमुचमे अनिवार्य-जैसा भी था, क्योकि जीवनानुरागमे निमग्न पाश्चात्य मानव-चक्षुने विश्वकी क्रियाओको मनुष्यके एक ही मन और जीवनके प्रकाशमे पढनेकी चेष्टा की, किन्तु वे क्रियाएँ अति वृहत्, पुरातन, कालमे अभग रूपसे अविच्छिन्न और देशमे सर्वव्यापी हैं,—एकमात्र भौतिक आनत्यमे ही नही, वरन् अन्तरात्माके आनत्यके शाश्वत काल तथा शाश्वत देशमे भी,—फलत ,उन्हे ऐसी खण्डित झलकके द्वारा नहीं पढा जा सकता। आधुनिक मनको जवसे पूर्वीय जगत्के कर्म-विधानके विचार और नामका परिचय कराया गया, उसका एक पहलू वढती मान्यता पा रहा है, शायद इस कारण कि उस मनको हालमे विज्ञानके महान् आविष्कारो और सर्वसामान्यीकृत सिद्धान्तोने विश्वजीवनके विषयमे अधिक परिपूर्ण दृष्टिके लिये और विश्व-नियमके विषयमे एक अधिक व्यवस्थित और तेजस्वी विचार अपनानेके लिए तैयार कर दिया था। अत , यद्यपि अन्तमे हम यह पाते हो कि कर्मके समूचे सार्थक्यको पकडनेके लिये हमे सत्ताके दूसरे सिरेसे, उसके भौतिक आधारकी अपेक्षा उसके आध्यात्मिक शिखरसे अवलोकन करना होगा, तथापि यह उतना ही अच्छा हो सकता है कि हम कर्मके इस प्रश्नको लेकर भौतिक आधारसे आरम्भ करे और उसके सार्थक्यकी सीमाएँ भी निर्धारित करे।

मूलभूततया, कर्मका अर्थ यह है कि सकल अस्तित्व एक विश्वऊर्जाकी क्रिया है, एक प्रक्रिया, एक कर्म और उस कर्म द्वारा वस्तुओका निर्माण है,—जो निर्मित है उसे तोडा भी जाता है, किन्तु आगेके निर्माणकी ओर एक डगके रूपमे,—सव कुछ एक अविच्छिन्न श्रृखला है जिसमे प्रत्येक कडी भूतकालकी असख्य कडियोकी अनन्तताके साथ अभग रूपसे वँधी है, और सव कुछ दृढ-निर्धारित सम्वन्धो द्वारा, कारण और परिणामके दृढ-निर्धारित आयोजन द्वारा शासित होता है, वर्तमान कर्म वैसे ही भूत-

कालके कर्मका परिणाम होता है जैसे भावी कर्म वर्तमान कर्मका परिणाम होगा, सारे कारण ऊर्जाकी क्रिया हैं और सारे परिणाम भी ऊर्जाकी क्रिया। भौतिक अर्थवत्ता यह है कि हमारा सारा जीवन उस ऊर्जाका बाहर व्यक्त किया जाना है जो हमारे अन्दर है और जिससे हम बने है, और कारण-रूपमे व्यवहृत की जाने वाली ऊर्जाकी प्रकृतिके अनुरूप ही उस ऊर्जाकी प्रकृति होगी जो परिणाम-रूपमे वापस आती है, और यही सार्वभौमिक नियम है, जगत्मे कोई भी वस्तु, हमारे जगत्की और हमारे जगत्मे होनेके नाते, इस नियमके शासक प्रभावसे नही बच सकती। यही कर्मके सिद्धान्तका दार्शनिक सत्य है, और यही वह दृष्टि-विधि है जिसका विकास भौतिक विज्ञानने किया है। परन्तु उसकी दृष्टि अपने सत्यकी पूरी विशालताकी ओर बढनेमे दो दृढ भूलोकी बाधा पाती रही है, एक तो अतिभौतिक वस्तुओकी व्याख्या भौतिक सूत्रके द्वारा करनेका कठोर विरोधाभासी प्रयत्न,—यह प्रयत्न निस्सन्देह मानवीय युक्तिबुद्धिके एक परीक्षण-के रूपमे अनिवार्य और उपयोगी था और उस परीक्षणको अवसर देना ही था, परन्तु उसकी विफलता पूर्वनियत थी,—और फिर दूसरी अन्धकारकारिणी भूल हुई विश्व-नियमके सार्वभौमिक राज्यके पीछे और उसके कारण तथा कर्त्ताके रूपमे 'सयोग' के विश्वव्यापी राज्यके सर्वथा विपरीत विचारको खडा करनेकी। इस भाँति इस पुरानी धारणाका राज्य लम्बा हो गया कि एक अबोधगम्य परम स्वेच्छाचारिता है,—अबोधगम्य वह स्वभावतया ही होगी क्योकि वह निर्बोध शक्तिकी क्रिया है,—और इस धारणाने विश्वके निश्चित नियमो और शृखलाबद्ध क्रमोकी वैज्ञानिक दृष्टिके बगलमे स्थान प्राप्त कर लिया।

'सत्ता' निस्सन्देह एक है, और हो सकता है कि 'विधान' भी एक ही हो, परन्तु आरम्भसे ही किसी एक प्ररूपके व्यापारपर इस पूर्वनिर्धारित सकल्पसे कटिबद्ध हो जाना कि अन्य सारे व्यापारोका निगमन उसीमेसे किया जाय, फिर उनके अभिप्राय और प्रकृतिमे चाहे कितनी ही भिन्नता क्यो न हो, खतरनाक होता है। ऐसा करके अवश्य ही हम सत्यको अपने पूर्वग्रहके साँचेमे विरूपित कर डालेगे। कमसे कम बीचमे तो हमे बल्कि वेदके इस प्राचीन सामजस्यपूर्ण सत्यको मानना होगा कि विश्वसत्ताके और फलत हमारी सत्ताके भी विभिन्न लोक है और उनमे प्रत्येकमे उन्ही शक्तियो, ऊर्जाओ या विधानोको एक भिन्न प्रकारसे कार्य करना चाहिए और उनके प्रभाव-सम्पादनके अर्थ और प्रकाशको भिन्न होना चाहिए,—और वेद भी इस राहसे वेदान्तमे 'सत्ता'की एकताकी धारणा पर पहुँचा है। अत पहले हम यह देखते हैं कि कर्म यदि सत्ताका एक या एकमात्र सार्वभौमिक सत्य हो तो वह जैसे भौतिक जगत्के साथके हमारे बाह्य सम्बन्धोमे सत्य है, वैसे ही उसे हमारे कर्मके अन्तर्जात मनोमय और नैतिक लोकोमे

भी सत्य होना ही चाहिए। हम जिस मानसिक ऊर्जाको व्यक्त करते हैं उसीसे मानसिक प्रभावका निर्धारण होता है,—परन्तु वह भूत वर्तमान और भावी पारिपार्श्विक परिस्थितिके सारे आघातके अधीन है, क्योकि इस जगत्मे हम एकाकी शक्तियाँ नही हैं, वल्कि हमारी ऊर्जा विश्व-ऊर्जाका एक गौण राग और धागा है। उसी भाँति, नैतिक परिणामकी प्रकृति और प्रभावका निर्धारण हमारे कर्मकी नैतिक ऊर्जा करती है, परन्तु वह भी भूत, वर्तमान और भावी पारिपार्श्विक परिस्थितिके उसी प्रभावके अधीन है, किन्तु कठोर नैतिकतावादी इस तत्त्वकी ओर पर्याप्त ध्यान नही देता। भौतिक ऊर्जाके उत्पादनके वारेमे भी यह वात सत्य है, इसके लिये न तो कुछ कहनेकी आवश्यकता है, न प्रमाणकी। हमे उस अद्वय विश्वशक्तिके इन विभिन्न प्ररूपो और विविध प्रकारसे रूपायित गतिविधियोको जानना होगा, और शुरूसे यह कहनेसे नही चलेगा कि हमारी आन्तरिक सत्ताका माप और गुण मानसिक और नैतिक ऊर्जाओमे अनूदित भौतिक ऊर्जाके उत्पादनका कोई परिणाम है,—उदाहरणके लिये, यह कहना कि हमारा कोई भला या वुरा आचरण करना या भले या वुरे सवेगो और हेतुओकी वात मानना हमारे यकृतपर निर्भर करता है या हमारे जन्मके शारीरिक कीटाणुमे समाया हुआ है या हमारे रसायनिक तत्त्वोका प्रभाव है या मूलतया और अन्ततया हमारे मस्तिष्क तथा स्नायवीय तन्त्रके उपादान-विद्युदणोके विन्यास द्वारा निर्धारित होता है। हमारी मानसिक और नैतिक सत्ता शारीरिक सत्तापर उसकी अवलम्वदायिका भौतिक ऊर्जाके लिए जो कोई भी हुण्डियाँ काटे और इन ऋणोको लेनेके कारण वह जिस भाँति भी प्रभावित हो, फिर भी यह वहुत स्पष्ट है कि वह उन्हे अन्य और विशालतर उद्देश्योके लिये काममे लेती है, उसकी एक अतिभौतिक पद्धति होती है, वह वहुत महत्तर हेतुओ और अभिप्रायोका विकास करती है। नैतिक ऊर्जा अपने-आपमे एक अलग शक्ति है, उसका अपना कार्य-स्तर है, वह हमे अपनी प्राणिक तथा शारीरिक प्रकृतिको पददलित करनेकी ओर भी प्रचालित करती है – और यह उसकी विशिष्टता है। हो सकता है कि आधारमे या चोटीपर वे एक ही विश्वशक्तिके रूप हो, परन्तु व्यवहारत वे भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ हैं और उनसे इस भाँति ही वर्त्ताव करना पडता है – जव तक कि हम यह न जान ले कि वह विश्वशक्ति अपनी उच्चतम और विशुद्धतम गठन और आरम्भिक शक्तिमे क्या हो सकती है और वह खोज हमे हमारी प्रकृतिकी जटिलताओके वीच कोई एकत्व-सम्पादिका दिशा दे सकती है या नही।

सयोगको, जो कि एक अनन्त सम्भावनाकी अस्पष्ट छाया है, हमे अपने अनुभवोके शब्दकोषमे निष्कापित कर देना होगा, क्योकि सयोगका हम कुछ भी नही कर सकते, कारण वह कुछ भी नही है। सयोगका अस्तित्व ही नही है, वह केवल एक ऐसा शब्द

है जिसके द्वारा हम अपने अज्ञानको ढँकते और माफ करते हैं। विज्ञान उसे भौतिक नियमकी वास्तविक प्रक्रियासे वहिष्कृत रखता है, वहाँ प्रत्येक वस्तु निर्धारित कारण और सम्बन्ध द्वारा नियत होती है। परन्तु जब वह यह पूछता है कि ये सम्बन्ध ही क्यो हैं, दूसरे क्यो नही, अमुक विशेष कारण अमुक विशेप प्रभावसे क्यो सम्बद्ध है, तो वह देखता है कि इस विपयमे वह कुछ भी नही जानता, चरितार्थ हो चुकी प्रत्येक सम्भावना यह दिखलाती है कि अन्य अनेक सम्भावनाएँ रही होगी जो चरितार्थ नही हुई हैं परन्तु यह कल्पनीय है कि वे चरितार्थ हो सकती थी, और तब यह कहना सुविधाजनक हो जाता है कि सयोग या अधिकसे अधिक एक प्रधान सम्भाव्यता सारी वास्तविक घटनाओ-की, क्रमविकासके सयोगको, एक ऐसी टटोलती निश्चेतन ऊर्जाकी लडखडाती गतिधारा-को निर्धारित करती है जो किसी तरह कोई कामचलाऊ राह खोज लेती है और उस प्रक्रियाकी पुनरावृत्तिमे जम जाती है। यदि निश्चेतना बुद्धिके कार्य कर सकती है, तो यह भी असम्भव नही हो सकता कि अराजक सयोग विधानयुक्त विश्वकी सृष्टि करे। परन्तु यह विश्वकी क्रियाओमे हमारे अपने अज्ञानको देखना ही होता है,— वैसे ही जैसे कि विज्ञानसे पहलेके मनुष्यको भौतिक नियमकी क्रियाओमे देवताओकी सनक दीखती थी, फिर चाहे क्रीडाकारी सयोगके लिये कोई और नाम क्यो न दिया गया हो, वह चाहे अदिव्य हो या दिव्य महिमाओसे विभूषित, उसे चाहे मनुष्यकी प्रार्थना और उत्कोचके प्रति नरम और नमनीय रहनेवाला माना जाता हो, चाहे स्फिक्सकी[1] अपरिवर्तनीय पाषाणकृतिमे उपस्थित किया जाता हो,—परन्तु ये सब वस्तुत उसके अपने ही अज्ञानके नाम हैं।

और विशेपत जब हम अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्ताकी सबल आवश्यकताओकी बातपर आते हैं, तब सयोग या सम्भाव्यताका कोई भी सिद्धान्त नही चलता। भौतिक आधारपर खडा होनेवाला विज्ञान इस विषयमे इसके सिवाय कोई सहायता नही देता कि वह कुछ दूरी तक हमारी नैतिक सत्तापर हमारी दैहिक सत्ताके प्रभाव या हमारी दैहिक सत्तापर हमारे नैतिक कर्मके प्रभाव दर्शाता है उपयुक्त प्रकाश या उपयोगी कार्यकी अन्य किसी भी बातमे विज्ञान लडखडा जाता और अपने निर्ज्ञानकी दलदलमे इधर-उधर छपछपाता है। वह भूकम्प और ग्रहणकी व्याख्या और भविष्यवाणी कर सकता है, परन्तु हमारी नैतिक तथा भौतिक सभूतिकी नही, जब इस सभूतिके दृश्य व्यापार घटित हो जाते है केवल तभी उनकी व्याख्या करनेका प्रयत्न

[1] यूनानी पुराणकी नरसिंही दानवी जो पहेलीका उत्तर न दे सकनेवाले यात्रियोको मार डालती थी। लाक्षणिक अर्थमे दानव या रहस्यमय व्यक्ति। (अनु०)

वह कर सकता है, और यह प्रयत्न वह रोग-विज्ञान, अस्वस्थ आनुवशिकता, सुजनन विज्ञान आदिके सहारे, इधर उधर टोह लगाता हुआ, उनके वडे वडे शब्दो और भयावने और आश्चर्यजनक नियमको थोपते हुए करता है, किन्तु ये प्रयत्न सवसे नीचेकी मानसिक-शारीरिक सत्ताके घसीटे किनारोको ही छूते हैं। किन्तु अन्य कहीकी भी अपेक्षा हमे इसी विषयमे निर्देशनकी आवश्यकता अधिक होती है और एक विधानको, एक निर्देशिका व्यवस्याकी ऊँची रेखाको जाननेकी आवश्यकता होती है। हमारे लिये अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्ताके विधानको जानना वाष्प और विद्युतकी विधाओको सीखनेकी अपेक्षा प्रथमतया और अन्ततया अधिक आवश्यक है, क्योकि हम अपने आन्तरिक मनुष्यत्वमे इन वाह्य सुविधाओके विना तो वढ सकते हैं परन्तु नैतिक तथा आध्यात्मिक धर्मकी धारणाके विना नही। हमसे कर्मकी मॉग की जाती है और अपने कर्मके लिये हमे एक नियमकी आवश्यकता रहती है हमे अन्तरमे वैसा बन जानेकी प्रेरणा मिलती है जैसे हम अभी हैं नही, हम यह जानना चाहेगे कि हमारी सभूतिका मार्ग और धर्म क्या है, उसकी केन्द्रीय शक्ति या वहुल और परस्परविरोधिनी शक्तियाँ क्या हैं और उसकी चोटी, सम्भव व्याप्ति और पूर्णता क्या हैं। अवश्य ही, मनुष्यके लिये यही वात विद्युदणोके नियम या सर्वशक्तिमान् भौतिक यन्त्र और अधिक शक्तिमान् विस्फोट-कोकी सम्भावनाओकी अपेक्षा कही अधिक सच्चा प्रश्न है।

वौद्ध सिद्धान्तमे कर्मका जो मानसिक और नैतिक विधान निरूपित है वह इस कठिन स्थलपर हमे एक सूत्र देता और एक द्वार खोलता है। जैसे विज्ञान हमारे मनमे यह विचार भर देता है कि भौतिक तथा वाह्य जगत्मे और प्रकृतिके साथ हमारे व्यवहारो-मे एक 'नियम' का सार्वभौमिक शासन है, किन्तु वह इसके पीछे एक वडा प्रश्न उत्तर दिये विना छोड देता है, एक अज्ञेयवादको, किसी अन्य अगृहीत 'अनन्त'की रिक्तताको उपस्थित करता है,—जिसपर यहाँ सयोगकी धारणाकी आड डाली जाती है,—वैसे ही वौद्ध सिद्धान्त भी हमारी मानसिक और नैतिक सत्ताके प्रदेशोको एक मानसिक तथा नैतिक नियम के शासनकी सदृश भावनासे भर देता है. परन्तु वह भी उस नियमके पीछे एक वडा प्रश्न उत्तर दिये विना छोड देता है, एक अज्ञेयवादको, एक अगृहीत 'अनन्त' की रिक्तताको उपस्थित करता है। परन्तु यहाँ इसपर आड डालनेवाला शब्द अधिक भव्य रूपसे अमूर्त है, यह निर्वाणका रहस्य है। दोनो ही दशाओमे अधिक आग्रही और अस्तिवाची प्रकारका मन अनन्तको निश्चेतनाके रूपमे चित्रित करता है,—परन्तु एकमे वह भौतिक है, दूसरीमे आध्यात्मिक असीम शून्य,—किन्तु अधिक सतर्क या नमनीय चिन्तक उसे केवल अज्ञेय कहता है। भेद यह है कि विज्ञानका अज्ञात यान्त्रिक वस्तु है जिसमे हम शारीरिक विघटन या लयके द्वारा यन्त्रवत् वापस जाते हैं,

परन्तु बौद्धोका अज्ञात एक 'चिरस्थायी' है जो नियमसे परे है और जिसमे हम आत्म-दमन, आत्म-त्याग और, अन्तिम छोरपर, आत्म-निर्वापणके प्रयास द्वारा, सम्बन्धोमे नियमको वना रखनेवाले 'भाव' के मानसिक विलयन द्वारा और विश्वक्रियाके अनुक्रमो-का स्रोत वना सकनेवाली ससार-कामनाके नैतिक विलयन द्वारा, आध्यात्मिकत वापस जाते हैं। यह एक् विरल और कृच्छसाध्य तत्त्वमीमासा है, परन्तु इसकी निरुत्साहकारिणी भव्यताको स्वीकृति देनेके लिये हम किसी भी तरह बाध्य नही, क्योकि यह न तो स्वय-सिद्ध है, न अनिवार्य ही। यह बात किसी भी तरह इतनी निश्चित नही कि हम जो है उसका उच्च आध्यात्मिक वहिष्करण ही पूर्णताकी ओर हमारी एकमात्र सम्भव राह है, हम जो हैं उसकी उच्च आध्यात्मिक अभिपुष्टि और परमता भी व्यवहार्य मार्ग और द्वार हो सकती है। निर्वाणका यह भव्य हिमशैलवत् या आनन्द-मय शून्य भाव, इतना प्रबल बहिष्करण होनेके कारण, मानव-आत्माको अन्ततया सन्तुष्ट नही कर सकता, क्योकि वह आत्मा अपने किसी उच्चतम अस्तिवाची रूप और अभिपुष्टिकी ओर सदा ही खिचता रहता है और बहिष्करणका उपयोग वह केवल प्रासगिक रूपमे करता है ताकि जो उसकी आत्म-प्राप्तिके मार्गमे वाधा बनकर आता है उससे वह छुटकारा पा सके। सजीव प्राणी इसके लिये प्रयत्न करके, अपनी ओर और अस्तित्वकी ओर दु खमय या महान् रूपसे अभिमुख हो करके, चिरस्थायी 'नही' के प्रति आत्म-समर्पण कर दे सकता है, परन्तु चिरस्थायी 'हाँ' ही उसका सहजात आकर्षण है हमारी आध्यात्मिक दिशा,अन्तरात्माको खीचनेवाला चुम्वकत्व, शाश्वत सत्ताकी ओर है, शाश्वत अ-सत्ताकी ओर नही।

तथापि, कर्मके सिद्धान्तमे कुछ सारभूत और आवश्यक सूत्र विद्यमान हैं। पहले तो यह आश्वासन, यह दृढ भूमि है जिसके आधारपर हम निरापद रूपसे चल सकते हैं, कि भौतिक विश्वकी तरह मानसिक और नैतिक जगत्मे भी सयोग या निरी सम्भाव्यता-की कोई अराजकता या दैवकृत शासन मात्र नही है, अपितु एक व्यवस्थित ऊर्जा कार्यरत है जो नियम और निर्धारित सम्वन्ध और अटल अनुक्रम द्वारा और निर्देश्य कारण तथा प्रभावकारिताकी कडियो द्वारा अपनी इच्छाको सुनिश्चित करती है। एक सर्वव्यापी मानसिक नियम और एक सर्वव्यापी नैतिक नियम है, इसके बारेमे निश्चित हो जाना एक महान् लाभ, एक अवलम्वदायिनी भित्ति है। भौतिक जगत्की तरह मानसिक जगत् और नैतिक जगत्मे भी हम उपयुक्त भूमिमे जो बोएँगे, उसकी फसल हमे अवश्य ही मिलेगी, यह दिव्य शासनका, सन्तुलनका, विश्वव्यवस्थाका आश्वासन है, फलत जीवन नियमकी सुदृढ भूमिपर अधिष्ठित ही नही होता, अराजकताको हटाकर एक महत्तर स्वतन्त्रताका द्वार भी खुल जाता है। किन्तु यह सम्भावना है कि यदि यह

ऊर्जा ही सब कुछ है तो हो सकता है कि हम एक अनुल्लघ्य शक्तिकी सृष्टि मात्र हो और हमारे सारे कर्म और सभूतियाँ ऐसी निर्धारित श्रृखला हो जिस पर हमे कोई यथार्थ नियन्त्रण नही मिल सकता, न अधिकारका कोई सुयोग ही। इस दृष्टिके अनुसार सबका समाधान कर्मके पूर्व-निर्धारणमे होगा, और इसका परिणाम हमारी बुद्धिको तो सन्तुष्ट कर सकता है किन्तु हमारे आत्माकी महत्ताके लिये वह अनर्थकारी होगा। तब हमे कर्मका दास और कठपुतली रहना चाहिये, और हम स्वराट् और जीवन-सम्राट् होनेका स्वप्न कभी नही देख सकते। परन्तु यहाँ कर्म-सिद्धान्तका दूसरा डग आता है, वह यह है कि 'भाव' ही सारे सम्बन्धोकी सृष्टि करता है। सब कुछ 'भाव' का ही प्राकट्य और विस्तरण है, सर्वाणि विज्ञान-विजृम्भितानि। तब, हम जो हैं उसके रूपको हम सकल्प द्वारा, अपने अन्दरके 'भाव'की ऊर्जा द्वारा, विकसित कर सकते हैं और हमारे वर्तमान साँचे और सन्तुलनमे जो व्यक्त है उसकी अपेक्षा महत्तर भावका सामजस्य प्राप्त कर सकते हैं। हम एक अधिक उदात्त विस्तरणकी अभीप्सा कर सकते हैं। फिर भी, यदि 'भाव' अपने-आपमे एक वस्तु है, उसकी अपनी स्वत स्फूर्त शक्तिके अतिरिक्त उसका कोई आधार नही, उसका कोई जन्मदाता नही, कोई ज्ञाता नही, कोई पुरुष और प्रभु नही, तो हो सकता है कि हम विश्वव्यापी 'भाव' का एक रूप मात्र हो, और हमारा अपना, हमारे अन्तरात्माका स्वतन्त्र अस्तित्व या जन्म न हो। परन्तु यह तीसरा डग भी है कि हम विश्वव्यापिनी ऊर्जाकी राहोमे विकसनशील और स्थायी अन्तरात्मा हैं और हमारी सारी सृष्टिका बीज हमारे अन्दर ही है। जैसा हम हो गये है वैसा हमने अपने-आपको अन्तरात्माके भूतकालके भाव और कर्मसे, उसके आन्तरिक तथा बाह्य कर्मसे बनाया है, जैसा होनेका हम सकल्प करते हैं, वैसा हम अपने-आपको वर्तमान तथा भावी भाव एव कर्मसे बना सकते हैं। और अन्तमे, यह अन्तिम तथा परम मुक्तिदायी डग आता है कि भाव और उसके कर्म, दोनोका मूल मुक्त आत्मामे हो सकता है और हम अनुभव तथा आत्म-प्राप्ति द्वारा अपने 'स्व' तक पहुँचकर अपनी अवस्थाको कर्मके सारे बन्धनमेसे उठाकर आध्यात्मिक स्वतन्त्रतामे ले जा सकते हैं। कर्मके समूचे सिद्धान्तके ये चार स्तम्भ हैं। ये प्रकृतिके साथ पुरुषके व्यवहारके चार सत्य भी हैं।

नौ

कर्म और स्वतन्त्रता

जिस विश्वमे हम रहते हैं वह हमारे मनके सामने विरोधियो तथा विपरीतोके जालकी तरह उपस्थित होता है, प्रत्याख्यानोकी तो बात ही छोड दे, और फिर भी यह प्रश्न खडा होता है कि सम्पूर्ण विरोधी या यथार्थ प्रत्याख्यान जैसी कोई वस्तु विश्वमे है भी क्या। अच्छाई और बुराई ऐसी विरोधिनी शक्तियाँ प्रतीत होती हैं जिनकी कल्पना की जा सकती हो, और अपने नैतिक मनकी प्रकृतिके कारण हममे जगत्को, कमसे कम उसके नैतिक पहलूमे, इस रूपमे देखनेकी प्रवृत्ति रहती है मानो वह देव और असुर, ईश्वर और शैतान, अहुरमज्द[1] और एंग्रिया मैन्यु[2] जैसे सनातन विरोधियोके बीच एक सघर्प, एक रस्साकशी है। हम सदा यह आशा करते हैं कि किसी दिन,—और वैसे दिनकी कल्पना अभी भी शायद ही की जा सकती है,—उनमेसे एकका विनाश होगा, दूसरेकी विजय होगी और विजयीको शाश्वतताकी निश्चिति प्राप्त होगी, परन्तु वस्तुत वे परस्पर इतने गुँथे हुए हैं कि कुछ लोग यह मानते हैं कि प्रकाश और छायाकी तरह वे यहाँ नित्य साथ-साथ हैं, और यदि उनके पारस्परिक गुन्थनकी ग्रन्थिकी वेदनासे, उनके कटु और सतत आलिगन तथा सघर्षसे कोई छुटकारा है भी तो इस कर्म-जगत्से परे और कही, किसी विश्रामपूर्ण और नि शब्द शाश्वतत्वमे है। बुराईमेसे अच्छाई निकलती है और अच्छाई भी प्राय बुराई हो जाती लगती है, इन मल्लरत योद्धाओके शरीर इतने भ्रमकारी रूपमे साथ घुट जाते हैं कि उनकी पहचान करनेमे ज्ञानियोका मन भी भ्रम और चक्करमे पड जाता है। और कभी-कभी ऐसा लगेगा कि मानो इस विभेदका अस्तित्व मनुष्यके अलावा और मनुष्यको प्रेरणा देनेवाले आत्माओके अलावा अन्य किसीके लिये शायद ही रहा है, उसका अस्तित्व मनुष्यके लिये शायद तब आया है जब उसने बागमे द्वैत ज्ञानके उस वृक्षका फल खा लिया। हम देखते हैं कि यह विभेद जडतत्त्वको ज्ञात नही और मनुष्यसे नीचेका जीवन यदि नैतिक भेदोसे परेशान होता भी है तो थोडा-सा ही। और यह भी कहा जाता है कि मानवीय सत्ताकी दूसरी तरफ और उसके सघर्षोसे परे उच्च तथा विश्वव्यापी आत्माकी प्रशान्ति है,

[1] फारसके धर्मका शुभात्मा। (अनु०)

[2] जेद-अयस्ताका आसुरी आत्मा। (अनु०)

वहाँ अन्तरात्मा पापको पार कर जाता है, और पुण्यको भी, वहाँ उसे न तो दुःख है, न पश्चात्ताप, और न यह प्रश्न ही उठता है, "मैने वह शुभ कार्य क्यो नही किया और मै यह क्यो कर बैठा जो कि अशुभ है ?"[3] कारण यह है कि उसके अन्दर सकल वस्तुएँ अनिन्द्य हैं और उसके लिये सकल वस्तुएँ विशुद्ध हैं।

परन्तु अन्तमे विरोधियोके अवास्तव होनेका एक और भी अधिक मूलगत उदाहरण है। हम देखते हैं कि मुनिगण भी ज्ञान और अज्ञान,—विद्या और अविद्या, चित्ति और अचित्ति,—के बीच विरोध खडा करते हैं जिसपर अच्छे और बुरेका यह प्रश्न बहुत अन्तरगतासे निर्भर करता लगता है। बुराई प्रकृतिगत जीवकी अज्ञानमयी प्रेरणाके पीछे दौडती चलती है, वह जीवकी इच्छाकी अज्ञानमयी विकृति ही है, और अच्छाईकी आशिकता भी समान रूपसे अज्ञानका अभिशाप है। परन्तु जब हम ध्यानसे इन दोनो वस्तुओके सारतत्त्वके अन्दर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि एक ओर तो अज्ञान सवृत अथवा आशिक ज्ञानके अलावा और कुछ नही है, वह निश्चेतन क्रियामे लिपटा हुआ ज्ञान या वह ज्ञान है जो मनके स्पर्शकोसे अपने-आपको खोज रहा है, और फिर दूसरी ओर यह प्रकट होता है कि ज्ञान भी अपने उत्तम रूपमे एक आशिक जानना है और सदा ऐसा कुछ परे रह जाता है जिसके प्रति वह अज्ञ रहता है, उसका उच्चतम और विशालतम वैभव भी आनन्त्यके नीलकृष्ण प्रकाशके पुजपटपर सौर्य प्रभावका एक स्वर्णिम प्रादुर्भाव है जिसके द्वारा हम उससे परे 'अनिर्वचनीयम्' की ओर देखते हैं।

हमारा मन सदा विरोधोके सहारे विचार करनेको बाध्य होता है, इसकी व्यावहारिक वैधतासे हम नही बच सकते, परन्तु यह विधि फिर भी सदा किसी-न-किसी रूपमे सन्दिग्ध लगती है। हमे यह बोध होता है कि कर्मका एक नियम है, ऊर्जाके कार्योके सतत और अपरिहार्य अनुक्रम हैं, उसके परिणामो तथा प्रतिक्रियाओका एक दृढ स्रोत है, कारण और कार्यके सम्बन्धकी एक श्रृखला है, हमारे पीछे भूतकालके अकारणोका विशाल पुज है जिसमेसे सारे भावी परिणामोको अवश्यमेव खुलते आना चाहिये, और हम इसीके द्वारा विश्वकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करते है, परन्तु तब तत्काल ही उसके विरोधी भाव स्वतन्त्रताकी कडी समस्या उठ खडी होती है। मनुष्यमे कहाँसे आती है स्वतन्त्रताकी यह भावना, स्वतन्त्रताकी यह दिव्य या अमानुषी प्यास जो शायद उसके अन्दरकी किसी उस वस्तुसे उत्पन्न हुई है जिसके कारण वह, उसका मन, प्राण और शरीर चाहे कितने ही ससीम क्यो न हो, आनत्यकी प्रकृतिमे भाग लेता है ?

[3] तैत्तिरीय उपनिषद्

कारण, जब हम चारो ओरके जगत् पर, उसके वर्तमान रूपपर दृष्टि डालते हैं, तो प्रत्येक वस्तु अवश्यम्भाविताके कारण होती और एक भारी निरोध तथा बाध्यताके नीचे चलती लगती है। यह रूप है शक्ति और जडके अविचारशील जगत्का जिसमे हमारा निवास है, और स्वय हममे भी, विचारधर्मी मानवमे, किसी प्रकारके वर्तमान निरोध और बाध्यकारिणी पूर्व-आवश्यकतासे स्वतन्त्र रहनेवाला अश कितना अल्प है! हम जैसे हैं और जो करते हैं उसका बडा भाग हमारे परिवेश द्वारा निर्धारित होता है, हमारी शिक्षा और पालन-पोषण द्वारा घडा जाता है,—हम जीवन द्वारा और दूसरोके हाथो द्वारा बनाये गये हैं, हम बहुत सारे कुम्हारोके लिये मिट्टीका काम देते हैं और जहाँ तक बाकी भागकी बात है, जो कुछ सबसे अधिक हमारा स्व है वह भी, क्या हमारी वैयक्तिक, जातीय और मानवीय आनुवशिकता द्वारा, या अन्ततया विश्व-प्रकृति द्वारा निर्धारित नही हुआ है जिसने कि मानवजातिको और प्रत्येक मनुष्यको अपनी अन्धी या सचेतन उपयोगिताके लिये उसके वर्तमान रूपमे घड डाला है?

परन्तु हम हठ करते और कहते हैं कि हममे एक इच्छा है जिसे एक स्वतन्त्रताका बोध रहता है, वह स्वतन्त्रता चाहे कितनी ही भाराक्रान्त क्यो न हो, और वह इच्छा परिवेश, पालन-पोषण, आनुवशिक गठन और हमारी अपरिवर्तनीय दिखायी देनेवाली सामान्य प्रकृतिको भी अपने स्वोद्देश्यके निमित्त घड सकती और अपने प्रयत्नसे परिवर्तित कर सकती है। किन्तु यह इच्छा और इसका प्रयास, क्या यह भी प्रकृतिका, सक्रिय विश्व-ऊर्जाका, एक उपकरण, एक यान्त्रिक इजिन ही नही है? और क्या इसकी स्वतन्त्रता हमारे मनका ही स्वेच्छाचारी भ्रम नही है जो वर्तमानके प्रत्येक क्षणमे रहता और अज्ञानके कारण, मानसिक विविक्ति द्वारा, वर्तमानको उसके निर्धारक अतीतसे अलग करता है, जिसके फलस्वरूप ऐसा लगता है कि हम प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षणमे स्वतन्त्र और शुद्ध चुनाव कर रहे हैं, जब कि हमारा चुनाव सदा ही अपने पूर्वरूपायणसे और उस सारे अन्धकारमग्न अतीतसे शासित होता है जो हमारे सामने नही होता? यह मान लेने पर भी कि प्रकृति हमारी इच्छाके माध्यमसे कार्य करती और सृष्टि तथा परिवर्तन कर सकती है, अर्थात् प्रकृतिने अपनी क्रियाओके लिये जो सामग्री प्रस्तुत कर रखी है उसमेसे एक नया रूपायण उत्पन्न कर सकती है, क्या यह चीज भूतकालके प्रेरण और उसमेसे एक अविच्छिन्न ऊर्जा द्वारा नही की जाती? कर्मका प्रथम भाव यही है। अवश्य ही, हमारी वर्तमान इच्छा, क्रिया और रूपायणके एकमात्र तत्त्वके रूपमे तो किसी भी तरह नही, परन्तु उनके किसी एक तत्त्वके रूपमे मान्य होगी ही, किन्तु इस दृष्टिके अनुसार यह कोई स्वतन्त्र चिरनूतन इच्छा नही होती, बल्कि प्रथम तो वह सारे भूतकालीन स्वभावकी सन्तान और जन्म होती हैं, हमारा क्रियाकलाप

हमारा वर्तमान कर्म, उस स्वभावकी शक्तिके एक घडे जा चुके आकारका परिणाम होता है। और दूसरे, हमारी इच्छा एक ऐसा उपकरण होती है जिसे सदा ही कोई ऐसी वस्तु घडती और उपयोगमे लाती है जो हमसे महत्तर है। यदि कोई अन्तरात्मा या आत्मा हो जो प्रकृतिकी सृष्टि नही, अपितु उसका स्वामी हो, विश्व-ऊर्जाके स्रोतकी रचना नही, अपितु स्वय ही अपने स्वकर्मका रचयिता और स्रष्टा हो, केवल तभी हमारा वास्तविक स्वतन्त्रताका दावा या, कमसे कम, यथार्थ स्वतन्त्रताके लिये हमारी अभीप्सा सार्थक होती है। यही पर इस वादविवादका मर्म है, इस पेचीदे प्रश्नकी उलझन और उसमेसे निकलनेकी राह है।

किन्तु अब आलोचनात्मक, नकारात्मक और विश्लेषणात्मक चिन्तक, प्राचीन शून्यतावादी बौद्ध या आधुनिक जडवादी प्रवेश करता है और हमारे पार्थिव या किसी भी सम्भव स्वर्गिक जीवनमे वास्तविक स्वतन्त्रताके होनेके आधारको हटा देता है। बौद्धोने स्वतन्त्र एव अनन्त आत्माके अस्तित्वको नही माना, उनके विचारानुसार वह अहके भावका उन्नयन मात्र है, अध्यारोप है, या शाश्वत असत्पर हमारे व्यक्तित्वके मिथ्यात्व द्वारा फेकी गयी भीमकाय अभिवर्द्धित छाया ही है। परन्तु जहाँ तक अन्त-रात्माकी बात है, कोई अन्तरात्मा नही, अपितु रूपो, भावो और सवेदनोका एक स्रोत मात्र है, और जैसे रथकी भावना पटरो, डडो, पहियो और धुरियोके सम्मिलनके लिये एक नाम मात्र है, वैसे ही वैयक्तिक अन्तरात्मा अथवा अहकी भावना भी इन चीजोके सम्मिलन या सातत्यके लिये एक नाम मात्र है। और, विश्व भी ऐसे सम्मिलनके अतिरिक्त और कुछ नही, कर्मके अनुक्रमो द्वारा, ऊर्जाकी क्रिया द्वारा अविच्छिन्न रूपसे सहत, रचित और सरक्षित रहनेके अतिरिक्त और कुछ नही। इस यान्त्रिक जीवनमे कर्मके वन्धनसे स्वतन्त्रता नही हो सकती, कोई स्वाधीनता सम्भव नही हो सकती, परन्तु फिर भी मुक्ति सम्भव है, क्योकि जो सम्मिलन द्वारा और अपने सम्मिलनोके वन्धन द्वारा अस्तित्वमे वना रहता है उसे विलयन द्वारा अपने-आपमेसे मुक्त किया जा सकता है। कर्मको गतिशील रखनेवाली चालिका शक्ति है कामना और उसके कार्योके प्रति आसक्ति, और अचिरताकी निश्चिति और कामनाके अवसानसे कालानुक्रमोमे भावकी अविच्छिन्नताका अन्त किया जा सकता है।

परन्तु यदि इस अन्तको मुक्तिका नाम दिया जा सकता हो तो भी यह स्वतन्त्रताकी स्थिति तो नही है, क्योकि वह स्थिति केवल एक अस्तिपर, एक चिरत्वपर आश्रित हो सकती है, न कि सभी अस्तियोके वहिष्कार और समापनपर, और यह भी कल्पनीय है कि इसके लिये ऐसा कोई या ऐसा कुछ आवश्यक है जो स्वतन्त्र हो। यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्वय बुद्धने निर्वाणकी धारणा स्वतन्त्रताके निरपेक्ष आनन्दकी स्थितिके

रूपमे, किसी अग्राह्य 'निर्विशेष' के अन्दर कर्मिक जीवनके अभावके रूपमे की थी,—हाँ, उस 'निर्विशेष' का वर्णन या परिभाषा किसी इति या नेति द्वारा करनेसे वह दृढतासे अस्वीकार करते रहे, और वस्तुत किसी एकान्तिक अस्ति द्वारा या अस्तिवाचक भावोके व्यापकतम सकलन द्वारा या किसी नास्ति द्वारा अथवा नास्तिवाचक भावोके पूरे सकलन द्वारा की गयी परिभाषा, परिभाषाका प्रवेश मात्र होने और फलत परिसीमन होनेके कारण, उस 'निर्विशेष' के लिये अनुपयुक्त लगेगी। जगन्मिथ्यावादकी माया एक अधिक रहस्यमयी वस्तु है, बुद्धिके लिये अधिक अस्पष्ट है, परन्तु कमसे कम यहाँ हमे एक 'आत्मा', एक भावात्मक 'अनन्त' मिलता है जो फलत शाश्वत स्वतन्त्रताके लिये समर्थ है, किन्तु केवल नैष्कर्म्यमे ही, कर्मका अन्त करके ही। कारण, व्यष्टि-रूपी आत्मा, कर्मकी क्रियामे रहनेवाला अन्तरात्मा, सदा ही अज्ञानसे आबद्ध रहता है, और केवल वैयक्तिकता तथा विश्वभ्रमका परित्याग करके ही हम 'निर्विशेष'की स्वतन्त्रतातक वापस जा सकते हैं। इन दोनो सिद्धान्तोमे हम यह देखते हैं कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और वैश्व बाध्यताको समान रूपसे स्वीकार तो किया जाता है, परन्तु एक पूरे ही पृथक्कीकरणमे और एक दूसरीके अपने-अपने क्षेत्रसे बहिष्करणमे,—चरम विरोधियो और विपरीतोकी तरह ही। जन्मके जगत्मे अज्ञान या कर्मकी पूर्ण बाध्यता है, जगत् तथा कर्मके प्रत्याहारमे आत्माकी पूर्ण स्वतन्त्रता है।

परन्तु ये पैने सिद्धान्त तार्किक बुद्धिके लिये चाहे कितने ही सन्तोषप्रद क्यो न हों, वे समन्वयात्मिका बुद्धिके लिये सदिग्ध होते हैं, और जो कुछ भी हो, जैसे हम यह देखते हैं कि ज्ञान और अज्ञान अपने सारमे पूर्णतया विपरीत नही, अपितु अज्ञान और निश्चेतना भी गुप्त ज्ञानका आवरण हैं, वैसे ही यह तो सम्भव हो ही सकता है कि स्वतन्त्रता और कर्मकी बाध्यता ऐसे विरोधी नही जिनके बीच सेतु न बनाया जा सके, बल्कि कर्मके पीछे और अन्दर भी अन्तर्निवासी आत्माकी गुप्त स्वतन्त्रता सब समय रहती हो। बौद्ध मत और जगन्मिथ्यावाद भी बाह्य अथवा आन्तरिक पूर्वनिर्धारणकी नही, अपितु केवल स्वारोपित बन्धनकी ही बात कहते हैं। और बहुत दृढतासे वे मनुष्यसे यह माँग करते हैं कि वह सही और गलत राहके बीच, अचिर-जीवनकी इच्छा और चिर-निर्वाणकी इच्छाके बीच, विश्व-जीवनकी इच्छा और आध्यात्मिक सत्ताकी इच्छाके बीच चुनाव करे। फिर, इस चुनावकी माँग वे निर्विशेषसे या विश्वपुरुष या विश्वशक्तिमान्से नही करते, उसे तो सचमुचमे उनके दावेकी कुछ भी परवाह नही होती और वह बहुत ही शान्ति और निरापदतासे अपना सबल तथा शाश्वत कार्य करता चलता है,—प्रत्युत वे इसकी माँग करते हैं व्यक्तिसे, मनके विरोधोसे भ्रमित मानवके अन्तरात्मासे। अत ऐसा लगता है कि हमारी वैयक्तिक सत्तामे ऐसा कुछ

है जिसे इच्छाकी कोई यथार्थ स्वतन्त्रता है, एक महान् परिणाम और गरिमापूर्ण चुनावकी कोई क्षमता है, और तब वह क्या है जो इस भाँति चुनाव करता है, और उसकी वास्तविक या सम्भव स्वतन्त्रताकी सीमाएँ क्या हैं, उसका आरम्भ या अन्त कहाँ है ?

यह समझना भी कठिन है कि असार अचिरताका कालमे शाश्वत अविच्छिन्नताका इतना विपुल प्रभाव या यह बल कैसे हो सकता है, तब यह विचार आता है कि कोई एक 'चिर' होना ही चाहिए जो इस अविच्छिन्नतामे प्रकट होता है, ध्रुवम् अध्रुवेषु। यह समझना भी कठिन है कि कोई भ्रम,—क्योकि भ्रम यदि परिणामहीन स्वप्न या सारहीन विभ्रम नही तो और क्या है ?—न्याय्य परिणाम और दृढ नियम तथा शृंखलाबद्ध नियतिके इस महान् जगत्की रचना कैसे कर सकता है। कोई गुप्त आत्म-ज्ञान तथा बुद्धिमत्ता होनी ही चाहिए जो कर्मकी ऊर्जाको अपने भावमे निर्देशित करती हो और जिसने उस ऊर्जाके लिये वे पथ नियुक्त कर दिये हो जिन्हे उसे काल-प्रवाहमे काटने होंगे। विशेष रूपोकी सारी अचिरताके बीच वस्तुओकी जो तात्त्विक चिरता है उसीके कारण हमारे मन तथा इच्छापर उनका इतना प्रभाव होता है। चूँकि जगत् इतना वास्तविक है इसी कारण हम अपने-आपपर उसकी पकड इतने बलके साथ अनुभव करते हैं और हमारी अन्त शक्तियाँ उसकी ओर मल्लयोद्धाकी इस पकडके साथ मुडती हैं। सचमुचमे जगत् प्राय हमारे लिये अति प्रचड रूपसे वास्तविक होता है और हम स्वतन्त्रताकी खोज स्वप्न-प्रदेशो या आदर्श-लोकोमे करते हैं, और उसे वहाँ पर्याप्त रूपसे नही पाते हैं, क्योकि न तो हमे अपने आदर्शको इस सक्रिय वास्तविकता-पर प्रयुक्त करनेकी स्वतन्त्रता रहती है, और न हम ऐसा करनेका प्रभुता-बल विकसित कर सकते हैं, फलत हम उसकी खोज 'निर्विशेष' की सुदूर और अनन्त महिमामे करते हैं। अत यह बेहतर होगा कि हम उस दूसरे अधिक व्यापक रूपसे स्वीकार्य भेदपर जमे रहे जिसके अनुसार कर्मका जगत् एक व्यावहारिक या सापेक्षिक सत्य है और उसके पीछे या ऊपर, तपोलीन और अपरिवर्तनीय अध्यात्म-पुरुषकी सत्ता एक महत्तर परम सत्यताके रूपमे है। और तब हमे यह खोजना होगा कि क्या एकमात्र अध्यात्म-पुरुषकी सत्तामे ही स्वतन्त्रताका कोई स्पर्श है या,—जैसा कि तब अवश्य होना चाहिये यदि क्रियारत ऊर्जा और उसके क्रियाकलापकी अध्यक्षता अध्यात्म-पुरुष कर रहा हो,—यहाँ भी स्वतन्त्रताका कोई तत्त्व है या कोई आरम्भ तो है ही, और वह तत्त्व या आरम्भ यदि लघु और सर्वथा सापेक्षिक हो तब भी, कालके इन डगोमे, कर्मके इन सम्बन्धोमे क्या हम इस स्वतन्त्रताको अध्यात्म-सत्ताकी महिमामे चेतन रूपमे निवास करते हुए महती और वास्तविक नही बना सकते ? क्या ऐसा नही हो सकता कि जब हम अन्त-रात्माके क्रमविकासके शिखरतक उठ जाते हैं तो वहाँ हमे यही प्रभुता प्राप्त होगी।

हम एक बात यह देखते हैं कि नियन्त्रणकी ओर यह प्रेरणा और स्वतन्त्रताका यह सस्कार मनकी क्रियाके इर्दगिर्द चिपके रहनेवाला मोड और वातावरण हैं और प्रकृति जैसे-जैसे मन शक्तिकी ओर उठती है वे प्रकृतिमे विकसित होते जाते है। जडतत्त्वका जगत् स्वतन्त्रताके बारेमे कुछ भी जानता नही लगता, वहाँ प्रत्येक वस्तु मानो पत्थरकी पट्टियोपर भावीके सूचक नियमो, ऐसे नियमोके रूपमे लिखी दिखायी देती है जिनकी प्रक्रिया तो है, पर कोई आरम्भिक कारण नही और जो उद्देश्योके सामजस्यके लिये तो उपयोगी होते हैं या, कमसे कम, निर्धारित परिणामोका विश्व तो उत्पन्न करते हैं, परन्तु ऐसी कोई प्रज्ञा नही दिखायी देती जिसने उनकी ओर दृष्टि रखकर उन्हे घडा हो। प्राकृतिक वस्तुओके भीतर अन्तरात्माकी विद्यमानताकी बात हम सोच नही सकते, क्योकि उनके भीतर हमे मनकी चेतन क्रिया दिखायी नही देती जब कि हमारी धारणाओके लिये चेतन तथा सक्रिय मानसिक बुद्धि ही अन्तरात्मा-के अस्तित्वका यदि सारा उपादान नही, तो आधार और आधारभूमि तो है ही। यदि जडतत्त्व ही सब कुछ है तो हम बहुत आसानीसे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सब कुछ जड-ऊर्जाका कार्य है जो यान्त्रिक रूपसे विधान बनानेवाली किसी अन्तर्निहित और अवोधगम्य नियति द्वारा शासित होती है। परन्तु तब हम यह देखते हैं कि प्राण एक भिन्न उपादानसे बना लगता है, यहाँ विविध सम्भावनाएँ खिलती हैं, यहाँ सृष्टि उत्सुक, दबाव डालनेवाली, नमनीय और परिवर्तनशील हो जाती है, यहाँ हमे एक खोज और एक चुनावका, बहुत सारी शक्यताओका और वास्तविकताओके एक चुनावका, एक ऐसे अवचेतन भावका बोध होता है जो अपनी प्राणिक स्वाभिव्यक्तिके लिये चारो ओर टोहमे लगा है और एक सहजवृत्तिमूलक क्रिया घड रहा है,—साथ ही, प्राय, किन्तु कुछ सीमाओमे ही, प्राणका अपने सन्निकट लक्ष्य या अभी भी दूर रहनेवाले लक्ष्यकी ओर एक निर्भ्रान्त और सबोधिमूलक निर्देशन होता है,—इस सारी बृहत् खोज और परिवर्तनशील प्रेरणके तन्तुमे हमे एक अवचेतन इच्छाका भी बोध होता है। लेकिन प्राण भी सीमाओके अन्तर्गत बेडियोके बन्धनमे प्रक्रियाओके निर्दिष्ट क्षेत्रमे ही कार्य करता है।

परन्तु जब, हम निकलकर मनमे आते हैं तब प्रकृति सम्भावना और चुनावके प्रति बहुत अधिक व्यापक रूपसे चेतन हो जाती है, मन भावमे ऐसी शक्यताओ और निर्धारणोके प्रति अवगत होता है जो तात्कालिक वास्तविकता या भूत और वर्तमानकी वास्तविकताओकी राशिके अटल रूपसे अनिवार्य परिणामकी शक्यताओ और निर्धारणो-से भिन्न होते हैं, उसे असख्य "हो सकता है" और "हो सकता था" का बोध होता है, और "हो सकता था" की बाते बिलकुल ही मृत परित्यक्त वस्तुएँ भी नही होतीं, बल्कि

'भाव' की शक्ति द्वारा वापस आ सकती हैं, भावी निर्धारण सम्पादित कर सकती हैं और अन्तमे, भले ही अन्य रूपो और परिस्थितियोमे, किन्तु अपने भावकी आन्तरिक सत्यतामे, अपनी परिपूर्ति कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, मन और भी आगे जा सकता है और जाता है, वह वास्तविक जीवनके आत्म-परिसीमनोके पीछे एक अनन्त सम्भावनाकी धारणा कर सकता है। और इस अवलोकनसे एक स्वतन्त्र और अनन्त 'इच्छा' के भावका, एक ऐसी असीम्य शक्यतामयी 'इच्छा' के भावका उदय होता है जो अपनी देश तथा कालगत विश्वसभूति अथवा सृष्टिके इन सारे असख्य आश्चर्योका निर्धारण करती है। इसका अर्थ होता है एक अध्यात्म-सत्ता एव शक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता जो कि कर्म द्वारा निर्धारित नही होती, वल्कि कर्मको निर्धारित करती है। प्रतीयमान नियति अध्यात्म-सत्ताके स्वतन्त्र आत्म-निर्धारणकी सन्तान है। जो चीज हमे नियतिके रूपमे प्रभावित करती है, वह एक इच्छा है जो परिणाम-क्रममे कार्य करती है, न कि अन्धी शान्ति जो अपने ही यन्त्र-विन्यास द्वारा चालित होती है।

तथापि यह निष्कर्ष अवश्यमान्य नही और जीवनके वारेमे हम जो तीन प्रधान धारणाएँ वना सकते हैं उन्हे इस विषयमे बुद्धि सदा ही तर्कमे उपस्थित कर सकती है। पहले उस धारणाको ले, जो बुद्धिके लिये आसान भी है, कि एक प्रकारकी एक अन्धी यान्त्रिक नियति है,—और उसके सामने या पीछे कुछ भी नही है या कोई शुद्ध असत् है। इस नियतिका स्वरूप एक निर्धारित प्रक्रियाका होगा जो कुछ आरम्भिक तथा सर्वसामान्य निर्देशनाओसे बँधी है, बाकी सब कुछ जिनका ही परिणाम होता है। परन्तु यह विश्व-वस्तुओकी प्रथम प्रतीत मात्र है, दृश्य जगत्की छाप है जो हमे भौतिक विश्वके रूपसे मिलती है। फिर, यह धारणा है कि एक स्वतन्त्र अनन्त सत्, ईश्वर या परम है जो किसी न किसी प्रकार, किसी वस्तुमेसे या शून्यमेसे, यथार्थ या धारणागत सृष्टि करता है, या अपने-आपमेसे अपनी इच्छा या माया या कर्मकी नियतिके जगत्को अभिव्यक्तिमे लाता है जिसमे सारी वस्तुएँ, सारे प्राणी, एक नियतिके, यान्त्रिक या वाह्य नियतिके नही, प्रत्युत आध्यात्मिक और आन्तरिक नियतिके शिकारकी तरह, किसी अज्ञान-शक्ति या कर्म-शक्ति या नही तो किसी प्रकारकी यादृच्छिक पूर्वनियतिके शिकारकी तरह वँधे रहते हैं। और, अन्तमे यह धारणा है कि एक निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत् है जो सम्वन्धोके विश्वको अवलम्व देता, विकसित और अनुप्राणित करता है, वह शक्ति ही हमारे अस्तित्वकी विश्वव्यापिनी अध्यात्म-सत्ता है, यह जगत् इन सम्वन्धो-का क्रमविकास है, विश्वमे जो प्राणी हैं वे इन सम्वन्धोको अध्यात्म-सत्ताकी किसी स्वतन्त्रताके आधारपर क्रियान्वित करनेवाले अन्तरात्मा हैं,—क्योकि आन्तरिक रूपसे वे वही हैं,—परन्तु साथ ही वे सम्वन्धोके नियमको अपनी स्वभाविक अवस्था

मानते हुए उनका पालन करते हैं।

यह नियम दृश्य जगत्‌मे या उसके केवल बाह्य यन्त्र-विन्यासको सतहपर देखनेवाली दृष्टिमे नियतिकी एक प्रत्यक्ष श्रृखला होता है, किन्तु वस्तुत वह अध्यात्म-सत्ताका जीवनके अन्दर स्वतन्त्र आत्म-निर्धारण होगा। स्वतन्त्र आत्मा और अध्यात्म-पुरुष भौतिक ऊर्जाकी सारी क्रियाको अनुप्राणित करता हुआ, उसकी निश्चेतनामे गुप्त रूपसे चेतन रहकर विद्यमान होगा, उसकी गतिविधि प्राणकी गतिविधि होगी और उसके पथ-प्रदर्शनका आन्तर तत्त्व भी, परन्तु उसकी उपस्थितिकी प्रथम खुली ज्योतिका कुछ अश मनके अन्दर ही आयगा। प्रकृतिमे विकसित होता अन्तरात्मा, प्रकृतिर्जीवभूता, उसका एक अमर आच्छन्न बल होगा जो अध्यात्म-सत्ताकी ज्योतिकी ओर और, फलत, स्वतन्त्रताकी चेतना और वास्तवताकी ओर बढ रहा होगा। आरम्भमे वह प्रकृतिमे आबद्ध होगा और विवश रहता हुआ अपने सारे कार्योमे कर्मकी प्रेरणाके पीछे चलेगा, क्योंकि सतहपर ऊर्जाकी क्रिया ही उसकी सक्रिय सत्ताका सारा सत्य होगी, विश्राम, स्वतन्त्रता, आरम्भण, ये भी हैं, परन्तु नीचे प्रच्छन्न हैं, अवगूढ हैं, और फलत क्रियामे बिलकुल ही अभिव्यक्त नही हैं। मनमे भी कर्मकी क्रिया प्रधान तथ्य होगी, प्रत्येक वस्तु परिवेशपर क्रिया करती और उसके प्रभावोको प्रत्युत्तर देती हमारी सक्रिय सत्ताकी शक्तिकी प्रकृति द्वारा और इन अभिक्रियाओ और प्रत्युत्तरोके गुण-धर्मको रग और आकार देती हमारी सक्रिय सत्ताके गुणकी प्रकृति द्वारा निर्धारित होगी। परन्तु वह शक्ति अन्तरात्माकी शक्ति है, वह गुण अन्तरात्माका गुण है, और अन्तरात्मा ज्यो-ज्यो अपने प्रति सविद् होगा, त्यो-त्यो स्वतन्त्रताकी चेतना उन्मज्जित होगी, अपने-आपको प्रस्थापित करेगी, आग्रह करेगी, एक दृढ रूपसे अनुभूत और अधिकृत वास्तविकता होनेकी ओर बढनेका प्रयत्न करेगी। अन्तरमे अध्यात्म-तत्त्वमे स्वतन्त्र, प्रकृतिमे सोपाधिक और निर्धारित, आध्यात्मिक ज्योति, प्रभुता और स्वतन्त्रताको अपनी प्रथम स्वाभाविक अवस्थामे और उसके सकीर्ण निर्धारणोकी तमोमयता और उलझनपर कार्य करनेके लिये बाहर लानेको अपने अन्तरात्मामे उद्योगशील,—यह मनोमय प्राणी मनुष्यका स्वरूप होगा।

इस आधारपर मनुष्यकी विवशता और मनुष्यकी स्वतन्त्रताके बीच, मनुष्यकी मन, प्राण और शरीरके यन्त्रमे चक्कर लगाती पार्थिव प्रकृति और उस स्वामी विश्वात्मा, परम देव, पृष्ठभागमें स्थित यथार्थ मानवके बीच जिसकी अनुमति या आज्ञा उसकी गतिविधियोको अवलम्ब देती या उनपर शासन करती है, एक ऐसे स्पष्ट सम्बन्धको देखना हमारे लिये सम्भव हो जाता है जो पूरा परस्पर-विरोधका नही होता। मनुष्यका यह अन्तरात्मा विश्वको अभिव्यक्त करनेवाली स्वयम्भू सत्ताका ऊर्ज है, न कि किसी

यान्त्रिक प्रकृतिका प्राणी तथा दास, और केवल उसकी सत्ताके प्राकृतिक उपकरण ही मन, प्राण और शरीर और उनके क्रियाकलाप तथा अग ही, उस यन्त्रके असहाय उपस्कर और मज्जा हैं। ये चीजे कर्मकी क्रियाके अधीन हैं, परन्तु मनुष्यके स्वरूपको देखे तो वह, अन्दरका यथार्थ मनुष्य, उसके अधीन नही, न कर्म लिप्यते नरे। बल्कि कर्म ही उसका उपकरण है और उसकी गतिविधियाँ उसके व्यवहारमे आती सामग्री हैं, और उसे वह निरन्तर, जन्म-जन्ममे, एक सीमित तथा वैयक्तिक व्यक्तित्वको घडनेके लिये काममे ले रहा है जो एक दिन दिव्य तथा वैश्व व्यक्तित्व हो जा सकता है। कारण, शाश्वत अध्यात्म-पुरुष पूर्ण स्वतन्त्रताका भोक्ता है। यह स्वतन्त्रता निस्सन्देह हमे सारी सत्ताकी एक विशेष स्थिति, मूल या पृष्ठभूमिमे अस्तित्वके निरुपाधिक अनन्तके रूपमे प्रकट होती है, परन्तु विश्वके सम्बन्धमे यह एक ऐसे अस्तित्वकी स्वतन्त्रता है जो अनन्त सम्भावनाएँ प्रदर्शित करता है और जिसमे एक यह क्षमता है कि वह विश्वके सामजस्योको अपनी ही शक्यतामेसे इच्छानुसार घडे। मनुष्य भी, समस्त कर्म, मन तथा व्यक्तित्वके अवसान द्वारा, निरुपाधिक अनन्तके अन्दर मोक्ष पानेमे भली भाँति समर्थ हो सकता है। परन्तु यह अध्यात्म-पुरुषकी निरुपाधिक स्वतन्त्रताकी सम्पूर्णता नहीं, यह तो बल्कि एक अधूरी स्वतन्त्रता है, क्योकि यह केवल अपने नैष्कर्म्य द्वारा टिकती है। परन्तु अध्यात्म-पुरुषकी स्वतन्त्रता इस प्रकार आश्रित नही, वह कर्मकी इस सारी क्रियाके बीच अक्षत रह सकती है और विश्वभँवरमे अपनी ऊर्जाओके उँडेले जानेसे क्षीण या रद्द नही होती। किन्तु यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इस द्वितीय स्वतन्त्रता-का भोग नही कर सकता क्योकि मनुष्य होनेके नाते वह वैयक्तिक प्राणी है और फलत प्रकृतिगत वस्तु है, अज्ञान और कर्मके अधीन है। स्वतन्त्र होनेके लिये उसे वैयक्तिकता, प्रकृति तथा कर्ममेसे निकल जाना ही होगा, और तब मनुष्यका अस्तित्व नही रह जाता, रह जाता है केवल निरुपाधिक अनन्त। परन्तु ऐसा कहना यह मानना है कि आध्यात्मिक वैयक्तिकताकी कोई क्षमता नही, अपितु केवल प्रकृतिमे वैयक्तिक होनेकी क्षमता रहती है। तब सब कुछ मानसिक, प्राणिक और शारीरिक कर्मकी एक ग्रन्थिकी रचना हो जाता है जिसके साथ लम्बे समयतक वह एक आत्मा भूलमे अपनी सत्ताको अहके भ्रमके कारण एकात्म किये रहता है। परन्तु यदि, इसके विपरीत, अध्यात्म-पुरुषकी वैयक्तिक ऊर्जा जैसी कोई वस्तु है तो अवश्य ही, चाहे वास्तविकताकी जिस किसी भी मात्रामे क्यो न हो, स्वयम्भू परम देवकी सयुक्त शक्ति तथा स्वतन्त्रतामे उसका भाग रहेगा, क्योकि वह उसीकी सत्ताकी सत्ता है।

हमारी सत्ता एव कर्ममे स्वतन्त्रता कही पर है तो सही, और हमे केवल यह देखना है कि वह हमारी बहिर्प्रकृतिमे कैसे और क्यो सीमित है, हम यहाँ कर्मके किसी भी

शासनके नीचे क्यो हैं। हम बाह्य और आरोपित ऊर्जासे केवल इस कारण बँधे प्रतीत होते है कि हमारी बहिर्प्रकृति और हमारे अन्तरतम और आध्यात्मिक आत्माके बीच पार्थक्य है और उस बाह्यताामे हम अपनी समूची सत्ताको साथ लेकर नही, अपितु अपनी ही एक आकृति, मोड और मानसिक रूपायणको लेकर रहते हैं जिसे हम अपना अह या अपना व्यक्तित्व कहते हैं। जड-स्थ विश्वात्मा भी इसी कारण बँधा प्रतीत होता है। उसने भौतिक ऊर्जाकी एक सपीडित क्रियाका, उस ऊर्जाके एक नियम और विन्यासका आरम्भ किया है जिसे अपने परिणाम खोलते जाते देना होगा, स्वय वह अपने-आपको पीछेकी ओर रोके रखता है, अपने रूपित्र स्पर्शको छिपाये रखता है, परन्तु फिर भी उसकी अवलम्बदायिनी सहमति और प्रेरणा वहाँ रहती हैं और ज्यो-ज्यो प्रकृति अपने-आपको प्राण तथा मनके सोपानमे उठाती है वह सहमति और प्रेरणा अधिकाधिक खुलेमे आती हैं। तथापि, हमे यह ध्यानमे रखना है कि मनमे भी, और उसकी सचेतन इच्छाके व्यापारमे भी, कर्म ही प्रथम नियम है और वहाँ हमारे लिये कोई पूरी स्वतन्त्रता नही हो सकती, मनकी पूर्णतया स्वतन्त्र इच्छा जैसी कोई वस्तु नही है। और ऐसा इसलिये है कि मन बाह्य अज्ञानकी क्रियाका, उस क्रियाका अग है जो ज्ञानकी खोज तो करती है किन्तु उसके परिपूर्ण प्रकाश और बलपर अधिकार नही रखती, आत्मा, अध्यात्म-तत्त्व और अनन्तताकी धारणा तो कर सकती है और उन्हे प्रतिबिम्बित भी, परन्तु उनमे पूरा निवास नही कर सकती, अनन्त सम्भावनासे प्रकम्पित तो हो सकती है, परन्तु व्यवहार केवल प्रतिबन्धित सम्भावनाओके साथ और सीमित अर्ध-प्रभाविणी रीतिसे कर सकती है। अज्ञानको निर्बन्ध स्वामित्वकी अनुमति तो नही दी जा सकती, उसकी प्रकृतिके लिये यदि ऐसा स्वामित्व सम्भव हो तो भी नही। अज्ञानपूर्ण मन तथा इच्छाको व्यापक तथा यथार्थ स्वतन्त्रता देनेसे कभी भी काम नही चलेगा, क्योकि अध्यात्म-पुरुषने जिस ऊर्जाको कार्यमे लगाया है उसकी सही व्यवस्थाको वे अस्तव्यस्त कर देगे और अति दुष्ट अव्यवस्था उत्पन्न कर देगे। उन्हें आज्ञापालन-के लिये, या यदि वे विरोध करते हो तो विश्व-नियमकी प्रतिक्रियाको सहन करने-के लिये बाध्य करना होगा, उनकी एक आच्छन्न और ठोकर खाते ज्ञानकी आशिक स्वतन्त्रताको, उसकी क्रिया और उसके परिणाम दोनोमे, विश्वप्रकृतिके नियम द्वारा और कर्मके विन्यासो और परिणामोका शासन करनेवाले द्रष्टा विश्वात्माकी इच्छा द्वारा निरन्तर अभिभूत करते रहना होगा। यह स्पष्ट तथ्य है कि यह निरुद्ध और अभिभूत की गयी क्रिया हमारी मनोमयी सत्ता तथा क्रियाका गुणधर्म है।

परन्तु तब भी यहाँ ऐसा कुछ है जिसे हम सापेक्षिक स्वतन्त्रता कह सकते हैं। वह यथार्थमे हमारे बाह्य मन तथा इच्छाकी वस्तु नही होती, न ही हमारी उस छायाकी

जिसे हमने अपने मनोमय अहमे व्यक्त किया है, क्योकि ये वस्तुएँ उपकरण हैं और कर्मके अनुक्रमोकी राहोमे कार्य करती हैं। परन्तु फिर भी उन्हे एक शक्तिका अनुभव होता है जो निरन्तर बाहर आ रही है और या तो प्रकृतिकी क्रियाको अनुमति देती या उसमे हस्तक्षेप करती है, और उस शक्तिकोवेअपनी शक्ति मान लेती हैं। उन्हे अपने कार्य-विन्यासमे एक सापेक्षिक स्वतन्त्रताका बोध होता है और उसके पीछे शक्यताके रूपमे अवश्य ही एक पूर्ण स्वतन्त्रताका भी और इन दो वस्तुओको स्पष्ट न जानते हुए मन, अहं तथा इच्छा एकीबद्ध होकर घोपित करते हैं, "मै स्वतन्त्र हू।" परन्तु यह स्वतन्त्रता और शक्ति अन्तरात्मासे आये हुए प्रभाव हैं। परिचित दार्शनिक शब्दावलीका व्यवहार करे तो ये पुरुषकी अनुमति तथा इच्छाका प्रतिअकन करते हैं जिसके बिना प्रकृति अपनी राहपर गतिशील नही हो सकती। इस अन्तरात्मिक प्रभावका पहला और अधिक बडा भाग प्रकृतिको दी गयी एक अनुमति, एक स्वीकृतिके रूपमे होता है, और इसका उचित कारण भी है। कारण, हम आरम्भ करते हैं वैश्व ऊर्जाकी क्रियासे, जिसे अध्यात्म-पुरुपने गतिशील किया है, और ज्यो-ज्यो हम अज्ञानसे ज्ञानकी ओर उठते हैं, जो पहली चीज हमसे माँगी जाती है वह यह है कि उसके नियमका और उस नियमके साथ हमारे सम्बन्धोका अनुभव एकत्र किया जाय और इसलिये अशत स्वीकृति दी जाय, अपने-आपको चालित होने दिया जाय, गतिविधिकी प्रकृतिको देखा और जाना जाय, नियमको सहा जाय और उसका पालन किया जाय, कर्मको समझा और जाना जाय। यह आज्ञाकारिता निम्नतर और अज्ञानमयी सृष्टिपर बलपूर्वक लादी जाती है। परन्तु विचारधर्मी मनुष्य जो कि पीढी-पीढी करके और जन्म-जन्मान्तरमे वस्तुओकी प्रकृतिका वर्द्धमान रूपसे अनुभव करता है और चिन्तनशील ज्ञानका और प्रकृतिमे स्थित अपने अन्तरात्माके बोधका विकास करता है, प्रकृतिमे एक प्रवर्तिका इच्छाकी शक्तिका सचार करता है। वह प्रकृतिकी नियत वास्तविकताओसे बँधता नहीं, वह अनुमति देनेसे इनकार कर सकता है, और प्रकृतिमे जिस चीजको वह अनुमति नही दी जाती है वह निस्सन्देह कुछ समयतक कर्मके प्रवेगसे चलती रहती और अपने परिणाम उत्पन्न करती है, परन्तु ज्यो-ज्यो वह चीज चलती जाती है, उसका बल क्षीण होता जाता है और वह अशक्तता तथा अप्रचलनकी स्थितिमे जा पडती है। मनुष्य इससे भी अधिक कर सकता है, वह अपनी प्रकृतिको एक नयी क्रिया और दिशाका आदेश दे सकता है। अन्तरात्माकी अनुमति उसके अनुमन्ता-रूपकी शक्तिकी अभिव्यक्ति थी, परन्तु यह शक्ति अन्तरात्माके ईश्वर-रूपकी, प्रकृतिका स्वामी होनेकी है। वहाँ प्रकृति तब भी न्यूनाधिक रूपमे अपनी भूतकालीन और अभ्यासगत राहका हठ अपने भूतकालके प्रवेग या पूर्वानुमतियोके अधिकारके कारण करती है, और यह भी हो सकता

है कि नियन्त्रणके प्रति वह जितनी अनभ्यस्त रहती है उस अनुपातमे वह प्रतिरोघ करे और विरोधी शक्तियोको बुला ले जो हमारी अपनी ही सृष्टियाँ होती हैं, हमारी भूतकालीन इच्छाओकी सन्ताने होती हैं। तब हमारी सत्ताके गृहमे स्वामी और उसकी पत्नीके बीच, नयी और पुरानी प्रकृतिके बीच, अन्तरात्माकी पराजय और विजयके लिये एक सग्राम होता है। और अवश्य ही यह एक स्वतन्त्रता है, परन्तु केवल एक सापेक्षिक स्वतन्त्रता है, और बडासे बडा मानसिक प्रभुत्व भी अपने उत्तम रूपमे सापेक्षिक तथा अनिरापद वस्तु ही होता है। एक उच्चतर स्थलसे देखे तो इस स्वतन्त्रता-मे एक हल्के कर दिये गये बधनमे कोई भिन्नता स्पष्ट नही दिखायी देती।

हमारे अन्दरका मनोमय पुरुष स्वतन्त्रताके विद्यालयमे शिक्षार्थी हो सकता है, पूर्ण दक्ष नही। यथार्थ स्वतन्त्रता तब आती है जब हम मनमेसे निकलकर अध्यात्म-तत्त्वके जीवनमे, व्यक्तित्वमेसे निकलकर 'व्यक्ति' तक, प्रकृतिमेसे निकलकर प्रकृतिके प्रभु तक चले जाते हैं। फिर, वहाँ भी प्रथम स्वतन्त्रता एक निष्क्रिय शक्ति होती है, उसका स्वरूप अनुमतिका होता है, वह एक प्रेक्षक और सारभूत स्वतन्त्रता होती है जिसमे सत्ताका सक्रिय अग परमात्मा और उसकी विश्वव्यापिनी क्रियाशीलताका उपकरण होता है। परन्तु वहाँ अनुमति दी जाती है परमात्माकी इच्छाको, न कि प्रकृतिकी यान्त्रिक शक्तिको, और मनपर डाला जाता है आत्माकी ज्योति एव शुचिता-की स्वतन्त्रताको, सम्बन्धोके सही ज्ञानको और दिव्य क्रियाओके प्रति एक स्पष्ट नि सग अनुमतिको। परन्तु यदि मनुष्यको भी शक्तिकी, भाग लेनेकी, ईश्वर-पुत्रके रूपमे एक महत्तर दिव्य नियन्त्रणमे होनेवाली सहचारिताकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, तो उसे केवल मनसे पीछे ही नही चले जाना होगा, प्रत्युत अपने विचार और इच्छामे भी, मन शक्तिके स्तरोसे ऊपर खडे होने होगा और वहाँ उत्तोलन-अवस्थानकी, एक आध्यात्मिक अवस्थानकी[2] प्राप्ति करनी होगी जहाँसे वह अपनी सत्ताके जगत्‌को प्रभुतासे चालित कर सकेगा। चेतनाका ऐसा अवस्थान हमारे अतिमानसिक क्षेत्रोमे है। जब जीव केवल चेतनाके सारतत्त्वमे और सत्ताके आध्यात्मिक सत्यमे ही नही, अपितु चेतना एव सत्ताको व्यक्त करनेवाले क्रियाकलापमे भी परम और विश्वव्यापीके साथ एक हो जाता है, जब वह आध्यात्मिक इच्छा तथा ज्ञानके प्रवर्तक और सयोजक सत्यका और ईश्वर तथा जीवनमे अन्तरात्माके उमड आते आनन्दका भोग करता है, जब वह आत्मा और उसकी सृष्टिशीला स्वतन्त्रताकी, आत्म-सत्ता एव आत्माभि-

[2] एक "खडे होनेका स्थल", वह उत्तोलन-अवस्थान जहाँसे आर्किमेदसने जगत्‌को चलानेका बीडा उठाया था, यदि उस स्थलको वह पा भर सकता।

व्यक्तिमे एक शाश्वत आह्लादके[3] सुरको दी गयी अध्यात्म-पुरुषकी अनुमतिकी परि-पूर्णतामे प्रवेश पाता है, तब कर्म हो जाता है स्वतन्त्रताका छन्द और जन्म अमरत्वका सुर ।

[3] सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते, "जन्मके द्वारा वह अमरत्व भोग करता है"

दस

कर्म, इच्छा और परिणाम

इच्छा, कर्म और परिणाम विश्व-चालिका ऊर्जाके तीन डग हैं। परन्तु कर्म और परिणाम तो इच्छाके उत्पादन मात्र या उसके रूप ही हैं, इच्छा ही उन्हे उनका महत्त्व देती है और उसके बिना वे कुछ भी नही होते, कमसे कम, मनुष्यके लिये कुछ भी नही होते जो कि विचारधर्मी तथा विकसनशील अन्तरात्मा है, और यह कल्पना की जा सकती है कि मनुष्य जिस अध्यात्म-सत्ताकी लौ और बल है और साथ ही जिसकी सृष्ट वस्तु है, उसके लिये भी कुछ नही होते। जब हम विश्वके बाह्य यन्त्र-न्यासपर दृष्टिपात करते हैं तब जो पहली चीज हमे दीखती है या जिसके दीखनेकी हम कल्पना करते हैं वह है ऊर्जा और उसकी कृतियाँ, कर्म और परिणाम। परन्तु यह क्रियाकलाप यदि अकेला हो, उसमे अधिवासिनी इच्छाका प्रकाश न हो, तो वह केवल एक बृहत् अन्तरात्माविहीन यन्त्र-क्रिया है, अराल और घिरनीका जोर जोरसे खडखडाना, स्प्रिग और पिस्टनका विपुल धमाका है। अध्यात्म-सत्ता और उसकी इच्छाकी विद्यमानता ही कर्मको सार्थक करती है और जीवके लिये परिणामका जो मूल्य रहता है वही सारे बडे या छोटे परिणामोको उनका गहरा महत्त्व देता है। ये सूर्य और मडल यदि चेतनाका क्षेत्र नही हो जहाँ वह चेतना अपनी शक्तिधाराओको प्रवाहित करती, अपने क्रियाकलापका उन्मेष करती, अपनी सृष्टियोका रस लेती, योजनाएँ बनाती और अपने विशाल लक्ष्यो एव परिणामोमे आनन्द लेती है, तो यदि यह वैश्व हलचल कलको समाप्त हो जाय या इसकी कभी भी सृष्टि नही हुई होती, तो किसीके भी लिये या किसी भी वस्तुके लिये, स्वय विश्वके लिये भी, इसका कोई महत्त्व नही होता। अध्यात्म-सत्ता, उसकी चेतना, शक्ति तथा आनन्द ही जीवनका अर्थ है। इस आध्यात्मिक सार्थक्यको हटा देते ही ऊर्जाका यह जगत् एक यान्त्रिक सयोग या अन्धी कठोर माया हो जाता है।

मनुष्यका जीवन इस बृहत् सार्थक्यका अश है, और चूँकि इस भौतिक स्तरपर यह सार्थक्य अपनी अर्थवत्ताकी पूरी क्षमतामे मनुष्यमे ही व्यक्त होता है, वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय अश है। विश्वगत 'इच्छा' अपनी ऊर्जाके सर्जनशील डगोमे मनुष्यतक बढती है और उसकी प्रकृतिको देव-रथ बना देती है जिसपर वह कर्मके अन्दर खडी होती है, अपनी कृतियोका अवलोकन केवल प्रकृतिके कार्योके पीछे या ऊपरसे

ही करना छोडकर, ठीक सामनेसे करती है और अन्तिम परिणामकी ओर तथा अपने उद्देश्यके पूरे क्रमविकासकी ओर आगे वढती जाती है। मनुष्यकी इच्छा भौतिक सृष्टिमे 'शाश्वत' के गुप्त अभिप्रायके अनावरणके लिये उसका साधन है। मनुष्यका मन समस्याकी सारी गुत्थियोको लेता और अपने अन्त स्थ अध्यात्म-तत्त्वके वलसे उन्हे हल करता और उनके वैयक्तिक तथा वैश्व समाधानोकी पूरी शक्ति और मात्राके समीपतर लाता है। यही उमकी महिमा और महत्ता है, और उसके जन्म, उसके कर्म, उसके प्रस्थान और पुनर्जन्मको सार्थक्य और पूर्ण मूल्य पानेके लिये इसके अलावा किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता भी नही। जन्मभे यह लौट लौट आना तव तक होता जायगा,—और इसमे दु ख करने या इससे दूर हटनेकी क्या वात है ?—जव तक कि उसके अन्दर 'शाश्वत' का कार्य पूर्ण न हो जाय या युगचक्र अपने श्रमकी महिमासे विश्राम न ले लेवे।

जगत्के विषयमे यह दृष्टि वह दृष्टिकोण है जिससे हमे मनुष्यकी चेतन इच्छा और जीवनके प्रति उस इच्छाके व्यवहारोके प्रश्नको देखना होगा, क्योकि तव सारी चीजे अपने स्वभाविक स्थानमे आ जायँगी और हम वढाचढाकर या घटाकर किये जाते आकलनोसे वच जायँगे। मनुष्य 'शाश्वत' का चेतन जीव है, अपनी अन्तरतम सत्तामे 'अनन्त'के साथ एक है, और उसमे अन्त स्थ अध्यात्म-पुरुष उसके कार्यो और उसकी भावीका स्वामी है। क्योकि भावी है fatum[1] कार्य और सृष्टिका वह रूप जिसके लिये उसके और विश्वके अन्दरकी एक 'इच्छा'ने पहलेसे घोषित कर रखा है कि वही वह वस्तु है जिसे करना है, पाना है, क्रियान्वित करना है, और मनुष्यकी आध्यात्मिक सत्ताकी स्वाभिव्यक्ति वनाना है। भावी है अदृष्ट , वह वह वस्तु है जिसे अध्यात्म-पुरुष अपनी दृष्टिकी योजनामे छिपाये रखता है, वह वह परिणाम है जो क्षण विशेषके कार्यमे निमग्न श्रमरत मनके लिये कालकी अवगुण्ठित समीपता या उसके दूरके अदृश्य प्रदेशोके कारण छिपा रहता है। भावी है नियति जिसकी इच्छा और क्रियान्विति प्रकृतिने, जो कि अध्यात्म-पुरुषकी शक्ति है, अपनी स्व-शासित क्रियाओके स्थिर-निर्धारित नियमके अनुसार की है। परन्तु चूंकि यह 'शाश्वत' एव 'अनन्त', हमारा महत्तर 'आत्मा', विश्व-सत्ता भी है, अत विश्वमे रहनेवाला मनुष्य अस्तित्वके वाकी सारे भागके साथ अविच्छेद्य रूपमे एक है, और यद्यपि मनुष्यकी वैयक्तिकताके केन्द्र-पर या उसके व्यक्तिगत उद्धारके लक्ष्यपर अत्यधिक वल देनेवाले विचार या धर्मोसे मनपर ऐसी छाप पड सकती है, तथापि वास्तवमे वह कोई ऐसा जीव नही जो अपनी विलग आध्यात्मिक नियति और स्वभावको कार्यान्वित कर रहा हो, जव कि अन्य सारी

[1] लैटिनका एक शब्द जिसका अर्थ भविष्य-कथन होता है। (अनु०)

सत्ताएँ उसके परिवेश और साधन या विघ्न होनेके अतिरिक्त और कुछ न हो—ये चीजे ये सव तो हैं ही, परन्तु उसके लिये अधिक वहुत कुछ भी हैं। मनुष्य अवश्य ही विश्वका अश मात्र नही। वह वह शाश्वत जीव है जो अपनी वाह्य चेतनामे कुछ कालिक उद्देश्योके लिये परिसीमित है, फिर भी जिसे इन परिसीमाओमेसे अपना अभिवर्द्धन करना सीखना है, विश्वप्राण और विश्वातीत शाश्वत अध्यात्म-पुरुषके साथ अपना एकत्व प्राप्त करना और उसे प्रभावी वनाना है। यही आध्यात्मिक आवश्यकता धार्मिक मतके पीछेका सत्य है।

परन्तु मनुष्य ईश्वर और प्रकृतिमे विश्वके सारे प्राणियोके साथ भी एक है, वह सारे अन्य जीवोका स्पर्श करता और उन्हे अन्तर्विष्ट करता है, सत्-पुरुषकी इस वैश्व क्रियामे अभिव्यक्त सारी शक्तियोके साथ सयुक्त है। उसके अन्तरात्मा, विचार, इच्छा और कर्मका वैश्व अन्तरात्मा, विचार, इच्छा तथा कर्मसे अन्तरग सम्वन्ध है। सव कुछ उसपर और उसके द्वारा क्रिया करता और उसके साथ मिश्रित होता है और वह भी सवपर क्रिया करता है और उसके विचार, इच्छा और कर्म उस एक सार्वजनीन जीवनमे मिश्रित होते और उसीकी एक शक्ति हो जाते हैं। उसका मन विश्वमनका एक रूप और कर्म है। उसे केवल अपनी ही वृद्धि और पूर्णता और प्राकृतिक नियति या आध्यात्मिक स्वतन्त्रतासे व्यस्त रहने और सम्बन्ध रखनेके लिये आह्वान नही किया गया है। उसपर एक विशालतर कर्मका भी दावा है। वह एक विश्व-कर्ममे कार्य करता है, दूसरोका जीवन उसका जीवन है, जगत्-परिणाम और जगत्-विकास भी उसका कार्य है। कारण, उसका आत्मा अन्य सारे भूतोके आत्माओके साथ एक है।

कर्म और परिणामके साथ हमारी इच्छा-शक्तिके व्यवहारोको मनुष्यकी वैयक्तिकता और मनुष्यकी विश्वव्याप्तिके इस सत्य-द्वयके प्रकाशमे देखना होगा। और इस प्रकाशमे देखनेपर हमारी वैयक्तिक इच्छाका प्रश्न एक दूसरा रूप ले लेता है। यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अह, हमारा वाह्य व्यक्तित्व, हमारी सत्ताका केवल एक गौण, एक कालिक, एक उपकरणात्मक रूप हो सकता है। अहकी इच्छा, व्यक्तिकी बहिर्मुखी और मानसिक इच्छा जो कि गति-धारामे कार्य करती है, स्वतन्त्रता-के किसी सम्पूर्ण या पृथक् अर्थमे स्वतन्त्र नही हो सकती। उसे यह स्वतन्त्रता नही हो सकती क्योकि वह अपनी आशिक और सीमित प्रकृतिसे बँधा हुआ और अपने अज्ञान-के यन्त्र-विन्याससे घडा हुआ है, और इस कारण भी कि वह विश्व-ऊर्जाका एक व्यष्टि-रूप और व्यष्टि-क्रिया है और प्रत्येक क्षण परिवेशकी इच्छाएँ, वल और शक्तियाँ उससे टकराती रहती, उसे वदलती और वडे परिमाणमे घडती रहती हैं। परन्तु उसे यह स्वतन्त्रता इसलिये भी नही हो सकती कि हमारे अन्दर मनके पीछे वह महत्तर

विश्वात्मा है जो कार्य और परिणामको अपनी सत्तागत और प्रकृतिगत इच्छाके अनुसार, अपनी सत्ताकी शक्तिके अनुसार निर्दिष्ट करता है,—क्षण विशेषमे नही, अपितु कालकी अविच्छिन्नताओमे, केवल परिवेशके प्रति तात्कालिक अनुकूलन द्वारा नही, अपितु अपने उस पूर्व-अभिप्राय द्वारा जिसने कि परिवेशको घडा है और जो वर्तमान कार्य तथा परिणामको वडे अशमे पूर्वनिर्दिष्ट कर चुका है। जीवके अन्दर वह आन्तरिक इच्छा जिसका उस शक्तिके साथ अन्तरग सम्वन्ध है, यथार्थ इच्छा है और यह वाह्य वस्तु केवल क्षण-क्षणके क्रियान्वयनके लिये एक उपकरण है, कर्मके यन्त्र-विन्यासकी एक कमानी है। उस आन्तरिक इच्छातक वापस जानेपर हम पाते हैं कि वह स्वतन्त्र इच्छा है, वह पृथक् स्वतन्त्रताके कवचसे सज्जित नही, अपितु सारे जीवो ओर सारी घटनाओमे प्रकृतिको निर्देशित तथा वाघ्य करनेवाले अध्यात्म-पुरुषकी स्वतन्त्रताके साथके सामजस्यमे स्वतन्त्र है। इस वातको हमारा वहिर्मुख मन आसानीसे नही देख सकता, क्योकि वह जिस व्यावहारिक सत्यको अनुभव करता है वह प्रकृतिकी ऊर्जा है जो एक साथ ही हमपर वाहरसे क्रिया करती और अन्दरसे हमारी क्रियाको भी घडती है और स्वय प्रकृतिपर भी मानसिक इच्छा द्वारा, जो कि उसका उपकरण है, प्रतिक्रिया करती है जिससे वह ऊर्जाके कर्म और आगेके परिणामके लिये अपनी आत्म-गढनको चालू रखती है। फिर भी हमे एक आत्माका वोध होता है और इस आत्माकी विद्यमानता हमारे मनपर यह भाव आरोपित करती है कि ऐसा कोई है जो इच्छा करता है, ऐसा कोई है जो प्रकृतिको भी घडता है और परिणामके लिये उत्तरदायी है।

समझ सकनेके लिए हमे क्षण विशेषके कर्म और इच्छा और उसके तात्कालिक परिणामोपर ही एकान्तिक रूपसे केन्द्रित होना छोड देना होगा। हमारी वर्तमान इच्छा और व्यक्तित्व वहुत सारी चीजोसे, हमारी शारीरिक और प्राणिक आनुवशिकता-से, हमारी मन प्रकृतिकी भूतकालीन रचनासे, परिवेशकी शक्तियोसे, परिसीमनसे, अज्ञानसे आवद्ध हैं। परन्तु पृष्ठभागमे रहनेवाला हमारा अन्तरात्मा हमारे वर्तमान व्यक्तित्वसे महत्तर और अधिक वृद्ध है। अन्तरात्मा हमारी आनुवशिकताका परिणाम नही, प्रत्युत उसीने अपने कर्म और रुचियो द्वारा इस आनुवशिकताको प्रस्तुत किया है। परिवेशकी इन शक्तियोको उसीने विगत कर्म तथा परिणाम द्वारा अपने चारो ओर खीचा है। अन्य जीवनोमे उसीने उस मन प्रकृतिकी रचना की है जिसका वह अभी उपयोग कर रहा है। उस पुरातन, दीर्घकालीन, शाश्वत सत्ताशाली अन्तरात्माने, —पुरुष पुराण सनातन,—वाह्य परिसीमनको, वाह्य अज्ञानको, एक साधनके रूपमे स्वीकार किया है जिससे वह क्षण-क्षणके कर्मके प्रतिवन्धके अन्तर्गत अपनी अनन्तता-के अर्थ और अपनी शक्ति-कृतियोके परिणाम-क्रमको रूपायित कर सके। इस ज्ञानमे

निवास करना क्षण विशेषकी इच्छा तथा कर्मके मूल्य और ओजको छीन लेना नही, प्रत्युत उसे एक अति विशाल रूपसे वर्द्धित अर्थ तथा महत्त्व देना है। तब प्रत्येक क्षण अनन्त वस्तुओसे भर जाता है और हम देख सकते हैं कि वह एक भूतकालीन नित्यताके कार्यको हाथमे ले रहा और एक भावी नित्यताके कार्यको गढ रहा है। हमारे प्रत्येक विचार, इच्छा और कर्म अपने साथ अपनी भावी आत्म-निर्देशनाका बल अपने साथ लिये चलते हैं और हमारे चारो ओरके लोगोके आध्यात्मिक विकासक्रमके लिये भी सहायता या बाधा होते हैं और विश्व-क्रियाकलापमे एक शक्ति भी। कारण, हमारा अन्तरात्मा दूसरोसे प्राप्त प्रभावोको अपनी आत्म-निर्देशनाके लिये अन्दर लेता और अपने प्रभावोको बाहर करता है जिन्हे दूसरोका अन्तरात्मा उनके वर्द्धन तथा अनुभवके लिये व्यवहृत करता है। हमारा वैयक्तिक जीवन अपने-आपमे एक अत्यत महत्तर वस्तु हो जाता है और उसे विश्वकी चालके साथ एक स्थायी एकत्वका आश्वासन भी प्राप्त हो जाता है।

और कर्म तथा परिणाम भी विशालतर अर्थ प्राप्त करते हैं। अभी हम क्षण विशेष-की विशेष इच्छा और कर्मका और समय विशेषके विशेष परिणामका मूल्य अत्यधिक लगाते है। परन्तु विशेषको अपना मूल्य केवल उस 'सर्व' से ही मिलता है जिसका वह अग है, जिससे वह आता है, जिसकी ओर वह गतिशील है। हम कर्म और परिणामकी बाध्यताओका, इस अच्छे या उस बुरे कर्मका और कर्मके परिणामका भी मूल्य अत्यधिक लगाते हैं। परन्तु अन्तरात्मा जिस यथार्थ परिणामके पीछे लगा है वह है अपनी सत्ताकी अभिव्यक्तिका वर्द्धन, अपनी शक्तिके प्रसार तथा क्रियाका अभिवर्द्धन, अपनी सत्ताका आनन्द, अपनी सृष्टि तथा आत्म-सृष्टिका आनन्द और यह सब केवल अपने सम्बन्धमे ही नही, अपितु दूसरोके सम्बन्धमे भी जिनके साथ उसकी महत्तर सभूति तथा हर्ष एक हैं। कर्म और परिणामका अन्तरात्माके लिये जो मूल्य है उसीसे वे सार्थक होते हैं, वे वे डग हैं जिनसे अन्तरात्मा अपनी अभिव्यक्त प्रकृतिकी पूर्णताकी ओर बढता है। और जब यह लक्ष्य जीत लिया जाता है तब भी हमे कर्म बन्द कर देनेकी आवश्यकता नही होती, क्योकि उसका मूल्य बना रहेगा और वह इन सारे दूसरोके लिये, जिनके साथ हम आत्मामे एक हैं, सहायताकी एक महत्तर शक्ति होगा। और यह भी नही कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता एव अनन्तताके प्रति चेतन हुए जीवके लिये उसका कोई अपना मूल्य नही होता, क्योकि हमे कौन समझा सकेगा कि हमारी अनन्तता केवल एक शाश्वत पूर्णविराम, एक अन्तहीन विश्राम, एक अनन्त अवसान है? बल्कि कही अधिक, अनन्तताको अनन्त स्वाभिव्यक्तिके लिये नित्य समर्थ रहना चाहिये।

अन्तरात्माके जन्म सतत आध्यात्मिक विकासक्रमकी अवली हैं, और ऐसा

भली भाँति लग सकता है कि जब विकासक्रम समाप्त हो जायगा, और आरम्भमे ऐसा लग सकता है कि जब अज्ञानमे लीन जीव आत्म-ज्ञानकी ओर वापस आता है, तब विकासक्रम अवश्य ही समाप्त हो जायगा, तब हमारे जन्मोकी अवलीकी भी समाप्ति आ जायगी। परन्तु यह इस विषयका केवल एक पहलू है, शाश्वत नाटकका, कर्मका केवल एक लम्बा अक है। हम जो अध्यात्म-पुरुष है वह केवल शाश्वत चेतना एव शाश्वत सत्ता नही है, उसके गुण-धर्म है सत्ताकी शाश्वत शक्ति और शाश्वत आनन्द। अध्यात्म-पुरुषके लिये सृष्टि कष्ट या वेदना नही, प्रत्युत वह व्यक्त आनन्द है जो फिर भी अपनी गहराइयोकी समग्रतामे अप्रगटनीय, अगाध, अनन्त, अक्षय है। यह तो आधिपत्य और अन्वेषणाके लिये श्रमशील और प्रच्छन्न अध्यात्म-शक्तिको पानेमे असमर्थ अज्ञानगत मनकी सीमित क्रिया ही है जो कर्म एव सृष्टिके आनन्दको रागावेश या कष्ट बना देती है कारण, सामर्थ्यमे सीमित रहकर और शरीर तथा प्राणकी कठिनाई सहकर भी उसे अपने सामर्थ्यसे परेकी अभिलाषाएँ रहती हैं, क्योकि वह एक प्रगतिका उपकरण है, एक असीम्य स्वाभिव्यक्तिका बीज है और उसे विकासका कष्ट, बाधाका कष्ट और अपने कर्म तथा आनन्दकी अपर्याप्तताका कष्ट मिलते है। परन्तु यह सघर्षशील आत्म-स्रष्टा और कर्म-कर्त्ता एक बार अन्तरके गुप्त अनन्त अध्यात्म-तत्त्वकी चेतना तथा शक्तिमे विकसित हो जाय तो यह सारा रागावेश और कष्ट प्रमुक्त सत्ता और उसके प्रमुक्त कर्मके अपरिमेय आनन्दमे विलीन हो जाता है।

यह बौद्ध ज्ञान कि कर्म और कष्ट अपृथक्य हैं, जिसके कारण बुद्ध 'होने' की इच्छा-को जीवनकी इच्छाको बुझानेके उपायकी खोजमें प्रवृत्त हुए, प्राथमिक और आंशिक प्रतीति ही है। कष्टका उपचार है आत्माको पाना, क्योकि आत्मा है अनन्त अधिकार और पूर्ण तुष्टि। परन्तु आत्माको निर्वाणमे पाना आध्यात्मिक विकासक्रमका समूचा अर्थ नही, बल्कि उसे उसकी 'होने' की शक्तिमे भी पाना होगा, कारण, सत्ता केवल शाश्वत स्थिति ही नही, अपितु शाश्वत गति भी है, केवल विश्राम ही नही, अपितु कर्म भी है। एक आनन्द विश्राम का है, और एक आनन्द कर्मका है, परन्तु अध्यात्म-सत्ताकी समग्रतामे ये दोनो चीजे विपरीत नही रह जाती वरन् एक तथा अपृथक्य हो जाती हैं। अध्यात्म-पुरुषकी स्थिति शाश्वत स्थिरता है, परन्तु जगत्-सत्तामे उसकी स्वाभि-व्यक्ति भी आदि या अन्तसे रहित है, क्योकि शाश्वत शक्तिका अर्थ है शाश्वत सृष्टि। हमे जब एककी प्राप्ति होती है तो उसके प्रतिपक्ष और परिणामको गँवा देनेका आवश्यकता नही। नीवतक पहुँचनेका अर्थ ऊपरकी रचनाके सारे सामर्थ्यको नष्ट कर देना नही नही होता।

कर्म क्रियागत अध्यात्म-पुरुषकी इच्छाके अतिरिक्त और कुछ नही, परिणाम

इच्छाकी सृष्टिके अतिरिक्त और कुछ नही। जो सत्ताकी इच्छामे है वह कर्म और परिणाममे व्यक्त होता है। इच्छा जब मनमे परिसीमित होती है तब कर्म बन्धन और परिसीमनकी तरह प्रकट होता है, परिणाम प्रतिक्रिया या आरोपकी तरह। परन्तु जब सत्ताकी इच्छा अध्यात्म-पुरुषमे अनन्त हो जाती है तब कर्म और परिणाम भी बदलेमे हो जाते है सृजनशील अध्यात्म-पुरुषका हर्ष, शाश्वत यान्त्रिकका निर्माण, शाश्वत कविका शब्द और नाटक, शाश्वत सगीतका स्वर-सामजस्य, शाश्वत शिशुकी क्रीडा। यह न्यूनतर, आबद्ध, प्रतीयमानत पृथक् विकासक्रम अध्यात्म-पुरुषकी उसके अपने असीम्य आनन्दसे की गयी मुक्त आत्म-सृष्टिमे एक डग मात्र है। हम जो कुछ हैं और करते हैं उसके पीछे यही है, उसे मनसे छिपाना और धीरे-धीरे अस्तित्व तथा कर्मके पुरोभागमे आगे ले आना ही प्रकृतिके साथ पुरुषकी वर्तमान क्रीडा है।

ग्यारह

पुनर्जन्म और कर्म

कर्मका प्राचीन विचार इस विश्वाससे अपृथक्य था कि अन्तरात्मा नये शरीरोमे अविराम पुनर्जन्म लेता रहता है। और इन दोनोका यह घनिष्ठ साहचर्य कोई सायोगिक घटना ही नही, वरन् ऐसे दो सम्वन्धित सत्योका एक विलकुल ही बोधगम्य और वस्तुत अनिवार्य मिलन था जो एक दूसरेकी सम्पूर्णताके लिये आवश्यक रहते हैं और जिनका पृथक् होकर रहना कठिन होता है। ये दो चीजे एक ही और उसी वैश्व क्रमका अन्तरात्मा-रूप और प्रकृति-रूप हैं। कर्मके विना पुनर्जन्म अर्यहीन है, और कर्म यदि अन्तरात्माके अविच्छिन्न अनुभवके सिलसिलेके लिये उपकरण न हो तो कर्मके लिये न तो अनिवार्य उत्पत्तिका कोई उत्स रह जाता है, न नैतिक तथा युक्तिसगत आधार ही। यदि हम विश्वास करते हो कि अन्तरात्मा शरीरमे वारवार जन्म लेता है तो हमे यह भी मानना होगा कि पहलेके जीवनो और वादके जीवनोके बीच भी कोई कडी अवश्य होगी और अन्तरात्माके अतीतका प्रभाव उसके भविष्यपर पडता है, और यही कर्मके विधानका आध्यात्मिक सार है। इसे नही मानना अति अराजक असम्वद्धताका राज्य प्रतिष्ठित करना होगा, जैसा कि हमे स्वप्नमे मनकी कूदो और घुमावोमे या पागल अवस्थाके विचारोमे या वहाँ भी शायद ही मिलता है। और यदि यह जीवन, जैसा कि विश्व-निराशावादी कल्पना करते है, स्वप्न या भ्रम हो, या जैसा शोपनहॉवरने कहा था, उससे भी वुरा हो, अन्तरात्माका उन्माद और पागलपन हो, तो हम अर्थहीन परिणामका कोई ऐसा विधान मान ले सकते हैं। परन्तु इस जीवन-जगत्को यदि उसके वुरेमे वुरे रूपमे ले तव भी वह स्वप्न, भ्रम और पागलपनसे भिन्न रहता है, क्योकि उसमे महीन, जटिल और सूक्ष्म क्रमोकी योजना है, उसकी विसगतियाँ भी सहसम्वद्ध और उपयोगी हैं, उसके सम्वन्धोमे एक सर्वसामान्य और विशेष सामजस्य है, और भले ही वह हमारा अभीष्ट सामजस्य नही हो, हमारी अभिलाषाका आदर्श सामजस्य नही हो, तो भी प्रत्येक विन्दुपर उसमे एक क्रियारत प्रज्ञा और भावकी छाप है, यह कार्य किसी फटेहाल मन या विगडे यन्त्रका नही। पुनर्जन्ममे अन्तरात्माके अविच्छिन्न अस्तित्वको एक विकासक्रमका,—यदि आत्माके विकासक्रमका नही भी, क्योकि उसे अपरिवर्तनीय कहा जाता है, तो उसके अविक वहिर्मुख और सक्रिय अन्तरात्मा या अनुभव-आत्माके विकासक्रमका सूचक तो होना ही चाहिए। और यह विकासक्रम

सम्भव नही यदि जीवन-जीवनान्तरोमे कोई सम्बद्ध सिलसिला न हो, अन्तरात्माके लिये कर्म तथा अनुभवका परिणाम न हो, क्रमवैकासिकी परिणामशीलता न हो, कर्मका विधान न हो।

अब कर्मकी बातले और यदि हम उसका कोई खडित अर्थ न लेकर समूचा अर्थ ले तो उसकी क्रियाके पर्याप्त क्षेत्रके लिये हमे पुनर्जन्मको स्वीकार करना ही होगा। कारण, कर्म ठीक कारण और परिणामके किसी भौतिक या वास्तविक नियम-जैसी, किसी पूर्ववर्ती और उमके यान्त्रिक परिणाम-जैसी वस्तु नही। वैसी अवस्थामे ऐसे कर्मका समावेश पूर्णतया हो सकेगा जिसे कालमे सम्पादित किया जा सकेगा और शक्तियोके सन्तुलनके कार्यान्वयन द्वारा परिणाम अपने यथोचित स्थानमे, अपनी न्याय्य मात्रामे निश्चित रूपमे आयेंगे, किन्तु यह आवश्यक नही कि वे किसी भी तरह अपने प्रवर्तक मनुष्यको स्पर्श करे जो कि अपने कर्मोके परिणामकी अभिव्यक्ति होनेतक दृश्यमचसे विदा हो चुका होगा। यान्त्रिक प्रकृति पिताओके पापोका फल उन्हे न चखा-कर उनकी चौथी या चार सौवी पीढीको अच्छी तरह चखा सकती है, जैसा कि यह भौतिक प्रकृति वस्तुत करती भी है, और यहाँ अन्यायकी आपत्ति या कोई अन्य मानसिक या नैतिक आपत्ति भी नही उठ सकती, क्योकि यन्त्र-विन्यासका एकमात्र न्याय या सार्थक्य यह है कि वह अपनी सरचनाके विधानानुसार और अपनी क्रियारत शक्तिकी निर्धारित सम्भाव्यताके अनुसार कार्य करेगा। हम उससे किसी मनकी या नैतिक साम्य या किसी प्रकारके अतिभौतिक उत्तरदायित्वकी माँग नही गर सकते। विश्व-ऊर्जा अपने प्रभावोको निश्चेतन रूपसे पीस निकालती रहती है और व्यक्तिगण उसकी क्रियाके आकस्मिक या गौण साधन मात्र हैं, और यदि कोई अन्तरात्मा हो ही तो भी अन्तरात्मा प्रकृतिके क्षेत्र-विन्यासका अग मात्र होता है, उसका अस्तित्व अपने लिये नही, अपितु प्रकृतिके धन्धेके लिये उपयोगिताके रूपमे होता है। किन्तु कर्म किसी पूर्ववर्ती और परिणामके यान्त्रिक नियमकी अपेक्षा अधिक कुछ है। कर्म है क्रिया, कोई वस्तु की जाती है और एक करनेवाला होता है और एक क्रियाशील परिणाम होता है, ये तीन ही कर्मके सयोजनके तीन जोड, तीन सधियाँ हैं। और यह एक जटिल मानसिक, नैतिक और स्थूल क्रिया होती है, क्योकि उसका नियम कर्त्ताके लिये उसके कार्यके स्थूल परिणामकी अपेक्षा मानसिक और नैतिक परिणामके सम्बन्धमे कम सत्य नही होता। इच्छा और भाव कार्यकी चालिका शक्ति है, और प्रवेगका आगमन हमारे रसायनिक परमाणुओमे किसी हलचलके होनेसे या विद्युदणो और विद्युदकणोकी किसी क्रियासे या किसी अनोखी जैविक बुदबुदाहटसे नही होता। अत कार्य औरपरि-णामका इच्छा तथा भावसे कोई सम्बन्ध अवश्य होगा और वह इच्छा तथा भाव जिस

अन्तरात्माके होंगे उस अन्तरात्माके लिये कोई मानसिक और नैतिक परिणाम अवश्य होगा। अव यदि हम व्यक्तिको वास्तविक सत्ता मानते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि उसके लिये कार्य तथा परिणामकी एक अविच्छिन्नता है और पुनर्जन्म इस क्रियाका क्षेत्र है। यह स्पष्ट है कि हम एक ही जीवनमे उस जीवनके सारे अर्थो और क्षमताओको चरितार्थ और नि शेष नही कर देते, न कर ही सकते हैं, प्रत्युत केवल भूतकालके धागेको आगे चलाते हैं, वर्तमानमे कोई चीज वुन डालते हैं, भविष्यके लिये कही अधिक अमेय रूपसे तैयारी करते है।

यदि विश्वका केवल सर्वान्तरात्मा ही हो तो पुनर्जन्मका यह परिणाम कर्मकी प्रकृति मात्रसे नही निकलता। कारण, तव वह सर्वान्तरात्मा ही अपने अतीतको कोटि-कोटि रूपोमे चलाता जा रहा होगा, किसी वर्तमान कार्यको कार्यान्वित कर रहा होगा, परिणामके किसी भावी वानेके लिये कर्मका सूत कात रहा होगा। तब वह सर्वान्तरात्मा ही प्रवर्त्तक होगा, कर्मकी शक्तिका धारयिता होगा, परिणामकी वापस आती शक्तिको ग्रहण और नि शेष करेगा या आगेके उपयोगोके लिये फिरसे हाथमे लेगा। वह ये सारी चीजे अपनी सत्ताके उसी वैयक्तिक मुखौटे द्वारा करे, इसपर कोई मूल तत्त्वकी वात निर्भर नही करेगी। कारण, व्यक्ति केवल सर्वान्तरात्माका एक दीर्घीकृत क्षण होगा, और उसने अपनी सत्ताके उस क्षणमे जिसे हम 'हम' का नाम देते हैं जिसका सूत्रपात किया होगा, वह अपने परिणामको उसी सत्ताके किसी ऐसे अन्य क्षणपर वहुत अच्छी तरह उत्पन्न कर सकेगा जो हमारे अहके दृष्टिकोणसे हमसे सर्वथा भिन्न और असम्वन्ध व्यक्ति होगा। परिणामगत फल या कष्टकी इस प्रतीयमानत प्राति-निधिक प्राप्तिमे कोई अन्याय नही होगा, अयुक्तता नही होगी, क्योकि मुखौटा यदि सप्राण हो और कष्ट पाता हो तो भी उस मुखौटेको इन चीजोसे क्या करना है ? और, वास्तवमे, भौतिक विश्वकी प्रकृतिमे सर्वत्र यह नियम है कि एकके कर्मका परिणाम वहुत सारे दूसरोके जीवनोमे कार्यान्वित होता है, व्यक्तिके कर्मका प्रभाव समुदाय या समष्टिपर पडता है। इस घडी हम जो वो रहे हैं उसकी लुनाई हमारे वादकी आनेवाली सन्तति कई पीढियोतक करती है और तव हम इसे परिवारका कर्म कह सकते हैं। आजके मनुष्य समुदाय या जातिके रूपमे जो सकल्प और कर्म करते हैं, वह उनकी जातिपर आशीर्वाद या तलवार लेकर तव वापस आता है जव कि स्वय वे प्रस्थान कर चुके होगे और सुख या कष्ट पानेको विद्यमान नही होंगे, और इसे हम राष्ट्रका कर्म कह सकते हैं। समूची मानवजातिका भी कर्म होता है, उसने भूतकालमे जो किया है, वह उसकी भावी नियतिको घढेगा, व्यक्ति तो वस मानवीय विचार, इच्छा, स्वभावके अस्थायी एकक ही लगते हैं जो मानवतामे स्थित अन्तरात्माके दवावके अनुसार कार्य

करते और विलुप्त हो जाते हैं, परन्तु जातिका कर्म जिसकी रचनामे उन्होंने सहायता दी है, सदियो, सहस्राब्दियो, युग-युग चलता रहता है।

परन्तु जब हम अपने अन्दर दृष्टि डालते हैं तो देख सकते हैं कि समष्टिके साथ व्यक्तिके इस सम्बन्धका एक भिन्न अर्थ है, इसका अर्थ यह नही होता कि हम सर्वान्तरात्माकी वैश्व सभूतिमे एक कम या अधिक आयुप्राप्त क्षणके अतिरिक्त और कुछ नही यह भी बस एक सतही रूप ही है, हमारी सत्ताका सत्य बहुत सूक्ष्मतर और महत्तर है। कारण, आद्या और शाश्वत सद्वस्तु, आदि और अन्त, ईश्वर, न तो व्यक्तिमे पृथक् है, न वह केवल और एकमात्र एक विश्वदेव, एक विश्वात्मा ही है। वह इस विश्व तथा अन्य विश्वोका शाश्वत व्यक्ति और शाश्वत सर्वान्तरात्मा भी है, और साथ ही वह इन चीजोके अलावा भी बहुत कुछ है। इस विश्वका अन्त हो सकता है परन्तु ईश्वर तब भी रहेगा, और भले ही विश्वका अन्त हो जाय, हमारा अस्तित्व फिर भी ईश्वरके अन्दर रह सकता है, और ये सारे शाश्वत अन्तरात्मा फिर भी उसके अन्दर अस्तित्वमे रहेगे। परन्तु जैसे उसकी सत्ता नित्य है, वैसे ही उसकी सृष्टियोकी क्रमधारा भी नित्य है, यदि किसी एक सृष्टिका अन्त आ जायगा तो केवल यह होगा कि एक दूसरीका आरम्भ हो सकेगा और जो सम्भावना पुरानी सृष्टिमे कार्यान्वित नही हुई थी उसे नयी सृष्टि एक नूतन आरम्भ तथा सूत्रपातसे आगे चलायगी, क्योकि अनन्तकी स्वाभिव्यक्तिका अन्त नही हो सकता। नास्ति अन्तो विस्तरस्यमे। विश्व अपने-आपको वैसे ही हमारे अन्दर पाता है, जैसे हम अपने-आपको विश्वके अन्दर पाते हैं, क्योकि हम उस एक शाश्वत सद्वस्तुके अमुक-अमुक मुखडे हैं, और इस अभिव्यक्तिको कार्यान्वित करनेके लिये व्यक्ति-सत्ताकी भी उतनी आवश्यकता है जितनी विश्व-सत्ताकी, दोनो ही शाश्वतके आत्मावलोकनकी विधियाँ हैं। अभी हम अपने-आपको विश्वमे समाए हुए जीवके रूपमे देख सकते हैं, परन्तु जब हमे आत्म-ज्ञान होता है तब हम विश्वको भी, या तो उसे अपनी वैयक्तिकतामे निहित मानकर सूक्ष्म रूपसे या हम तब जो महान् विश्वभावापन्न आत्मा हो जाते हैं उसमे व्यापक रूपसे, अपने अन्दर समायी हुई वस्तुके रूपमे देखते हैं। ये प्राचीन अनुभूतिके तथ्य हैं, ये पुरानी जानी और कही हुई चीजे हैं, भले ही आधुनिक प्रत्यक्षवादी मनको ये छायावी और अतितात्त्विक लग सकती हैं, क्योकि वह मन वाह्य वस्तुओपर लम्बे समयतक इतनी सूक्ष्मतासे ध्यान करता रहा है कि किसी भी महत्तर आलोकके सामने वह चकाचौध और अन्धा हो जाता है और उसकी परतोके बीचसे देखनेकी क्षमताको धीमे-धीमे ही पुन प्राप्त कर रही है, परन्तु इन सबके बावजूद भी ये बाते सच्ची तो सदा ही रही है और आजके दिन इनका अनुभव हममेसे वह हर कोई भी कर सकता है जो आन्तरिक अनुभवकी

गभीरतम विधिकी ओर मुडनेका चुनाव कर लेता हो। यदि हम हमे दिये गये नये ज्ञानको उसके समूचे रूपमे देखे तो आधुनिक विचार तथा विज्ञान भी इनका खडन नही करते, अपितु हमारे लिये केवल इन वास्तविकताओके बाह्य प्रभावो और क्रियाओको अकित करते हैं, कारण, सदा ही हम अन्तमे यह देखते हैं कि ऊर्जाका नियम और जड-तत्त्वका नियम आत्माके सत्यका प्रतिवाद नही करता, प्रत्युत उसे यहाँ पुनरुत्पन्न करता और प्रभावी बनाता है।

पुनर्जन्मको यदि हम बाहरकी ओरसे, ऊर्जा और प्रक्रियाकी ओरसे देखे तो उसकी आवश्यकता एक ऐसे दृढ और सबल तथ्यपर खडी होती है जो सदा ही सामान्य नियम तथा प्रकारकी व्यापकतापर ऊपरसे आ पडता है और अस्तित्वका सबसे अधिक अन्तरग रहस्य है, यह है व्यक्तिकी अद्वितीयता। और यह अद्वितीयता सर्वत्र है, परन्तु अस्तित्वके निम्नतर प्रदेशोमे केवल गौण तत्त्वके रूपमे प्रकट होती है। हम जैसे-जैसे सोपानक्रममे ऊपर उठते है वह अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट हो उठती है, वह मनमे अभिवर्द्धित होती है और जब हम अध्यात्म-तत्त्वकी वस्तुओपर आते हैं तो विपुल अनुपात प्राप्त करती है। इससे यह सकेत होता लगता है कि इस सार्थक अद्वितीयताका कारण अध्यात्म-तत्त्वकी प्रकृतिसे ही बँधा हुआ है, वह ऐसा कुछ है जिसे अध्यात्म-तत्त्वने अपने अन्दर धृत रखा था और जिसे वह, ज्यो-ज्यो वह भौतिक प्रकृतिमे-से उन्मज्जित होकर आत्म-विवेकमे वर्द्धित होता है, अधिकाधिक प्रकट करता है। सत्ताके नियम आधारमे हम सबके लिये एक हैं, क्योकि सारा अस्तित्व एक ही अस्तित्व है, एक ही अध्यात्म-सत्ता, एक ही आत्मा, एक ही मन, एक ही प्राण, प्रक्रियाकी एक ही ऊर्जा क्रियारत है, एक ही इच्छा और प्रज्ञाने सृष्टिके सारे व्यापारको आयोजित किया है या उसे अपने-आपमेसे विकसित किया है। और फिर भी इस एकतामे एक सतत विविधता होती है जिसे हम पहले सामूहिक विभिन्नताके रूपमे देखते हैं। सर्वत्र एक गोष्ठी-ऊर्जा है, गोष्ठी-प्राण है, गोष्ठी-मन है, और यदि अन्तरात्मा है तो हमारे लिये यह माननेका कारण है कि वह हमारी पकडके लिये चाहे कितना ही छली क्यो न हो, एक गोष्ठी-अन्तरात्मा भी है जो इस सामुदायिक विविधताका आधार और भित्ति है, भले ही कुछ लोग उसे उसका परिणाम कहे। इससे हमे एक गोष्ठी-कर्मका आधार मिलता है। क्योकि गोष्ठी या समूहका अन्तरात्मा अपना पुनर्नवीकरण करता है, दीर्घतर आयु प्राप्त करता है और मनुष्यमे तो अपने स्वरूप और अनुभवको पीढी-पीढी विकसित करता ही है। और कौन जानता है कि उसके किसी एक रूप, किसी समुदाय या राष्ट्रके विघटित हो जानेपर वह अन्य रूपोकी प्रतीक्षा नही करेगा, अन्य रूपोको धारण नही करेगा जिनमे उसकी सत्ताकी इच्छाको, उसकी प्रकृति और मनो-

वृत्तिके प्ररूपको, उसके अनुभव-प्रयत्नको नवजात सामूहिक देहोमे, अन्य युगो या चक्रोमे आगे ले जाया जायगा, लगभग ऐसा कह सकते हैं वही उनमे चला जायगा ? स्वय मानवजातिका यह पृथक् सामूहिक अन्तरात्मा और सामूहिक अस्तित्व है। और इसी सामूहिकतापर कर्मकी सामूहिकता अधिष्ठित होती है, समष्टिका क्रियाकलाप और विकास व्यक्ति तथा समष्टिके लिये कर्मके परिणाम और अनुभव वैसे ही उत्पन्न करता है जैसे व्यक्तिका क्रियाकलाप और विकास दूसरोके लिये, गोष्ठीके लिये, समष्टि-के लिये परिणाम तथा अनुभव उत्पन्न करता है। और व्यक्ति भी है ही, उसे हल्का मानकर शून्य या भ्रम नही कहा जा सकता, वह सत्यत है, जीवन्त है, अद्वितीय है। सामुदायिक अन्तरात्मा-वैविध्य शेष वस्तुओसे ऊपर उठता है, उनका अतिक्रमण करता है, विकासक्रममे पहलेकी अपेक्षा अधिक कुछको, एक नयी चीजको प्रविष्ट करता या बाहर लाता है, नयी शक्तियाँ जोडता है। इसी प्रकार व्यक्ति समुदायसे ऊपर उठता और उसका अतिक्रमण करता है। व्यक्तिमे ही, उसकी उच्चतम ऊँचाइयो-पर ही हमे स्वाभिव्यक्तिकी वह दीप्तिशिखा मिलती है जिसके द्वारा वह एकमेव अपने-आपको प्रकृतिमे पा लेता है।

और प्रश्न यह है, यह होता ही कैसे है ? हम जन्ममे प्रवेश करते हैं, एक पृथक् सत्तामे नहीं, अपितु समष्टिके जीवनमे, और फलत हमे विरासतमे समष्टिके जीवनका विकास मिलता है। दैहिक रूपसे हम एक पीढी द्वारा जन्म लेते हैं जो उसके अभग इतिहासको आगे ले जाना है, सारी भूतकालीन सत्ताकी देह, प्राण और स्थूल मनो-वृत्ति हमारे अन्दर अपनी दीर्घतर स्थायिता पाती है और फलस्वरूप हमे वश-परम्पराके नियमके नीचे आना ही होता है, उपनिषद् कहती है कि पिता अपनी बीजगत ऊर्जासे अपने-आपको पुनर्सृष्ट करता और सन्तानमे पुनरुत्पन्न होता है। परन्तु हम ज्यो ही विकसित होने लगते हैं, एक नया, एक स्वतन्त्र और दबग तत्त्व प्रवेश करता है, वह तत्त्व हमारे माता-पिता नही, हमारी पूर्वज-परम्परा नही, अतीतकी मानव-जाति भी नही, अपितु वह है स्वय "हम", हमारा अपना आत्मा। और यथार्थमे महत्त्वपूर्ण, शिरोमणि, केन्द्रीय तत्त्व यही है। हमारे जीवनमे सबसे अधिक महत्त्वकी चीज हमारी वशपरम्परा नही, उससे हमे केवल हमारा अवसर या विघ्न मिलता है, हमारी अच्छी या बुरी सामग्री मिलती है, और वस्तुत ऐसा नही देखा गया है कि हम सब कुछ उसी स्रोतसे पाते हो। परम महत्त्वकी चीज यह है कि हम अपनी वश-परम्पराका क्या कर रहे हैं, यह नही कि हमारी वशपरम्परा हमारा क्या कर रही है। जगत्का अतीत, भूतकालीन मानव, हमारे पूर्वज हमारे अन्दर विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी स्वय हम अपनी सत्ता, अपने जीवन, अपने कर्मोंके शिल्पी हैं। और फिर, जगत्का, मानव-

जतिका वर्तमान है, यदि हमारे पूर्वज है तो हमारे समकालीन भी हैं, हमारे चारो ओरका जीवन भी हमारे अन्दर प्रवेश करता, हमे नयी सामग्री देता, हमे अपने प्रभावसे घडता, हमारी सत्तापर अपना अपरोक्ष या परोक्ष स्पर्श डालता है। परिवेशकी जिस सत्ता तथा क्रियामे हम हैं और कार्य करते हैं, वह हमपर आक्रमण करती है, हमे परिवर्तित करती है, उसके द्वारा हम अशत. पुनर्सृष्ट होते हैं। परन्तु व्यक्ति यहाँ भी निर्णायिका शक्तिके रूपमे सूक्ष्म और केन्द्रीय रूपसे प्रवेश करता है। परम महत्त्वकी वात यह है कि इस सारे घेरनेवाले और आक्रमणकारी वर्तमानका हम क्या करते हैं, यह नही कि वह हमारा क्या करता है। और वैयक्तिक तथा सर्वसामान्य कर्मकी पारस्परिक क्रियामे, जिसमे दूसरे लोग कारण होते और हमारे जीवनमे प्रभाव उत्पन्न करते और हम कारण होते और उनपर प्रभाव उत्पन्न करते हैं, हम दूसरोके लिये जीते हैं, भले ही हम ऐसा चाहे या नही, और दूसरे लोग हमारे लिये और सबके लिये जीते है। फिर भी हमारी मनोवृत्तिकी केन्द्रीय शक्ति इस दृष्टिसे रगी होती है कि हम अपने लिये जीते हैं और यदि दूसरोके लिये या जगत्के लिये जीते हैं तो केवल इस रूपमे कि वे दूसरे हमारे आत्माके विस्तरणकी तरह, ऐसी वस्तुकी तरह हैं जिसके साथ हम किसी प्रकारके एकत्वमे वँधे हैं। ऐसा लगता है कि हम वह अन्तरात्मा, पुरुष या आत्मा हैं जो सवकी सहायतासे हमारे अतीत और वर्तमानमेसे हमारी भावी सत्ताकी सृष्टि निरन्तर कर रहा है और हम भी अपने चारो ओरके सर्जनात्मक क्रमविकासमे सहायता दे रहे हैं।

तो हममे यह सर्वमहत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र शक्ति क्या है और उसकी आत्मसृष्टि-का आदि और अन्त क्या है? यदि वह उस शारीरिक और प्राणिक वर्तमान तथा अतीतसे स्वतन्त्र कोई वस्तु हो जिससे उसे अपनी इतनी सारी सामग्री मिलती है, तो भी क्या उसका अपना कोई भूत और भविष्य नही? क्या वह कोई ऐसी वस्तु है जो हमारे जन्मके समय सर्वात्मामेसे अकस्मात् उन्मज्जित होती और मारी मृत्युके समय अवसान पाती है? उसका आत्म-सृष्टिके लिये, केवल अपने क्षणिक वर्तमान और जातिके भविष्यके लिये नही, वरन् अपने लिये, अपने भविष्यके लिये अपने-आपका कुछ वना डालनेके लिये जो आग्रह है क्या वह व्यर्थकी धुन ही, परजीवी घोर भूल ही है? यदि ऐसा हो तो हमे जगत्-सत्ताका जो नियम दिखायी देता है उसका पूरा प्रत्याख्यान होगा, यह वात हमारे जीवनको चीजोके ढाँचेके साथ किसी महत्तर सगतिमे नहीं ला वैठायगी, अपितु एक अनोखे तत्त्वको प्रविष्ट करेगी और व्यापक तत्त्वके सम्वन्धमे एक असगति लायगी। यह अनुमान वुद्धिसगत होगा कि शारीरिक तथा प्राणिक विकासक्रमपर ऊपरसे आ पडनेवाला और उसपर क्रिया करनेवाला यह सवल और

स्वतन्त्र तत्त्व भूतकालमे था और भविष्यमे भी रहेगा। यह अनुमान भी बुद्धिसगत होगा कि वह किसी असवद्ध अस्तित्वमेमे अकस्मात् प्रवेश नही कर गया और न ही वह एक सक्षिप्त हस्तक्षेपके वाद कूच कर जाता है, जगत्के जीवनके साथ उसका घनिष्ठ सम्वन्ध वल्कि एक लम्वे भूतकालीन मम्वन्धका जारी रखना है। और इमसे तुरत ही भूतकालके जन्म और कर्मकी सारी आवश्यकताका प्रवेश होता है। हम स्थायी सत्ता हैं और जगत्की स्थायी सत्ताके अन्दर रहकर अपने क्रमविकासमे लगे हुए हैं। हमने अपने मानव-जन्मको विकसित किया है और हम मानव-विकासक्रममे निरन्तर सहायता देते हैं। अपने अतीतके कर्म द्वारा हमने अपनी अवस्थाओकी और दूसरोके जीवनके साथ अपने सम्वन्धोकी और सर्वसामान्य कर्मकी रचना की है। वही हमारी वशपरम्पराको, हमारे परिवेश, हमारी रुचियो, हमारे सम्वन्धो, हमारी सामग्री, हमारे सुयोगो और विघ्नोको, हमारे पूर्वनियत सामर्थ्यो और परिणामोके एक भागको घढता है,—ये स्वेच्छाचारितासे पूर्वनियत नही होते, प्रत्युत हमारी ही प्रकृतिकी भूमिका और विगत कर्म द्वारा पूर्वनिर्धारित होते है – और इसी आधारित कृतिपर हम नये कर्मका निर्माण करते और अपनी प्राकृतिक सत्ताके वलको अधिक सशक्त या मूक्ष्म वनाते, अनुभवकी वृद्धि करते, अपने आन्तरात्मिक विकासक्रमको आगे वढाते है। यह प्रक्रिया वैश्व विकासक्रमके साथ वुनी-गुँथी है और उमकी सारी रेखाएँ मत्ताके जालमे ममाविष्ट हैं, परन्तु यह उमका केवल कोई वाहर निकला हुआ विन्दु या क्षण या वस्तुमे भरी गयी तुच्छ टँगनी ही नही है। हमारे अभिव्यक्त आत्मा और विश्वव्यापी सत्ताके इतिहासमे पुनर्जन्मका अर्थ यही है।

इसके विपरीत पुनर्जन्मकी प्राचीन धारणा अतिशय व्यक्तिवादकी भूल करती है। अति स्व-केन्द्रित रहकर उसने व्यक्तिके पुनर्जन्म तथा कर्मको अत्यधिक मात्रामे अपना एकल व्यवसाय, ममग्रके अन्दर एक तीक्ष्ण रूपसे पृथक् गतिधारा मान लिया, उसने व्यक्तिकी अपने ही विपयकी रुचिका अत्यधिक सहारा लिया और उसने जव वैश्व सम्वन्धोको और समग्रके माथके एकत्वको स्वीकार किया भी तो उसने मनुष्यको जीवनको इस रूपमे देखना सिखाया कि वह प्रमुखतया उसके अपने आध्यात्मिक लाभ और पृथक् मोक्षके लिये एक दशा और साधन है। इम धारणाका उद्गम है विश्वके विपयमे इस-दृष्टिमे कि विश्व ऐसी गतिधारा है जो परेकी वस्तुमेसे, एक ऐसी वस्तुमेसे आती है जिसमेसे प्रत्येक सत्ता जीवनमे प्रवेश करती है और उसमेसे वापस अपने मूलमे चली जाती है, और इस निमग्नकारी भावमें कि वह वापस जाना ही एकमात्र सार्थक वस्तु है। इस प्रकार देखनेपर, जगत्मे हमारी सत्ता अन्तमे अध्यात्म-पुरुषकी अपरिवर्तन-शील नित्यतामे एक उपाख्यानके रूपमे, और सक्षेपमे और सार-रूपमे, एक असुखद

और अकीर्त्तिकर उपाख्यानके रूपमे मानी जाने लगी। परन्तु यह दृष्टि 'अध्यात्म-पुरुष' की जीवनगत इच्छा और विधाओके विषयमे अति सक्षिप्त दृष्टि थी। यह निश्चित है कि हम जवतक यहाँ हैं, हमारा पुनर्जन्म या कर्म जब अपनी निजी रेखाओपर चलता है तव भी वह वैश्व जीवनकी उन्ही रेखाओके साथ घनिष्ठ रूपसे एक रहता है। परन्तु हमारा आत्म-ज्ञान तथा आत्म-प्राप्ति भी अन्य जीवन तथा अन्य भूतोके साथके हमारे एकत्वको नष्ट नही करते। अन्तरग विश्वात्मकता आध्यात्मिक पूर्णताकी महिमाका अग है। विश्वात्मकताका यह भाव, केवल ईश्वरके साथ या हमारे अन्दरके शाश्वत आत्माके साथ ही नही, सकल मानवजाति और अन्य प्राणियोके साथ भी एकत्वका भाव, हमारे मनमे सबसे अधिक प्रधान सुर होनेकी ओर वढ रहा है और उसे पुनर्जन्म तथा कर्मके सार्थक्यकी किसी भी भावी धारणा या गणनामे अधिक व्यापक रूपसे विचारमे लेना होगा। इसे प्राचीन कालमे स्वीकार किया गया था और वौद्धोका करुणाधर्म इसके महत्त्वकी मान्यता भी था, परन्तु सामान्य सार्थक्यके अन्दर इसके एक और भी व्यापक वलको मानना होगा।

जगत्मे 'अध्यात्म-पुरुष' का आत्म-ससाधन वह सत्य है जिसपर हम अधिष्ठित होते हैं और यह आत्म-ससाधन कालमे एक महती, एक लम्वी आत्म-वयन है। पुनर्जन्म व्यक्तिमे उसी आत्म-ससाधनकी अविच्छिन्नता, उसी धागेका टिके रहना है, कर्म भौतिक जगत्मे उसकी प्रक्रिया है, उसकी एक शक्ति है, ऊर्जा और परिणामकी कृति है, भौतिक जगत् निरन्तर जिस आन्तरात्मिक विकासक्रमका रगमच है उसमे एक क्रिया और मानसिक, नैतिक, सक्रिय परिणाम है। इस विषयमे मुख्य परिकल्पना यही है, वाकी जो रह जाता है वह प्रश्न है सामान्य और विशेष नियमोका, उस विधिका जिससे कर्म जन्म तथा जीवनमें 'अध्यात्म-पुरुष' के उद्देश्यको कार्यान्वित करता और सहायता देता है। और वे नियम तथा विधियाँ जो कुछ भी हो, वे अवश्य ही इस आध्यात्मिक आत्म-ससाधनके लिये उपयोगी होगे और अपना सारा अर्थ तथा मूल्य उसीसे प्राप्त करेंगे। अध्यात्म-पुरुषके लिये नियम एक साधन है, एक क्रिया-धारा है; नियमका अस्तित्व नियमके ही लिये नही है, न किसी अमूर्त्त भावकी सेवाके लिये ही। भाव और क्रियानियम अन्तरात्माके अस्तित्व-क्रममे उसकी प्रगतिके लिये केवल दिशा और मार्ग हैं।

बारह

कर्म और न्याय

कर्मकी रेखाएँ क्या हैं ? अन्तरात्मा, उसकी इच्छा और परिणाम-विकासकी इस ऊर्जाकी आन्तरिक प्रकृति और सक्रिय नियम क्या हैं ? यह प्रश्न यह पूछना है कि हमारे अस्तित्वका क्रियागत अर्थ यहाँ क्या रूप लेता है और उसकी विकसित होती आत्म-सृष्टि तथा क्रियाके निर्देशक घुमाव क्या हैं। और ऐसे प्रश्नका उत्तर किसी ऐसी सकीर्ण भावनासे या किसी ऐसी एकल धारणाके नीचे आकर नही देना चाहिये जिसमे प्रकृतिके इस सूक्ष्म जगत्की वहुमुखता और समृद्ध जटिलताको विचारके अन्तर्गत नही लिया गया हो। कर्मका नियम अनम्य और यान्त्रिक नियम या आसान व्यवहारसिद्ध नियम नही हो सकता, वरन् उसके निर्देशक तत्त्वको स्वय अध्यात्म-तत्त्वकी तरह सुनम्य और सामंजस्यपूर्ण नादप्रणेता जैसा होना चाहिये जिसकी आत्म-ज्ञानकी इच्छाको वह मूर्त्त करता है, और उसे परिवर्तनशील वैयक्तिक अन्तरात्माओके आत्म-विकासकी आवश्यकताके अनुकूल वनना चाहिये जो अपनी क्रियाओके सही सन्तुलन, समन्वय, स्वर-सगतिकी ओर अपनी राहको उसकी रेखाओके किनारे-किनारे टटोलते चल रहे हैं। कर्मविधानका कारण मनमे नही, अध्यात्म-तत्त्वमे है, अत वह हमारी सीमित औसत मानवीय वुद्धिका वैश्व प्रतिविम्व नही हो सकता, वल्कि उसे एक महत्तर आध्यात्मिक वुद्धिमत्ताका नियम, एक ऐसा नियम होना चाहिये जो उसकी सारी मूक गुह्य प्रतीतियोके पीछे हमारी समग्र पूर्णताकी ओर एक समझ-भरे नेतृत्व और सूक्ष्म व्यवस्थाको मूर्त करता हो।

कर्म-विधानकी सामान्य प्रचलित धारणा प्रमुखतया नैतिक है, परन्तु वहुत उन्नीत प्रकारसे नैतिक नहीं । कर्मके विपयमे उसकी धारणा यान्त्रिक और भौतिक-वादी नैतिकता है, पारितोषिक और दण्डका ठीक-ठीक परन्तु अपरिष्कृत कानूनी निर्णय और सचालन है, पुण्यके समर्थन और पापके निपेधके लिये एक वाह्य अनुशासन, एक सहिता, एक सन्तुलन है। इसके पीछे भाव यह रहता है कि अवश्य ही कोई ऐसा न्याय होगा जो धरतीपर सुख और दु खके दिये जानेको शासित कर रहा है, मनुष्यकी समझमे आनेवाली एक साम्या है जिसका प्रतिनिधित्व कर्मका विधान करता है और जिसका सूत्र हमे इस विधानमे मिलता है। हमने इतना सारा शुभ कार्य, पुण्य किया है, यह हमारी पूँजी है, हमारा सग्रह और वची राशि है। हमे इसका भुगतान

समृद्धिकी इतनी सारी मुद्रामे, इस प्रभुताशालिनी और दिव्य थेमिस[1] की वैध मुद्रामे मिलना ही चाहिये, नही तो भला हम शुभ कृत्य करे ही क्यो ? हमने इतनी सारी वुराई की है, वह भी हमे इतने सारे ठीक-ठीक और सही-सही दण्ड और दुर्भाग्यके रूपमे वापस मिलनी ही चाहिये। इतना सारा वाह्य कष्ट अवश्य ही मिलेगा या वाह्य घटना और दवावसे उत्पन्न आन्तरिक कष्ट मिलेगा, क्योकि यदि वह स्थूल रूपसे अनुभव किया जाने और दिखायी देनेवाला अनिवार्य परिणाम न हो तो प्रतिशोध लेनेवाला न्याय कहाँ होगा और हमे प्रकृतिमे बुराईका निवारण करनेवाली शास्ति कहाँ मिलेगी ? और यह निर्णय सही न्यायाधीशका, सख्त शासकका, अच्छेके लिये अच्छाई और वुरेके लिये वुराईके ईमानदार सौदागरका है जिसने ईसाई या बौद्ध मतके आदर्श नियमको न तो कुछ भी सीखा है और न कभी कुछ भी सीखेगा ही, जिसके रक्तमे दया या करुणा नही है, पापके लिये क्षमा नही है, परन्तु जो कठोरतासे एक सनातन मूसा-सहिताको, "आँखके वदले आँख", "दाँतके वदले दाँत", "जैसेको तैसा" के एक धीमे या द्रुत, परन्तु सर्वदा स्थिर और निर्मम रहनेवाले ठीक-ठीक प्रतिकारके परिपूर्ण सिद्धान्तको पकडे रखता है।

यह व्यापारिक और गणितिक लेखापाल कभी-कभी आश्चर्यकारी सही रूपसे कार्य करता माना जाता है। उस दिन एक विलक्षण कहानी प्रकाशित हुई थी और उसे एक समकालीन घटनाका विवरण बताया गया था। कहानी एक धनी मनुष्यकी थी जिसने हिंस्र साधनोसे दूसरेकी सम्पत्ति छीन ली थी। इस विवरणमे पीडित व्यक्ति उत्पीडकका पुत्र वनकर जन्म लेता है और एक साघातिक रोगकी उन्मादावस्थामे प्रकट करता है कि उसने अपने भूतकालमे उत्पीडक और वर्तमान पिताको उसपर खर्च करनेको वाध्य किया है और इस प्रकार वर्तमान पिताने पहले छीनी गयी जायदाद-के जितना धन खो दिया है, परन्तु उसमे अभी भी एक राशि घटती है, परन्तु वह राशि अव दूसरे प्रकारसे चुकानी है,—ऋण चुका दिया जाता है और आखिरी पाई खर्च होते ही पुनर्जन्ममे आया जीव कूच कर जाता है, क्योकि उसके जन्म लेनेके एकमात्र कारणकी तुष्टि हो जाती है, हिसाव वरावर हो जाता है और कर्म-देवता तृप्त हो जाता है। इसमे कर्मकी यान्त्रिक कल्पना अपनी सतुष्ट परिशुद्धताकी चोटीपर पहुँच जाती है। साथ ही, जन-मानस परलोकके जीवनकी भावनाको पुनर्जन्मकी धारणाके साथ जोडनेके प्रयत्नमे पुण्यके लिये दुहरे पारितोपिककी और उल्लघनके लिये दुहरे दण्डकी कल्पना करता है। अपने शुभ कृत्योके लिये हमे मृत्युके वाद तव तक पुरस्कार मिलता है जव तक कि हमारे पुण्यका क्रियागत मूल्य नि शेप न हो जाय और तव हम पुनर्जन्ममे आते और पृथ्वीपर पुन भौतिक रूपमे पारितोपिक पाते हैं। नरकमे हमे अपने पाप-

[1] विधान और न्यायकी देवी। (अनु०)

के बराबर दण्ड मिलता है और शरीरमे अन्य जीवनमे हम पुन दण्डित होते है। यह न्याय कुछ अनावश्यक, बल्कि अतिरिक्त वस्तु जैसा दिखायी देता है, और यथातथ्य लेखापाल भी बहुत कुछ अमर्यादित शत प्रतिशत सूदखोर जैसा हो जाता है। शायद यह कहा जा सकता है कि परलोकमे कष्टका भोक्ता होता है अन्तरात्मा,—शुद्धिके लिये, और इस लोकमे कष्टका भोक्ता होता है शारीरिक जीव,—जीवनकी शक्तियो और वस्तुओकी सममितताको दी गयी रियायतके रूपमे, परन्तु फिर भी यह अन्तरात्मा ही होता है जो अपने सूक्ष्म अनुभवमे और अपने भौतिक रूपधारणमे दो बार भुगतान चुकाता है।

हमारी प्रकृतिके जो धागे इस स्वाभाविक किन्तु शायद ही दार्शनिक रहती धारणामे मिश्रित हो जाते हैं, उन्हे इन विचारोका सही मूल्य जान सकनेके पहले सुलझाना होगा। उनका पहला हेतु नैतिक प्रतीत होता है, क्योकि न्याय नैतिक भावना है, किन्तु सच्ची नैतिकता है धर्म, उच्चतर प्रकृतिका सम्यक् निष्पादन और क्रियान्वयन, और सम्यक कर्मका सम्यक् हेतु रहना चाहिये, और सच्ची नैनिकताका अपना आधार रहना चाहिये, उसे लोभ और मदकी वैसाखियोपर लँगडाते नही चलना है। जो ठीक है उसे स्वय उसके लिए करना सत्यत नैतिक है और यह विकसित होते आत्माको उदात्त करता है, जो ठीक है उसे भौतिक पारितोषिककी लालसामे या जल्लादकी प्रतिशोधकी पिटाई या न्यायाधीशके दण्डके डरसे करना क्षण विशेपके लिए बहुत ही व्यावहारिक और उपयोगी हो सकता है, किन्तु यह किसी भी मात्रामे नैतिक नही होता, बल्कि मनुष्यके अन्तरात्माको नीचे गिराना होता है, या, कमसे कम, यह सिद्धान्त मनुष्यकी निम्नतर पशु-जैसी और अनाध्यात्मिक प्रकृतिको दी गयी रियायत होना है। किन्तु प्राकृत मनुष्यमे, उच्चतर धर्मसे पहले उत्पन्न होनेवाली और अधिक सबल तथा स्वाभाविक कर्म-प्रेरकके रूपमे दो अन्य बहुत ही हठी चीजे आती हैं, काम और अर्थ, भोगकी कामना और सुख, उनके साथ उसका अनुरूपी कष्ट-भय, और स्वत्व, अर्जन तथा सफलताका आकर्षण, साथमे अभाव और विफलताका अनुपूरक कष्ट, और यही चीज सामान्य वर्बर या अभी भी अर्द्ध-वर्बर रहते प्राकृत मनुष्यको अत्यधिक प्रधानतासे शासित करती है। यदि उसे अपने काम और अर्थकी घनी लगनको नैतिक मानदण्डके अनुरूप करना है तो उसके लिये यह आवश्यक है, और यह आवश्यकता अल्प मात्रामे ही नही है, कि पुण्यका फल उसकी अर्थ और सुखकी प्राप्तिके साथ, और पापका फल भौतिक या प्राणिक क्षेत्रकी काम्य वस्तुओकी किसी हानि और मानसिक, प्राणिक या शारीरिक वेदनाके किसी दण्डके साथ दृढतासे सम्बद्ध या एकात्म हो। मानवीय नियम इसी सिद्धान्तपर बढता है, वह अधिक स्थूल और अधिक स्पष्ट अपराधो-

के सामने दण्ड देनेवाले और प्रतिशोध लेनेवाले कष्ट या हानिको रखता है और दूसरी ओर, व्यक्तिको कुछ परिमाणमे यह आश्वासन देता है कि यदि वह विधिगत नियमका पालन करेगा तो उसके वैध सुख तथा अर्थकी प्राप्ति सुरक्षित है। कर्मका प्रचलित सिद्धान्त विश्व-विधानसे यह आशा करता है कि वह मनुष्यके साथ मनुष्यके ही सिद्धान्तानुसार व्यवहार करेगा और ठीक उसी चीजको एक बहुत अधिक कडी और बहुत अधिक अमोचन दृढता और परिणामकी स्वत चालित अवश्यम्भाविताके साथ प्रयुक्त करेगा।

अत यदि इस दृष्टिकोणको मान्य रखना है तो वैश्व सत्-पुरुष अवश्य ही एक प्रकारका परिवर्द्धित दिव्य 'मानव' या, कह सकते हैं, श्रेष्ठतर मानवाकार भगवान् होगा या, फिर, विश्वविधान मानवीय पद्धतियो तथा मानकोकी पूर्णता और विशालता होगा, वह मनुष्यके साथ वैसा व्यवहार करेगा जैसा कि मनुष्य अपने पडोसीके साथ करनेका आदी है,— केवल इतना है कि वह अपरिष्कृत और आशिक मानवीय निपुणतासे कार्य नही करता , प्रत्युत उसमे या तो निश्चित सर्वज्ञता या अचूक स्वत क्रिया रहती है। इस धारणाके पीछे जो भी सत्य हो, यह सम्भावना नही हैं कि यह इस विषयका पर्याप्त विवरण हो। यदि हम पुनर्जन्मके सिद्धान्तको अलग रख भी दे तो भी वास्तविक जीवनमे इस पद्धतिके चिह्न मिलते हैं , परन्तु वह किसी दृश्यमान् सगतिके साथ क्रियान्वित नहीं होती,—यदि हम एक असन्तोषप्रद और शायद ही न्याय रहनेवाले प्रातिनिधिक दण्डको इस योजनाका अग मान ले तब भी नही। और पुनर्जन्ममे उसका कार्यान्वयन अधिक अच्छी तरह या निर्दोष रूपसे होगा, इसके निश्चयके लिए कुछ वैसे ही आशिक चिह्नो और सकेतोके अलावा और रिक्त स्थलोकी पूर्त्तिके लिये वस्तुओकी उपयुक्तताके विषयमे हमारे सामान्य बोधके अलावा हमे क्या मिलेगा? और फिर, नैतिकताका सच्चा स्वरूप इस योजनाके अन्दर कहाँ आता है? लगभग ऐसा लगेगा कि वह अधिक उन्नीत क्रिया एक आदर्श गतिधारा है जिसका जीवनके व्यावहारिक शासनके लिये कम उपयोग हैं, मनुष्यकी जो चौथी और अन्तिम आवश्यकता है, आध्यात्मिक मोक्षकी आवश्यकता, उसकी तैयारीके अग-रूपमे उसका अधिक उपयोग है, और यह मोक्ष हमारे कर्मको पूरा निपटा देता है और जीवनके स्वय विचार तथा इच्छाके साथ-साथ इस व्यवस्थाको भी उडा देता है। कामना जीवन और क्रियाका नियम है, अतएव कर्मका भी। भौतिक स्तरसे ऊपर चीजोको केवल उनके लिये और उनके विशुद्ध ऋतत्व या विशुद्ध आनन्दके लिये करना सीधे सुदूर स्वर्गलोकोकी ओर या अनिर्वचनीयकी नीरवताकी ओर दौड जाना है। परन्तु अस्तित्वके अर्थके बारेमे यह ऐसी दृष्टि है जिसपर मनुष्यके उच्चतर द्रष्टा मन और पुरुष द्वारा प्रतिवाद करने और यह प्रश्न करनेका समय आ गया है कि क्या जगत्मे आत्माकी विधाओका अधिक

महान्, उदात्त और बुद्धियुक्त सार्थक्य नही हो सकता।

परन्तु फिर भी, चूँकि मनुष्यका मन विश्वमनका अग है और देखनेकी चाहे कितनी ही टूटी या अभी तक अपूर्ण और टेढी रीतिसे क्यो न हो वह उसके किसी भागको प्रतिविम्वित करता है, अत यथार्थ सत्यका कुछ अश इस दृष्टिके पीछे भली भाँति हो सकता है, जव कि साथ ही यह सम्भावना नही कि वह समूचा या अच्छी तरह समझा गया सत्य हो। विश्वक्रियाके कुछ निश्चित या सम्भाव्य नियम हैं जो उससे सम्बद्ध हैं और गणनामे अवश्य ही आयेंगे। प्रथमत यह निश्चित है कि प्रकृतिके ऐसे नियम हैं जिनका पालन मगलकी ओर ले जाता या सहायक होता है और जिनके उल्लघनसे कष्ट आ पडता है, परन्तु उन सभीको नैतिक अर्थवत्ता नही दी जा सकती। फिर, यह निश्चिति है कि प्रकृतिके बुने हुए समूचे जालमे कारण और परिणामका नैतिक नियम अवश्य होगा और इसे हम आजकल शायद इस सिद्धान्तके अन्दर वैठायेंगे कि शुभ शुभको उत्पन्न करता है और अशुभ अशुभको, इस प्रतिपादनाकी सत्यता नि सन्दिग्ध है, किन्तु हम इस सश्लिष्ट जगत्मे यह भी देखते हैं कि जिसे हम अच्छा मानते है उसमेसे बुराई निकल आती है, और फिर, वुरेमेसे ऐसा कुछ निकल आता है जो फिर भी अच्छा प्रमाणित हो। शायद हमारी मूल्याकन-प्रणाली अति अनम्य रूपसे सुनिश्चित या अति सकीर्ण रूपसे सापेक्षिक है, समग्र योजनाके अन्दर सूक्ष्म वस्तुएँ होती है, मिश्रण, पारस्परिक सम्बन्ध, विपरीत धाराऐं, दमित या प्रच्छन्न सार्थक्य रहते हैं जिन्हे हम गणनामे नही लेते। वह सिद्धान्त सत्य है, परन्तु सम्पूर्ण सत्य नही, वह अन्तत अपने उस रूपमे तो सम्पूर्ण सत्य नही है जिसमे उसे अभी उसकी प्रथम सतही अर्थवत्तामे समझा जाता है।

और, जो कुछ भी हो, कर्मकी सामान्य धारणामे हम शुभकी दो विभिन्न धारणाओ-को सयुक्त कर देते हैं। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि नैतिक अच्छाई नैतिक अच्छाईकी उत्पत्ति या वृद्धि करती है या उसे ऐसा करना चाहिये, और नैतिक बुराईको नैतिक बुराईकी सृष्टि और वृद्धि करनी चाहिये। ऐसा वह स्वय हममे करती है। प्रेमका अभ्यास हमारी प्रेम-क्षमताको दृढ करता और वढाता है, वह हमारी सत्ताको शुद्ध करता और उसे विश्व-शुभकी ओर खोलता है। इसके विपरीत घृणाका अभ्यास हमारी सत्ताको भ्रष्ट करता, उसे विष और बुरी तथा अस्वस्थ विषाक्त सामग्रीसे भरता और बुराईकी सर्वसामान्य शक्तिकी ओर खोलता है। हमारे प्रेमको भी विस्तार या प्रतिदानके नाते दूसरोमे प्रेमका उदय करना चाहिये और हमारी घृणाको घृणा उत्पन्न करना चाहिये, ऐसा एक विशेष दूरीतक, बहुत दूरीतक होता है, परन्तु यह आवश्यक नही कि यह अपरिवर्तनीय या अटल परिणाम हो, ऐसा है भी नही, फिर

भी हम अच्छी तरह देख सकते और विश्वास कर सकते है कि प्रेम विस्तृत होती तरगे फेकता ही है और जगत्को ऊपर उठानेमे सहायक होता है जब कि घृणाका परिणाम विपरीत होता है। परन्तु एक ओर इस अच्छे और बुरे और दूसरी ओर सुख और कष्टके बीच कौनसा आवश्यक सम्बन्ध है? क्या नैतिक शक्ति सदा ही अविकल रूपसे किसी प्रकारके सजातीय सुखात्मक परिणामकी भाषामे परिणत होगी? सम्पूर्णतया नही, क्योकि प्रेम अपने-आपमे आनन्द है, परन्तु यह भी है कि प्रेम कष्ट भी पाता है, घृणा एक विक्षुब्ध और आत्म-पीडक वस्तु है, परन्तु उसमे अपना विकृत आनन्द और अपनी तुष्टियाँ हैं, किन्तु अन्तमे हम कह सकते हैं कि प्रेम चूँकि विश्वानन्द-से उत्पन्न हुआ है, अत वह अपने स्वभावमे विजयी होता है और घृणा चूँकि उसका निषेध या विकृति है, अत जैसे दूसरोको वैसे ही हमे भी वह कष्टकी अधिक बडी राशिकी ओर ले जाती है। और सारी नैतिक अच्छाई और यथार्थ बुराईके बारेमे यह कहा जा सकता है कि एक तो ले जाती है वैदिक ऋषियोके ऋतम्की ओर, परम ऋतकी ओर, हमारी सत्ताके उच्चतम नियमकी ओर, और वह सत्य ही अध्यात्म-सत्ताके आनन्दका द्वार है, उसका आनन्दमय स्वरूप है, दूसरी है ऋत तथा सत्यका अभाव या विकृति और वह हमे ऋत तथा सत्यके विपरीत तत्त्वकी ओर, मिथ्या आनन्द या कष्टकी ओर खोल देती है। और इस तादात्म्यके किसी प्रतिबिम्बको जीवनके जटिल ढगोमे भी प्रकट होना ही चाहिये।

यह सारूप्यता, फिर भी, आन्तरिक क्षेत्रमे, अच्छाई या बुराई या उसकी बहिर्गामिनी क्रियाके परिणामोके आध्यात्मिक, मानसिक और भावावेगात्मक फल तथा प्रतिक्रियामे तत्त्वत अधिक सच होती है। परन्तु जीवनकी नैतिक और अधिक प्राणिक तथा शारीरिक सुखवादिनी शक्तियोके बीच सारूप्यताकी दृढ कडी कहाँ है? हमारी नैतिक अच्छाई हमारी ओर सौभाग्यकी मुस्कानमे, वैभवके किरीटमे, सुघड भौतिक कल्याण और सुखमे और हमारी नैतिक बुराई दुर्भाग्यकी भृकुटिमे, विपदाकी कठोरतामे, हीन भौतिक अमगल और कष्टमे कैसे बदल जाती है?—कारण, मनुष्यका कामना-पुरुष और उसके द्वारा शासित बुद्धि इसीकी तो माँग करते लगते है। और, अच्छाईको स्वीकार और अस्वीकार करनेवाली इन दो बहुत ही भिन्न ऊर्जाओके बीच हिसाबका निपटारा या तत्त्वान्तरण कैसे होता है? हम इतना तो देख सकते हैं कि हमारे अन्दरकी अच्छाई या बुराई अच्छे या बुरे कार्यमे अनूदित होती है जो अन्य बातोके अलावा दूसरोके लिये बहुत सारा मानसिक और भौतिक सुख तथा कष्ट उत्पन्न करता है, और इस बाहर जाती शक्ति और प्रभावशालिताके समान प्रतिक्रिया-रूपमे अन्दर आती शक्ति और प्रभावशालिता होनी ही चाहिये, भले ही उसका क्रियान्वयन तत्काल

ही या सारूप्यताके किसी द्रष्टव्य याथातथ्यके साथ होता नही लगता। टकराकर लौट आनेका सिद्धान्त प्रकृतिमे फिर भी दिखायी देता है, हमारे कार्यमे धडाकेकी प्रतिक्षेप-गति कुछ मात्रामे रहती ही है और जिस इच्छाने उसे जगत्पर फेका था उसकी ओर उसका वापस चक्रावर्तन होता है। जिस पत्थरको हम वैश्व प्राणपर उद्धततासे फेकते हैं वह हमपर वापस फेका जाता है और वह हमारी अपनी मानसिक तथा शारीरिक सत्ताको कुचल सकता है, विकलाग या क्षत कर सकता है। परन्तु यह यान्त्रिक रूपसे टकराकर लौट आना कर्मका सारा सिद्धान्त नही। और, कर्म अपनी समूची अर्थवत्तामे मिश्रित नैतिक-सुखात्मक व्यवस्था मात्र भी नही, क्योकि हमारी चेतना तथा सत्ताकी अन्य शक्तियाँ भी अन्दर रहती हैं। फिर, वह कोरी यान्त्रिकता भी नही जिसके चलनेका आरम्भ हम अपनी इच्छा द्वारा करते हो और तब हमे नि सहाय होकर जिसका परिणाम स्वीकार करना होता हो,क्योकि जिस इच्छाने उस प्रभावको उत्पन्न किया था वह उसे बदलनेके लिये भी हस्तक्षेप कर सकती है। और, सबसे बडी बात यह है कि आरम्भ-कारिणी और ग्रहणकारिणी चेतना प्रतिक्रियाके मूल्यो और उपयोगोको बदल सकती और जीवनको प्रकृतिके कठोर नियमकी मूक नियतिमे शरीरधारी आधे अन्धे नटको भाग्य-निर्दिष्ट प्रतिदान या प्रतिफल देनेवाली इस स्वचालित यान्त्रिकतासे भिन्न वस्तु बना सकती है।

कर्मके साथ हमारी चेतना तथा इच्छाका सम्बन्ध ही वह वस्तु है जिसपर कार्य और परिणामकी सारी सूक्ष्मतर रेखाएँ अवश्यमेव निर्भर करेगी, उस सम्बन्धको ही समूचे सार्थक्यका सन्धिस्थल होना चाहिये। निम्नतर सुखात्मक मूल्यो, भौतिक, प्राणिक और निम्नतर मानसिक सुख, दु ख और कृष्टकी व्यवस्थापर नैतिक मूल्योके अनुसरणकी निर्भरता हमारी सामान्य चेतना तथा इच्छाके लिये बहुत ही आकर्षक होती है, परन्तु हम ज्यो-ज्यो अपनी सत्ताकी उच्चतर ऊँचाइयोकी ओर बढते हैं उसकी एक गौण शक्ति ही रह जाती है और अन्तमे सारी शक्ति चली जाती है। अत वह निर्भरता कर्मका समूचा या अन्तिम बल या उसका निर्देशक मानक नही हो सकती। कर्म और परिणामके साथ इच्छाके सम्बन्धको अधिक सूक्ष्म तथा उदार रेखाओपर घडना होगा। विश्वव्यापी अध्यात्म-पुरुषका कर्मके विधानमे मनुष्योके साथ मूल्योके निम्नतर स्तरमे जो व्यवहार होगा वह उस व्यापारके केवल अग-रूपमे और मनुष्यके वर्तमान उद्देश्योको दी गयी रियायतके रूपमे होगा। ये मूल्य मनुष्यके ही लगाये हुए है, मनुष्य सुख और समृद्धिकी माँग उपस्थित करता है और उनकी विपरीत वस्तुओसे भय खाता है, वह स्वर्गकी जितनी कामना करता है उतना पुण्यसे प्रेम नही करता, नरकसे जितना डरता है पापसे उतनी घृणा नही करता, और उसके ऐसा करनेसे

जगत्-व्यवस्था भी उसके लिये वही अर्थ और रंग धारण कर लेती है। परन्तु जीवनका आन्तर पुरुष केवल विधायक और न्यायाधीश नही है जिसका कार्य कानूनी न्यायके मानकको सरक्षित रखना, निवारिका शास्ति और पुरस्कार, पारितोषिक और दण्ड, नर्ककी प्रचण्ड वेदनाएँ और स्वर्गके अनुग्रहपूर्ण भोग वितरित करना हो। वह जगत्मे स्थित भगवान् है, आध्यात्मिक विकासक्रमका प्रभु और मानवमे विकसित होता देवता है। वह देवता, चाहे कितनी ही धीमी गतिसे क्यो न हो, सुख और कष्टके पुरस्कार-दण्डोपर निर्भर करनेकी अवस्थासे आगे बढता है। सुख और दु ख हमारी आरम्भिक सत्तापर शासन करते हैं और उस आरम्भिक भूमिकामे दु ख प्रकृतिके द्वारा उन वस्तुओ-का विज्ञापन होता है जिनसे हमे बचना चाहिये, सुख प्रकृतिके द्वारा दिया गया उन वस्तुओकी ओर आकर्षण होता है जिनके अनुसरणके लिये वह हमे लुभाना चाहती है। ये उपाय सीमित लक्ष्योके लिये प्रथम व्यावहारिक परीक्षण हैं, परन्तु हम जैसे-जैसे बढते है हम उनके सकीर्णतर उपयोगोसे आगे चले जाते हैं। उच्चतर प्रकृतिकी प्राप्तिके लिये हमे प्रकृतिकी प्राथमिक चेतावनियो और प्रलोभनोकी निरन्तर अवज्ञा करनी होगी। हमे कर्मका अधिक उदात्त आध्यात्मिक विधान विकसित करना होगा।

यदि हम अपनी कर्मण्यताके महत्तर उद्देश्योपर विचार करे तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। हो सकता है कि सत्यके अनुसरणका परिणाम हमारे लिये शास्ति और कष्ट हो, स्वदेश-सेवा अथवा जगत्-सेवा हमसे हमारे बाह्य सुख और सौभाग्यकी क्षति या हमारे शरीरके नाशकी माँग करे, हमारे इच्छाबलकी वृद्धि और आत्माकी महत्ता कष्टकी कठिनाई और सुख तथा भोगके दृढ परित्याग द्वारा ही सम्भव हो। हम फिर भी सत्यका अनुसरण अवश्य करेंगे, हमारे अन्तरात्माने हमसे हमारी जातिकी जिस सेवाकी माँग की है उसे करेगे, हम अपने बल और आन्तरिक महत्ताकी वृद्धि करेंगे, हमे असम्बद्ध पुरस्कारकी चाह ही नहीं होगी, हम न तो शास्तिसे बचना चाहेगे, न अपने श्रमके ठीक-ठीक फलके लिये सौदा करेंगे। और जो वर्तमान जीवनमे हमारे कार्यके लिये सत्य है वह अवश्य ही समान रूपसे बहुतेरे जन्मोमे हमारे सम्बद्ध कर्म और आत्म-विकासके लिये भी सत्य होगा। चाहे इस जन्ममे, चाहे भावी जीवनोमे, हमारे लिए मुख्य वस्तु सुख और दु ख, सौभाग्य या दुर्भाग्य नही है, बल्कि वह है हमारी पूर्णता और मानव-जातिका उच्चतर मगल, उसके लिये चाहे जिस किसी भी कष्ट और विपत्तिका मूल्य चुकाना पडे। स्पिनोजाकी यह उक्ति कि हर्ष श्रेष्ठतर पूर्णताकी ओर गमन है और दु ख न्यूनतर पूर्णताकी ओर, एक अति सक्षिप्त सूक्ति है। निस्सन्देह आह्लाद पूर्णताका वातावरण होगा और वह उसके लिये हमारे किये गये श्रमकी वेदनाकी भी प्रतीक्षा करता है, परन्तु पहले आता है एक उच्चतर आह्लाद जिसकी कीमत के रूपमे बहुत सारी कठिनाई

झेलनी होती है, और बादमे एक उच्चतम आध्यात्मिक आनन्द जो कि बाह्य परिस्थितियो-पर निर्भर नही करता, बल्कि उनकी अर्थवत्ताका नया रूप देने और उनकी प्रतिक्रियाओ-को रूपान्तरित करनेके लिये सशक्त होता है। ये चीजे जगत्-ऊर्जाके यहाँके प्रथम रूपायणसे ऊपर हो सकती है, विश्व-जीवनके श्रेष्ठतर लोकोसे आते प्रभाव हो सकती हैं, परन्तु ये फिर भी यहाँकी कर्म-व्यवस्थाका अँग, शरीरमे होनेवाले आध्यात्मिक विकास-क्रमकी प्रक्रिया हो सकती है। और ये उच्चतर अन्तरात्मा-प्रकृति और इच्छा, कार्य तथा परिणामको, कर्मके उच्चतर नियमको प्रविष्ट करती हैं।

अत व्यावहारिक न्यायके विषयमे जो मानवीय धारणा है उसका भावी जन्मोमे विस्तरण और वहाँ जीवनके प्रतीयमान अन्यायका सशोधन, केवल यही कर्मका विधान नही है। जगत्-ऊर्जाकी सारी क्रियाओमे अवश्यही कोई न्याय या बल्कि ऋतत्व होना ही चाहिये, प्रकृति अपनी कार्रवाइयोमे निस्सन्देह कर्त्तव्यनिष्ठ लगती है। परन्तु मनुष्यके जीवनमे बहुत सारे तत्त्व रहते हैं जिन्हे गणनामे लेना होता है, वहाँ भी पर्व, स्तर, श्रेणियाँ है। और हमारी सत्ताकी उच्चतर सीढीपर चीजे न तो वैसी दीखती है न सर्वथा वैसी होती हैं जैसी कि निम्नतर स्तरपर। और प्रथम सामान्य स्तरपर भी बहुत सारे तत्त्व होते हैं, केवल नैतिक सुखात्मक मानक ही नही होता। यदि यह उचित है कि पुण्यवान् मनुष्यको सफलता एव सुखका पुरस्कार और दुष्टको पतन तथा कष्टका दण्ड मिलना चाहिये, चाहे किसी भी समय, किसी भी जीवनमे, पृथ्वीपर या स्वर्गमे या नरकमे क्यो न हो, तो यह भी उचित है कि सबल मनुष्यको उसके अर्जित बलका पुरस्कार मिले, इच्छाबल जिस किसी भी क्षेत्रमे उद्यम करे अपने प्रयास तथा कार्योका फल प्राप्त करे। परन्तु प्रश्न उठेगा, ऐसा सही रूपसे, नैतिकताके अनुसार, सदाचारके नियमके अनुसार तो सम्पन्न नही होता ? इच्छा, कार्य और परिणामके इस सम्बन्धमे सही क्रिया क्या होती है ? यदि हम धार्मिक और ईमानदार होकर भी मन्दबुद्धि, दुर्बल और अयोग्य हो तो ? और स्वार्थी तथा अधार्मिक होनेपर भी यदि हममे बुद्धिकी तेज गतिवाली लौ हो, समझदार मस्तिष्क हो, साधनको लक्ष्यके अनुकूल करनेका कौशल हो, लक्ष्यकी ओर स्थिर, दृढ और साहसपूर्ण इच्छा हो तो ? तब हममे ऐसी अपूर्णता तो है जो अपने परिणाम अवश्य आरोपित करेगी, परन्तु हममे ऐसी क्षमताएँ भी हैं जो अपनी राह बनायेंगी ही। सत्य यह है कि ऊर्जाकी अनेक श्रेणियाँ हैं और प्रकृतिके सामजस्योके बीच उनके सही सम्बन्धोको सही रूपसे जाना जा सके उसके पूर्व उनकी पृथक् विशिष्ट क्रियाको देख लेना होगा। हमे जिस जालको खोलना है वह जटिल है। जब हम अगोको समग्रके अन्दर देख चुकेगे,तत्त्वो और उनकी सादृश्य-ताओको समग्रकी दृष्टिसे देख चुकेगे, केवल तभी हम कर्मकी रेखाओको जान सकेगे।

दूसरा खण्ड

कर्म - रेखाएँ

एक

आधार

कर्मकी धारणाके पीछे दो प्रत्यय हैं जो उसके घटक तत्त्व हैं, एक तो प्रकृतिका उसकी ऊर्जा या क्रियाकलापोका नियम, और दूसरे, अन्तरात्मा, जीव, जो उस नियमके अधीन रहता है, उस ऊर्जाके अन्दर क्रियाकलापोको डालता है और अपनी क्रियाओके अनुरूप और अनुसार उससे प्रतिदान पाता है। और यहाँ कुछ बाते तुरन्त उठ खडी होती हैं जिनकी उपेक्षा नही चलेगी। यदि विश्वप्रकृतिके क्रियाकलापका स्वरूप और अर्थ, और प्रकृतिकी सत्ताका धर्म जो कि उसके क्रियाकलापका निर्माता है, अन्तरात्माके क्रियाकलापसे भिन्न हो, वह क्रियाकलाप यदि मनकी, आत्माकी, अध्यात्म-पुरुषकी ऊर्जा या कृति न हो, तो क्रियाकलापके इस निष्पादन और उसके प्रतिदानका यान्त्रिक महत्त्व ही हो सकता है, अधिक कुछ नही, उसका मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सार्थक्य नही हो सकता। यदि वैयक्ति ऊर्जा ऐसे अन्तरात्माकी ऊर्जा है जो क्रियाकलापको निष्पादित कर रहा है और वैश्व ऊर्जासे भौतिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक फलके रूपमे प्रतिदान पा रहा है, तो प्रतिदान करनेवाली उस वैश्व ऊर्जाको भी सर्वान्तरात्माकी ऊर्जा होना चाहिये जिसमे और जिससे सम्बन्धित होकर सर्वान्तरात्माकी यह वैयक्तिक लौ रह रही है। और हम यदि विचार करे तो यह प्रत्यक्ष है कि व्यक्तिकी कर्म-ऊर्जा कोई चमत्कारिक रूपसे पृथक् तथा स्वतन्त्र वस्तु नही, वह कोई एसी नही जो अपनेसे जन्मी हो, अपने-आपमे रह रही हो, अपनी पृथक् तथा सम्पूर्णतया स्व-रचित शक्तिमत्तामे कार्य कर रही हो। इसके विपरीत, वैयक्तिक ऊर्जाके अन्दर वैश्व ऊर्जा ही कार्य करती है, और निस्सन्देह उसकी क्रियाका वैयक्तिक विनियोग होता है किन्तु वह कार्य करती है वैश्व रेखाओपर और अपने वैश्व विधानके अनुसार। किन्तु यदि यही समूचा सत्य हो तो कोई यथार्थ व्यक्ति नही रह जाता है और न किसी प्रकारका यथार्थ उत्तरदायित्व ही, केवल विश्वप्रकृतिका यह उत्तरदायित्व रहता है कि सर्वान्तरात्माने, विश्वपुरुषने जैसे विश्वके अन्दर वैसे ही व्यक्तिके अन्दर जिस भाव या शक्तिको व्यक्त किया है वह उस भाव या शक्तिको कार्यान्वित करे। परन्तु यहाँ व्यक्तिके अन्तरात्माकी वात भी आती है, और वह अनन्तकी सत्ता है और सर्वान्तरात्माका चेतन तथा कार्यकारक अश है, उसका प्रतिनिधि या सहकारी है, और उसे जो ऊर्जा दी गयी है उसे वह अपने सामर्थ्य, अपने प्ररूपके अनुसार व्यक्त करता

है, उसे ऐसी इच्छासे सीमित करता है जो एक अर्थमे उसकी अपनी है। विश्वमे रहनेवाला परमात्मा प्रभु है, प्रकृतिका ईश्वर है, लेकिन उसी प्रकार व्यक्ति भी एक प्रतिनिधि, एक प्रत्यायुक्त ईश्वर है, अपनी प्रकृतिका यदि अधिराज नहीं तो उपराज तो है ही,—कह सकते हैं कि उसे प्रकृतिकी विश्व-ऊर्जाका एक अपना रूप और उपयोग मिला है और वह उसीका अभिकर्त्ता और निरीक्षक है।

इसके बाद हम देखते हैं कि प्रत्येक सत्ता जीवनमे, जगत्मे, वस्तुत किसी जातिके अन्तर्गत एक व्यक्ति होती है, और प्रत्येक जातिका अपना-अपना स्वभाव होता है और प्रत्येक व्यक्तिका भी जातिके स्वभावके अन्तर्गत अपना-अपना स्वभाव होता है। कर्मका धर्म सामान्यत जातिके इस स्वभाव द्वारा और वैयक्तिकत व्यक्तिके स्वभाव द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु उस विशालतर वृत्तके अन्तर्गत ही। मनुष्यका एक विशेष विलक्षण और अद्वितीय स्वरूप होता है, वह ईश्वरका अवनमित अश और साथ ही मानवजातिका प्राकृतिक अश है। अन्य शब्दोमे, एक सर्वसामान्य स्वधर्म और एक वैयक्तिक स्वधर्म होता है, अर्थात् जातिके लिये और जातिके अन्तर्गत व्यक्तिके लिये सारे क्रियाकलापका एक स्वभाविक सिद्धान्त और नियम होता है। और यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक क्रिया सर्वसामान्य स्वधर्मका और उसके अन्तर्गत वैयक्तिक स्वधर्मका एक विशेष विनियोग, एक एकल परिणाम, एक पूर्ण या अपूर्ण, ठीक या विकृत व्यवहार होगी।

किन्तु, फिर यह है कि यदि यही सब कुछ हो, यदि प्रत्येक मनुष्य जीवनमे अपने जिस वर्त्तमान स्वभाविको लेकर आता है वह उसके लिये पहलेसे निर्धारित हो और अटल हो और उसे उसीके अनुसार कार्य करना पडे तो कोई यथार्थ उत्तरदायित्व न होगा, क्योकि वह अपनी प्रकृतिगत अच्छाईके अनुसार अच्छा और अपनी प्रकृतिगत बुराईके अनुसार बुरा करेगा, वह अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताके अनुसार अपूर्ण या उसकी पूर्णताके अनुसार पूर्ण होगा, और उसे अपनी अच्छाई या बुराईका प्रतिदान भोगना होगा, अपनी पूर्णता या अपनी अपूर्णताके यथोचित परिणाम ठीक-ठीक सहने होगे, किन्तु यान्त्रिक रूपसे सहने होगे, न कि अपने वरण द्वारा कारण यह है कि उसका प्रतीयमान वरण उसकी प्रकृतिकी बाध्यकारिता होगा और, किसी भी प्रकार, अपरोक्ष रूपसे हो या परोक्ष रूपसे, उसके आत्माकी इच्छाका परिणाम नही होगा। किन्तु वस्तुत उसकी सत्तामे विकासकी शक्ति है, परिवर्तनकी शक्ति है या, हमारे आधुनिक प्रत्ययोकी भाषामे क्रमविकासिनी शक्ति है। उसकी प्रकृति अभी जैसी है वैसी वह इसलिये है कि उसने अपने भूतकाल द्वारा उसे ऐसा बनाया है, उसने इस वर्तमान निरूपणको अपने आत्मामे एक पहलेसे रहती इच्छा द्वारा प्रोत्साहित किया है। वह अपने अध्यात्म-

तत्त्वकी शक्ति और सर्वान्तरात्माके वीर्यमे विश्वप्रकृतिकी विपुल सम्भावनाओमेसे मानवतातक उठा है। अपनी उसी मानवताके लम्बे क्रमविकाससे उसने अपनी वर्त्तमान वैयक्तिक सत्ताकी प्रकृति और कर्मको विकसित किया है, उसने मानवीय प्रकृतिकी अपनी ऊँचाई और रूपका निर्माण किया है। उसने जिसे बनाया है उसे वह बदल सकता है, और यदि विश्वकी सम्भावनाओके अन्तर्गत ऐसा होना सम्भव हो तो वह मानवीय प्रकृतिसे परे और अतिमानवीय प्रकृतितक या उसकी ओर उठ सकता है। विश्वप्रकृतिकी सम्भावना और उसके नियम ही उसकी प्राकृतिक सत्ता और कर्मण्यताका निर्धारण करते हैं, परन्तु अध्यात्म-तत्त्वके अधीन होना उसके नियमका अग है, और आग्रहपूर्ण पुकारके उत्तरमे वह विकसित होगी भी, क्योकि तब वह उस दिशामे अवश्य ही प्रत्युत्तर देगी, आवश्यक ऊर्जा देगी, कार्योका निर्धारण करेगी, वह अवश्य ही उसका परिणाम सुनिश्चित करेगी। उसका अतीत और जो वर्त्तमान प्रकृति और परिवेश उसे मिले हैं वे सतत विघ्न उपस्थित कर सकते हैं, किन्तु अन्तमे वे उसके अन्दर रहनेवाली क्रमवैकासिकी इच्छाकी सच्चाई, सम्पूर्णता और आग्रहके अनुपातमे उस इच्छाके सामने सर नवायेंगे ही। सर्वसत्ताकी सारी सम्भावना उसके अन्दर है, सर्वेच्छाकी सारी शक्ति उसके पीछे है। यह क्रमविकास और इसकी सारी परिस्थितियाँ, मनुष्यका जीवन, उसके जीवनका रूप, उसकी घटनाएँ, उसके मूल्य उसी प्रेरणासे उद्गत होते और मनुष्यके आत्माके भूत, वर्त्तमान या भावी सक्रिय इच्छाके अनुसार घडे जाते हैं। जैसा उसका ऊर्जाका व्यवहार है, वैसा ही वैश्व ऊर्जाका उसको प्रतिदान था और अभी और बादमे भी होगा। यही कर्मका मूलभूत अर्थ है।

साथ ही, शरीरमे जन्म लेते अध्यात्म-तत्त्वका यह कार्य और क्रमविकास सहज और सरल नही, जैसा कि वह तब होगा या हो सकता था यदि सारीकी सारी प्रकृति एक ही धागेकी होती और क्रमविकास किसी एक ही शक्तिकी श्रेणियोका ऊपर उठाया जाना भर होता। कारण, प्रकृतिकी ऊर्जाके अनेक धागे, अनेक श्रेणियाँ, अनेक रूप है। जन्मके जगत्मे एक ऊर्जा अन्नमयी सत्ता तथा प्रकृतिकी है, एक ऊर्जा प्राणमयीमे से उद्गत होती मनोमयी सत्ता तथा प्रकृतिकी है, एक ऊर्जा मनोमयीमेसे उद्गत होती आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्ता तथा प्रकृतिकी है। और ऊर्जाके इन रूपोमेमे प्रत्येकका अपना-अपना विधान, अपनी-अपनी कार्य-रेखा है, उसे क्रिया और अस्तित्वकी अपनी-अपनी रीतिका अधिकार है, क्योकि समग्रकी किसी न किसी आवश्यकताके लिये प्रत्येककी आधारभूत आवश्यकता रहती है। और तदनुसार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऊर्जा अपने-अपने अन्तर्वेगमे अपनी-अपनी रेखाओका अनुसरण करती है, बाकीकी ओर ध्यान नही देती और सम्मिलनमे दूसरोपर अपना जितना

आधिपत्य जमा मकती है जमाती है। स्वय मनोमयी सत्ता अति जटिल वस्तु है और उसकी ऊर्जाके अनेक रूप हैं, मनोमयी प्रकृतिकी एक बौद्धिक, एक नैतिक, एक भावमयी, एक सुखात्मिका ऊर्जा रहती है, और प्रत्येकके अन्दर रहनेवाली इच्छा अपने स्वशासनके लिये अपने-आपमे निरपेक्ष रहती है और फिर भी, क्रिया-रूपमे उसके अन्दर और उसके आर-पार अन्य धागोके प्रवेशके कारण वह परिवर्तित होनेको वाध्य हो जाती है। जगत्-क्रियाकी विधि और गति निस्सन्देह कठिन और जटिल प्रक्रिया हैं, गहना कर्मणो गति ,अतएव हमारे अपनी क्रियाकी विधि और गति भी गहन है, क्योकि हमारा निरा मन ऐसा कितना भी क्यो न करना चाहे हम उनके विधानको जगत्-क्रियाके विधानसे पृथक् नही कर सकते। और यदि ये सारी ऊर्जाएँ अध्यात्म-पुरुषकी प्रकृतिकी ऊर्जाओ-के रूप हैं तो यह सम्भव है कि परम आध्यात्मिक सत्ताकी चेतनामे उठ जानेपर ही हम जगत्-क्रियाके सारे सर्वांगीण रहस्य और सामजस्यको, और फलत कर्मके सर्वागीण अर्थ और विधानको पूरा-पूरा समझनेकी आशा कर सके।

अत यदि विश्व-क्रियाके सारे प्रत्यक्ष जालको ऊर्जाके किसी एक ही रूपके नियममे समाहित करके इस पहेलीकी गाँठको खोलनेका प्रयत्न करे तो यह आशिक उद्देश्यके लिये तो उपयोगी हो सकता है किन्तु अन्तत इससे अल्प लाभ ही मिल सकता है। विश्व एकमात्र नैतिक समस्या नही, अच्छे और वुरेके वीच विरोधकी ही समस्या नहीं, विश्वपुरुषके वारेमे किसी भी तरह यह कल्पना नही की जा सकती कि वह कोई कठोर नैतिकतावादी हो जिसका प्रयोजन केवल सवसे नैतिक अच्छाईके विधानका पालन कराना हो, या वह सदाचारकी ओरकी प्रवृत्तिका स्रोत हो और अवतक वहुत ही दीन सफलता पाकर भी अपना सिक्का जमाने और शासन करनेका प्रयत्न कर रहा हो, या वह कोई कठोर न्यायदाता हो जो दुष्टता, कष्ट और वुराईसे भरे इस जगत्मे – जिसे उसने ऐसा वनाया है या जिसका ऐसा होना वह सहन कर रहा है,—प्राणियोको पुरस्कृत और दण्डित करता हो। स्पष्ट ही वैश्व इच्छाकी इसकी अपेक्षा अनेक अन्य और अधिक नमनीय विधियाँ हैं, उसकी रुचियाँ अन्तहीन हैं, उसकी सत्ताके वहुत सारे अन्य तत्त्व है जिन्हे अभिव्यक्त करना है, ऐसी वहुत सारी रेखाएँ हैं जिनका उसे अनुसरण करना है, ऐसे वहुत सारे नियम और उद्देश्य हैं जिनका उसे पीछा करना है। जगत्का विधान केवल यह नही है कि हमारी अच्छाई हमे अच्छाई लाती है और वुराई वुराई, न ही उसकी पर्याप्त कुजी यह नैतिक सुखवादी नियम ही होता है कि हमारी नैतिक अच्छाई हमारे लिए सुख और सफलताको लाती है और हमारी नैतिक वुराई दु ख तथा दुर्भाग्यको। जगत्मे ऋतत्वका एक नियम है, परन्तु वह ऋतत्व है प्रकृतिके सत्यका और अध्यात्म-पुरुपके सत्यका, और वह नियम एक विशाल तथा वैविध्यमय नियम है और वहुत

सारे रूप धारण करता है जिन्हे समझना और स्वीकार करना है, उसके बाद ही हम उसके उच्चतम या सर्वागीण तत्त्वतक पहुँच सकेगे।

बौद्धिक सत्तामे रहनेवाली इच्छा ज्ञानको और ज्ञानके सत्यको अध्यात्म-सत्ताके शासक तत्त्वके रूपमे खडा कर सकता है, साकल्पिक सत्तामे रहनेवाली इच्छा इच्छा या बलको स्वय ईश्वरके रूपमे देख सकती है, सौन्दर्यबोधिनी सत्तामे रहनेवाली इच्छा सौन्दर्य और सामजस्यको परम विधानका सिहासन दे सकती है, नैतिक सत्तामे रहनेवाली इच्छाको उमका दर्शन नेकी या प्रेम या न्यायके रूपमे हो सकता है, और इसी तरह एक लम्बा अध्याय वन सकता है। परन्तु यद्यपि ये सब उस परमात्माके परम रूप तो बहुत भली भाँति हो सकते हैं, तथापि अनन्तके कार्योको किसी एक सूत्रमे बन्द कर देनेसे नही चलेगा। और आरम्भके लिये यह उत्तम होगा कि कर्मके नियमको यथा-सम्भव अधिकसे अविक व्यापक और अस्पष्ट रूपसे शब्दोमे रखा जाय और उसे किसी विशेष रग या साराशके बिना बस यह कहकर व्यक्त किया जाय कि जैसी ऊर्जाका व्यवहार किया जायगा वैसा ही उसका प्रतिदान होगा, और इस प्रतिदानमे चेतन इच्छाकी कोई गणितिक सठीकता नही होगी, उसके परिणाम यन्त्रवत् नही होगे, प्रत्युत वह जगत्की अनेको शक्तियोकी जटिल क्रियाके अधीन होगा। यदि हम इस प्रकार व्यापक रूपसे अपना आधार-कथन उपस्थित करते हैं तो साधारण समाधानोकी सरलता चली जाती है, परन्तु यह हानि केवल सिद्धान्त-प्रेम या मानसिक आलस्यके लिये ही होती है। विश्वक्रियाका सम्पूर्ण विधान या सबको शासित करनेवाला अद्वितीय विधान भी किसी भौतिक, यान्त्रिक और रसायनिक ऊर्जाके दायरेमे नही आ सकता, वह प्राण-शक्तिका ही विधान नही हो सकता, न ही वह नैतिक विधान या मन या भाव-विचारकी शक्तियोका ही विधान हो सकता है, क्योकि यह स्पष्ट है कि इनमेसे कोई भी चीज अकेली ही न तो सारी मूलभूत शक्तियोको समाविष्ट करती है, न उनकी व्याख्या ही। यह सम्भावना है कि ऐसा अन्य कुछ है जिसके साधन और ऊर्जाएँ ही ये सब है। हमारा आरम्भिक सूत्र केवल एक सामान्य यान्त्रिक नियम हो सकता है, किन्तु फिर भी यह सम्भावना है कि वह यन्त्र-विन्यासके सारे अगोका व्यावहारिक नियम हो, और यदि वह केवल अपने-आपका कथन करता है और आरम्भमे इससे अधिक कुछ भी नही करता तो भी उसकी क्रियाओकी विविधतापर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो बहुत सारे अर्थ खुल सकते हैं और हम उसके तात्त्विक सार्थक्यकी ओर बढ सकते हैं।

कर्मका व्यावहारिक और कार्यकारी आधार है जीवका प्रकृतिकी ऊर्जाओके साथ सारा सम्बन्ध, पुरुषके द्वारा प्रकृतिका व्यवहार। प्रकृतिकी ऊर्जाओसे पुरुषकी जो माँग है, उनको उसकी जो अनुमति है या उसके द्वारा उनका जो उपयोग है और

प्रकृतिकी ऊर्जाओका पुरुषपर जो प्रत्यागमन और प्रतिवर्त्तन है वही हमारे जन्मोमे हमारी प्रगतिके डगोका निर्धारण करेगा, वह प्रगति चाहे किसी निर्दिष्ट दिशामे हो, चाहे लम्बे उतार-चढावमे, चाहे चिर वृत्तके अन्दर। कर्मके विधानका एक और पक्ष, पारिस्थितिक पक्ष है, और वह निर्भर करता है इसपर कि हमारा कर्म केवल हमारी अपनी ओर ही नही, वल्कि दूसरोकी ओर क्या मोड ले रहा है। हम जिन ऊर्जाओको व्यक्त करते हैं उनकी प्रकृति और हमपर उनके परिणामोका प्रत्यागमन और प्रतिवर्तन भी केवल हमे ही नही, हमारे चारो ओरके लोगोको भी प्रभावित करते हैं और दूसरोपर हमारे कार्योका क्या नियोग होता है, उसका उनपर क्या प्रभाव पडता है और हमारे अपने जीवन तथा सत्तापर उस नियोगका जो प्रत्यागमन होता है और उस प्रभावके परिणामका प्रत्यावर्तन होता है उन्हे भी विचारमे लेना होगा। परन्तु हम दूसरोपर जिस ऊर्जाको व्यवहृत करते है वह सामान्यत एक मिश्रित, शारीरिक, प्राणिक, नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रकृतिकी होती है, और प्रत्यागमन तथा परिणाम भी मिश्र प्रकृतिके होते हैं। हमारी शारीरिक क्रियामे, हमारे अन्दरसे वाहर डाले गये प्राणिक चापमे शारीरिक और प्राणिक वलके साथ-साथ एक मानसिक अथवा नैतिक वल भी होता है और प्राय हमारी चेतन इच्छा तथा ज्ञानसे सर्वथा परे निकल जाता है और हमारे लिये तथा दूसरोके लिये उसके परिणामकी प्रकृति और परिणाम हमारे अभिप्राय या गणना और पूर्वानुमानसे वहुत भिन्न मिलते है। गणना हमसे इस कारण नही हो सकती कि हमारे द्वारा कार्य करती विश्व-ऊर्जा अति जटिल होती है और हमारी चेतन इच्छा उसके अन्दर केवल उपकरणकी तरह प्रवेश करती है, हमारा यथार्थ स्वीकरण अन्दरकी एक अधिक मूलभूत शक्तिका होता है, हमारे अवचेतन तथा अति-चेतन आत्माका एक गुप्त, एक अवगूढ अनुमोदन होता है। और प्रत्यागमन भी, अभिकर्ता चाहे जो भी हो, उसी जटिल विश्व-ऊर्जाका होता है, और उसका निर्धारण, उस ऊर्जामे जो शक्ति क्रिया कर रही है और जिस शक्तिपर क्रिया की जा रही है, उनके किसी कठिन पारस्परिक सम्वन्ध द्वारा होता है।

परन्तु कर्मका एक दूसरा, एक अन्तिम और मूलभूत अर्थ होता है, उसमे हमारे अन्तरात्मा और परमात्मा या सर्वात्माके वीच सम्वन्ध होता है। सव कुछ उसीपर आधारित है, उसीकी ओर जाता है और सव कुछको प्रत्येक डगपर उसीसे प्रसग रखना होता है। वह सम्वन्ध भी कोई वैसी सरल वस्तु नही जिसकी कल्पना धर्मोमे की जाती है। कारण, उसे एक वहुत ही विशाल आध्यात्मिक अर्थके अनुरूप होना होगा जो कि कर्मकी समूची प्रक्रियाके आधारमे है और विश्व-ऊर्जके व्यवहारमे होती हमारी क्रियाओमे प्रत्येकका उस मूलभूत और शायद अनन्त अर्थके साथ कोई सम्वन्ध अवश्य

रहना चाहिये। ये तीन चीजे,—प्रकृतिमे जीवकी इच्छा और प्रकृतिकी जीवमे, जीवपर, उसके द्वारा और वापस उसकी ओर क्रिया, दूसरोपर जीवकी क्रिया और उसकी क्रियाकी शक्तिका उसकी ओर प्रत्यागमन जिसमे दूसरोकी क्रियासे जटिलता उत्पन्न होती है, इनके पारस्परिक आवागमनका प्रभाव, और जीवके कार्यकलापका उसके अपने उच्चतम आत्मा एव सर्वात्माके साथके , ईश्वरके साथके सम्बन्धमे अर्थ,— इन सबसे कर्मके सारे पहलू बनते हैं।

दो

पार्थिव नियम

कर्म-रेखाओपर विचार करनेमे, अवश्य ही, जगत्की क्रियाके वास्तविक और समग्र रूपके अध्ययनसे आरम्भ करना चाहिये, उसमे चाहे हमारी नैतिक या मानसिक वुद्धिके नियम या कामनासे कितनी ही विपरीतता क्यो न मिले, और हमे यह देखना चाहिये कि क्या उसीके तथ्योमे उसकी अपनी व्याख्या नही मिल सकती। हमारी नैतिक चेतना या हमारी वुद्धि जिन अनम्य ढाँचोको अनन्तकी स्वतन्त्र या अकाट्य रूपसे आत्म-निर्धारण करनेवाली गतिधारापर, उसकी सत्ताकी अपरिमेय बृहत्ता या उसकी इच्छाकी महती जटिलताओपर लदे रहते देखना चाहती है, यदि जगत्का वास्तिविक सत्य उनसे बाहर छूटा रह जाता है, तो बहुत सम्भवत इसका कारण यह है कि हमारी नैतिक चेतना और हमारी मानसिक वुद्धि मानसिक और मानवीय होनेके नाते इतनी सकीर्ण है कि वह अनन्तको समझ नही सकती, उसे वाँध नही सकती। समस्याके आधारको जव कभी भी हम कठिनाईमेसे वच निकलनेके लिये, जो कुछ हमारा अतिक्रमण करता है उसपर अपनी मर्यादाओको आरोपित करने और ईश्वरको स्वय हमारे जैसा होनेको ही वाध्य करनेके लिये वदलेगे, तो यह, वहुत सम्भवत, एक वच निकलना और वौद्धिक उपाय होगा, सत्यका मार्ग नही। आखिरकार ज्ञानकी समस्या है अनन्तकी गतिधाराओको प्रतिविम्वित करना और अनन्तका अवलोकन करना, न कि उसे हमारी बुद्धि द्वारा उसके लिये तैयार किये गये किसी साँचेके अन्दर वलात् वैठाना।

कर्मकी सामान्य धारणा इस पिछली अप्रामाणिक पद्धतिका अनुसरण करती है। हम जिस जगत्को देखते हैं वह, हमारी धारणाओके अनुसार, यदि अनैतिक नही हैं तो नैतिक भी नही है और हमारे भावानुसार उसे जैसा होना चाहिये उसका प्रत्याख्यान करता है। अत हम उसके पीछे जाते है, यह आविष्कार करते हैं कि यह पृथ्वी-जीवन ही सव कुछ नही है, वहाँ फिरसे अपना नैतिक नियम निर्मित करते हैं और यह पाकर हर्पित होते हैं कि आखिरकार विश्व हमारी मानवीय धारणाओका अनुसरण करता ही है और इसलिये सव कुछ ठीक है। यहाँ जो अच्छे और वुरेका रहस्यमय सघर्ष, मानिकी[1] सिद्धान्तका सग्राम, असमाधेय जाल है, उसका उपचार नही होता, न उसकी

[1] तीसरी शताब्दीके मनि नामक दार्शनिकका सिद्धान्त कि हर कुछ प्रकाश और अन्धकार, अच्छाई और बुराई, इन दो प्रधान तत्त्वोसे उत्पन्न हुआ है। (अनु०)

व्याख्या ही होती है, परन्तु हम यह कहते है कि अन्तत अच्छे और वुरेके साथ उनके प्रकारानुसार न्याय-व्यवहार तो होता है, अन्य लोको अथवा जन्मोमे अच्छेको उपयुक्त रूपसे पुरस्कार और वुरेको उपयुक्त रूपसे दण्ड दिया जाता है, अत एक नैतिक नियम-का आधिपत्य है और हम यह विश्वास सँजोए रख सकते हैं कि नेकीकी विजय होगी, अहुरमज्दकी जीत होगी, न कि अहरिमनकी, और समग्र रूपकी ओर देखे तो सव कुछ जैसा होना चाहिये वैसा ही है। या यदि ऐसा नही है, यदि यह जाल ऐसा है कि उसमेसे निकला न जा सके, यदि यह जगत् ही वुरा है या जीवन एक विपुल भूल ही है – और यदि वह मनुष्यकी कामनाओ और धारणाओके अनुकूल न हो तो मनुष्यका उसे ऐसा ही माननेकी ओर झुकाव भी रहता है,—तो कमसे कम हम वैयक्तिक रूपसे नैतिक विधानको तुष्ट करके जालमेसे निकलकर दूर एक श्रेष्ठतर जगत्के सुख या निर्वाणकी अशरीर तथा अमना शान्तिमे चले जा सकते हैं।

परन्तु प्रश्न यह है, "क्या यह कोई वालेय और अधीरतायुक्त भाव तो नहीं ? क्या ये समाधान समस्याकी सारी जटिलताके समाधानके समीप पहुँचते हैं ? मान ले कि एक आधिपत्यशाली नैतिक विधानका शासन है, यह शासन जगत्मे जो कर्म किया जाता है उसपर नही,—क्योकि वह या तो स्वतन्त्र है या, यदि स्वतन्त्र नही है तो सव प्रकारका होनेको वाध्य किया जाता है,—अपितु कर्म-फलपर होता है और अन्तमे एक परम शुभ अपनेको कार्यान्वित करेगा। यह कठिनाई रहती है कि वह शुभ अशुभको अपने साधन, लगभग प्रधान साधनके रूपमे क्यो व्यवहृत करे, या आधि-पत्यशाली नैतिक विधानको, जो कि प्रभुसत्तासम्पन्न, अमोचन, निरपेक्ष, अनुल्लघ्य है, अस्तित्वका यदि कारण नही, तो व्यावहारिक नियामक तो है, क्यो वाध्य किया जाना चाहिये कि वह इतनी सारी अनैतिक चीजो द्वारा और एक ऐसी शक्तिके अभिकरण द्वारा जो नैतिक नही, पृथ्वीलोकके नरक और परलोकके नरक द्वारा, दण्डकी कुछ निर्दयता और प्रतिशोध लेनेवाली विपदाके महाप्रकोप द्वारा, कष्ट, वेदना और उत्पीडन-के अपरिमेय और कभी समाप्त न होते लगनेवाले क्रम द्वारा, अपनी परिपूर्ति सम्पन्न करे। अवश्य ही इसका कारण यह होना चाहिये कि अनन्तके अन्दर अन्य वस्तुएँ हैं, अत यहाँ अन्य नियम और शक्तियाँ हैं और इनमेका नैतिक विधान चाहे अपने-आपमे कितना ही श्रेष्ठ और प्रभुतासम्पन्न क्यो न हो, उसे उन अन्य विधानो और शक्तियोकी गतिविधिके साथ हिसाव रखना ही होगा और वह अपनी रेखाओको उस घुमावके अनुकूल करनेको वाध्य होता है। और यदि ऐसा है और यदि हमे सच्चे सम्वन्धो-का अवलोकन करना है तो हमे इन अन्य शक्तियोके पृथक् विधान और दावेका अध्ययन करते हुए आरम्भ करना होगा, कारण, इस अध्ययनके विना हम यह ठीक-ठीक नही

जान सकते कि जगत्-क्रियाके जटिल समूहमे हम जिस किसी भी नैतिक नियमको हस्तक्षेप करते देख सकते हैं वे अन्य शक्तियाँ उसपर कैसे क्रिया करती हैं, उमे कैसे प्रतिवन्धित करती हैं या वह नैतिक नियम ही उनपर कैसे क्रिया करता और उन्हे व्यवहृत करता है। और पहले हमे पार्थिव विधानके उस रूपको देखना चाहिये जिसमे वह पुनर्जन्मके किमी भी प्रश्नसे अलग रहनेसे मिलता है, यहाँ शक्तियोका जो सगम, खेल, नियम, अभिप्राय है उसे देखना चाहिये, कारण, हो सकता है कि सारा मूल तत्त्व इसमे विद्यमान ही हो और पुनर्जन्म इसके सार्थक्यको उतना सुधारता या बदलता नही हो, जितना कि उसे सम्पूरित करता हो।

परन्तु पृथ्वीपर पहली ऊर्जा भौतिक है, भौतिक ऊर्जाकी रेखाएँ भौतिक विश्वके रूपोकी सृष्टि करती है, उसकी शक्तियोको प्रस्तरित करती हैं, वे हमारे जन्मकी प्रथम प्रत्यक्ष अवस्थाएँ हैं और हमारे पार्थिव जीवनके व्यावहारिक आधार तथा मूल साँचेका सर्जन करती हैं। और इस पहली ऊर्जाका स्वभाव तथा स्वधर्म क्या है? स्पष्ट ही वह 'नैतिक' शव्दके मानवीय अर्थमे नैतिक नही होती भौतिक विश्वके प्राकृतिक देवताओको नैतिक विभेदोका कुछ भी ज्ञान नही रहता, प्रत्युत वे ऊर्जाका निरा शुष्क नियम जानते हैं, किसी शक्तिकी गतिविधिका सही मार्ग और परिपथ, उसकी सही क्रिया और प्रतिक्रिया, उसकी क्रियाका ठीक परिणाम ही जानते हैं। हमारे या जगत्के तत्त्वोमे नैतिकता नही, विवेककी झिझक नही। अग्नि व्यक्तियोका आदर नही करता और यदि सन्त या मनीषीको उसमे डाल दिया जाता है तो उसके शरीरको वह छोडेगा नही। समुद्र, तूफानी हवा, जहाजोको तोडनेवाली जल-चट्टाने यह नही पूछतीं कि जल-राशिमे डूबे हुए न्यायनिष्ठ मनुष्यके लिये वह भाग्य उपयुक्त था या नही। इन निर्दयताओमे यदि कोई दिव्य या वैश्व न्याय कार्य कर रहा है, वृक्ष या पशु या मनुष्य-पर निष्पक्ष रूपमे आघात करनेवाला तडित यदि ईश्वरकी तलवार या कर्मका उपकरण है,—परन्तु ऐसा केवल मनुष्यके लिये प्रतीत होगा, क्योकि वाकी सव कुछ तो सायोगिक घटना है,—ज्वालामुखी, प्रचण्ड तूफान या भूकम्पके द्वारा किया गया विनाश यदि वहाँ कष्ट या विनाश पानेवाले प्रत्येक मनुष्यके किसी विगत जीवनमे वैयक्तिक रूपमे किये गये या समुदायके किये गये पापोका दण्ड है, तो कमसे कम, प्राकृतिक शक्तियाँ तो यह नही जानती हैं, न इमकी कोई परवाह ही करती हैं, वल्कि अपने क्रोधकी अन्धी निष्पक्षतामे ऐसे किसी भी अभिप्रायके प्रमाणको हमारी नजरसे छिपा लेती हैं। न्याय-निष्ठ और अन्यायी, दोनोपर सूर्य समान चमकता है, वर्षा एक समान पडती है, कृपा-मयी और कराल प्रकृतिमाताकी उपकारिता और अपकारिता, उनकी सुन्दरता और भयावहता, उनकी उपादेयता और सकटशालिताका दान और कष्ट उनकी सारी

सन्तानोको पक्षपात या विपक्ष भावके बिना दिया जाता है और उनके लिये नेक मनुष्य पापीकी अपेक्षा अधिक प्रियपात्र नही होता। यदि नैतिक दण्डका कोई विधान प्रयुक्त किया जा रहा है, तो ऐसा करनेवाली अवश्य ही कोई ऐसी इच्छा है जो उससे ऊपर है या कोई ऐसी शक्ति है जो उसके निश्चेतन वक्षमे उससे अज्ञात रहकर कार्य कर रही है।

परन्तु स्वय वह इच्छा उस नैतिक 'पुरुष' की नही हो सकती जो मनुष्यकी धारणाओके अनुसार नीतिपरायण हो,—बशर्ते कि वह सचमुचमे मनुष्यकी सबसे अधिक शुष्कतया निर्मम और बर्बर नैतिक बुद्धि या अबुद्धिके रूपमे मनुष्यके जैसा न हो। कारण, उसके क्रियाकलापमे दण्डकी ऐसी भयावहताएँ निहित हैं जिन्हे किसी सर्वशक्तिमान् शासक मानवमे नृशसताएँ कहकर उनसे घृणा की जायगी और नैतिक दिव्य शासकमे भी दानवीयके अलावा और कुछ नही माना जायगा। इस प्रकार कार्य करनेवाला व्यक्तिक ईश्वर जोहोभा-मोलोच[1] होगा, नेकी और दयाकी माँग करनेवाला दयाहीन और नेकीहीन होगा। दूसरी ओर एक निश्चेतन शक्तिको मानना जो किसी सनातन नैतिक नियमको यन्त्रवत् कार्यान्वित कर रही हो, जिसका कोई प्रवर्त्तक या चालक न हो, एक विरोधाभास होगा, क्योकि नैतिकता चेतन मनकी सृष्टि है, निश्चेतन यन्त्रमे अच्छे-बुरेकी भावना नही हो सकती, नैतिक अभिप्राय या तात्पर्य नही हो सकता। विश्वस्थ निर्व्यक्तिक अथवा सर्व-व्यक्तिक चिन्मयी इच्छा या अध्यात्म-सत्ता ऐसा विधान भली भाँति बना सकती और उसका कार्यान्वयन सुनिश्चित कर सकती है, परन्तु तब वह हमपर अच्छाई और बुराई और उनके परिणामोको लादती रहकर भी स्वय तो अच्छाई और बुराईसे परे होगी। और यह कहना इसके अलावा क्या है कि वैश्व पुरुष हमारी नैतिक मर्यादाओके अन्दर नही आता और वह नैतिकतासे अतीत वह अनन्त है जो यहाँ भौतिक प्रकृतिमे हमारे सामने अवनैतिक अनन्तके रूपमे प्रकट हो रहा है।

अब हमे प्रत्येक सकेत आश्वस्त करता है कि भौतिक प्रकृतिमे एक चेतन अनन्त विद्यमान है, किन्तु वह चेतना हमारी चेतनाकी तरह निर्मित या सीमित नही। इस प्रकृतिकी सारी निर्मितियाँ और गतियाँ एक असीम्य सबोधिमूलक प्रज्ञाकी वस्तुएँ हैं जो इतनी महती और स्वत स्फूर्त है, इतने रहस्यमय रूपसे स्वत-प्रभाविणी है कि उसे बुद्धिमत्ताका नाम नही दिया जा सकता, वे एक ऐसी शक्ति और इच्छाकी वस्तुएँ हैं जो शाश्वततामे कालके लिये और अपने प्रत्येक डगमे, उन डगोमे भी जो अपने बाहर

[1] यहूदी देवता मोलोचको शिशुबलि दी जाती थी। जोहोभा एक अन्य देवताका नाम है। (अनु०)

या सतही प्रवेगमे हमे निश्चेतन प्रतीत होते है, एक अनिवार्य और पूर्वानुमानकर्त्री गतिसे कार्य कर रही है। और जैसे उसमे यह महत्तर चेतना तथा महत्तर शक्ति है,वैसे ही उसकी निर्मितियोमे सामजस्य तथा सौन्दर्यका एक असीम्य आन्तर तत्त्व भी है जो सदा ही उसका साथ देता है यद्यपि उस तत्त्वमे भावके कार्य हमारे सौन्दर्यबोधके मानकोसे मर्यादित नही होते। वहाँ एक अनन्त सुखवाद भी है, आनन्दका असीम्य भाव भी है, जिससे हम तब अवगत होते हैं जब हम प्रकृतिके साथ निर्व्यक्तिक एकत्वमे प्रवेश करते हैं, और जैसे उसके अन्दर जो कुछ विकराल है वह भी उसके सौन्दर्यका अग है, वैसे ही जो कुछ उसके अन्दर सकटप्रद, निर्दयी और नाशकारी है, वह भी उसके आह्लादका, उसके सार्वभौम आनन्दका अग है। अत यदि हमारे अन्दरके अन्य सारे तत्त्वोको, हमारी बुद्धि, हमारी क्रियात्मक और सकल्पात्मक सत्ता, हमारी सौन्दर्यरसिक सत्ता, हमारी सुखवादी सत्ताको भौतिक विश्वके अवलोकनमे यह सबोधिजात अनुभव होता है कि एक ऐसी महान् तथा असीम्य वस्तु उसमे तुष्टि पा रही है जो फिर भी रहस्यमय रूपसे उनके अपने ही प्रकारकी वस्तु है, तो क्या हमारे नैतिक बोधको, हमारे ऋतत्व-बोधको भी वहाँ उस वस्तुकी तुष्टि नही दिखायी देगी जिसका एक प्रतिबिम्ब वह स्वय है? विश्वमे नैतिक व्यवस्थाके लिए हमारी माँगकी जडमे इसी प्रकारका सबोधिमूलक बोध रहता है। हाँ, किन्तु यहाँ भी हमारी आशिक धारणाएँ, हमारे अपने नैतिक मानक पर्याप्त नही होते, वह ऋत एक महत्तर और असीम्य ऋत है, वह नैतिक सूत्रसे आबद्ध नही, और उसका पहला सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी ऊर्जाके विधानका पालन करे और प्रत्येक ऊर्जा समूची योजनाके अन्दर अपनी स्व-रेखाओपर चले, अपने स्व-कर्म सपन्न करे और अपने प्रतिदान उत्पन्न करे। भौतिक विधान भौतिक जगत्का ऋत और न्याय है, उस जगत्का कर्त्तव्य है, वह वह है जिसे उस जगत्मे होना चाहिये। उपनिषद्मे यक्ष-रूपी ब्रह्मके प्रश्न करनेपर, "तुममे क्या शक्ति है?" अग्नि-देवका उत्तर होता है, "मेरी यह शक्ति है कि जो कुछ मुझे दिया जाता है, मै उसे जला डालता हू," और प्राण तथा मनके प्रश्न पर प्रत्येक भौतिक वस्तु वैसा ही उत्तर देती है। भौतिक वस्तु अपनी भौतिक ऊर्जाकी रेखाओका पालन करती है, किसी अन्य विधान या ऋतमे सरोकार नही रखती। व्यवस्थाके प्रथम आधार-रूपमे आरम्भके लिये यदि यह सिद्धान्त नही हो तो किसी भी कर्म-विधानका, नैतिक विधानका भी अस्तित्व नही रह सकता।

तो इस भौतिक प्रकृतिके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है? हम देखते हैं कि मनुष्य वह अन्तरात्मा है जो भौतिक प्रकृतिमे हस्तक्षेप करता है और जिसका भौतिक जन्म प्रकृतिके क्रिया-विधानके अधीन रहते शरीरमे प्रकृतिसे ही होता है। और फिर

भी प्रकृतिसे अधिक कुछ रहनेवाले, एक प्राण, एक मन, एक अध्यात्म-सत्ता रहनेवालेके रूपमे उसका कार्य क्या है? उसका स्वभाव क्या है, स्वधर्म क्या है? प्रथमत उसे प्रकृतिकी आज्ञाका पालन यन्त्रकी तरह करना होता है जिसकी सँभाल उसके शरीरमे कार्य करती स्वय वह प्रकृति रखती है, परन्तु प्रकृतिके अन्दर प्रच्छन्न चेतनाकी शक्तिको विकसित पुरुषके रूपमे उसका कार्य होता है उसके विधानको जानना और उपयोगमे लाना, और उसे जानने तथा उपयोगमे लानेमे भी उसकी अधिक भौतिक सीमा, अभ्यास, उद्देश्य तथा विधिका अतिक्रमण करना। प्रकृतिकी आज्ञाका पालन, परन्तु प्रथमा प्रकृतिका अतिक्रमण भी, मनुष्यमे सदा ही अन्त स्थ अध्यात्म-पुरुषका अभिप्राय रहता है। अतिक्रमणका अविच्छिन्न धारा-क्रम जगत्-क्रियामे सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है और स्वयं क्रमविकास प्रकृतिका 'स्वातिक्रमणकी ओर, महत्तर आत्म-सभूतिकी ओर सतत प्रेरण तथा प्रयत्न है, वह प्रकृतिका वह मार्ग है जिससे वह अपने अन्त स्थ आत्माको अधिकाधिक व्यक्त करती है, उसके जन्म और जाग्रत् बल या विद्यमानताके महत्तर रूपको वाहर लाती है। प्राण इन अतिक्रमणोके एक समूचे प्रदेशको लाता है, मन एक अन्य और महत्तर प्रदेशको, और चूँकि मन इतने स्पष्ट रूपमे अपूर्ण तथा अधूरा है, स्वरूपत ही एक खोज करनेवाली वस्तु है, अत अवश्य ही मनसे ऊपर उससे परेके एक या अनेक प्रदेश होगे। भौतिक क्रियाकलापके नियम और प्राणिक कर्मके विधानका सामना मनुष्य अपने मनकी क्षमताओ द्वारा करता है, वह मानसिक तथा नैतिक कर्मके नियमको प्रविष्ट करता है और इन सोपानोकी सीढियोके सहारे एक अन्य वस्तुकी ओर ऊपर उठता है जो इनसे अधिक है, आध्यात्मिक क्रियाकी शक्तिमत्ताकी ओर ऊपर उठता है जो उसे स्वय कर्मके अतिक्रमणतक, जन्म और सभूतिसे मुक्ति या जन्म और सभूतिकी स्वतन्त्रतातक, एक पूर्णताप्रद अतिक्रमणतक भी ले जा सकती है।

प्रकृतिके जगत्मे, जो कि नैतिक नही, मनुष्य केवल नैतिक बोधके विकास द्वारा भौतिक विधानका अतिक्रमण नही कर सकता। इसका मूलभूत नियम बल्कि चेतन बुद्धि तथा इच्छाका प्राण और जडकी ओर अभिमुख होना है—स्वय नैतिकता यही ज्ञान तथा इच्छा है जिसकी खोज मनुष्यके आन्तर आत्मा और उसके बन्धु प्राणियोके सम्बन्धमे "सत्यम् ऋतम्" के लिये है। परन्तु प्रकृतिकी शुद्ध भौतिक रेखाओके साथ उसके व्यवहार नैतिक नही होते, आरम्भमे ऐसा होता है कि जहाँ ऐसा करना अनिवार्य होता है वहाँ वह उनका पालन करता है, सहजवृत्ति या अनुभवके सहारे उनका व्यवहार करता हुआ तुष्टि पाता है, उसके हाथो वाध्य होकर कष्ट भोगता है, और जैसे-जैसे वह वर्द्धित होता है, इच्छा तथा ज्ञान द्वारा अधिकाधिक सघर्ष करता है ताकि वह प्रकृतिकी शक्तियोको अपने उपयोग और सुखके लिये, उपकरण और साधनकी प्राप्ति-

के लिये, सुअवसरोके महत्तर आधार और वृत्तके लिये, इच्छा तथा ज्ञानके हर्ष मात्रके लिये जान सके और अधिकृत कर सके। वह प्रकृतिकी शक्तियोको अपने सुअवसर वनाता है और उनके वर्द्धनके लिये प्रकृतिके सकटोका सामना करता है। वह प्रकृतिकी शक्तियोको चुनौती देता है, उसकी मर्यादाओका उल्लघन करता है, उसके प्रथम निपेधके विरुद्ध सतत अपराध करता है, उसके दण्ड स्वीकार करता और उन्हे जीतता है, उसके माथ अपने मन तथा इच्छाका मल्लयुद्ध करता हुआ उसकी उन महत्तर सम्भावनाओसे अवगत होता है जिन्हे स्वय प्रकृतिने मनुष्यके-आगमनकी प्रतीक्षामे अव्यवहृत छोड दिया था। वह मनुष्यके प्रयासका सामना करती है भौतिक बाधा तथा निरोधसे, एक सदा पीछे हटती जाती 'नही' से, स्वय मनुष्यके अज्ञानके आवरणसे, अपने सकटोके भयसे। और, आध्यात्मिक साहसिकताके अभियानके विरोधमे, ज्ञानके नूतन अभिवर्द्धनो, इच्छाके नये रूपो या आचरणके नये मानकोके विरोधमे मनुष्य-की अमुक सहजप्रवृत्तियाँ जो प्रतिरोध खडा करती हैं और जिससे उन्हे वुद्धिहीनतासे पाप और अधर्म इसलिये माना जाता है कि जो प्रतिष्ठित हो चुका है उसका वे उल्लघन करते हैं, उस प्रतिरोधको प्रकृतिकी देन मानते हुए यह कल्पना व्यक्त की जा सकती है कि भौतिक प्रकृतिके लिये, उसके अपने प्राथमिक जड-स्वरूपके लिये, स्वय प्राण ही, अपने आरम्भ, विच्युतियो, ठोकरो और कष्टके साथ, प्रकृतिके निश्चित भौतिक सामजस्य और ठीक-ठीक मापके विधानके विरुद्ध अपराध है, और मन तो और भी वहुत अधिक, क्योकि वह जीवटवाला होता है, असीम साहसिकताका पाप करता है, उसकी अन्तिम चाह अमितकी ओर, नियमातीतकी ओर, अनन्तकी ओर होती है।

परन्तु वास्तवमे, भौतिक प्रकृतिरूपिणी देवी अपने साथ मनुष्यके व्यवहारोमे जिस चीजसे सरोकार रखती है वह वस मनुष्यके प्रयासको अपनी ऊर्जाओके प्रतिदानके न्यायपूर्ण नियमका पालन ही है। जहाँ कही भी मनुष्यके ज्ञान तथा इच्छाका प्रकृतिकी ऊर्जाओकी रेखाओके साथ सामजस्य हो सकता है, प्रकृतिपर उसकी जो क्रिया होती है उसीके अनुसार वह प्रतिदान देती है, जहाँ वह ज्ञान और इच्छा प्रकृतिपर अपर्याप्त रूपसे, अज्ञानपूर्वक, असावधानीमे, सभूल क्रिया करती है, प्रकृति उसके प्रयत्नको अभिभूत करती या चोट पहुँचाती है, मनुष्य जैसे-जैसे अधिक इच्छा करता और आविष्कार करता है, प्रकृति उसे अपनी शक्तियोकी महत्तर उपयोगिता और फलके रूपमे प्रतिदान देती है, उसकी अधिकारप्राप्तिको स्वीकृति देती और उसके वलात्कार-का समर्थन करती है। मनुष्यने प्रकृतिके उसकी महत्तर गुप्त सम्भावनाओवाले स्वरूपके माथ एकत्व पा लिया है, उसका उसके साथ योग हो गया है,—मनुष्यने उन सम्भावनाओको मुक्त किया है और जैसा वह उनका उपयोग करता है वैसा ही उसे

प्रकृतिसे उनका प्रतिदान मिलता है। वह प्रेक्षण करता है और प्रकृतिके लिये उसकी रेखाएँ विस्तृत करता है और प्रकृति एक यथातथ सचालन और आज्ञाकारिताके साथ प्रत्युत्तर देती है। वर्त्तमानमे वह यह सब क्रियाकी अमुक भौतिक सीमाओ और रेखाओ-के अन्तर्गत कर सकता है और एक परिवर्त्तन तो होता है किन्तु आमूल परिवर्तन नही। ऐसे सकेत हैं कि भौतिकपर मानसिक और चैत्यिक ऊर्जाके अधिक सीधे चाप द्वारा प्रत्युत्तरको अधिक परिवर्तनशील बनाया जा सकता है, भौतिकका अटल दीखनेवाली सीमाओ और अभ्यासोसे विलगाव हो जाता है, और यह धारणागम्य है कि जैसे-जैसे ज्ञान और इच्छाका उच्चतर और अधिक उच्चतर शक्तियोके प्रदेशमे प्रवेश होगा, भौतिक ऊर्जाकी क्रिया भी पूरी प्रत्युत्तरशील हो जा सकेगी, उसके लिये जिस किसी भी प्रतिदानकी माँग व्यक्त होगी, वह दे सकेगी, उसकी रेखाएँ पूर्णतया नमनीय हो सकेगी। परन्तु इस अतिक्रान्तिको सर्वेच्छा द्वारा निर्धारित महान् आद्य नियमोका आदर करना ही होगा भौतिक ऊर्जाका निर्वन्ध उपयोग, शायद वडा रूपान्तर भी हो सकेगा, परन्तु उसके मूलभूत नियम एव उद्देश्यसे विलगाव नही होगा।

इस सबसे एक विधानका शासन, एक ऊर्जाके न्यायपूर्ण प्रतिदानका सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है जो कि कर्मका तटस्थ सार-तत्त्व है, किन्तु उसकी आँखोमे नैतिक मानकोके लिये आदर नही होगा, उसमे नैतिक तात्पर्य नही होगा। भौतिक ज्ञान और उसकी शक्तियोतक पहुँचनेके लिये मनुष्य निर्दय और अनैतिक साधनोका आविष्कार कर सकता और करता है या प्रकृति जिन ऊर्जाओको मनुष्यके लिये प्राप्य वनाती है उन्हें वह अनैतिक उद्देश्योकी ओर मोड दे सकता है, परन्तु यह बात उसकी इच्छा और उसके अपने अन्तरात्माके वीचकी और अन्य प्राणियोके साथ उसके सम्बन्ध-की होती है, यह मनुष्य और अन्य प्राणियोके मतलबकी बात है, प्रकृतिके मतलबकी नही। भौतिक प्रकृति अपने परिणाम और पारितोषिक निष्पक्ष रूपसे देती है और मनुष्यसे उसकी माँग नैतिक विधानके पालनकी नही, अपितु भौतिक विधानके पालनकी रहती है वह केवल यह चाहती है कि उसकी भौतिक रेखाओका ठीक-ठीक ज्ञान और सतर्क व्यवहार हो, इसके अतिरिक्त और कुछ नही। विज्ञानकी वहुत सारी निर्दयताओ-पर उसके किसी कर्मिक प्रत्युत्तरकी कार्रवाई नही होती, अपनी दी गयी युक्तियोके अनैतिक व्यवहारके विरुद्ध उसका विद्रोह नही होता, वह अज्ञानका दण्ड वहुत देती है परन्तु दुष्टताका कोई भी नही। यदि प्रकृतिके नीचेके चक्करोमे ऐसा कुछ है जो नैतिक विधानके अमुक उल्लघनोके विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है तो उसका आरम्भ एक ऊँचे स्तरपर, अस्पष्ट रूपमे, प्राणसे होता है। उस प्रकारकी एक प्राणिक प्रतिक्रिया वहाँ रहती है और वह शारीरिक-प्राणिक प्रभाव उत्पन्न करती है, परन्तु यह ध्यानमे रखना

है कि इस प्रकारकी प्रतिक्रियामे हमारी सीमाओ और मापोका पालन नही होता, वल्कि वैसी ही अविवेकशील निष्पक्षता रहती है जैसी कि भौतिक प्रकृतिके कार्योमे। इस क्षेत्रमे हमे एक प्रातिनिधिक दण्डके विधानको स्वीकार करना होता है, सदा ही दोषीके पापोके लिये निर्दोषपर प्रहार होता मिलता है, और यह चीज यदि मानव-प्राणीके हाथो भुगतायी जाय तो हमे वीभत्स और पाशविक रूपसे अनैतिक और अन्याय-पूर्ण लगेगी। अपनी भूलो और अतिशयताओके लिये अपने आपको दण्डित करनेमे प्राण उस प्रतिक्रियाको अतिशयता या भूल करनेवालेतक सीमित रखनेकी कोई भी परवाह नही करता लगता। यहाँ ऊर्जा-रेखाओकी एक ऐसी व्यवस्था है जो कमसे कम प्रथमत या अभिप्रायमे नैतिक नही होती, वल्कि प्रतिदानोके एक ऐसे तन्त्रसे सम्वन्ध रखती है जिसपर हमारे नैतिक विचारोका शासन नही है।

प्राणकी गतिविधि भी सचमुचमे नैतिक रेखाओपर उतनी ही थोडी अधिष्ठित लगती हैं जितनी कि भौतिक गतिविधि। प्राणका मूलभूत ऋत और न्याय है प्राणिक ऊर्जाओके घुमावका अनुसरण, प्राण-शक्तिकी क्रियाओका पालन और अपनी निजी शक्तियोको प्रतिदान। उसका कार्य है अतिजीवी होना, अपना पुनरुत्पादन करना, वर्द्धित होना, अधिकृत करना और भोग करना, अपनी क्रिया, बल, सत्त्व और सुखको उतना दीर्घ, वर्द्धित और सुनिश्चित करना जितना कि पृथ्वी करने दे। इन उद्देश्योकी प्राप्तिके हेतु प्राणके लिये सभी साधन अच्छे हैं वाकी जो कुछ है वह प्राणिक ऊर्जा और उसके भौतिक साधनोके वीच सही सन्तुलनकी वात है, उसकी शक्तियोकी अभिव्यक्ति-की और उन शक्तियोके वदले उसे जिस प्रकारका प्रतिदान मिलता है उसकी वात है - आरम्भमे हमे केवल इतना ही दीखता है,—और प्राणमे मनका उन्मज्जन हो जानेके वाद भी, और जव तक मन प्राणशक्तिका आज्ञाकारी रहता है, यही वात रहती है। प्राणिक प्रकृति अपने उद्देश्योका कार्यान्वियन पर्याप्त त्रुटिहीन रूपसे करती है, परन्तु नैतिक अर्थमे निर्दोप रूपसे करती हो ऐसा तो विल्कुल नही कहा जा सकता। आत्म-सरक्षणके लिये मृत्यु उसका द्वितीय साधन है, परिवर्तन, पुनर्नवीकरण और प्रकृतिके लिये विनाश उसका सतत उपकरण है, अधिकतम वार निजको या दूसरोको दिया गया कष्ट विजय और सुखके लिये उसका मूल्यदान है। सकल प्राण अन्य प्राणपर ही जीता है, अनधिकार प्रवेश और शोपण द्वारा अपने लिये स्थान वनाता है, साहचर्य द्वारा, किन्तु उससे भी अधिक, सघर्ष द्वारा अधिकार करता है। प्राण क्रिया करता है प्राणियोके पारस्परिक आघात और एक दूसरेके पारस्परिक उपयोग द्वारा, परन्तु उसकी क्रिया पारस्परिक सहायता द्वारा अशत ही और पारस्परिक आक्रमण तथा भक्षणके द्वारा वहुत अधिक होती है। और उसकी पुनरुत्पत्ति एक ऐसे साधनसे वँधी

है जिसे नैतिक बोध, अधिकतम सहनशील रहनेकी अवस्थामे भी, पाशवोचित और निम्न अनुभव करता है, उसे अपने-आपमे अनैतिक माननेको प्रवण रहता है, और प्रखर सन्यासवाद या पवित्रतावादकी अवस्थामे उठनेपर तो नीच कहकर परित्यक्त करता है। और फिर भी जब हम एक बार अपनी सीमित मानवीय धारणाओको अलग रख देते हैं और इस विशाल, वैविध्यमय और अद्भुत प्राणिक प्रकृतिको, जिसमे हमने जन्म लिया है, निष्पक्ष आँखोसे देखते हैं, तो हमे उसके अन्दर एक रहस्यमयी पूर्णतावाली व्यवस्था मिलती है, सबोधिकी एक गभीर तथा असीम्य बुद्धिमत्ताका कार्य मिलता है, उसके पूर्णदृष्टि-सम्पन्न कार्यमे एक विशाल बल तथा सकल्प मिलता है, हमे जो विसवादोका तन्त्र प्रतीत होता है उसमेसे निर्मित सौन्दर्य तथा सामजस्यका एक महान् सम्पूर्ण मिलता है, जीवन तथा सृष्टिका एक सशक्त हर्ष मिलता है जिसे वैयक्तिक मृत्यु अथवा कष्टका कोई भारी शुल्क भी थका नही सकता, निरुत्साहित नही कर सकता और जिसमे बल्कि ये वस्तुएँ, जब हम उसकी गतिधाराके महत्तर आनन्दके साथ एकत्व लाभ करते हैं, उभार ही लाती लगती हैं और उसके उल्लासके रगकी उपस्थितिमे इन छायाओका मूल्य रहता नही लगता। यहाँ भी प्राणिक प्रकृतिके इन डगोमे और उसकी ऊर्जाओके नियममे अनन्तका एक सत्य है, और प्राणके लिये,—मानो प्राणके ही निमित्त और सृष्टिके आनन्दके निमित्त,—'अनन्त' के आग्रहके इस सत्यके लिये ऋत तथा सामजस्यके, उचित सन्तुलन और मापके, ऊर्जाके उचित क्रिया और प्रतिक्रियाके अपने मानक हैं जिनका निर्णय मानवीय नियमसे नही किया जा सकता। यह मनसे पहले आनेवाला और निर्व्यक्तिक एव अचल तपस तथा आनन्द है और फलत अचल न-नैतिक व्यवस्था है।

फिर, प्राणिक प्रकृतिके साथ मनुष्यका सम्बन्ध है पहले तो उसके नियमका पालन और अनुसरण करते हुए उसके साथ एक होनेका, बादमे उसे चेतन बुद्धि तथा इच्छा द्वारा जानने और निर्देशित करनेका और उस निर्देशन द्वारा प्राणके प्रथम विधानका, उसके नियम और अभ्यास, सूत्र और आरम्भिक अर्थका अतिक्रमण करनेका। पहले वह प्राणकी सहजवृत्तियोका आज्ञाकारी रहनेको बाध्य होता है और उसे पशुकी तरह भी कार्य करना पडता है, किन्तु वह जो कुछ करता है उसमे एक मनोभावापन्न प्रेरण, एक अधिकाधिक स्पष्ट चेतना और उत्तरदायी इच्छाके अभिवर्द्धित तत्त्व रहते हैं। पहले उसे भी अपने अस्तित्वके लिये, अपने लिये और अपनी जातिके लिये स्थान बनानेके लिये, वर्द्धन, अधिकार और भोगके लिये, अपनी जीवन-गतिकी प्राथमिक प्राणिक रेखाओको दीर्घ, अभिवर्द्धित तथा सुनिश्चित करनेके लिये प्रयास करना होता है। वह भी ऐसा दूसरोकी तरह ही, युद्ध और हत्या द्वारा, भक्षण द्वारा, अनधिकार प्रवेश

द्वारा, पृथ्वी,उसके उत्पादनो,उसकी वुद्धिहीन सन्तानो और अपने साथी मनुष्योपर अपना भार लादता हुआ करता है। उसकी प्राणिक प्रकृतिका धर्म है प्रथमत वल, द्रुतता और साहसके प्रति और उत्तरजीविता, प्रभुता और सफलताकी सारी सहायिका वस्तुओके प्रति दायित्व। उसके अन्दरकी जो वस्तुएँ नैतिक सार्थक्यका विकास करती हैं उनमेसे भी अधिकाशका,—उदाहरणार्थ आत्म-नियन्त्रण, तपस्या, अनुशासनका,—मूल स्वरूप नैतिक नही, प्रत्युत क्रियामय है। वे प्राणिक-क्रियाशील ऊर्जाएँ हैं, नैतिक ऊर्जाएँ नही, वे मनोभावापन्न प्राण-शक्तियोका सम्यक् रूपसे घनीभूत और व्यवस्थित प्रयोग हैं और वे जो प्रतिदान खोजती और पाती हैं वे प्राण और क्रियाकी श्रेणीके हैं, वे हैं वल, सफलता, प्रभुता, प्राणिक अधिकार और विस्तारके वर्द्धित सामर्थ्य, या इन वस्तुओके प्राणिक-सुखात्मक परिणाम, मनुष्यकी कामनाओकी तुष्टि, प्राणिक सुख, भोग और प्रसन्नता।

मनुष्यका पहला व्यवसाय है व्यक्ति और जातिके जीवनकी रेखाओमे अभि-वर्द्धनके लिये अपनी सचेतन वुद्धि तथा इच्छाको लाना। यहाँ, फिर, जीवन-ऊर्जा अपने प्रतिदान प्रथमत इन दो शक्तियोको और किसी नैतिक शक्तिको द्वितीयत और अशत ही देती है। जीवनके प्राथमिक मूल्योमे युद्धका पुरस्कार वलवान्को मिलता है, दौडमे जीत द्रुतगतिवान्को मिलती है, और जो दुर्बल और मन्द हैं वे अपने महत्तर पुण्यके वलपर लक्ष्य और मुकुटका दावा नही कर सकते, और इसमे एक न्याय है वल्कि पुरस्कारका नैतिक सिद्धान्त यहाँ अन्याय हो जायगा, क्योकि वह ऊर्जाके सही प्रतिदानोके सिद्धान्तका खण्डन होगा जव कि वह सिद्धान्त कर्मके किसी भी सम्भव नियमके लिये मूलभूत होता है। मनकी शक्तियो द्वारा होनेवाले कर्मकी वात उठाएँ तो वहाँ भी महत्तर सफलताएँ, श्री और विजय महान् वुद्धिशाली मनुष्यो और महान् इच्छावाले मनुष्योके हाथ लगती हैं, न कि अनिवार्यत अधिक नैतिक वुद्धि या अधिक नैतिक-भावापन्न इच्छाके हाथ। जीवनके इस सक्रिय पहलूमे नैतिकताका मोल केवल विवेकशील नियन्त्रण या एकाग्रकारी तपस्याके रूपमे रहता है। जीवन-देवी उनकी सहायता करती है जो अत्यधिक वुद्धिमानी और निष्ठासे उसके अन्तर्वेगोका अनुसरण करते हैं या उनकी सहायता करती है जो उसके विस्तरणके महत्तर अन्तर्वेगोकी सहायता अत्यधिक सवलतामे करते हैं। इन्हे ही जीवनसे अधिकतम विवेकयुक्त लाभ मिलता है और इन्हे ही उसके वल, क्रिया और हर्पकी अधिकतम प्राप्ति होती है।

यह महत्तर गतिधारा एक साथ ही अधिक हर्पके साथ-साथ अधिक कष्टकी शक्तिको लाती है, जीवनके महत्तर पुण्योके साथ-साथ जीवनके महत्तर पापोको लाती है। जैसे भौतिक प्रकृतिके सकटोको, वैसे ही प्राणिक ऊर्जाके सकटोको भी मनुष्य उसके

उन निरापद नियमो और सीमाओका उल्लघन करके उठाता है जिन्हे वह पशुपर स्वभाविक रूपसे आरोपित करती है। अपनी ऊर्जाओके उपयोगमे प्रकृतिके अपने सन्तुलन होते हैं, निरापद माप और प्रतिबन्ध होते है जो जीवनयापनको यथासम्भव निरापद बनाते हैं,—क्योकि जीवनमात्र स्वभावत एक सकट और साहसिकता है, परन्तु प्रकृतिमे एक विवेक रहता है जो साहसिकताके तत्त्वको उतना न्यून कर देता है जितना कि उसके लक्ष्योसे सगत रहता है और मनुष्यकी बुद्धि और भी अधिक अच्छा करनेके लिये, सकटमय जीवनके बदले निरापद जीवन व्यतीत करनेके लिये, अपने जीवनकी व्यवस्थामेसे अधिक विकट अनिश्चितियोको बहिष्कृत करनेके लिये प्रयत्न करती है। परन्तु मनुष्यकी विस्तरणकी सहजवृत्ति निरन्तर प्रकृतिके सन्तुलन भग करती रही है और मनुष्यकी अपनी सीमाओ और मापोकी अवहेलना करती रही है। उसमे उत्कण्ठा है अनुभवकी, सामान्य, ज्ञात तथा निरापदके अनुभव तथा भोगकी तरह अमित तथा अज्ञातके बल, अनुभव और भोगकी, सन्तुलित औसतकी तरह सकट-शाली चरमत्वोकी। वह जीवन-शक्तिकी सारी सम्भावनाओकी थाह लेता रहेगा, उसकी सारी ऊर्जाओके सही और गलत दोनो तरहके उपयोगोकी जाँच करेगा, अपने कष्टका शुल्क चुकायगा और अपनी अधिक भव्य विजयोका पुरस्कार पायगा। प्राणकी विधाओमे कार्य करता मन जहाँ तक ऐसा कर सकता है, मनुष्यको प्राणकी रेखाओका अभिवर्द्धन और उसकी क्रिया तथा सम्भावनाओका रूपान्तरण करना है। अबतक यह कार्य रूपोको श्रेष्ठतर करते रहना रहा है और कभी भी इतनी दूरीतक नही गया है कि आमूल परिवर्तन कर दे और उसके प्रथम स्वरूपको पददलित कर दे। हममे अधिकतर लोगोका अधिकतर भाग आवर्द्धित, मनोभावापन्न, युक्तिशील और चेतन इच्छावान् पशुका है, इस स्वरूपसे आगे हम अपने आन्तरिक जीवनके रूपान्तरण द्वारा ही जा सकते हैं, और प्राणिक प्रकृतिके रूपान्तरकी और उसे उच्चतर अध्यात्म-तत्त्वका उपकरण बनानेकी आशा हम केवल तब कर सकते हैं जब कि हम उसे ऊपर उठाते हुए किसी ऐसे आध्यात्मिक बलके साथ एकीभूत कर दे जिस तक हम अभी तक नही पहुँचे हैं। तब मनुष्य यथार्थत अपने जीवनका स्वामी, अपनी प्राणिक एव भौतिक प्रकृतिका नियन्ता हो सकता है जिसका प्रयास वह कर रहा है।

इस बीच अपने मनके अन्तर्मुख मोड द्वारा ही वह किसी अतिक्रान्ति-जैसी वस्तु तक, जीवनके लिये नही, अपितु सत्यके लिये, सौन्दर्यके लिये, अन्तरात्माके बलके लिये, शिव एव ऋत, प्रेम एव न्यायके लिये जीवनयापन जैसी किसी वस्तु तक पहुँचता है। यही प्रयास ऊर्जाके निम्नतर चक्करोमे एक उच्चतर वृत्तकी शक्तियोको, कार्य और कार्यफलके, कर्मके उस मानसिक तथा सत्यत नैतिक विधानके अशको लाता है जो अन्तमे उसका आध्यात्मिक विधान बन जानेकी ओर मुडता है।

तीन

मन:प्रकृति और कर्म-विधान

मानव आखिरकार अपने मानवत्वके सारतत्त्वमे या अपने अन्तरात्माकी आन्तरिक सत्यतामे कोई ऐसी प्राणिक और शारीरिक सत्ता नही है जिसे मानसिक इच्छा तथा बुद्धिकी विशेष शक्ति तक उठा दिया गया हो। यदि वैसा होता तो जिस मतके अनुसार हमारा अस्तित्व जीवनेच्छाकी, एक ऐसी प्राणशक्तिकी अभिव्यक्ति है जो अपनी ही क्रीडा, उन्नयन, कार्यकुशल शक्ति, विस्तारके अतिरिक्त किसी अन्य लक्ष्य द्वारा चालित नही होती, तो इसकी अच्छी सम्भावना होती कि वही मत हमारे विश्वका पर्याप्त सिद्धान्त हो और हमारा कर्म-विघान उसी एक लक्ष्यके साथ पूरा समस्वर और उसी प्रधान तत्त्व द्वारा व्यवस्थित हो। अवश्य ही इस जगत्की बाह्य क्रियाओके बडे भागमे, या यदि हम अपनी आँखोको प्रधानत विश्वात्माकी प्राणिक क्रीडापर गडाते हुए उन क्रियाओको मनुष्यका प्रमुख व्यवसाय और मुख्य महत्त्वपूर्ण वस्तु मानते हैं, तो मानव-सत्ताके विषयमे इस सीमित दृष्टिको एक आभासी औचित्य मिल जाता है। किन्तु मनुष्य जितना अधिक अपने अन्दर देखता और जितना अधिक वह अन्दर जाता और अपने मन तथा अन्तरात्मामे अन्तरग और प्रधान रूपसे निवास करता है, उतना ही अधिक वह यह आविष्कार करता है कि वह शरीरकी पेटीमे रहनेवाला और प्राणकी क्रियाओके जालमे उलझा हुआ मनु, मनोमय पुरुष है। वह शारीरिक शक्तियोके यन्त्र-विन्यासका विचारशील, इच्छावान् तथा अनुभवकारी परिणाम होने या प्राणिक शक्तियोका समझदार सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा अधिक कुछ है। मनुष्यकी सत्ताकी एक मनोमयी ऊर्जा है जो पार्थिव क्रियासे और मनुष्यकी अपनी पार्थिव प्रकृतिसे ऊपर उठी रहती, उनमे व्याप्त रहती और उनका उपयोग करती है।

मनुष्यकी सत्ताकी यह प्रकृति हमे कर्मके प्राणवादी विधानसे सन्तुष्ट नही रहने देती अध्यात्म-सत्ताकी जागृत मनोमयी ऊर्जा प्राणमयी ऊर्जाकी रेखाओमे हस्तक्षेप करती, उन्हे ऊपर उठाती और परिवर्तित करती है, यह ऊर्जा भौतिक विश्वमे उन्मज्जित होती है, यहाँ पृथ्वीपर अपने आवासके लिये मानव-रूपकी सृष्टि करती है, मनुष्यकी सश्लिष्ट प्रकृतिको अपनी अभिव्यजिका शक्ति, अपने सामजस्योकी स्वरलिपि बनाती है। भौतिक प्रकृतिकी प्रतीयमान निश्चेतना, वह सुन्दर और कराल, दयालु और निर्दय, चेतन किन्तु निर्नैतिक प्राणशक्ति

जो कि हमारे सामने दीखनेवाली प्रथम वस्तु है, इस लोकमे विश्वपुरुषकी समूची स्वाभिव्यक्ति नही, अतएव समूची प्रकृति भी नही। उसके अन्दर मनुष्य आता है प्रकृतिके उच्चतर धर्मको और फलत कर्म-रेखाओके उच्चतर तन्त्रको व्यक्त और चरितार्थ करनेके लिये। मनोमयी ऊर्जा अपना विभाजन करती और बहुतेरी दिशाओ-मे दौडती है, उसकी अपनी क्रियाके स्तरोका ऊपर उठता सोपान है, उसके सक्रिय लक्ष्यो और उद्देश्योका बडा वैविध्य और सम्मिलन है। उसकी बुनाईकी अनेक लडियाँ हैं और वह प्रत्येकका अनुसरण उसकी अपनी रेखापर करती है और एकके धागोमे दूसरीके धागोको अनेक तरहमे मिलाती है। उसमे एक ऊर्जा विचारकी होती है जो ज्ञानके प्रतिदान और सतत वर्द्धनके लिये निर्गत होती है, एक ऊर्जा इच्छाकी होती है, जो चेतन अधिकार, सत्ताकी परिपूर्ति और प्रतिदान और वर्द्धनके लिये निर्गत होती है, एक ऊर्जा चेतन सौन्दर्य-रसिकताकी होती है जो सौन्दर्यके सर्जन और उपभोगके प्रतिदान और वर्द्धनकी टोहमे रहती है, एक ऊर्जा भावावेगकी होती है जो अपनी क्रियामे सत्ताकी भावप्रवण शक्तिके उपभोग और तुष्टिका प्रतिदान और सतत वर्द्धन माँगती है। ये सारी ऊर्जाएँ एक प्रकारमे अपने लिये कार्य करती हैं और फिर भी एक दूसरीपर निर्भर करती हैं और विकट रूपसे एक दूसरीकी सगिनी और परस्परमिश्रित हैं। साथ ही मन जडतत्त्वमे उतर आया है और उसे प्राणिक तथा शारीरिक ऊर्जाके इस जगत्मे और इसके द्वारा कार्य करना होता है, प्राणिक तथा शारीरिक कर्मकी रेखाओको मजूर करना और उनका कुछ करना होता है।

तो, चूँकि मनुष्य मनोमय पुरुष है, अध्यात्म-सत्ताकी मनोमयी स्वाभिव्यक्तिके विकासक्रमका साधन है, अत वह अपने कर्म और प्रकृतिके नियमको प्राणिक तथा शारीरिक विधिके प्रति आज्ञाकारी रहने और अपने प्राणिक तथा शारीरिक अस्तित्वके अधिक महान्, अधिक व्यवस्थित, अधिक पूर्ण भोगके लिये, चिरस्थायीकरण, पुन-रुत्पादन, स्वत्व, भोग और विस्तरणके लिये उसका बुद्धियुक्त व्यवहार करनेतक सीमित नही कर दे सकता। मनोमय पुरुष और प्रकृतिका एक उच्चतर धर्म है और मनुष्य उसके प्रति चेतन होगा ही और उसे अपने प्राण तथा कर्मपर आरोपित करना चाहेगा ही। आरम्भमे वह प्राणकी आवश्यकताओ और प्राणकी ऊर्जाओकी क्रियासे बहुत ही प्रमुख रूपसे शासित होता है, और उनपर तथा अपने चारो ओरके जगत्पर अपनी मनोमयी ऊर्जाका प्रयोग करनेमे ही वह अपनी ज्ञान तथा इच्छाकी शक्तियोका प्रथमारम्भिक विकास करता और अमार्जित अन्तर्वेगोको शिक्षित करता है जो उसे उसके भावावेग-सम्बन्धी, सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी और नैतिकता-सम्बन्धी विकासक्रमके मार्गमे ले जाते हैं। परन्तु सदा ही एक अस्पष्ट तत्त्व रहता है जिसे मनोमयी ऊर्जाओकी क्रियामे

उन्हीके कारण रस मिलता है और यही तत्त्व, वह आरम्भमे आत्मचेतना तथा बुद्धिमे चाहे कितना ही अपूर्ण क्यो न हो, मनुष्यमे प्रकृतिका जो विशिष्ट अभिप्राय है उसे प्रत्युपस्थित करता है और उसके मानसिक तथा अन्तत उसके आध्यात्मिक विकास-क्रमको अवश्यम्भावी कर देता है। अपने चारो ओरके बाहरी जगत्के आग्रहके कारण और उस जगत्के सुयोगोको व्यवहृत करने और उसके घेरे और सकटोका सामना करनेकी आवश्यकताके कारण मनुष्यका मन प्राण और वाह्य कर्मसे और भौतिक तथा प्राणिक शक्तियोके साथ अपने व्यवहारोके लिये विचार, इच्छा और प्रत्यक्षवोधकी उपयोगितासे वहुत आविष्ट रहता है, और जो मनोमयी प्रकृति अपने आन्तरिक स्व-विकासकी माँग करती है, ज्ञान, प्रभुता, सौन्दर्य और शुद्धतर भावुक आनन्दकी खोज उन्हीके निमित्त करती है, उस प्रकृतिकी अधिक उत्कृष्ट और अधिक निष्काम क्रिया, उसके सचालक हेतुका सूक्ष्मतर ढाँचा, और मनोमयी प्रकृतिकी इस उच्चतर ऊर्जाके विशिष्ट व्यवसाय, इस पूर्वव्यवस्तताको उप-उत्पत्तियोकी तरह, और हर दिशामे, अप्रधान वस्तुएँ लगते है जिन्हे मनोभावापन्न प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी आवश्यकताओ और माँगोके हेतु सदा ही स्थगित किया जा सकता और उनके नीचे गौण स्थानमे रखा जा सकता है। परन्तु मानवजातिका अधिक उत्कृष्ट और अधिक विकसित मन सदा एक विपरीत आत्म-दर्शनकी ओर अभिमुख हुआ है, उमे ही हमारी सत्ताका अधिकतम विशिष्ट और मूल्यवान् तत्त्व माननेको प्रवण रहा है और उसकी पुकारो या उसके नियोजक आदेशके लिये वहुत कुछ और कभी-कभी सब कुछ वलिदान करनेको उद्यत रहा है। तव स्वय जीवन, वस्तुत मनुष्यके लिये क्रमविकामके हेतु, नवानुभवके सुयोगके हेतु, कार्य-क्षेत्र ही, मानसिक और आध्यात्मिक सत्ताके कठिन प्रयास और प्रभुत्वकी परिस्थिति ही हो जाता है। अव, इम मनोमयी ऊर्जाकी रेखाएँ क्या होगी और प्राणिक तथा शारीरिक कर्मकी रेखाओंको वे किस भाँति प्रभावित करेगी और उनमे किस भाँति प्रभावित होगी ?

जीवन-रेखाओके सहारे प्रक्षिप्त होती-मनुष्यकी मनोमयी ऊर्जाकी तीन गतियाँ हैं, वे एक-एक करके आनेवाली गतियाँ हैं, फिर भी परस्पराच्छादिनी है और एक दूसरीमे प्रवेश कर जाती हैं। उन्होंने मनुष्यके कर्म-विधानकी एक त्रिविध लडी वनायी है। पहली वह है जो प्राथमिक, स्पष्ट, सार्वभौमिक है, मनुष्यके प्रारम्भोमे प्रधान हैं,—इसमे मनुष्यका मन अपने आपको जडगत जीवनके विधानके अधीन करता और उसके अनुकूल वनाता है ताकि वह पार्थिव अस्तित्वका अधिकतम उपयोग अपने ही सुख और लाभके लिये, अर्थ और कामके लिये कर मके, और उसकी पहलेसे विद्यमान रेखाओमे केवल वही परिवर्तन या मशोधन होता है जो मानवीय बुद्धि,इच्छा, भावावेग

और रसबोधके आघातमात्रमे अतर्निहित है। ये निस्सन्देह वे शक्तियाँ हैं जो सारे प्राणियोमे सर्वसामान्य रहनेवाले प्रथम अमार्जित, सकीर्ण और मूलत पशुगत लक्ष्यो और गतिविधिको चेतन रूपसे नियमित और अधिकाधिक निपुण तथा विलक्षण व्यवहारसे ऊपर उठाती, बहुत ही अभिवर्द्धित करती और असीम रूपसे विरल और सूक्ष्म कर देती हैं। और मनोभावापन्न प्राणिक जीवनका यह तत्त्व, उसकी गतिविधिकी ये रेखाएँ जो कि औसत आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और गृहस्थ मनुष्यके जीवनके मुख्य धूसर ठोस उपादान होती है, एक विशाल आयाम और भव्य चमक धारण कर सकती हैं, परन्तु अपने विशिष्ट, अपने मूल और अवतक टिके रहनेवाले स्वभावमे ये सदा विचारशील, इच्छाशील, अनुभवशील, परिमार्जनशील मानव-पशुकी गतिविधि-की रेखाएँ, उसके कर्मकी विधि रहती हैं। हम जव धारणा और कर्मके उच्चतर स्तरमे चढ जाते हैं तो इनका तिरस्कार नही करना है, इन्हे अपनी समग्र सत्ता-विधिमेंसे वहिष्कृत नही करना है, परन्तु ये फिर भी मानवीय सम्भावनाका लघु भाग ही हैं, और इन्हे यदि मानव-प्राणीके सर्वोपरि व्यवसाय या सवसे अधिक आदेशक विधानके रूपमे देखा जाय तो मानवीय सम्भावना सीमित और अवनत हो जाती है, क्योकि वर्द्धित, सक्रिय और समृद्ध करनेका वल इनमे अवश्य ही एक विशेष बिन्दुतक रहता है, परन्तु सत्यत स्वातिक्रमणतक उठानेका वल नही, अतएव आरोहणके लिये इनका उपयोग केवल तव रहता है जव कि किसी महत्तर विधान और किसी उदात्ततर हेतुके द्वारा ये स्वय उन्नीत और रूपान्तरित हो चुकी हो। इस ऊर्जाका सवेग एक वहुत ही सवल मानसिक क्रिया हो सकता है, बुद्धि, इच्छावल और सौन्दर्यरसिक वोधका बडा उत्पादन और भावोच्छ्वास-शक्तिका व्यय उसमे निहित हो सकते हैं, परन्तु वह जो प्रतिदान माँगती है वह प्राणिक सफलता, भोग, स्वामित्व और तुष्टिका है। निस्सन्देह मन अपनी शक्तियोको प्रयासका और अपनी परिपूर्णताको पारितोपिकका भोजन देता है, परन्तु वह अपने चारागाहसे बँधा रहता है। यह एक मिश्र गति होती है जिसके साधन होते हैं मानसिक, प्रतिदान होते हैं बहुत प्रधान रूपसे प्राणिक, प्रतिदानके मूल्यो-को उसके मानदण्ड मापते हैं बाह्य सफलता और विफलतासे, बहिर्वृत्त या बहिर्जात सुख और दु खसे, सौभाग्य और दुर्भाग्यसे, जीवन और शरीरके परिणामसे। इस सबल प्राणिक पूर्वव्यवस्तताने ही हमे कर्मके विधानकी प्रचलित धारणाका एक तत्त्व दिया है, यह भावना दी है कि प्राणिक सुख और दु खका दिया जाना ही विश्व-न्यायका माप है।

जीवन-रेखाओपर चलनेवाले मनकी दूसरी गतिधारा प्रमुख क्रियामे तव आती है जब मनुष्य अपने अनुभवमेसे मानसिक नियम, मानदण्ड या आदर्शको, एक मूर्त्त-रूपित अमूर्तत्त्वको प्रस्तुत करता है जिसका प्रथम इगित जीवनानुभवने किया है, परन्तु

वह उससे आगे जाता है, प्राणिक ऊर्जाकी वर्त्तमान आवश्यकताओ और माँगोका अति-क्रमण करता है और जीवन-धर्मपर कोई आदर्श मानसिक नियम, ऋतत्वकी सामान्यी-कृत धारणाको मूर्त करनेवाला कोई सिद्धान्त आरोपित करनेके लिये उस ऊर्जापर वापस आता है। कारण, इसका मूल तत्त्व मनका यह आविष्कार या विश्वास है कि सारी वस्तुओमे विचार, इच्छा, अनुभव, बोध और कर्मका एक सही विधान, एक सही मानदण्ड, एक सही मार्ग है जो प्राणिक प्रकृतिकी सबोधिकी बातसे भिन्न है, जो प्रमुखतया प्राणिक चालक हेतुको लेकर प्राणिक प्रकृतिसे लाभ उठाना चाहते मनके प्रथम व्यवहारोकी बातसे भिन्न है, क्योकि उसने बुद्धिके मार्गका, आत्म-शासिका बुद्धिके नियमका सन्धान पा लिया है। यह चीज प्राणिक सुख और लाभ, अर्थ और कामकी खोजमे एक मानसिक सत्य, न्याय और ऋतकी धारणाको, धर्मकी धारणाको प्रविष्ट करती है। धर्मका अधिकाश व्यावहारिक भाग नैतिक होता है, नैतिक विधानका भाव होता है। मनकी पहली गतिधारा न-नैतिक होती है या नैतिकता बिलकुल ही उसकी विशिष्टता नही होती। उसमे यदि कर्मके मानदण्डकी धारणा रहती भी है तो ऐसे मानदण्डकी रहती है जो रूढि द्वारा समर्थित है, जीवनका वह नियम है जो उसे मिला हुआ है और इसी कारण सही है, या वह कोई ऐसी नैतिकता है जो कार्यसाधकतासे अविभेद्य है, जिसे इस कारण स्वीकृत और प्रयुक्त किया गया है कि उसे कार्यकुशलता, बल और सफलताके लिये, विजय, मान, अनुमोदन और सौभाग्यके लिये आवश्यक या सहायक पाया गया है। इसके विपरीत, धर्मका भाव अपने मूल तत्त्वमे प्रधानत नैतिक है। धर्म, अपने ऊँचे स्तरोपर, नैतिक नियमको मनुष्यके स्वीकरण और पालनके लिये उसके स्वाधिकारके नाते और उसे स्वय उसके अपने लिए उपस्थित करता है। धर्मका विशालतर भाव वास्तवमे सारी ऊर्जाओके सच्चे विधानकी एक धारणा है और सारी वस्तुओमे एक विवेकको, एक ऋतत्व, विचार और ज्ञानको, सौन्दर्यबोधके सच्चे नियमको केवल हमारे नैतिक क्रियाकलापमे ही नही, सारे अन्य मानवीय क्रिया-कलापमे अपने अन्दर सम्मिलित करता है। परन्तु फिर भी, धर्मकी भावनामे सदा ही नैतिक तत्त्वके बहुत प्रधान होनेकी, यहाँ तक कि मनुष्य जिस ऋतकी रचना करता है उसकी परिकल्पनापर उसका एकाधिपत्य होनेकी भी प्रवृत्ति रही है,—कारण, नैतिकताका सम्बन्ध जीवन-कर्ममे है, मनुष्य अपनी प्राणिक सत्ता और अपने साथी मनुष्यके साथ जो व्यवहार करता है उससे है और यही चीज मनुष्यका पहला सर्वोपरि व्यवसाय और उसकी सबसे अधिक ठोस कठिनाई रही है, और प्राणिक सत्ताकी कामनाएँ, अभिरुचियाँ, सहजवृत्तियाँ अपने-आपको पहले और अधिकतम दबावके साथ इस क्षेत्रमे ऋतके आदर्श और उच्चतर विधानकी माँगके विरुद्ध एक तीक्ष्ण और बहुत सफल

सघर्षमे डली पाती हैं। अत मनुष्यके सामने इस पर्वमे सही नैतिक कर्म ही मनके खडे किये गये अनेक मानदण्डोके वीच अवश्यमान्य वस्तुके रूपमे आता है, नैतिक दावा ही एकमात्र सुनिश्चित अनुल्लघ्य वस्तु है, नैतिक विधान ही उसका सारा धर्म है।

तथापि, आरम्भमे, मनुष्यकी नैतिक धारणाएँ और उसके अन्दर नैतिक ऊर्जाकी दिशा और उत्पत्ति और उसकी प्रतिदानकी माँग उसकी प्राणिक धारणाओ और माँगोसे विकट रूपमे मिश्रित हो जाती है और वादमे भी अवलम्ब और प्रोत्साहनके लिये उनपर वहुत सामान्यत और वहुत अधिक मात्रामे सहारा लेती हैं। मानवीय नैतिकता पहले तो कर्मके रूढिगत नियमोके वडे समूहको, रूढिगत और पारम्परिक आचरणको लेती है जिसके वडे भागका नैतिक मूल्य वहुत सन्दिग्ध रहता है, उसे ऋतत्वका आदेशात्मक अनुमोदन देती है और नैतिक आदर्शकी सच्ची चीजोको उस अमार्जित समूहके अन्दर सरका देती या उसपर अध्यारोपित कर देती है, परन्तु फिर भी वह उन्हे एक सर्वसामान्य और समान सहिताके हिस्सेकी तरह रखती है। वह प्राण-पुरुषको, उसकी कामनाओ, आशाओ और भय-भावनाओको आकर्षित करती है, मनुष्यको पुरस्कारकी आशा और दण्डके भयसे पुण्यकी ओर उत्तेजित करती है, इस साधनमे वह मनुष्यके अमार्जित और टटोलते सामाजिक आचरणकी पद्धतिका अनुकरण करती है कारण, जव वह अपने विधान और नियमको पा लेती है तव वह चाहे अच्छा हो या वुरा, उसे वह अन्तत समुदायकी व्यवस्था और कार्यकुशलताके लिये उत्तम समझती है और उसे आदेशात्मक वना देना चाहती है, मनुष्यकी प्राणिक सत्ताका विरोध होनेपर उसे स्वीकार करानेके लिये रिश्वत देती, डराती और साथ ही प्रभावित करती, शिक्षित करती, राजी भी करती है। मनुष्यकी नैतिकता अपूर्णताके साथ अपना समजन करती हुई, अधिकाशमे धर्मके मुखसे, मनुष्यको यह कहती है कि नैतिक नियम अपने-आपमे अवश्यमान्य है, परन्तु यह भी कहती है कि उसका अनुसरण मनुष्यके लिये व्यक्तिगत रूपसे वहुत कार्यसाधक है, नेकी ही अन्तमे सवसे निरापद नीति है और पुण्य अन्तमे सवसे उत्तम वेतनदाता,—क्योकि यह एक विधान-शासित जगत् है। उसे यह वचन दिया जाता है कि धर्मात्मा मनुष्यको समृद्धि मिलेगी, दुष्टका नाश होगा और पुण्यके मार्गमे सुखद स्थान आते हैं। या, यदि यह बात नही चली, क्योकि अनुभव इसे सुस्पष्ट रूप झूठा ठहराता है और स्वय मनुष्य भी अपने-आपको सर्वदा धोखा नही दे सकता, तो नैतिकता उसे यहाँ तो नामजूर किये जानेवाले परन्तु परलोकमे किसी रूपमे दिये जानेवाले प्राणिक पुरस्कारोकी जमानत देती है। स्वर्ग और नरकको, अन्य जीवनोमे आनेवाले सुख और दु खको रिश्वत और भयके रूपमे उसके, सामने रखा जाता है। मनुष्यकी आसानीसे तुष्ट होनेवाली वुद्धिको अधिक अच्छी तरह तुष्ट करनेके लिये

मनुष्यमे कहा जाता है कि जगत्पर एक नैतिक विधानका शासन है जो मनुष्यके पार्थिव सौभाग्योके परिमाणका निर्णय करता है, एक न्यायका शासन है और न्याय यही है कि प्रत्येक कर्मका उसका ठीक-ठीक प्रतिक्षेप होता है, उसके अच्छे कार्यका फल अच्छा होगा और बुरेका बुरा। नैतिक नियम, नेकी और न्यायके बारेमे ये धारणाएँ, यह भाव कि वे अपने-आपमे अवश्यमान्य वस्तु हैं, किन्तु फिर भी हमारे मानवीय स्वभावपर उसे प्रवर्तित करनेके लिये रिश्वत और भयकी आवश्यकता रहती है,—जिससे ऐसा दीखता लगता है कि कमसे कम उस स्वभावके लिये वे सर्वदा अवश्यमान्य नही,—पुरस्कार और दण्डके लिये यह आग्रह जिसका कारण यह है कि हमारी प्रथम अनुन्नत सत्तामे सघर्ष करती नैतिकताको बहुत बडे परिमाणमे प्रतिबन्धो और निषेधोके समूहके रूपमे प्रकट होना होता है जिन्हे किसी बाध्यकारिणी या प्रलोभनदायिनी विधिकी वास्तविकता या प्रतीतके विना प्रवर्तित नही किया जा सकता, निर्व्यक्तिक नैतिक और व्यक्तिगत अहमात्मक माँगके बीच यह कूटनीतिक समझौता या उनके बीच बराबरीका यह प्रयत्न, ऋतत्व और प्राणिक उपयोगिता, पुण्य और कामनाके बीच यह सुविधाजन्य विवाह,—ये समायोजन ही कर्म-विधानकी प्रचलित धारणाओमे मूर्त होते हैं।

कर्मकी प्रचलित धारणाओके पीछे वह कौन सा यथार्थ सत्य है जो मनुष्यके इस लोकके जीवनके वास्तविक तथ्यो या मूलभूत शक्तियोमे या विश्वकी ऊर्जाओके नियमकी दृश्य क्रियाओमे रहता है? यह स्पष्ट है कि इसमे एक सारगर्भित सत्य है, परन्तु वह सम्पूर्णका अग मात्र है, उसका शासन या प्राधान्य एक विशेष तत्त्वकी ही वस्तु है, प्राणिक ऊर्जाके विधान और मन तथा अध्यात्म-तत्त्वके महत्तर तथा उच्चतर विधानके बीच सक्रमण-गतिकी बहुत सारी रेखाओमेसे एक रेखापर दिये जाते बलकी वस्तु है। ऊर्जाके किन्ही भी दो प्रकारोका सम्मिश्रण ऊर्जाके उत्पादन और प्रतिदानकी मिश्र और जटिल क्रिया खडी करता है, और जो अति तीक्ष्णतासे कटा हुआ नियम शक्तिके मानसिक तथा नैतिक उत्पादनके साथ प्राणिक प्रतिदानको जोडे रखता है उसपर बहुत आपत्ति उठायी जा सकती है और वह इस विषयका समूचा सत्य नही हो सकता। किन्तु फिर भी जहाँ प्राणिक प्रतिदानके लिये, सफलताके लिये, बाह्य सुख, अच्छाई या सौभाग्यके लिये माँग रहती है, वह ऊर्जामे रहनेवाले प्रधान अभिप्रायका चिह्न होती और यह सकेत करती है कि शक्तियोका पलडा सकेतित दिशामे झुक रहा है। प्रथम दृष्टिमे, यदि सफलता ही अभीष्ट है तो यह स्पष्ट नही कि इस विषयमे नैतिकताको क्या कहना है, क्योकि अधिकतर चीजोमे हम देखते हैं कि सफलता स्वाभाविक परिणाम होती है साधनो और परिस्थितियोकी सही समझ और उनके बुद्धियुक्त या सबोधिमूलक

व्यवहारका और दृढ इच्छावलका, पुरुषकी शक्तिके व्यवस्थित प्रचालनका। अहमात्मिका इच्छा तथा बुद्धिके प्राणिक लक्ष्योके अनुसरणमे मनुष्य उसपर दण्डोकी किसी प्रणाली द्वारा नियन्त्रण लगा सकता है, जगत्के पुरस्कारोके लिये नैतिक शर्तें लगा सकता है, किन्तु ऐसा प्रतीत हो सकता है, जैसा कि वस्तुत कई प्राणात्मक सिद्धान्तो-मे प्रतिपादित किया जाता है, कि यह प्रकृतिपर एक कृत्रिम आरोपण है और मनोशक्ति तथा प्राणशक्तिके गुटमे होनेवाली निर्वन्ध और सवल क्रीडाको कुण्ठित और निर्वल कर देता है। परन्तु सत्य यह है कि तपस्या ही, ऊर्जाका सम्यक् सकेन्द्रण ही, सफलताके लिये महत्तम शक्ति है, और तपस्यामे नैतिक तत्त्व अनिवार्य रूपसे होता है।

मनुष्य मनोमय प्राणी है, वह जिन प्राणशक्तियोको धारण किये रहता या व्यवहृत करता है उनपर वह नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है, और इस स्वामित्वकी एक शर्त्त है आवश्यक आत्म-नियन्त्रण, एक सयम, एक व्यवस्था, एक अनुशासन जो उसकी मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्तापर आरोपित हो। पशु-जीवन स्वत ही नियमोके अधीन होता है, वह सहजवृत्तिमूलक प्राणिक धर्मका क्षेत्र है। मनुष्य अपने मनकी निर्वन्ध क्रीडा द्वारा इन स्वत चलित नियन्त्रणोसे मुक्त होता है और उसे उनके स्थानपर इच्छा और बुद्धिके प्रतिवन्धोको, एक समझयुक्त नियमको, एक स्वेच्छित अनुशासनको स्थापित करना होता है। अपनी ऊर्जाओका सवल व्यय और उनकी निर्वन्ध क्रीडा ही नही, अपितु उनका सही सयम और नियन्त्रण भी मनुष्यके जीवनकी सफलता स्वस्थाकी शर्त्त है। नैतिक तत्त्व ही एकमात्र तत्त्व नही यह पूरा सत्य नही कि नैतिक ऋतत्व ही सदा जीतता है या जिस पक्षमे धर्म है, उस पक्षकी सदा विजय होती है, यत धर्मो ततो जय। तात्कालिक सफलता प्राय ही अन्य शक्तियोको जाया करती है, ऋतकी अन्तिम विजय भी सामान्यत शक्तिके किसी रूपके साहचर्य द्वारा आती है। परन्तु फिर भी, वैयक्तिक और सामूहिक या राष्ट्रीय सफलताके वहुत सारे तत्त्वोके बीच एक तत्त्व नैतिक भी सदा ही रहता है और अभिस्वीकृत ऋतत्वकी अवज्ञाकी किसी न किसी समय विनाशक या घातक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त, अपनी ऊर्जाओके व्यवहारोमे, मनुष्यको अपने सगियोका और उनकी ऊर्जाओकी सहायता और विरोधका ध्यान रखना होता है, और उसके उनके साथके सम्वन्ध उसपर ऐसी रोक, माँग और शर्त आरोपित करते हैं जिनका नैतिक तात्पर्य होता या जिनसे नैतिक तात्पर्य प्रकट होता है। उसपर लगभग शुरूसे ही, प्राणिक सफलता और तुष्टिके अनुसरणमे भी, अनेक वाध्यताएँ लादी जाती हैं जो नैतिक व्यवस्थाका प्रथम व्यावहारिक आधार हो जाती हैं।

और, मानसिक, नैतिक तथा प्राणिक वर्गके इस सन्तुलनको प्रत्युत्तर देनेवाली

शक्तियाँ मानवीय शक्तियाँ हैं और विश्वशक्तियाँ भी। प्रथमत एक सूक्ष्म, अबोध-गम्य और दुर्जेय वस्तु है जो हमारे मार्गोमे हमारे सामने आती है, एक शक्ति है जिसका प्राचीन यूनानी बहुत ध्यान रखते थे, एक बलशालिता है जो मनुष्यके अभिवर्द्धन, अधिकार और भोगके प्रयासपर आँख रखती है और विरोधी तथा विपरीत लगती है। यूनानियो-ने उसे देवताओकी ईर्ष्या कहकर या दुर्भाग्य, नियति, आटे[1] कहकर चित्रित किया है। मनुष्यमे अहमात्मिका शक्ति अपनी विजय और जीतमे दूरतक बढ जा सकती है किन्तु उसे सावधान रहना होगा, नही तो उसे वह शक्ति उसके बल या कार्यमे कोई खूँट निकालने, उसकी पराजय और पतनके लिये कोई पर्याप्त सुयोग पानेके लिये सतर्क मिलेगी। उसके प्रयासके पीछे वह विघ्न और विपर्यय लेकर पडी रहती है और उसकी अपूर्णताओका लाभ उठाती, प्राय उससे खेलती, उसे लम्बी छूट देती, आनेमे देरी करती और अपने समयकी प्रतीक्षा करती है,—और केवल उसकी नैतिक न्यूनताओका ही नही, अपितु उसकी इच्छा तथा बुद्धिकी भूलो, उसके बल तथा विवेकके अतिरेकों और न्यूनताओ, उसकी प्रकृतिके सारे दोषोका लाभ उठाती है। वह उसकी तपस्याकी ऊर्जाओसे अभिभूत लगती है, किन्तु वास्तवमे वह अपने समयकी बाट जोहती है। वह अविच्छिन्न या चरम समृद्धिपर छा जाती और प्राय उसे विनाशकी ओर आकस्मिक मोड देकर चकित करती है। वह सफलता तथा विजयकी एक निरापदता, एक आत्म-विस्मृति एक गर्वशालिता और उद्दण्डता ले आती और शिकारको छिपे हुए न्यायासन या अदृश्य नियमकी दीवारसे टक्कर खानेके लिये आगे बढाती जाती है। वह पापकी अतिशयता और स्वार्थी हिंसाके लिये जितनी घातक है उतनी ही अन्धे दम्भके लिये और अहमात्मक पुण्यके झूठे दावेके लिये। ऐसा लगता है कि मनुष्यसे, व्यक्ति और राष्ट्रोसे उसकी यह माँग रहती है कि वे एक सीमा और एक परिमाणके अन्दर रहे क्योंकि उस सीमासे आगे जो कुछ है सकटप्रद है, अतएव यूनानियोंने सब चीजोंमे मिताचारको सद्गुणका श्रेष्ठतक भाग माना।

यहाँ जीवन-शक्तियोमे ऐसा कुछ है जो हमारे लिये अस्पष्ट रहता है और जिसे हमारी पाशिक भावनाएँ अनर्थकारी मानती हैं क्योंकि वह चीज हमारी कामनाओंको काटती है, परन्तु वह विश्वमन, विश्वबुद्धि या परम शब्द (Logos) के किसी नियम या अभिप्रायके अधीन है जिसे प्राचीन ज्ञानियोंने विश्वमे कार्य करते देखा था। जब उसकी उपस्थितिका अनुभव स्थूलतर प्रकारके धार्मिक मनको होता है तो यह भाव उत्पन्न होता है कि विपदा पापके लिये दण्ड है,—वह यह नही देखता कि उसके हाथमे

[1] सर्वनाश, दुर्भाग्यकी यूनानी देवी। (अनु०)

अज्ञानके लिये,इच्छा और तपस्याकी भूलके लिये, मूर्खता, दुर्बलता और त्रुटिके लिये भी दण्ड मिलता है। यथार्थमे यह अनन्तका प्रतिरोध होता है जो जीवनके बीच मनुष्यके अपूर्ण अहके इस दावेके विरुद्ध कार्य कर रहा है कि वह अपना अभिवर्द्धन करे, स्वामित्व पाय, मौज करे और अपूर्ण रहकर भी पूर्ण और स्थायी सुखकी, अपने जगत्-अनुभवकी आनन्दमयताकी प्राप्ति करे। यह कहा जा सकता है कि यह दावा अनैतिक है, और जो शक्ति उसका प्रतिरोध करती है और हमारी अपूर्णताओको उत्तर दनेके रूपमे, हमारी आँखोके लिये चाहे कितनी ही अनिश्चिति और देरसे क्यो न हो, कष्ट और विफलताका प्रतिदान देती है, उसे नैतिक शक्ति माना जा सकता है, न्यायनिष्ठ कर्मकी अभिकर्त्री माना जा सकता है, यद्यपि केवल कर्म-सिद्धान्तके सकीर्ण नैतिक आशयमे नही। वह शक्ति जिस नियमका प्रतिनिधित्व करती है वह यह है कि हमारी अपूर्णताओ-के अस्थायी या घातक परिणाम होगे, हमारे ऊर्जा-उत्पादनमे यदि कोई दोष है तो परिणाममे उसे सुधारा जा सकता या प्रतिसन्तुलित और क्षीण किया जा सकता है, परन्तु यदि उसमे अडा रहा जाय तो उसकी प्रतिक्रिया उसके प्रत्यक्ष गुणोकी अपेक्षा भी अधिक हो जायगी, कोई एक भूल तपस्याके सारे फलको नष्ट कर देती लग सकती है, क्योकि उसकी उत्पत्ति इच्छाके आशयमे, हृदय, नैतिक बोध या बुद्धिमे किसी आमूल दूषणसे होती है। यह कर्मके सक्रमिक विधानकी पहली रेखा है।

हमारे कार्योके प्रति विश्वशक्तियोके कर्मिक उत्तरकी एक दूसरी रेखा भी एक ऐसा धारण करती है जो हमे उसे नैतिक माननेकी ओर प्रलोभित करती है। कारण, प्रकृतिमे प्रतिकार-नियमका एक निश्चित तत्त्व देखा जा सकता है या,—शायद एक अधिक उपयुक्त रूपकमे कहे, क्योकि यह क्रिया बौद्धिक और ऐच्छिक न होकर बल्कि यान्त्रिक प्रतीत होती है,—ऊर्जाकी एक बूमरैग[1]-गति दीखती है जो अपने सचारकपर वापस आती है। हम जिस पत्थरको फेकते हैं उसे जगत्-जीवनमे रहनेवाली कोई छिपी शक्ति हमपर वापस फेकती है, हम दूसरोपर जो क्रिया छोडते हैं वह हमारे अपने जीवनोपर वापस आती है,—ऐसा वह सदैव किसी सीधी प्रतिक्रिया द्वारा नही करती प्रत्युत प्राय घुमावदार और असम्बद्ध राहोसे और कभी-कभी, यद्यपि यह किसी भी भाँति कोई सर्वसामान्य नियम नही, अपने निजके ठीक-ठीक आकार या परिणाममे। यह व्यापार हमारी कल्पनाके लिये इतना आकर्षक और हमारे नैतिक बोध और प्राणिक भावनाओके लिये इतना प्रभावशाली रहा है कि सारी सस्कृतियोकी विचारधारामे

[1] बूमरैग आस्ट्रेलियाके आदिवासियो द्वारा प्रयुक्त शस्त्र है जिसका इस भाँति व्यवहार किया जा सकता है कि वह फेकनेवालेपर वापस आ जाय। (अनु०)

उसे किसी गम्भीर रूपके उद्गारमे इस प्रकार व्यक्त किया गया है,—"जैसी करनी वैसी भरनी", "तलवार चलानेवालेका तलवारके हाथो नाश होगा", "तूने वायुका बीज रोपा है, तुझे तूफानकी फसल मिलेगी",—और हमे यह लोभ होता है कि हम उसका सार्विक नियम बना ले और उसे नैतिक व्यवस्थाके पर्याप्त प्रमाणकी तरह स्वीकार कर ले। परन्तु सतर्क विचारक किसी ऐसे उपसहारको माननेकी शीघ्रता करनेके पहले लम्बे समयतक ठहरेगा, क्योकि उसके विरुद्ध खडा होनेवाला भी बहुत कुछ है और उस प्रकारकी निश्चित प्रतिक्रिया मानव-जीवनका सामान्य नियम होनेकी अपेक्षा बल्कि अपवाद होती है। यदि यह नियमित लक्षण होता तो मनुष्य निष्ठुर और निर्व्यक्तिक विधानकी सहिता जल्दी सीख लेते और यह जान लेते कि किससे बचना है और जीवनके निषेधो और प्रतिषेधोकी सूची क्या है। परन्तु प्रकृतिका कोई ऐसा दण्ड-विधान नही है।

भौतिक प्रकृतिकी क्रिया तथा प्रतिक्रियाकी गणितिक परिशुद्धताकी आशा मानसिक और प्राणिक प्रकृतिसे नही की जा सकती। परन्तु हम ज्यो-ज्यो सोपानपर चढते हैं प्रत्येक वस्तु केवल बेहद अधिक सूक्ष्म, सश्लिष्ट और परिवर्त्तनशील ही नही हो जाती जिसके फल-स्वरूप हमारी जीवन-क्रियामे शक्तियोका असाधारण परस्पर-गुन्थन और बहुत सारे मूल्योका मिश्रण होता है, अपितु यहाँ तक कि उसी कार्यका मनोवैज्ञानिक और नैतिक मूल्य भिन्न-भिन्न स्थितियोमे परिस्थिति, अवस्था और कर्त्ताके हेतु तथा मनोभावके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। प्रतिकार-सिद्धान्तके नियमको जब मनुष्यपर मनुष्य द्वारा प्रयुक्त किया जाता है तो वह कोई न्यायपूर्ण या नैतिक नियम नही ठहरता, उसे यदि मनुष्यके जीवन-कार्य और जीवन-हेतुओके सश्लिष्ट और सूक्ष्म जालपर न्याय या निर्व्यक्तिक नियमके अतिमानवीय विधाता द्वारा स्थूल व्यावहारिकताके सुलभ अपरिष्कृत नियमसे प्रयुक्त किया जाय तो बात सुधरती नही। और यह भी स्पष्ट है कि मानवजातिमे क्रियारत विश्वशक्तिके धीमे, लम्बे और सूक्ष्म उद्देश्य इस अति निर्दिष्ट और सक्षिप्त पद्धतिको सार्वभौमिक कर देनेसे लाभान्वित नही, पराजित ही होगे। अतएव हम देखते है कि उसकी क्रिया नियमित न होकर बल्कि यदाकदा और आन्तरायिक होती है और स्वयवह और स्पष्टतया बोध-गम्य न होकर बल्कि परिवर्तनशील होती और हमारे मनको स्वेच्छाचारी लगती है।

कभी कभी व्यक्तिके जीवनमे कर्मका इस प्रकारका प्रतिक्षेप निर्णायक रूपसे, प्राय भयानक रूपमे स्पष्ट होता है और दाण्डिक न्याय निष्पादित होता है, किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि यह चीज उसे अप्रत्याशित रूपमे, बहुत देरके बाद और आश्चर्यकारी दिशाओसे मिले। परन्तु हमारी नाटकीय भावनाको यह कितना ही सन्तोषप्रद क्यो

न लगे, यह प्रतिफलदायिनी प्रकृतिकी सामान्य पद्धति नही। प्रकृतिकी विधियाँ अधिक टेढी-मेढी , सूक्ष्म, परोक्ष और अपाठ्य हैं। प्राय ऐसा होता है कि राष्ट्र भी इसी भाँति विगत अपराधो और भूलोका भुगतान चुकाता है और प्रतिकार-सिद्धान्तके नियमकी सकेत-सहिता सबकका इशारा करने वर्त्तमान रहती है, परन्तु वैयक्तिक रूपसे कष्ट तो निर्दोष ही भोगते हैं। बेल्जियमका कोई व्यापारी मनोवृत्तिवाला राजा राष्ट्रके रबर-प्रदेशो और अफ्रीकाके मानव-मवेशी फार्ममे लाभ उठानेकी ओर प्रवृत्त होता है और उसके कारिन्दे उसका कोष जल्दी-जल्दी भर डालनेको हजारो सस्ते हब्शी जीवनोकी हत्या करते, बलि चढाते और उन्हे विकलाग करते हैं। वह योग्य राजा समृद्धिकी श्री और सौभाग्यकी पुनीत सुगन्धमे जीवन विताकर मृत्यु पाता है, उसके कारिन्दे कोई कष्ट नही भोगते परन्तु अब अचानक जर्मनीका आगमन होता है, वह व्यापारिक और सैनिक साम्राज्यका स्वप्न देखता हुआ अपने शस्त्रोके मार्गपर समृद्धि-शील बेल्जियमसे होकर रौदता हुआ निकलता है और उसके द्वारा मौतके घाट उतारे गये नर-नारी और लगडे-लूले शिशु हमे आश्चर्यकारी रूपसे कर्मका स्मरण कराते और प्रतिकार-सिद्धान्तके किसी अस्पष्ट और स्वेच्छाचारी नियमका उदाहरण देते है। कमसे कम इस उदाहरणमे राष्ट्र अपनी सगठित सत्ताके रूपमे अपराध-कृत्यमे भाग लेनेका दोषी था, परन्तु ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं जिनमे भुगतान चुकानेवाला न तो दोषी राष्ट्र होता है, न दोषी व्यक्ति ही, बल्कि शायद कोई भली नीयत रखनेवाला और पुण्यनिष्ठ भूलकर्त्ता ही उस अशुभ प्रतिदानका हिसाब पाता है जिसका भुगतान उससे पहले आनेवाले सबल निरकुश जनोको दिया जाना ही न्याय्य था, किन्तु वे तो अन्ततक बल, श्री और सुखका भोग करते हुए जीवन काट गये।

यह स्पष्ट है कि जो शक्ति इतनी विलक्षण रीतिसे कार्य करती है, वह चाहे यदा-कदा कितने ही आकर्षक और नाटकीय रूपमे कारण और परिणामका सकेत क्यो न करे, उससे हम बहुत निष्कर्ष नही निकाल सकते। दण्ड देनेमे वह इतनी अधिक अनिश्चित है कि मनुष्यका मन दाण्डिक न्याय-प्रणालीसे जिस लक्ष्यकी आशा करता है उसका काम नही चलता, वह अपने प्रभावमे इतने अनभिज्ञेय रूपसे परिवर्त्तनशील है कि मानवीय स्वभावमे जो तत्त्व कार्यसाधकताका परिचर होता है और अपने डगोका नियमन परिणामकी ओर सावधानीकी नजर रखते हुए करता है उसके लिये निर्देशकके रूपमे कार्य नही कर सकती। प्रतिशोध लेनेवाले दैवकी बिजलियोके यदाकदा इस छूट पडनेके बावजूद, विश्वके जटिल नियमोकी अनिश्चितियोके बीच कर्मिक न्यायकी इन यदाकदा आनेवाली स्पष्टताओके बावजूद, मनुष्य और राष्ट्र सदा उसी रीतिसे कार्य करना जारी रखते हैं। वस्तुत इन घटनाओकी क्रिया कुछ दूरीतक अवचेतन

मनपर सूक्ष्म और अपूर्ण रीतिसे होनेके सिवाय मनुष्यके मन और इच्छापर नही, बल्कि मनुष्यसे बाहर और आशिक रोक तथा नियामककी तरह होती है जिससे ऊर्जाके प्रतिदानो और विश्वात्माके जीवन-उद्देश्योके सन्तुलनको बनाये रखनेमे सहायता मिलती है। यह क्रिया सक्रमणकालीन कर्मकी प्रथम रेखाकी भाँति होती है जिसका अभिप्राय मनुष्यके प्राणिक अहकी सफलताको रोकना होता है और जो एक बीचके अस्थायी दबाव और बाध्यताकी तरह तबतक उपयोगी होती है जबतक कि वह अपने प्राणिक आत्माके बावजूद भी अपनी सत्ताके महत्तर नियमका और अपने निर्देशक मन तथा शासक आत्मामे सचालक हेतुकी अधिक शुद्ध क्रियाधाराका सन्धान न पा ले और उनका आज्ञाकारी होनेमे सफल न हो जाय। अत विश्वगत इच्छामे इससे एक नैतिक उद्देश्यकी सहायता तो होती है, किन्तु वह अपने-आपमे, उस अन्यके साथ सयुक्त होकर भी, नैतिक व्यवस्थाका नियम होनेके लिये पर्याप्त नही।

कर्मकी एक तीसरी सम्भव रेखाका, जिसमे बाह्य यान्त्रिकता कम है, इस उक्तिसे सकेत मिलता है कि सदृश सदृशकी सृष्टि करता है और इस नियमके अनुसार अच्छा अच्छेकी सृष्टि करेगा और बुरा बुरेकी। नैतिक प्रतिदान या बल्कि नैतिक ऊर्जाओके भुगतानकी भाषामे इसका अर्थ यह होगा कि प्रेमको व्यक्त करनेसे हम प्रेमका प्रतिदान पायेंगे और घृणाको व्यक्त करनेमे घृणाका, यदि हम दूसरोके प्रति न्यायवान् हैं तो दूसरे भी हमारे प्रति न्यायवान् या दयावान् होंगे और सामान्यत अपने साथी मनुष्योके लिये जो अच्छाई करेगे वह उनके द्वारा सजातीय रूपकी अच्छाईके प्रतिदानके रूपमे वापस आयगी और विश्वकी शासिका सरकारके नैतिक डाकघरमे यथाविधि पजीकृत होकर हमारे पतेपर वापस डाल दी जायगी। दूसरोके साथ हम वैसा व्यवहार करे जैसा हम उनके द्वारा किया जाना चाहेंगे, क्योकि अवश्य ही तब वे हमारे साथ वैसा व्यवहार करेगे, यही इस नैतिक जुगतका सिद्धान्त प्रतीत होता है। यदि यह सच होता तो मानव-जीवन सचमुचमे सामजस्ययुक्त नैतिक अहभाव और नेकीमे चलनेवाले व्यापारिक आवागमनकी एक ऐसी बहुत ही सममित व्यवस्थाके अन्दर स्थिरता प्राप्त कर ले सकता था जो उस प्रकारके नैतिक सौन्दर्यबोधसे ग्रस्त रहनेवालोको पर्याप्त सुचारु और सुन्दर लग सकती है। परन्तु मानव-जीवकी ऊर्ध्वमुखी प्रगतिके लिये यह प्रसन्नताकी बात है कि व्यवहारमे यह नियम ठहरता नही, क्योकि विश्वात्माके सामने ससिद्धिके लिए महत्तर लक्ष्य हैं और महत्तर नियम है। यह नियम प्रवृत्तिकी दिशामे कुछ दूरीतक सच है और कभी कभी अच्छी तरह कार्य भी करता है, और मनुष्यकी विवेकशीला बुद्धि कर्मक्षेत्रमे उसका कुछ ध्यान रखती भी है, परन्तु यह नियम सर्वत्र और सदा सच्चा नही उतरता। यह काफी स्पष्ट है कि यह सम्भावना रहती है

कि हिंसा और अन्याय प्रत्युत्तरमे घृणा, हिंसा और अन्यायकी रचना करेगे और इन प्रवृत्तियोको हम अदण्डित रहने दे कर केवल तब छूट दे सकते हैं जब कि हम प्रतिरोधका सामना कर सकनेके लिये पर्याप्त सबल हो या पर्याप्त सबल और साथ ही पर्याप्त विवेक-शील भी रहे जिससे उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओके लिये प्रबन्ध कर सके। यह भी सच है कि नेकी और दयालुता बरतकर हम दूसरोमे एक सद्भावनाकी रचना करते हैं और सामान्य या अनुकूल परिस्थितियोमे कृतज्ञता और सजातीय प्रतिदानकी अपेक्षा उनके समर्थन और अनुमोदनपर अधिक निर्भर कर सकते हैं। परन्तु यह अच्छाई और बुराई दोनो ही अहकी गतियाँ हैं और मानव-प्रकृतिकी मिश्रित अहतापर कोई भी सुरक्षित या निश्चित निर्भरता नही हो सकती। अहमात्मक स्वार्थी बल (उसे यदि यह ज्ञात हो कि क्या करना है और कहाँ रुकना है), हिंसा और अन्यायका एक परिमाण भी (यदि वह सबल और निपुण हो), चालाकी, छल और अनेक प्रकारकी बुराइयाँ, पशुके साथ पशुके व्यवहारमे जो भुगतान देती हैं, वास्तवमे मनुष्यके साथ मनुष्यके व्यवहारमे वे उससे कोई कम नही देती, और दूसरी ओर नेकी बरतनेवाला, जो कि प्रतिदान या पुरस्कारकी प्रतीक्षा करता है, यह पाता है कि जितनी बार उसे अपने सौदेका प्रतिदान मिलता है उतनी ही बार वह निराश भी होता है। मानव-स्वभावकी दुर्बलता उसे रौंदनेवाली शक्तिकी पूजा करती है, सफल शक्तिकी पूजा करती है, सफल बलशालिताको श्रद्धांजलि देती है, प्रत्येक प्रकारके सबल या कौशलपूर्ण आरोपणको विश्वास, स्वीकृति, आज्ञाकारिताका प्रतिदान दे सकती है वह घृणा और आतककी गतियोके बीच भी नाक रगड सकती, तुरिया सकती, प्रशसा कर सकती है, उसकी निष्ठाएँ विलक्षण होती हैं और उसकी सहजवृत्तियाँ अयौक्तिक। और उसकी अनिष्ठाएँ भी वैसी ही अयौक्तिक या हल्की और चचल होती है वह न्याय्य व्यवहार और उपकारको स्वाधिकार मान लेती और वापस चुकानेकी बातको भूल जाती या उसका ख्याल नही रखती। और इससे भी अधिक बुरी बात यह होती है कि न्याय, करुणा, उपकार और दयालुताको काफी बार अपने विपरीत तत्त्वोका पुरस्कार मिलता है और सद्भावनाके उत्तरमे दुर्भावना निष्ठुर रूपसे सामान्य अनुभव है। यदि जगत् और मनुष्यमे कोई वस्तु अच्छाईके लिये अच्छाई और बुराईके लिये बुराई लौटाती है तो उतनी ही बार वह अच्छाईके प्रतिदानमे बुराई और, किसी चेतन नैतिक अभिप्रायसे या उसके बिना, बुराईके प्रतिदानमे अच्छाई देती है। और यदि कोई निरहकार पुण्य या दिव्य शुभ और प्रेम जगत्‌मे प्रवेश करता है तो वह भी विरोधी प्रतिक्रियाओको जगाता है। अट्टीला और चंगेजका अन्ततक सिंहासनपर आरूढ रहना, ईसा मसीहको शूली और सुकरातके भाग्यमे विषपान, मानव-स्वभावके जगत्‌मे

नैतिक प्रतिदानके किसी नियमके सम्बन्धमे आशावादी धारणाके समर्थनमे कोई बहुत स्पष्ट प्रमाण नही।

जगत्-नियमोमे भी इसके निश्चित अस्तित्वका चिह्न शायद ही अधिक मिलता है। वस्तुत विश्वायोजनमे अच्छाईमेसे बुराई निकलती है और बुराईमेसे अच्छाई, और नैतिक तथा प्राणिक नियमोके बीच कोई ठीक-ठीक अनुरूपता नही मिलती। हम इतना ही कह सकते है कि जो अच्छाई की जाती है उसकी प्रवृत्ति जगत्मे अच्छाईके कुल परिमाण और कुल बलको वर्द्धित करनेकी होती है और जितनी उसकी वृद्धि होती है मानव-सुखका कुल परिमाण उतना ही अधिक होनेकी सम्भावना होती है और जो बुराई की जाती है उसकी प्रवृत्ति जगत्मे बुराईके कुल परिमाण और कुल बलको वर्द्धित करनेकी होती है और जितनी उसकी वृद्धि होती है मानव-कष्टका कुल परिमाण उतना ही अधिक होनेकी सम्भावना होती है, और अन्तमे, बुराई करनेवाले मनुष्य या राष्ट्रको किसी न किसी प्रकार उसका चुकादा देना होता है, परन्तु ऐसा प्राय न तो बुद्धिजन्य रूपमे वर्गीकृत या सविभाजित परिमाणमे होता है और न सदा प्राणिक सौभाग्य तथा दुर्भाग्यके स्पष्ट अनुवादके रूपोमे ही ।

सक्षेपमे जिन्हे हम कर्मकी सक्रमणकालीन रेखाएँ कह सकते हैं उनका अस्तित्व है और जगत्-शक्तियोकी क्रियाको देखनेमे हमे उन्हे विचारमे लेना होगा। परन्तु वे न तो कर्मका समूचा नियम हैं, न हो ही सकती है। और ऐसा न हो सकनेका कारण यह है कि वे सक्रमणकालीन हैं, क्योकि अच्छाई और बुराई नैतिक मूल्य हैं, प्राणिक मूल्य नही, और उनका स्पष्ट अधिकार केवल नैतिक प्रतिदानके लिये है, प्राणिक प्रतिदानके लिये नही, क्योकि पुरस्कार और दण्डको सुकृत्य और कुकृत्यकी उपाधियोके रूपमे रखा जाय तो वे किसी यथार्थ नैतिक व्यवस्थाके उपादान नही होते, नैतिक व्यवस्थाकी रचना नही कर सकते, कारण, इस सिद्धान्तकी सामयिक उपयोगिता चाहे जो कुछ भी हो, स्वय वह सच्ची तथा शुद्ध नैतिकताके उच्चतर दृष्टिकोणसे मूलभूततया अनैतिक होता है, और फिर, ज्ञान, बल और अनेक अन्य शक्तियाँ भी हैं जिनका गणनामे स्थान है और जिनका अपना अधिकार होता है। नैतिक और प्राणिक शुभका सारूप्य मानवीय अहकी माँग है और उसकी अन्य माँगोमेसे बहुतोकी तरह यह माँग भी जगत्-मानसकी कुछ प्रवृत्तियोके अनुरूप हैं, परन्तु उसका समूचा नियम या उच्चतम उद्देश्य नही। एक नैतिक व्यवस्था हो तो सकती है, परन्तु उसकी रचना हमे अपने अन्दर और स्वय उसीके लिये करनी है, और जब हम उसकी रचना इस तरह कर चुकेगे और जीवनकी अन्य शक्तियोके साथ उसके सही सम्बन्धको पा चुकेगे, केवल तभी हम मनुष्यके प्राणिक अस्तित्वके सही व्यवस्थापनमे नैतिक व्यवस्थाको उसके पूरे मूल्यकी प्रतिष्ठा दे सकनेकी आशा कर सकेंगे।

तीसरा खण्ड

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

एक

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

मनकी तीसरी गतिधारा मनुष्यके अन्तरात्माको प्राणिक तथा मानसिक शक्तियोके जालमेसे निकालनेका उद्योग करती और उसके सामने एक ऐसा क्षेत्र खोलती है जिसमे मन अपने-आपको, कमसे कम अपने विचार तथा इच्छाके मस्तकको, प्राणिक माँगो और मानकोके ऊपर उठाता और वहाँ, अपनी क्रियाओके शिखरपर, निम्नतर कर्मको उसने जो कोई भी रियायते दे रखी हो, मनोमय पुरुषके सच्चे आदर्शोके लिए, उसकी सच्ची माँगोके लिये जीता है, भले ही वह शरीरमे बन्दी क्यो न हो और जड-जगत्मे जीवनकी अवस्थाओसे मल्ल करनेको निर्दिष्ट क्यो न हो। मनोमय पुरुषकी सहजात चाह होती है मनोमय अनुभवके लिये, मनके बहुविध बलके लिये, मनकी क्षमताओ, प्रसन्नताओ, वृद्धि और पूर्णताओके लिये, और ये चीजे उसकी प्रकृतिको जो अनिवार्य तुष्टि देती हैं उसके कारण उनके लिये उसकी चाह उन्हीके निमित्त होती है,—बुद्धिकी चाह होती है सत्य तथा ज्ञानके लिये, नैतिक मनकी चाह ऋत और शुभके लिये, सौन्दर्यबोधी मनकी चाह सौन्दर्य और सौन्दर्यानन्दके लिये, भावनाप्रवण मनकी चाह प्रेमके लिए और हमारे सगी प्राणियोके साथ सम्वन्ध रखनेके हर्षके लिए, इच्छावृत्तिकी चाह स्वाधिकारके लिए और वस्तुओ और जगत् और हमारे अस्तित्व-पर अधिकारकी प्राप्तिके लिये। और जिन मूल्योको मनोमय पुरुष परम तथा प्रभावी मानता है वे मूल्य हैं सत्य और ज्ञानके, ऋत और शुभके, सौन्दर्य और सौन्दर्यरसिक आनन्दके, प्रेम और भावोच्छ्वासी हर्षके, अधिकार और आन्तरिक प्रभुताके। इन्ही चीजोको वह जानता और अधिकृत करना चाहता है, इन्हीका अनुसरण, आविष्कार, भोग और वर्द्धन करना चाहता है। इसी महान् जीवट-कार्यके लिये वह जगत्मे आया है, ये चीजे उसे जो अन्तहीन क्षेत्र देती हैं उनके वीच साहसिकतासे चलनेके लिये, परीक्षण करने, सकट उठाने, प्रत्येक सम्भावनाका अनुसरण करने, उसके दिये गये सूत्रका अन्त तक पीछा करने और साथ ही प्रत्येकके अन्दर उसके वर्त्तमान आविष्कृत नियम और मर्यादाको देखनेके लिये। जैसे अन्य क्षेत्रमे वैसे ही यहाँ भी, जैसे प्राणिक और शारीरिक क्षेत्रमे वैसे ही मनोप्रदेशोमे भी, उसकी वुद्धि तथा इच्छावृत्तिका नियुक्त कार्य यह है कि वे एक सदा बढते अनुभव द्वारा वर्द्धमान प्रकाश वल, ऋत, सत्य, आनन्द, सौन्दर्य और विशालत्वकी दशाओको जाने और अधिकृत करे, और सत्य तथा विधानका

आविष्कार ही नहीं, किसी तन्त्र और व्यवस्थाकी स्थापना ही नहीं, उसकी रेखाओ और सीमाओका सतत विस्तरण भी करते रहे। अतएव जैसे प्राणक्षेत्रमे वैसे ही इन क्षेत्रोमे मनुष्य मनोमय जीव, अत्यधिक समयतक न तो किसी स्थापित तन्त्रके आशिक सत्यमे विराम पा सकता है, न किसी ऐसी व्यवस्थामे ही जिसे भूलसे कुछ समयके लिये शाश्वत व्यवस्था मान लिया गया हो,—इस क्षेत्रमे तो इस विरामकी सम्भावना न्यूनतम रहती है क्योकि जैसे जैसे मनुष्य प्रगति करता है, वह सदा और भी आगे बढनेकी ओर प्रलोभित होता है और अन्तमे यह अनुभव कर लेता है कि वह अनन्तका अन्वेषक और परमकी शक्ति है। यहाँ उसका आधार प्राण और जडके तमोवृत अनन्तमे निमज्जित है किन्तु उसका मस्तक अध्यात्म-सत्ताके ज्योतिर्मय अनन्तकी ओर उठता है।

अत मनोमयी ऊर्जाकी तीसरी गतिधारा उसे प्राणिक तथा शारीरिक कर्मके नीचे गिरानेवाले और सीमित करनेवाले दावेके जोरदार आधिपत्यसे ऊपर अपने स्वदेश और स्वराज्यमे ले जाती है। यह सच है कि उसकी निम्नतर सत्ता प्राण तथा शरीरके नियमके अधीन रह जाती है, और यह भी सच है कि वह सत्यका, ऋत तथा शुभका, सौन्दर्यका, प्रेम तथा हर्षका, मनकी इच्छा तथा अधिकारका कोई नियम जीवनमे पाने या अपने चारो ओरके जगत्मे ले आनेका प्रयत्न अवश्य करेगा, क्योकि उस प्रयत्नके कारण ही वह पशु न हो करके मनुष्य है और उसके बिना उसे अपनी सच्ची जीवनतुष्टि नही मिल सकती। परन्तु दो बातोका बोध और अनुभव उसे अधिकाधिक पाना होता है—पहली यह है कि प्राण और जड अपने स्वधर्मका अनुसरण करते हैं,न कि किसी नैतिक, किसी बुद्धिसगत किसी मनोनिर्दिष्ट सौन्दर्यबोधी व्यवस्था या मनकी किसी अन्य व्यवस्थाका,—अन्तत उस अर्थमे तो नही जो कि मनुष्यका उससे आशय होता है,—और यदि वह किसी ऐसी चीजको उनमे समाविष्ट करना चाहता है तो स्वय उसे ही यहाँ उसकी सृष्टि करनी होगी, शारीरिक और प्राणिक नियमका अतिक्रमण करना होगा और एक अन्य तथा श्रेष्ठतर व्यवस्थाका अन्वेषण करना होगा, और दूसरी यह है कि वह इन चीजोका अनुसरण स्वय उन्हींके लिये जितना अधिक करता है, वह उनके स्वरूपका उतना ही अधिक आविष्कार करता है, और उनकी शक्तिका ऐसा विकास करता है कि वह प्राणपर अभिभावी हो जाय और उसे उच्चतर प्रकृतिके वायुमडलमे ऊपर उठा ले जाय। अन्य शब्दोमे, वह उपयोगात्मक ज्ञान, नैतिकता, सौन्दर्यबोध, भावावेगशक्ति और इच्छाशक्तिके व्यावहारिक अनुसरणसे चलकर—उसके प्राणिक लक्ष्योके लिये, जीवन प्रथमत जैसा है उसके लिये उपयोगी रहनेवाली इन चीजोसे चलकर,—इन चीजोके एक आदर्शात्मक अनुसरणकी ओर और जीवनको अपने आदर्शकी मूर्त्तिमे

रूपान्तरित करनेकी ओर बढता है। निस्सन्देह, वह इसे अभीतक उपलब्ध करनेमे असमर्थ है और सन्तुलन और समझौतेपर ठहरनेको विवश है क्योकि जो उसके आदर्शो-से परे है उसके सारे समन्वयकारी रहस्यको उसने पाया नही है। परन्तु ज्यो-ज्यो वह उनके विशुद्ध स्वरूपका अनुसरण उनकी अपनी अनिवार्य और अन्तर्जात माँग तथा आकर्षणके नाते, उनके अनन्त और परम-चरम स्वरूपकी ओर उन्हीकी प्रवृत्तिकी रेखापर करता है, त्यो-त्यो वह उस रहस्यकी समग्रानुभूतिके अधिक समीप जाता है। इस प्रकार उसके इस आविष्कारकी सम्भावना रहती है कि जैसे प्राण तथा जडके सौन्दर्य और अखण्डनीय व्यवस्थाका कारण प्राण तथा जडमे 'अनन्त' का आनन्द, और अपने अन्दरके पुरुष एव आत्माके प्रच्छन्न ज्ञान, इच्छा तथा भावके प्रति यहाँ कार्य करती शक्तिकी निष्ठा है, वैसे ही मनुष्यके अपने प्रच्छन्न आत्मामे, उसके अपने विशाल और निभृत आत्मामे 'अनन्त' के आत्म-ज्ञान, इच्छा, हर्ष, प्रेम तथा आह्लादका, हर्ष और कर्मके अधिकार, ऋत और सत्यका एक रहस्य है जिसके द्वारा उसका अपना महत्तर जीवन प्राण तथा मनकी परिच्छिन्नताओसे ऊपर उठता हुआ अपने ही अन्दर अनन्त पूर्णता, सौन्दर्य और आनन्दका और स्वत स्फूर्त तथा अखण्डनीय व्यवस्थाका अनु-सन्धान पा ले सकता है।

इस बीच, मनकी यह तीसरी गतिधारा मानसिक ऊर्जाओके प्रतिदानके नियमका आविष्कार करती है जो अपने प्रकारमे विशुद्ध है, प्राणिक तथा शारीरिककी तरह निश्चयात्मक है, अपने प्रति, मनके आत्मा और मनकी प्रकृतिके प्रति उसी तरह निष्ठा-वान् है और मानसिक क्रियाधाराको दिये जानेवाले प्राणिक प्रतिदानोका नही, प्रत्युत जीवमे अन्तरात्माकी प्रगतिका और शुभ, सौन्दर्य तथा बलकी शक्तिकी प्रगतिका, मन शक्ति और अन्तरात्मा-शक्तिकी प्रगतिका और महानता, प्रेम, आनन्द तथा ज्ञानकी प्रगतिका नियम है। यहाँ तक ऊपर उठा हुआ नैतिक मन अब नेकीका अनुसरण पृथ्वीपर या अन्य अस्तित्वमे पुरस्कार पानेके लिये नही करता, वरन् अब वह ऐसा करता है स्वय नेकीके लिये, और बुराईका त्याग वह पृथ्वीपर बादमे इसी जीवनमे या नही तो अन्य जीवनमे या नरकमे दण्ड पानेके भयसे नही, वरन् इस कारणसे करता है कि बुराईका अनुसरण उसकी सत्ताकी अवनति और व्याधि है और उसका अपने अन्तर्जात तथा अवश्यकरणीय प्रयाससे पतन है। यह उसके लिये उसकी नैतिक प्रकृतिकी आवश्यकता है, एक सत्यत निश्चयात्मक आदेश, एक पुकार है जिसका मनुष्यकी अधिक सश्लिष्ट समग्र प्रकृतिमे उसके अन्य भागो और उनकी आवश्यकताओ द्वारा कुण्ठित या दमित या निष्कासित होना सम्भव रहता है, परन्तु जो नैतिक मनके लिये बाध्यकारी तथा परम है। जो भलापन नेकीसे कार्य करनेके लिये पुरस्कार

मांगता है और जिसे सीधी राहपर चलते रह सकनेके लिये दण्डकी आवश्यकता रहती है, वह नैतिक सत्ताका सच्चा अंश या सच्चा धर्म नहीं, बल्कि मिश्रित रचना है, मनुष्यकी व्यावहारिक बुद्धिका नियम है जो सदा उपयोगिताकी खोजमें रहती है और जो सहायक और कार्यसाधक है उसे ही ठीक मानती है, एक ऐसा नियम है जो प्रथमत अन्तरात्माके विकासकी ओर नहीं देखता, अपितु नियमित बाह्य आचरणको यान्त्रिक रूपमें सुरक्षित करनेकी ओर नजर रखता है और इस हेतु प्राणिक सत्ताको रिश्वत देकर और भयभीत करके उसका अनुमोदन और उसकी अपनी सहजवृत्तियों और स्वाभाविक साहसिकताओंकी अनिच्छुक सहमति प्राप्त करता है। इस प्रकार रचा गया भलापन एक व्यवहारसाधकता, एक स्वाभाविक शालीनता, अहंका एक विवेकयुक्त परिसीमन, सच्ची चीजके स्थानपर एक व्यापारिक वस्तु है या, अपने उत्तम रूपमें यह मनका अभ्यास है, अन्तरात्माका सत्य नहीं, और मनके अन्दर यह एक निर्माण है मिश्रित वस्तु है, अवर सामग्रीसे बना है, एक रूढ़िगत भलापन है जो असुरक्षित है जीवनकी घिसाईसे विनाशनीय है और अन्य व्यवहारसाधकताओंके साथ उसका आसानीसे घुटाला हो जाता है या वह उनके द्वारा खरीद लिया जा सकता है या उनसे हार जा सकता है, यह अन्तरात्माका ऊँचा और स्पष्ट ऊपर उठता निर्माण नहीं, अन्तरात्माकी स्थायी और अन्तरकी सजीव आत्म-रचना नहीं। सक्रमणके एक ढंगके रूपमें रूढ़िगत नैतिकताकी जो भी व्यावहारिक उपयोगिता या सेवा हो, वह जिस भ्रम और प्राणिक समझौतेके मानसिक अभ्यासका पोषण करती है उस अभ्याससे और जिन अधिक आपत्तिजनक भ्रमों और समझौतोंको उस अभ्यासका समर्थन है उन्होंने उसे मानव-जीवनको सच्ची नैतिक व्यवस्थाकी ओर प्रगति करनेकी ओरसे पीछे रोक रखनेवाली प्रधान शक्तियोंमेंसे एक शक्ति बना दिया है। यदि मानव-जाति किसी स्थायी और सच्चे रूपमें आगे बढ़ी है तो उस सद्गुणके नाते नहीं जिसकी रचना पुरस्कार या दण्ड द्वारा या तुच्छ प्राणिक अहंके सामने बलवान् रहनेवाली किन्हीं भी विधियों द्वारा हुई हो, बल्कि वह आगे बढ़ी है निम्नतर मनपर उच्चतर मनके आग्रहसे ऋतपर स्वयं ऋतके लिये आग्रहसे, अवश्यमान्य नैतिक मूल्योंपर, नैतिक सत्ता और नैतिक आचरणके एक ऐसे निरपेक्ष नियम और सत्यपर आग्रहसे जिसका पालन करना ही होगा, निम्नतर मनकी चाहे जो कोई भी उद्दंडताएँ हों प्राणिक समस्याकी जो कोई भी वेदनाएँ हों, बाह्य परिणाम, निम्नतर स्तरका परिणाम जो कुछ भी हो।

इस उच्चतर मनका अपना विशुद्ध और सम्पूर्ण अधिकार केवल थोड़ेसे उच्च जीवोंपर ही होता है दूसरोंमें यह मन निम्नतर और बाह्य मनपर क्रिया तो करता

है परन्तु विचार और इच्छाके बहुत ही भ्रान्त अभिग्रहण, भ्रम और विकृति और विकृति-कारी अथवा क्षयकारी सम्मिश्रणके बीच, आचरणके निम्नतर अहमात्मक, प्राणिक और रूढिगत मानको द्वारा शासित समूहपर उसका प्रभाव परोक्ष और अल्प होता है। जो कुछ भी हो, इससे हमे वह सूत्र मिलता है जिसका पीछा हमे कर्म-रेखाओके कुण्डलाकार आरोहणका अनुसरण करनेके लिये करना होता है। और पहले हम यह देखते हैं कि नेक मनुष्य नैतिक नियमका अनुसरण स्वय उस नियमके लिये करता है, किसी भी अन्य हेतुसे नही, वह न्यायके हेतु न्यायपरायण है, धर्मके हेतु धर्मपरायण है, दयाके हेतु दयालु है, सत्यके ही लिये सत्यनिष्ठ है। हरिश्चन्द्रने वचनकी सत्यताकी अडिग निष्ठामे अपना, पत्नी, सन्तान, राज्य और प्रजाका बलिदान कर दिया, शिविने शरणार्थीकी रक्षाके राजोचित कर्त्तव्यसे च्युत होनेकी अपेक्षा बाजको अपना मास दे डाला, बोधिसत्वने क्षुधार्त्त व्याघ्रके सामने अपना शरीर ही रख दिया, पुनीत कथाओ और महाकाव्योके कथानकोके इन चित्रोमे इस श्रेष्ठतर प्रकारके सद्‌गुणका अभिषेक किया गया है और ये चित्र नैतिक इच्छाका ऐसा उन्नयन और नैतिक ऊर्जाका ऐसा नियम प्रकाशित करते हैं जो मनुष्यसे या किसी भी जीवन्त वस्तुसे या कर्म-देवताओसे कोई भी प्रतिदान नही माँगता, कोई भी शर्त्त नही रखता, परिणामकी, अधिकतम लोगोके कम या अधिक या अधिकतम मगलकी गणना नही करता, न तो सुखात्मक मापको अपनाता है न उपयोगात्मक मापको ही, प्रत्युत उस कार्यको सरल भावसे, कर्त्तव्यकी तरह केवल इसलिये करता है कि वह ऋत और सद्‌गुण है और अत मनुष्यकी सत्ताका धर्म, उसकी प्रकृतिका अनुल्लघ्य आदेश ही है।

नैतिक माँगमे इस प्रकारकी ऊँची केवलता शरीर और अहके लिये भयावह होती है, क्योकि उसमे आरामदायक छूट और समझौतेको, उपशमनकारी शर्तो या अवस्थाओको, अहभावात्मक जीवन और पुण्यके बीच किसी लाभदायक समझौतेको अनुमति नही मिलती। वह व्यावहारिक बुद्धिके लिये भी आपत्तिजनक है क्योकि वह जगत् और मानव-प्रकृतिकी सश्लिष्टताकी अवज्ञा करती है और उसमे एक चरम-वादिता ऐकान्तिक अतिरजनाका वर्ण दीखता है जो आदर्श कार्यमे जितना ऊपर उठी हुई है जीवनके लिये उतनी ही सकटपूर्ण है। न्याय और सही ही किया जाय भले ही आकाश गिर पडे, यह ऐसा आचरण-नियम है जिसे केवल आदर्श मन ही धीरजसे स्वीकार कर सकता या आदर्श प्राण ही व्यवहारमे सहन कर सकता है। और विशालतर आदर्श मनके लिये भी यह केवलता तब अविश्वसनीय हो जाती है जब कि वह अन्तरात्माके उच्चतर धर्मके प्रति न होकर, एक बहिर्नैतिक धर्म, एक आचरण-सहिताके प्रति आज्ञाकारी हो। कारण, तब उत्थानकारी उत्साहके स्थानपर हमे

मिलेगी फरीसीकी अनम्यता, प्युरिटन (शुद्धिवादी) की उग्रता या सकीर्णता या प्रकृतिके किसी एक ही और अपर्याप्त पक्षका जीवनहन्ता अत्याचार। यह चीज अब-तक वह उच्चतर मनोमयी गतिधारा नही, अपितु उसकी ओर उद्योग है, यह एक सक्रमणकालीन विधान और प्राणात्मक समझौतेसे ऊपर उठनेका प्रयास है। और यह अपने साथ एक कृत्रिमता लाती है, एक तनावट, एक बलप्रयोग, प्राय एक जुगुप्सा-जनक कठोर सयम लाती है जो हमारी प्रकृतिकी उच्चतर पूर्णता नही, क्योकि उसमे विवेक और विशाल बुद्धिमत्ता और सच्चे नैतिक मनकी सरल स्वाभाविकता और जीवनकी नम्यताओकी अवज्ञा है, यह कठोर सयम जीवनपर अत्याचार करता है, किन्तु उसका रूपान्तर नही करता। तथापि यहाँ भी नैतिक ऊर्जाके उत्पादनको एक महान् प्रतिदान पानेकी खोज रहती है, नैतिक कर्मके किसी धर्मके अनम्य आज्ञापालन-पर आग्रह रखते हुए उस वस्तुका निर्माण जिसका अभी तक हमारे अन्दर अस्तित्व है नही या अपूर्ण रूपसे है परन्तु एकमात्र जो ही हमारे आचरणके धर्मको सच्ची और सजीव चीज बना सकती है, नैतिक पुरुषका निर्माण जिसकी प्रकृति अपरिवर्त्तनीय रूपसे नैतिक हो, यदि यह लक्ष्य वास्तवमे इस प्रकार निष्पन्न किया जा सकता हो तो यह प्रयत्न वास्तवमे करने लायक है। किसी भी कल्पित यान्त्रिक या निर्व्यक्तिक धर्म या ईश्वर या पैगम्बरके नाममे मनुष्यपर बाहरसे लादा गया कोई भी नियम, केवल इसी नाते, मनुष्यके लिये सच्चा या ठीक या बाध्यकारी नही हो सकता वैसा वह केवल तब हो सकता है जब कि वह उसकी आन्तरिक सत्ताकी किसी माँगको पूरी करता या उसके किसी विश्वासको सहायता देता हो। और जब वह आन्तरिक सत्ता प्रकट हो जाती, विकसित हो जाती, प्रत्येक क्षण स्वाभाविक रूपसे सक्रिय, सरल और स्वत स्फूर्त्त रूपसे अनुल्लघ्य हो जाती है, तब हमे उसके आत्म-ज्ञानके प्रकाशमे, उसकी आत्म-परिपूर्त्तिके सौन्दर्यमे, उसके अन्तरग जीवन-तात्पर्यमे सच्चा, आन्तरिक और सबोधिमूलक विधान प्राप्त होता है। तब न्याय, सत्य, प्रेम, अनुकम्पा, शुचिता और बलिदानका कार्य हमारे न्यायनिष्ठ अन्तरात्माकी, हमारे सत्यनिष्ठ अन्तरात्माकी, हमारे प्रेम तथा अनुकम्पापूर्ण अन्तरात्माकी, हमारे शुचितापूर्ण या बलिदानप्रवण अन्तरात्माकी निर्दोष अभिव्यजना, उसका स्वभाविक प्रस्फुटन हो जाता है। और बाह्य प्रकृतिको दिये जानेवाले उसके आज्ञात्मक आदेशकी महत्ताके सामने प्राणिक सत्ता और व्यावहारिक बुद्धि और सतही जिज्ञासु मानसिक बुद्धिको यह कहकर सर नवाना होगा, और वे नवाती भी हैं, कि वह स्वय उनसे महत्तर वस्तु है, कोई ऐसी वस्तु है जो सीधे भगवान् और अनन्तकी है।

इस बीच हमे कर्मके उच्चतर विधानका, ऊर्जाके उत्पादन और प्रतिदानोके

उच्चतर नियमका सूत्र प्राप्त हो जाता है और हम तत्काल और प्रत्यक्ष देख लेते हैं कि कर्मके सारे विधानकी भाँति वह भी, पहले भले ही प्रच्छन्न रूपसे हो, किन्तु मनुष्यके लिये, यथार्थमें और अन्ततोगत्वा, उसके आध्यात्मिक विकासक्रमका विधान है। उसके पुण्य-कृत्यको, उसकी ऊर्जाके नैतिक ऋतत्वके उत्पादनको मिलनेवाला सच्चा प्रतिदान,—चाहे तो कहें, उसका पुरस्कार और एकमात्र प्रतिदान जिसके लिये आग्रह करनेका उसे अधिकार है,—उस कृत्य या उत्पादनका उसपर इस रूपमें प्रत्यागमन होना है कि उसमें नैतिक बलका विकास हो, उसकी नैतिक सत्ताका निर्माण ऊपर उठे, वह जो ऋत, न्याय, प्रेम, दया, पवित्रता, सत्य, बल, साहस और आत्म-देनसे पूर्ण अन्तरात्मा बनना चाहता है उसका प्रस्फुटन हो। दुष्कृत्यको, ऊर्जाके नैतिक अऋततत्वके उत्पादनको मिलनेवाला सच्चा प्रतिदान,—चाहे तो कहें उसका दण्ड, और उसकी एकमात्र शास्ति जिससे डरना आवश्यक या उचित है,—उस कृत्य या उत्पादनका उसपर इस रूपमें प्रत्यागमन है कि नैतिक बलके विकासमें विलम्ब हो, नैतिक सत्ताका जो निर्माण ऊपर उठा था वह विनष्ट हो जाय, वह जो पवित्र, सबल और ज्योतिर्मय पुरुष होना चाहता है, वह पुरुष, उसका अन्तरात्मा, तमोवृत, मलिन और दीन हो जाय। वह अपने कृत्यमें आन्तरिक सुख पा सकता है, ऋतमें परिपूरित अन्तरात्माकी स्थिरता, शान्ति और तुष्टि पा सकता है, या वह आन्तरिक आपदा पा सकता है, उसके उतार या वैफल्यका कष्ट, विक्षोभ, असुख और बाधा पा सकता है, परन्तु ईश्वरसे अथवा नैतिक विधानसे और कुछ नहीं माग सकता। नैतिक अन्तरात्मा,—कृत्रिम नहीं, प्रत्युत सच्चा नैतिक अन्तरात्मा,— जीवनकी वेदनाओं, कष्टों, कठिनाइयों और उग्र अभिघातोंको अपने पापोंके दण्डके रूपमें नहीं, अपितु अवसर और परीक्षाके रूपमें, अपनी प्रगतिके लिये अवसर और अपने निर्मित या सहज बलकी परीक्षाके रूपमें लेता है, और सौभाग्य तथा सारी बाह्य सफलताको पुण्यके लालायित पुरस्कारके रूपमें नहीं, अपितु उसे भी एक अवसर और एक और भी बडी और कठिनतर परीक्षाके रूपमें लेता है। ऋतत्वके इस महान् साधकके लिये कर्मके प्राणिक विधानका क्या अर्थ हो सकता है या उसके देवता उसका ऐसा क्या कर सकते हैं जिसका उसे भय हो या जिसकी उसे चाह हो? ऐसे अन्तरात्माके लिये, अपने विकासक्रमकी इस ऊँचाईपर पहुँचे हुए मनुष्यके लिये, जगत् और जागतिक तात्पर्य तथा विधानकी नैतिक-प्राणिक-वादी व्याख्या सार्थक नहीं होती। वह मनुष्य मध्याकाशकी शक्तियोंके क्षेत्रसे आगे निकल चुका है, उसके आत्माके प्रयासका मस्तक इन शक्तियोंके साम्राज्यके निष्प्रभ और धूसर प्रदेशसे ऊपर उठ चुका है।

दो

सत्यकी उच्चतर रेखाएँ

नैतिक पुरुषके इस चरम आग्रहसे भ्रान्त होकर यदि यह अनुमान कर लिया जाय कि अनन्तकी हमसे एकमात्र या परम माँग नैतिक है या उच्चतर कर्मका एकमात्र विधान और उसकी रेखा नैतिक हैं और इसके सामने अन्य किसी भी चीजका महत्त्व नही, तो इससे बढकर कोई भूल नही हो सकती। एक जर्मन चिन्तकका यह विचार कि मनुष्यके लिये यह अनुल्लघ्य प्रेरणा है कि वह सही और शुभकी, सही आचरणके दृढ नियमकी खोज करे, परन्तु अधि-आत्माकी कोई ऐसी अनुल्लघ्य प्रेरणा नही जो उसे सत्य या सुन्दरकी, सम्यक् सौन्दर्य और सामजस्य और सम्यक् ज्ञानके नियमकी खोज करनेको बाध्य करे, विलक्षण भ्रान्त धारणा है। यह एक मिथ्या निगमन है जिसकी उत्पत्ति मनुष्यके मनकी एक सक्रमणकालीन गतिधारासे, और उसमे भी उसके सश्लिष्ट व्यापारके एक ही पहलूमे अति व्यस्त रहनेसे हुई है। भारतीय चिन्तकोंकी दृष्टि अधिक बुद्धिमती थी, उन्होंने यह स्वीकार करते हुए भी कि सम्यक् नैतिक सत्ता और आचरण प्रथम आवश्यकता है, ज्ञानको महत्तर अन्तिम माँग और अनिवार्य शर्त्त माना, और उनका यह विशालतर अनुभव परिपूर्ण दृष्टिके बहुत समीप आया कि या तो पूर्ण ज्ञानकी ओर प्रेरणा द्वारा या इच्छाकी विशुद्ध निर्व्यक्तिकता द्वारा या दिव्य प्रेम और पूर्णानन्दके उल्लास द्वारा,—और चैत्यिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी निमग्नकारिणी एकाग्रता द्वारा भी—जीव 'परम' की ओर मुडता है और हमारे आत्मा, प्रकृति तथा चेतनाका प्रत्येक भाग भगवान्‌की पुकार और उनके दुर्निवार आकर्षणकी ओर उन्मीलित हो सकता है। वस्तुत इन सबका उन्नयन, भगवान्‌का हमारी सत्ताकी सारी विधाओपर एक आदेश, ईश्वर, स्वतन्त्रता और अमरत्वपर सम्पूर्ण अधिकारकी, समाकलनकारी अधिकारकी प्राप्तिकी ओर आत्म-परिवर्द्धनकी प्रेरणा है और इस नाते वही हमारी प्रकृतिका सर्वोच्च धर्म है।

प्राणकी मूलभूत गतिधाराको किसी निरपेक्ष नैतिक आग्रहकी बात कुछ भी मालूम नही. उसके लिये एकमात्र सुनिश्चित आदेश प्रकृतिका ही आदेश है जो प्रत्येक प्राणीको बाध्य करता है कि वह अपना जीवन अपने अन्तर्जात आत्म-स्वरूपके अनुसार और प्रकृतिके स्वभावको व्यक्त करनेवाली विधाके अनुसार प्रतिष्ठित करे जैसा कि उसे करना ही होगा, या ऐसा यथासम्भव उत्तम रूपमे करे। मन द्वारा अनुगर्भित

प्राणकी सक्रमणकालीन गतिधारामे वस्तुत एक नैतिक सहजप्रवृत्ति होती है जो विकसित होकर नैतिक बोध और भाव हो जाती है,—किन्तु न तो सम्पूर्णतया, क्योकि वह प्रवृत्ति आचरणके ऐसे बडे प्रदेश छोड देती है जिनमे नैतिक बोधकी रिक्ति या नैतिक बोधके प्रति निश्चेतना होती है, दूसरोके मोलपर अहमात्मक कामनाओकी तुष्ट परिपूर्ति होती है, और न आदेशात्मक रूपसे ही, क्योकि प्राणिक सत्ताका नियम, जिसे पहले आरोपित किया गया था और जो अधिक स्वाभाविक रूपसे आधिपत्यशाली है, उससे आसानीसे मोर्चा लेता और उसका आसन उलट देता है। प्राकृतिक अहमात्मक मनुष्य आचरणके उस सामूहिक या सामाजिक नियमका ही पालन अधिकतम कडाईसे करता है जिसे विधान और परम्पराने उसके मनपर अकित कर दिया हो, और उसके रूढिगत वृत्तके बाहर वह अपने-आपको एक आसान स्वच्छन्दता देता है। बुद्धि किसी ऐसे नैतिक विधानके भावको लेती है जिसके साथ यह आबन्ध रहता है कि मनुष्य उसकी ओर ध्यान दे और उसका पालन करे और उसकी अवज्ञा वह एक बाह्य जोखिम या एक आन्तरिक जोखिम उठाकर ही कर सकता है, वह इस भावको सर्वसामान्य बना देती है, और पहले और सबसे अधिक वह एक नैतिक विधान, आत्म-नियन्त्रण, न्याय, धर्मपरायणता और आचरणके आबन्धके लिए आग्रह करती है, न कि सत्य, सौन्दर्य और सामजस्य, प्रेम या स्वामित्वके नियमके लिए , क्योकि अपनी कामनाओ और सहजप्रवृत्तियो और अपने बाह्य प्राणिक क्रियाकलापका नियमन मनुष्यकी पहली आवश्यक पूर्वव्यस्तताका विषय है और पहले उसे अपनी स्थिति और एक निश्चित तथा अनुमोदित व्यवस्था यही पानी होती है, उसके बाद ही वह अधिक गहरे जाना और अपनी आन्तरिक सत्ताकी दिशामे अधिक विकसित होना सुरक्षित रूपसे आरम्भ करता है। इस सतही नैतिक बोधमे, इस सापेक्षिक आबन्धमे आन्तरिक तथा निरपेक्ष नैतिक आदेशकी सर्वोधिको भावमय मन ही लाता है, और यदि उसमे नैतिकताको प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान और कुछ मनोमे पूरा ही स्थान देनेकी प्रवणता रहती है, तो इसका कारण फिर भी यही है कि पृथ्वीपर मनके विकासक्रममे लम्बे समय-तक क्रियाको दी गयी प्राथमिकता मनुष्यको इस ओर चालित करती है कि वह अपने आदर्शवादको पहले क्रियामे और अन्य प्राणियोके साथके सम्बन्धोमे प्रयुक्त करे। परन्तु जैसे मनमे वह नैतिक सहजप्रवृत्ति रहती है जो शुभकी खोज करती है, वैसे ही मनुष्यमे सौन्दर्यरसिक सहजप्रवृत्ति, भावनाप्रवण और क्रियात्मक सहजप्रवृत्ति और वह सहजप्रवृत्ति भी रहती है जो ज्ञानकी खोज करती है, और वर्द्धमान बुद्धि जैसे नैतिक दिशामे वैसे ही इन सारी दिशाओमे भी विकास सिद्ध करने और उनका सही नियम पानेसे मतलब रखती है, क्योकि सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, बल और शक्ति, मन तथा प्राणके

सच्चे वर्द्धनके लिये आखिरकार धर्मपरायणता, पवित्रता और न्यायपरायणताके समान ही आवश्यक हैं। उच्च भावमय स्तरपर पहुँचकर ये चीजे भी,—नैतिक हेतुसे किसी कम रूपमे नही,—इस सापेक्षिक स्वरूप और महत्त्ववाली चाह और आवश्यकता नहीं रह जाती, वरन् आध्यात्मिक पूर्णताकी ओर ले जानेवाला नियम, उस ओरकी पुकार, एक आन्तरिक तथा निरपेक्ष दिव्य आदेश हो जाती हैं।

मनुष्यका उच्चतर मन केवल शुभकी ही नही, सत्यकी, ज्ञानकी खोज करता है। उसकी सत्ता नैतिक है और बौद्धिक भी, और उसे चलानेवाला अन्तर्वेग, उसकी जाननेकी इच्छा, सत्यकी प्यास, अपने ऊर्ध्वमुख अभिविन्यासमे, अपनी प्रारम्भिक क्रियाओमे भी, शुभकी इच्छासे कम दिव्य नही, अधिक भी है , वह हमारी चेतना तथा सत्ताके विकास और हमारे कर्मके सही व्यवस्थापनके लिये आवश्यक है, वह मनुष्यपर विश्वगत आत्माकी इच्छा द्वारा आरोपित आदेशात्मक आवश्यकताके रूपमे भी कम नही। और जैसे शुभके अनुसरणमे वैसे ही ज्ञानके अनुसरणमे भी हमे ऊर्जाके विकासक्रमकी वे ही रेखाएँ और पर्व दिखायी देते हैं। प्रथमावस्थामे, उसके आधार-रूपमे, केवल एक प्राण-चेतना रहती है जो अपने आत्माको खोजती है, अपनी गतियो, क्रियाओऔर प्रतिक्रियाओ, अपने परिवेश , अभ्यास और निर्धारित नियमोके प्रति अधिकाधिक चेतन होती है, सदा ही स्वानुभवसे कुछ पाती, अभिवर्द्धित होती और लाभ उठाना सीखती रहती है। निस्सन्देह यही वुद्धिकी चेतना और व्यवहारका मूलभूत उद्देश्य है, और विचारशीला इच्छाको अपने अन्दर रखनेवाली वुद्धि मनुष्यकी प्रमुख क्षमता है, वह उसकी अन्य सारी क्षमताओको अवलम्व देती, उनका आलिगन करती, उन्हें अपने परिवर्तनसे परिवर्त्तित करती, अपने विस्तारसे विस्तृत करती और अधिकाधिक पूर्ण वनाती है। मन, अपनी प्रथम क्रियामे, ज्ञानका अनुसरण किसी जिज्ञासासे करता है, परन्तु उसे प्रधानत व्यावहारिक अनुभवकी ओर, एक ऐसी सहायताकी ओर मोड देता है जो उसे जीवनके प्रथम व्यवहारो और उद्देश्योंकी पूर्ति अधिक अच्छी तरह करने और उन्हे अधिक आश्वस्त रूपसे वर्द्धित करनेकी क्षमता देती है। वादमे वह वुद्धिके अधिक स्वतन्त्र व्यवहारका विकास करता है, परन्तु तव भी प्राणिक उद्देश्यकी ओर एक प्रधान घुमाव रहता है। और हम यह देख सकते हैं कि जीवनके प्रतिदान देनेवाली शक्तिके रूपमे विश्वऊर्जा नैतिक ऋतत्वकी अपेक्षा वुद्धिको, वुद्धिकी सही व्यावहारिक क्रियाओको अधिक प्रत्यक्ष महत्त्व और अधिक गोचर परिणाम देती लगती है। इस भौतिक जगत्मे यह सन्दिग्ध तो है ही कि नैतिक अच्छाईका प्रतिदान प्राणिक मगलके रूपमे कहाँ तक मिलता है और नैतिक वुराई प्रतिक्षेपका दण्ड कहाँतक पाती है, परन्तु यह निश्चित है कि हम वहुत सामान्यत अपनी भूलोका, अपनी मूढताका,

सही क्रियाविधिको न जाननेका, हमारी चैत्यिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताको शासित करनेवाले नियमोकी अवज्ञा या दुष्प्रयोगका मूल्य चुकाते ही हैं, यह निश्चित है कि ज्ञान जीवन-निपुणता और सफलताके लिये एक बल है। भौतिक जगत्मे बुद्धिका अपना मोल है, वह प्राणिक और शारीरिक कष्टकी ओरसे अपनी रक्षा करती है, उसे नैतिक ऋतत्व और नैतिक उद्देश्यकी अपेक्षा अपने प्राणिक पुरस्कार अधिक निश्चित रूपमे मिलते हैं।

किन्तु मानवजातिका उच्चतर मन जैसे नैतिक सत्ताके प्राणात्मक और उपयोगात्मक मोड और मांगको उसका अन्तिम शब्द माननेमे तुष्ट नही होता, वैसे ही वह बुद्धिकी खोजमे ज्ञानके उपयोगात्मक व्यवहारको अन्तिम शब्द माननेमे तुष्ट नही होता। जैसे मनुष्यकी नैतिक सत्तामे वैसे ही उसकी बौद्धिक सत्तामे भी ज्ञानकी आवश्यकताका उदय होता है, यह आवश्यकता ज्ञानकी जीवन-उपयोगिताके कारण नही होती, सही रूपसे कार्य करनेके लिये, चारो ओरके जगत्के साथ सफलता और बुद्धिपूर्वक व्यवहार करनेके लिये सही रूपसे जाननेकी दरकारके कारण नही होती, अपितु यह अन्तरात्माकी आवश्यकता, आन्तरिक सत्ताकी अनुल्लघय मांग होती है। बुद्धिका सच्चा और अन्तर्भूत धर्म ज्ञानके लिये ही ज्ञानका अनुसरण है, न कि प्रथमत, या अवश्यत ही, जीवन-साधनकी प्राप्ति या अभिवर्द्धन और कर्म-साफल्यके लिये ज्ञानका अनुसरण। प्राणधर्मी क्रियाशील मनुष्य बुद्धिके इस अनुरागको एक आदरणीय परन्तु फिर भी अव्यावहारिक और प्राय नगण्य उत्सुकताके ही रूपमे माननेको प्रवण रहता है जैसे वह नैतिकताका मूल्य उसके सामाजिक प्रभावो या जीवनमे मिलनेवाले उसके पुरस्कारोसे लगाता है, वैसे ही वह ज्ञानका मूल्य उसके बाह्य सहाय्यसे लगाता है, विज्ञान उसकी आँखोमे महान् है अपने आविष्कारोके कारण, वह आराम, साधनो और उपकरणोकी जो वृद्धि करता है उसके कारण सब चीजोमे प्राणिक निपुणता ही ऐसे मनुष्यका मानक है। परन्तु, वास्तवमे, प्रकृति शुरूसे ही एक अधिक विशाल और अधिक आन्तरिक इच्छाकी ओर देखती और महत्तर उद्देश्यसे चालित होती है, और ज्ञानकी सारी खोज उत्पन्न होती है मनकी आवश्यकतासे, मन प्रकृतिकी आवश्यकता-से, और इसका अर्थ होता है यहाँ प्रकृतिमे स्थित अन्तरात्माकी आवश्यकतासे। उसकी जाननेकी आवश्यकता उसकी वर्द्धित होनेकी आवश्यकतासे अभिन्न है, और बच्चेकी उत्सुक जिज्ञासासे ऊपर उठते क्रममे विचारक, विद्वान्, वैज्ञानिक और दार्शनिक-के मनके गम्भीर चापतकमे उसका स्थिराक, प्रकृतिका मूलभूत उद्देश्य, वही है। प्रकृति जब केवल अपनी कृतियोके सरक्षणमे, जीवनमे, बाह्य सत्तामे व्यस्त प्रतीत होती है उस सारे समय भी उसका गुप्त और आधारनिष्ठ उद्देश्य भिन्न रहता है,—वह उद्देश्य,

उसके अन्दर जो छिपा हुआ है उसका क्रमविकास है, क्योकि यदि उसका प्रथम सक्रिय शब्द प्राण है तो उसका महत्तर प्रकटनकारी शब्द है चेतना, और प्राण तथा कर्मका विकासक्रम प्राणमे सवृत चेतनाके विकासक्रम, बन्दी अन्तरात्माके विकासक्रम,जीवके विकासक्रमका साधन ही है। कर्म साधन है, किन्तु ज्ञान उसका चिह्न और चेतन जीवका विकास उसका उद्देश्य। अत ज्ञानानुसरणके लिये मनुष्यके द्वारा बुद्धिका व्यवहार वह चीज है जो उसे अन्य प्राणियोसे सबसे अधिक भिन्न बनाती और जीवनके क्रममे उसे उसका उच्च और विलक्षण स्थान देती है। ज्ञानके लिये उसका अनुराग,—प्रथमत जगत्-ज्ञानके लिये, परन्तु बादमे आत्म-ज्ञानके लिये, फिर ईश्वर-ज्ञानके लिये, उस ज्ञानके लिये जिसमे दोनोका मिलन होता और दोनोमे समान रहनेवाला रहस्य प्राप्त होता है,—उसके आदर्श मनकी केन्द्रीय गतिधारा है और उसकी सत्ताका कर्मकी अपेक्षा महत्तर आदेशक है, और यद्यपि वह उसपर अधिकार करनेमे उसके बाद आता है, तथापि वह अपनी पहुँचके विस्तारमे महत्तर है, कर्मपर अपनी प्रभावशालिता-मे भी महत्तर है, मनुष्यमेके सत्य-बलको जगत्-ऊर्जासे मिलनेवाले प्रतिदानोसे भी महत्तर।

यह तो जब उच्चतम मनकी तीसरी गतिधारा आती है जिसमे वह अपने-आपको, अपनी इच्छा तथा बुद्धिके विशुद्ध आत्माको, अपने प्रयासके दीप्तिमान् मस्तकको प्राणिक चालक हेतुसे वियुक्त करनेकी तैयारी करता है तभी प्रकृतिकी यह अनुल्लघ्य प्रेरणा, यह अन्तर्भूत आवश्यकता जो मनुष्यके मनमे ज्ञानकी ओर प्रेरणाकी रचना करती है, बहुत महत्तर वस्तु हो जाती है, बदलेमे अधिकाधिक स्पष्ट रूपसे उस अन्तरात्मा-का भावमय और परम आदेश हो जाती है जो अज्ञानके कोषो और तुषोमेसे बाहर आ रहा है और सत्यकी ओर, प्रकाशकी ओर इस भाँति बढ रहा है मानो वह उसकी परि-पूर्तिकी शर्त्त है और उसे भगवान् ही उसकी सत्तासे चाह रहे हैं। ज्ञानकी ओर उद्दीपकके रूपमे बाह्य उपादेयताका आकर्षण तब वैसे ही बिलकुल आवश्यक नही रह जाता जैसे हमारे आरोहणके उसी ऊँचे स्तरपर पुण्यके लिये उद्दीपकके रूपमे अभी या बादमे प्राणिक पुरस्कारके प्रदानकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है, और चाहे जिस किसी भी सौन्दर्याभामी रँगमे उसे महत्त्व दिया जाय उसे उस निष्काम भावकी अवनति, आन्त-रात्मिक प्रेरक हेतुकी उच्च पवित्रतासे च्युति भी माना जाता है। यहाँ तक कि बौद्धिक खोजके अधिक बाह्य रूपोमे भी इस निरपेक्षताके किसी अशका अनुभव और शासन शुरू हो चुकता है। वैज्ञानिक अपने आविष्कारोमे लगा रहता है ताकि वह विश्वकी प्रक्रियाके नियम तथा सत्यको जान सके और उनके व्यावहारिक परिणाम प्रश्नकर्त्ता मनके लिये गौण हेतु ही होते हैं और उच्चतर वैज्ञानिक बुद्धिके लिये तो बिलकुल

ही नही होते। वस्तुओके अन्तिम सत्यकी खोजके लिये वैज्ञानिक प्रवृत्त होता है अन्दरसे, केवल सत्यके लिये, और सत्यका साक्षात्कार करनेके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उसके लिये, उसके निमग्नकारी मन और ज्ञानान्तरात्माके लिये गौण या महत्त्वहीन होता है, उस एक अनुल्लघ्य प्रेरणामे किसी भी चीजको हस्तक्षेप करने नही दिया जा सकता। और इस निरपेक्ष तत्त्वकी रुचि और प्रक्रियामे उसी प्रकारकी अनन्यताकी ओर प्रवृत्ति रहती है। चिन्तकका सम्वन्ध रहता है सत्यको खोजने और उसे अपने ऊपर तथा जगत्पर प्रवर्त्तित करनेसे, और ऐसा करनेमे वह इसपर विचार नही करता कि जीवन, धर्म, नैतिकता और समाजके स्थापित आधारोको भग करनेमे उसका क्या प्रभाव पडेगा, दूसरी कोई भी वात उसके विचारमे नही आती, जीवनपर उसके क्रियावत परिणाम जो कुछ भी हो, वह सत्यके शब्दका उच्चार करेगा ही। और यह निरपेक्ष तत्त्व तव अविकतम निरपेक्ष हो जाता है, यह अनुल्लघ्य प्रेरणा तब अधिकतम अनुल्लघ्य हो जाती है जव आन्तरिक क्रिया वौद्धिक खोजकी उदासीनताको पार कर जाती और सत्यके अनुभवके लिये, ज्योतिर्मय और आन्तरिक सत्यके जीवनके लिये, नूतन सत्य-चेतनामे जन्म लेनेके लिये ज्वलन्त प्रयास हो जाती है। प्रकाशप्रेमी, मुनि, ज्ञानयोगी, द्रष्टा, ऋषि, ज्ञानके लिये और ज्ञानमे निवास करते हैं, क्योकि उनकी खोज होती है प्रकाश तथा सत्यके निरपेक्ष रूपकी और उनपर उसका दावा अद्वितीय और परम होता है।

साथ ही यह भी जगत्-ऊर्जाकी एक रेखा है, क्योकि जगत्-शक्ति केवल शक्ति-वल और कर्मवल नही, चेतनाशक्ति एव ज्ञानशक्ति है,—और कर्ममे सफलता चाहने-वाली इच्छाकी ऊर्जाकी भाँति ज्ञानकी ऊर्जाके उत्पादनके भी अपने परिणाम अवश्य ही आते हैं। परन्तु मनमे इस उच्चतर स्तरपर होनेवाली खोज जो परिणाम लाती है वह सत्यत और विशुद्धत जीवका प्रकाश एव सत्यमे ऊर्ध्वमुख विकास ही है, वह विकास और उसके साथ जो भी सुख आय, वही वह एकमात्र परम पुरस्कार है जिसकी चाह ज्ञानान्तंरात्माको होती है और अन्दरके प्रकाशपर अन्धकाराच्छादन, सत्यसे च्युत होनेकी वेदना, केवल सत्यके विधानानुसार और सम्पूर्णतया उसके प्रकाशमे निवास न करनेवाली अपूर्णताकी वेदना, यही उसके लिये एकमात्र दण्डरूपी कष्ट है। मनुष्यमे जो ज्ञानका उच्चतर अन्तरात्मा है उसके लिये जीवनके बाह्य पुरस्कार और कष्ट तुच्छ चीजे है। यहाँ तक कि उसका उच्च ज्ञान-मन भी प्राय उन सारी चीजोका सामना करेगा जो उसे जगत् द्वारा कष्टके रूपमे दी जा सकती हैं, वैसे ही जैसे कि जिस सत्यको वह जानता और जिसके लिये वह जीता है उस सत्यके अनुसरण और प्रतिष्ठानके लिये वह सव प्रकारके वलिदान करनेको तैयार

रहता है। रोमकी आगमे जलता हुआ ब्रूनो, सभी धर्मोके शहीद, यन्त्रणा और अत्याचार-को सहनेवाले और उनका अपने अन्दरके प्रकाशके साक्षीके रूपमे स्वागत करनेवाले लोग, इस अचिर जगत्के विश्वव्यापी कष्टके अज्ञात कारणको खोजने और उसमेसे निकलकर परम चिरत्वमे चले जानेके मार्गको ढूंढनेके लिये सब कुछका परित्याग करनेवाले बुद्ध, पूर्ण सत्य एव परम चेतनामे प्रवेश करनेके एकमात्र सकल्पको लेकर जागतिक जीवन और उसके क्रियाकलापो, भोगो और आकर्षणोको भ्रम कह कर परित्यक्त करनेवाले सन्यासी, ज्ञानकी इस अनुल्लघ्य प्रेरणाके साक्षी हैं, इसके चरम उदाहरण तथा प्रदर्शक हैं।

प्रकृतिका अभिप्राय, उसकी विधाओका आध्यात्मिक औचित्य, अन्तमे उसकी ऊर्जाओके इस मोडमे प्रकट होता है जो कि चेतन जीवको सत्य तथा ज्ञानकी रेखाओके सहारे सहारे ले जाता है। प्रकृति प्रथमावस्थामे भौतिक प्रकृति है जो स्थापित सत्य और नियमके आधारके अनुसार अपना दृढ क्षेत्र निर्मित करती है परन्तु उसकी निर्देशना अवचेतन ज्ञान द्वारा होती है जिसे उसने अपने जीवोको तब तक नही बताया है। इसके बाद वह धीमे-धीमे आत्म -चेतन होता प्राण है, तब वह ज्ञानकी खोज इसलिये करती है कि वह अपनी राहोपर उन्हे देखती हुई विचरण करे और अपनी गतिविधिकी सश्लिष्टता तथा कौशल दोनोका वर्द्धन करे, परन्तु वहाँ धीमे-धीमे यह चेतना भी विकसित की जाती है कि ज्ञानका अनुसरण अधिक उच्च तथा अधिक शुद्ध लक्ष्यके लिये, सत्यके लिये, ज्ञानान्तरात्माकी जीवनाभिव्यक्ति और आध्यात्मिक आत्म-प्राप्तिके रूपमे उसकी तुष्टिके लिये करना ही होगा। परन्तु अन्तमे, सत्य और प्रकाशमे वर्द्धित होता जीव, अपने पूर्ण सत्यकी ओर विकसित होता जीव जो कि उसकी पूर्णता है, प्रकृतिकी ऊर्जाओका धर्म और उच्च लक्ष्य हो जाता है। और, प्रत्येक पर्वमे प्रकृति जीवके लक्ष्य और चेतनाके विकासके अनुसार ही प्रतिदान देती है। आरम्भमे निपुणता और प्रभाविणी बुद्धिका प्रतिदान मिलता है,—और प्रकृतिकी अपनी आवश्यकता इस बातकी पर्याप्त व्याख्या देती है कि वह जीवनके पुरस्कार न्यायनिष्ठको क्यो नही देती, प्रधानत नैतिक नेकीको क्यो नही देती, जैसा कि नैतिक मन चाहेगा, प्रत्युत निपुण और बलवान्-को, सकल्प, शक्ति और बुद्धिको देती है,—और बादमे जीवके सामर्थ्यो और क्षमताओके चेतन व्यवहार और बुद्धियुक्त निर्देशनमे मन तथा अन्तरात्माके आलोकीकरण और सन्तुष्टिका अधिकाधिक स्पष्टतामे उभरता हुआ प्रतिदान मिलता है, और अन्तमे आता है वह अद्वितीय परम प्रतिदान, जीवका प्रकाशमे वर्द्धन, ज्ञानमे उसकी पूर्णताकी तुष्टि, उसका उच्चतम चेतनामे जन्म और उसकी अपनी अन्तर्जात अनुल्लघ्य प्रेरणाकी विशुद्ध परिपूर्ति। वह विकास ही, दिव्य जन्म अथवा आध्यात्मिक स्वातिक्रमण ही,

उसका परम पुरस्कार है, पूर्वीय जगत्‌के मनके लिये सर्वोच्च प्राप्ति सर्वदा वही रहा है,—मानवीय अज्ञानमेसे दिव्य आत्म-ज्ञानमे प्रवेशकी ओर विकास ।

परिशिष्ट

श्री अरविन्दके पत्र

1 मृत्यु और उसके वाद 177

2. मृत्युपर शोक नही 210

3 मृत्यु और अतिमानसिक सिद्धि 212

एक

मृत्यु और उसके बाद

प्रत्येक बार अतरात्मा जन्म लेता और प्रत्येक बार विश्व-प्रकृतिके उपादानोसे एक मन, प्राण और शरीरकी रचना होती है। यह रचना अतरात्माके भूतकालके विकास और उसके भविष्यकी आवश्यकताके अनुसार होती है।

जब शरीर विघटित हो जाता है तो प्राणसत्ता प्राणलोकमे चली जाती और वहाँ कुछ समयतक रहती है, किंतु कुछ समय बाद प्राणिक कोष विलीन हो जाता है। मनोमय कोष सबके बाद विलीन होता है। अतमे अतरात्मा या चैत्य पुरुष नये जन्मका समय निकट आनेतक चैत्य लोकमे विश्राम करनेके लिये चला जाता है।

साधारण रूपमे विकसित मनुष्योके लिये मोटा-मोटी रीति यही है। इसमे व्यक्तिकी प्रकृति और विकासके अनुसार भेद हुआ करते हैं। उदाहरणके लिये, यदि मनका प्रबल विकास हुआ हो तो मनोमय पुरुष टिका रह सकता है, इसी प्रकार प्राण-पुरुष भी रह सकता है, बशर्ते कि वे सच्चे चैत्य पुरुषद्वारा सगठित और उसके इर्द-गिर्द केंद्रित हो, ऐसी दशामे वे चैत्य पुरुषकी अमरतामे भाग लेते हैं।

अतरात्मा अपने जीवनानुभवोको इकट्ठा करता और विकासक्रममे बढनेके लिये उन्हे ही आधार बनाता है। जब वह जन्म लेकर लौटता है तो अपने मनोमय, प्राण-मय तथा अन्नमय कोषोके साथ अपना उतना कर्म लेकर आता है जितना कि आगेके अनुभवके लिये नये जीवनमे उसके लिये उपयोगी होता है।

श्राद्ध और अन्य क्रिया-काण्ड वास्तवमे जीवके प्राणिक भागके लिये, जीवको पृथ्वी या प्राणलोकोसे बाध रखनेवाले प्राणिक स्पदनोसे छुटकारा पानेमे सहायता देनेके लिये किये जाते हैं ताकि वह शीघ्रतासे चैत्य शातिमे विश्राम करने चला जाय।

*

* *

मैने श्राद्धकर्मके मूल अर्थकी ही बात कही थी। मै जाति-भोज या ब्राह्मण-भोजकी बात नही कर रहा था, ये भोज क्रियाकाडमे हैं ही नही। श्राद्ध जिस रूपमे किया जाता है वह वस्तुत प्रभावी है या नही यह दूसरी बात है, क्योकि इसे करनेवालोमे

न तो ज्ञान है, न गुह्यशक्ति ही।

*
* *

शरीर छोडनेके वाद, अन्य लोकोमे कुछ अनुभव ले लेनेके वाद जीव अपने मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्वोको फेक देता और अपने भूतकालके सारतत्त्वको आत्मसात् करने और नये जीवनकी तैयारी करनेके लिये विश्राममे चला जाता है। यह तैयारी ही नये जन्मकी परिस्थितियाँ निश्चित करती और एक नये व्यक्तित्वकी गठनमे और उसके उपादानोके चुनावमे उसका पथप्रदर्शन करती है।

दिवगत जीव पूर्वजन्मोके अनुभवोके साराश मात्रको रखता है, न कि उनके पूरे व्योरोको। जव जीव किसी विगत व्यक्तित्व या व्यक्तित्वोको अपने वर्तमान जीवन-विकासके अगके रुपमे साथ लाता है, केवल तभी विगत जन्मके व्योरोको स्मरण रखने-की मभावना रहती है। नही तो केवल योगदृष्टिसे ही यह स्मृति मिलती है।

हम जिसे केद्रीय मत्ता, जीवात्मा कहते हैं उसीका नाम कारण-पुरुप है। वह जीवनलीलासे ऊपर रहता है. उसे सदा सहारा देता रहता है।

हो मकता है कि ऐसी गतियाँ देखनेमे आवे जो पीछेकीओर ले जानेवाली लगे, किंतु ये गतियाँ वास्तवमे पीछेकी ओर जानेवाली नही, वरन् टेढी-मेढी भर होती है, इनका अर्थ होता है किसी ऐसे स्थलपर फिरसे वापस आना जहाँ कार्य पूरा नहीं हुआ होता, ताकि वादमे अधिक अच्छे ढगसे आगे वढा जा सके। मनुष्यका अतरात्मा पशु-स्तरमे वापस नही जाता, परन्तु प्राणिक व्यक्तित्वका कोई अग पशु-योनिमे अपनी पाशविक वृत्तियोमे निवृत्त होनेके लिये विच्छिन्न होकर उस योनिमे चला जा मकता है।

इम जनश्रुतिमे कोई मत्य नही कि लोभी मनुष्य साँप वन जाता है। यह प्रचलित आकर्पक अधविश्वासोमे है।

*
* *

अतरात्मा शरीर छोड देनेके वाद, जव तक चैत्य पुरुप अपने अस्थायी कोपोको नही त्याग देता, कई स्थितियो और भूमियोमे गुजरता है, तव वह चैत्य लोकमे पहुँचता

है और उस लोकमे वह पुनर्जन्मके लिये तैयार होनेतक एक प्रकारकी निद्रामे विश्राम करता है। जिन मानवीय अनुभवोमेसे वह गुजरा है उनके सारको ही, जिसे वह अपने विकासके लिये काममे ले सकता है उसे ही वह अतमे अपने साथ रखता है। सामान्य नियम यही है किंतु यह उन अपवाद-स्वरूप व्यक्तियो या बहुत - विकसित प्राणियोके लिये लागू नही होता जिन्हे सामान्य मानवस्तरकी अपेक्षा महत्तर चेतना प्राप्त हो गयी है।

अतरात्मा (चैत्य पुरुष) नही, अपितु अभिव्यक्त सत्ताका कोई अग, सामान्यत प्राणका कोई अग, किसी कामना, बधुता या अनुभवकी आवश्यकताके कारण, निम्नतर रूप धारण करता है। साधारण मनुष्यमे ऐसा काफी बार होता है।

*

* *

मृत्युके समय जीव मस्तकसे होकर शरीरसे निकलता है। वह सूक्ष्म शरीरमे निकलता है और अस्तित्वके अन्य लोकोमे कुछ समयके लिये जाता है जहाँ वह अपने पार्थिव जीवनके परिणाम होनेवाली कुछ अनुभूतियोमेसे गुजरता है। पीछे वह चैत्य लोकमे पहुँचता है जहाँ वह एक प्रकारकी निद्राकी स्थितिमे तबतक विश्राम करता रहता है जबतक कि उसका पृथ्वीपर नया जन्म आरभ करनेका समय नही आ जाता। साधारणतया ऐसा ही होता है – किंतु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अधिक विकसित होते हैं और वे इस धाराका अनुसरण नही करते।

*

* *

मृत्युके बाद अतरात्मा सूक्ष्म शरीरमे निकल जाता है।

स्मृतियाँ पुनर्जन्मतक नही, कुछ ही समयतक ठहरती हैं,—नही तो छाप इतनी सबल होती कि विगत जन्मोकी स्मृति, नया शरीर लेनेके बाद भी, अपवाद न होकर नियम होती।

तुम कहते हो "एक जन्मके सबध बादके जन्मोमे टिके रहते हैं और इसकी सभावना आसक्तिके बलपर निर्भर करती है।" यह सभव तो है किंतु नियम नही, नियम बल्कि यह है कि उसी सबधको निरतर दुहराया नही जायगा, पृथ्वीपर वे ही लोग विभिन्न

जीवनोमे वार-वार मिलते हैं किंतु सवध भिन्न होते हैं। यदि निरतर उसी व्यक्तित्वको उन्ही सवधो और अनुभवोके साथ दुहराया जाय तो पुनर्जन्मका उद्देश्य पूरा नही होगा।

यह वात नही है कि मृत्युके वाद मानवरूपसे नीचेके प्राणियोमे अहका पूरा विनाश हो जाता है।

पूरे विश्रामकी *निष्क्रिय स्थितिमे होनेकी वात अहके लिये नही, अपितु* चैत्य पुरुषके लिये उस समयके लिये कही गयी है जव वह प्राणकोष और अन्य कोषोको छोड चुकता है और चैत्य लोकमे विश्राम करता है। उसके पहले वह चैत्य लोककी राहमे प्राणलोक और अन्य लोकोमेसे गुजरता है।

दिवगत व्यक्ति जव तक पृथ्वीके काफी निकट रहते हैं (गुह्यानुभवियोका सामान्यत यह मानना है कि ऐसा तीन वर्षोतक ही होता है) या यदि वे पृथ्वीसे आवद्ध हैं या यदि वे वैसे लोग हैं जो चैत्य लोककी ओर नहीं वढते किंतु पृथ्वीके निकट ठहरे रहते और जल्दी पुनर्जन्म ले लेते हैं तो उनसे सीधा सपर्क होना सभव है।

इन चीजोके वारेमे सवपर लागू होनेवाली उक्तियाँ आसानीसे नही तैयार की जा सकती—एक सामान्य रेखा होती है, किंतु वैयक्तिक उदाहरणोमे लगभग अनिश्चित मात्रामे विभिन्नता होती है।

*

* *

मृत्युके वाद एक ऐसा समय आता है जव मृत व्यक्ति प्राणजगत्‌मेसे गुजरता और वहाँ कुछ समयतक रहता है। इस यात्राका पहला भाग ही सकटपूर्ण या कष्ट-दायक हो सकता है, वाकी यात्रामे तो जीव अपने जीवनकालकी प्राणिक कामनाओ या प्रवृत्तियोके अवशिष्ट अशको विशेप परिवेशमे नि शेप करता है। जैसे ही वह इन सवसे क्लात हो जाता और इनसे परे जानेमे समर्थ हो जाता है, वैसे ही उसका प्राणिक कोप खिसक पडता है। इसके वाद जीवको कुछ मानसिक अवशिष्टाशोसे मुक्ति पानेके लिये कुछ समयकी आवश्यकता होती है और ऐसा होनेपर वह चैत्य जगत्‌मे जाकर विश्राम लेता है। जवतक पृथ्वीपर अगला जीवन धारण करनेका समय नही आ जाता तवतक वह वहीं रहता है।

दिवगत जीवको सहायता दी जा सकती है अपनी शुभेच्छा द्वारा या यदि किसीको गुह्य साधनोका ज्ञान हो तो उनके द्वारा। एक चीज जो अवश्य ही नहीं करनी चाहिये वह है दिवगत जीवके लिये दु ख या आसक्तिकी भावना रखकर उसे पीछे खीचना

या ऐसा कुछ भी करना जिससे कि वह पृथ्वीके समीप खिंच आये या विश्रामस्थलतक पहुँचनेकी यात्रामे उसे देरी हो।

*

* *

कुछ लोगोके साथ ऐसा हो सकता है कि उन्हे थोडेसे समयतक पता ही न लगे कि वे मर गये हैं,—विशेषत तब जब कि मृत्यु अप्रत्याशित और आकस्मिक होती है,—किंतु यह नही कहा जा सकता कि सभी लोगो या अधिकतर लोगोके साथ ऐसा होता है। कुछ लोग अर्द्ध-अचेतनताकी दशामे या मृत्युके समयकी मानसिक स्थितिसे उत्पन्न किसी अधकारमयी आतरिक अवस्थासे ग्रस्त रहनेकी अवस्थामे पहुँच जा सकते हैं जिसमे उन्हे इसका कुछ भी अनुभव नही होता कि वे कहाँ हैं, इत्यादि। अन्य लोग यात्राके विषयमे काफी चेतन होते हैं।

यह सच है कि प्रयाण करनेवाला व्यक्ति अपनी प्राणिक देहमे शरीरके समीप या जीवनके क्षेत्रके समीप कुछ समयतक, बहुत प्राय आठ-आठ दिनोतक टिका रहता है, और प्राचीन धर्मोंमे उसके विच्छेदके लिये मत्रों तथा अन्य साधनोका उपयोग किया जाता था। जिसकी प्रकृति पृथ्वीसे बहुत बधी रहती या सबल भौतिक कामनाओसे भरी होती है वह जीव शरीरसे अलग हो जानेपर भी पार्थिव वातावरणमे लम्बे समयतक रुका रह सकता है। यह अवधि अधिकसे अधिक तीन वर्षकी होती है। बादमे वह प्राणिक लोकोमे चला जाता है, अपनी यात्रामे आगे बढता जाता है जिसके अतमे – जल्दी हो या देरीसे – चैत्य विश्राममे पहुँच जाता है और वहाँ नया जीवन न मिलनेतक रहता है। यह भी सच है कि मृतकके लिये किया गया दु ख और शोक मृतकको पार्थिव वातावरणसे बधा रखता है और आगे न बढने देकर पीछेकी ओर खीचता है जिससे उसकी प्रगतिमे बाधा आती है।

*

* *

चैत्य पुरुष अपने लोककी यात्रामे बाह्य आवरणोको गिराता चले, यही सामान्य रीति है। किंतु इस रीतिके अनगिनत व्यतिक्रम हो सकते हैं, प्राण-जगत्‌से ही वापस चले आना हो सकता है और बहुतसे ऐसे उदाहरण हैं जिनमे प्राय तत्काल ही जन्म

हो गया है और कभी-कभी विगत जीवनकी घटनाओकी पूरी स्मृति भी बनी रही है।

स्वर्ग और नरक प्राय जीवकी, या बल्कि प्राणकी, काल्पनिक अवस्थाएँ हैं जिनका निर्माण वह यहाँसे प्रयाण करनेपर अपने लिये करता है। नरकसे अभिप्राय होता है प्राण-जगत्मे कष्टकारी यात्रा या वहाँ टिके रहनेसे, उदाहरणार्थ, आत्महत्याके बहुतसे प्रसगोमे ऐसा होता है कि जीव इस अस्वाभाविक और हिंस्र प्रयाणके कारण यत्रणा और बेचैनीकी शक्तियोसे घिरा रहता है। निस्सन्देह, मन और प्राणके ऐसे भी लोक हैं जो हर्षपूर्ण या अधकारपूर्ण अनुभूतियोसे भरे हैं। मृतककी प्रकृतिमे जो चीजे गठित हुई हैं वे आवश्यक बधुता पैदा करती हैं और इसके परिणाम-स्वरूप मृतक इन लोकोमेसे गुजर सकता है, किन्तु पुरस्कार या दण्डकी भावना एक स्थूल और गँवारू कल्पना है महज एक प्रचलित भ्राति है।

पुनर्जन्ममे लौटनेपर जीवको पहलेकी सारी बाते बिलकुल विस्मृत ही हो जायँ ऐसा कोई नियम नही। विशेषत बचपनमे विगत जीवनकी अनेक स्मृतिया बनी रहती हैं और वे बहुत सबल और स्पष्ट भी हो सकती हैं, किंतु जडतत्त्वधर्मिणी शिक्षा और परिपार्श्वके प्रभाव उनके सही स्वरूपको पहचाननेमे बाधक होते है। ऐसे लोग भी बहुत है जिन्हे विगत जीवनकी निश्चित स्मृतियाँ रहती हैं। किंतु शिक्षा और वातावरण इन चीजोको पनपने नही देते, ये चीजे टिक नही पाती, न विकसित हो पाती है, अधिकतर लोगोमे उन्हे गला घोटकर मिटा दिया जाता है। साथ ही यह भी ध्यानमे रखना चाहिये कि चैत्य पुरुष जिस चीजको अपने साथ ले जाता और वापस ले आता है वह साधारणतया विगत जीवनोकी अनुभूतियोके पूरे ब्योरे नही, अपितु उनका सार होती है, अत हमे जैसी स्मृति वर्तमान जीवनकी रहती है वैसीकी आशा इसके लिये नहीं करनी चाहिये।

जीव चैत्य लोकमे सीधे भी जा सकता है, किंतु यह निर्भर करता है प्रयाणके समयकी चेतनाकी स्थितिपर। यदि उस समय चैत्य पुरुष सामनेके भागमे हो तो तत्काल उस लोकमे चले जाना बिलकुल सभव है। यह चीज मानसिक, प्राणिक और चैत्य अमरत्वपर निर्भर नही करती। जिन्हे इसकी प्राप्ति हो चुकी है उन्हे तो बल्कि नाना लोकोमे विचरण करनेकी शक्ति मिल जाती है और वे स्थूल जगत्से बधे बिना स्थूल जगत्पर क्रिया भी कर सकते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन चीजोके लिये कोई एक नपा-तुला नियम नहीं है, बहुत प्रकारकी विभिन्नताएँ सभव हैं जो निर्भर करती हैं चेतनापर, उसकी शक्तियो, प्रवृत्तियो और रूपायणपर, यद्यपि एक सामान्य ढाँचा और खाका तो रहता है जिसके अदर सब चीजे जँच जाती और अपना-अपना स्थान ले लेती हैं।

* * *

क्रमविकासशील जीव या अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष और विशुद्ध आत्मा, इन दोनोके अन्तरको स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। विशुद्ध आत्मा अजन्मा होता है, जन्म या मृत्युमेसे नही गुजरता, जन्म या शरीर, मन या प्राण या इस अभिव्यक्त प्रकृतिसे स्वतन्त्र होता है। यद्यपि वह इन सबको धारण करता और अवलब देता है, फिर भी वह इनसे बधता नहीं, सीमित नही होता, प्रभावित नही होता। दूसरी ओर, अतरात्मा वह है जो जन्ममे उतर आता और मृत्यु द्वारा,—किंतु स्वय उसकी मृत्यु नही होती, क्योकि वह अमर है,—एक अवस्थासे अन्य अवस्थामे जाता है, पृथ्वीलोकसे अन्य लोकोमे जाता है और फिर पार्थिव जीवनमे वापस आता है। अतरात्मा इस प्रकार जीवन-जीवन प्रगति करता हुआ विकासक्रमके मार्गपर आगे बढता है जो उसे मानव-स्तरपर पहुँचा देता है और इन सबके बीच वह एक अपनी सत्ताका निर्माण करता है जिसे हम चैत्य पुरुष कहते हैं जो विकासक्रमको अवलब देता और शारीरिक, प्राणिक और मानसिक मानव-चेतनाका विकास विश्व-अनुभूतिके लिये, एक प्रच्छन्न और अपूर्ण किंतु वर्द्धमान आत्माभिव्यक्तिके लिये उपकरणके रूपमे करता है। यह सब वह पर्देके पीछे रहकर करता है और अपना दिव्य स्वरूप उतना ही प्रकट करता है जितना कि अपूर्ण उपकरणात्मिका सत्ता उसे वैसा करनेका अवकाश देती है। किंतु एक समय आता है जब कि वह पर्देके पीछेसे निकल आनेकी तैयारी कर सकता, नायक हो जा सकता और सारी उपकरणरूपिणी प्रकृतिको दिव्य परिपूर्त्तिकी ओर मोड सकता है। यही सच्चे आध्यात्मिक जीवनका आरभ है। अब अतरात्मा अपने-आपको अभिव्यक्त चेतनाके मनोमय मानवकी अपेक्षा उच्चतर विकासके लिये तैयार करनेमे समर्थ हो जाता है, वह मानसिकको पारकर आध्यात्मिक स्थितिमे और फिर आध्यात्मिक सीढियोको पार करता हुआ अतिमानसिक स्थितितक पहुँच सकता है। तबतक कोई कारण नही कि वह जन्म लेना बद कर दे, वास्तवमे वह ऐसा नही कर सकता। आध्यात्मिक स्थितिमे पहुँचकर यदि वह पार्थिव सृष्टिसे बाहर निकल जाना चाहे तो वह ऐसा निस्सदेह कर तो सकता है, किंतु ऐसी उच्चतर अभिव्यक्तिकी सभावना भी रहती है जो ज्ञानमे होगी न कि अज्ञानमे।

अत तुम्हारा प्रश्न उठता ही नही। अगले जीवनकी पुकार आनेतक चैत्य लोकमे विश्राम करनेके लिये चैत्य पुरुष जाता है, न कि शुद्ध आत्मा। अत उसके नवीन जन्म ग्रहण करनेके निमित्त दबाव डालनेके लिये 'शक्ति' की आवश्यकता नही रहती। वह अपने स्वभावमे ऐसा कुछ है जिसे विकासक्रमको सहारा देनेके लिये भगवान्से नि सृत किया गया है और जबतक विकासक्रममे भगवान्का अभिप्राय सिद्ध नहीं हो जाता ,तबतक उसे ऐसा करते रहना ही होगा। कर्म तो पार्थिव जीवनका

महज एक यत्र है, उसका आधारभूत कारण नही। ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योकि अतरात्माने जव पहली वार इस जीवनमे प्रवेश किया तव उसके पीछे उसका कोई कर्म नहीं था।

फिर 'सर्वग्रासिनी माया' या 'समस्त चेतना खो देने' से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? अतरात्मा समस्त चेतना नही खो दे सकता, क्योकि उसका स्वभाव ही है चेतना, किंतु यह चेतना मनोमय प्रकारकी नही होती जव कि मनोमयी चेतनाको ही साधारणतया हम चेतना कहते हैं। यह चेतना पहले जड प्रकृतिकी तथाकथित निश्चेतना और फिर मन, प्राण और शरीरके अर्धचेतन अज्ञान द्वारा विलुप्त या विनष्ट नही, केवल आवृत होती है। अतरात्मा अपनी अतर्निहित चेतनाको वैयक्तिक मन, प्राण और शरीरके विकासके अनुसार यथासभव मात्रामे प्रकट करता है, वह उस चेतनाको इन करणो द्वारा और वाह्य व्यक्तित्व द्वारा जिन्हे उसके लिये और उसके द्वारा — क्योकि दोनो वाते ठीक हैं — इस वर्तमान जीवनके लिये तैयार किया गया है, वाहरी उपकरणात्मिका प्रकृतिमे यथासभव दूरी तक और यथासभव रीतिसे अभिव्यक्त करता है।

पुनर्जन्मके दौरानमे अतरात्माके भीषण यत्रणा भोगनेके वारेमे मै कुछ नही जानता। प्रचलित विश्वासोको जव कुछ आधार प्राप्त रहता है तो भी वे कदाचित् ही ज्ञानदीप्त और ठीक-ठीक होते हैं।

*

* *

(1) चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीरको धारण करता हुआ उनके पीछे रहता है। फलत लोक-सोपानमे मनोमय, प्राणमय या भौतिक लोकोकी भाँति चैत्य लोक कोई एक लोक नहीं है, वरन् इन सब लोकोके पीछे अवस्थित है और विकसनशील अतरात्मा दो जीवनोके वीचकी अवधिमे विश्राम करने यही जाते हैं। यदि देह, प्राण और मनकी ऊर्ध्व-क्रमपरपरामे अन्य तत्त्वोकी तरह चैत्य भी मात्र एक तत्त्व होता और उस परपरामे अन्य तत्त्वोकी तरह एक ही धरातलपर किसी स्थानमे स्थित होता तो वह वाकी सवका अतरात्मा न वन पाता, दूसरे तत्त्वोके क्रमविकासको सभव वनानेवाला और विश्वकी अनुभूतिके द्वारा भगवान्की ओर विकसित होनेमे उनका उपकरणकी तरह व्यवहार करनेवाला भागवत तत्त्व न वन पाता। इसी तरह चैत्य लोक अन्य लोकोके वीच कोई ऐसा लोक नही हो सकता जिसमे विकसनशील अतरात्मा

अतिभौतिक अनुभूतियोके लिये जाता हो। चैत्य लोक वह लोक है जिसमे अतरात्मा विश्राम करनेके लिये, उसने जो कुछ अनुभव किया है उसका वहाँ आध्यात्मिक रूपमे परिपाचन करने और अपनी मूलभूत चेतना और चैत्य स्वभावमे पुन निमग्न हो जानेके लिये अपने अदर चला जाता है।

(2) जो थोडेसे लोग अज्ञानमेसे बाहर निकल जाते और निर्वाणमे चले जाते हैं उनके सृष्टिके उच्चतर लोकोमे सीधे ऊपर चले जानेका प्रश्न नही होता। निर्वाण या मोक्ष लोक नही, जीवकी मुक्तिकी अवस्था है और सभी जगतो और सृष्टिसे अलग हट जाना है। इस सम्बन्धमे पितृयान या देवयानका उदाहरण शायद ही उठता है।

(3) चैत्य लोकमे विश्राम करते अतरात्माओकी स्थिति सपूर्णत निष्क्रिय होती है, प्रत्येक अतरात्मा अपने अदर सिमट जाता है, दूसरोके साथ उसकी कोई परस्पर-क्रिया नही होती। जब वे अपनी समाधिमेसे निकल आते हैं तो नये जीवनमे उतरनेके लिये तैयार होते हैं, किन्तु इस बीच वे पार्थिव जीवनपर क्रिया नही करते। वहाँ अन्य सत्ताएँ भी होती हैं जो चैत्य लोककी सरक्षिकाएँ होती हैं, किन्तु उनका सरोकार बस चैत्य लोकसे और अतरात्माओके पुन देहधारणसे रहता है, पृथ्वीसे नही।

(4) चैत्य लोककी कोई सत्ता पार्थिव लोकके मानव-प्राणीके अतरात्माके अदर नही घुल-मिल सकती। कुछ प्रसगोमे यह होता है कि कभी-कभी कोई उन्नत चैत्य सत्ता अपना स्फुलिंग नीचे भेजती है, वह स्फुलिंग मानव-प्राणीके अदर रहता और उसे तबतक तैयार करता रहता है जबतक कि वह इस योग्य नही बन जाय कि वह चैत्य सत्ता जीवनमे प्रवेश कर सके। ऐसा तब होता है जब कोई विशेष काम करना और उसके लिये मानव-वाहनको तैयार करना होता है। ऐसा अवतरण उस मनुष्यके व्यक्तित्व और प्रकृतिमे अकस्मात् एक बडा परिवर्तन ला देता है।

(5) अतरात्मा साधारणतया बराबर एक ही लिंग धारण करता रहता है। यदि लिंग-परिवर्तन होता है तो नियम यह है कि इसका सबध व्यक्तित्वके उन अगोसे होता है जो केंद्रीय नही होते।

(6) पुनर्जन्मके लिये वापस आनेवाला अतरात्मा नये शरीरमे कब प्रवेश करता है इसका कोई नियम नही बताया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्तिकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती है। कुछ चैत्य पुरुष गर्भाधानके समयसे ही जन्म-वातावरण और माता-पितासे सबध स्थापित कर लेते हैं और गर्भकालमे ही व्यक्तित्व तथा भविष्यका आयोजन निर्धारित करते हैं, कुछ सबध जोडते हैं केवल प्रसवके समय, और कुछ जीवनकालमे बादमे भी – ऐसी दशाओमे चैत्य पुरुषकाकोई स्फुलिंग ही उस जीवनको धारण किये रहता है। यह ध्यानमे रखना चाहिये कि भावी जन्मकी अवस्थाओका

मूलभूत निर्धारण चैत्य लोकके विश्रामकालमे नही वरन् मृत्युके समय होता है – उस समय चैत्य पुरुष यह चुनाव करता है कि अगले पार्थिव प्राकट्यमे उसे क्या करना है और परिस्थितियाँ उसीके अनुरूप सयोजित हो जाती हैं।

यह भी ध्यानमे रहे कि यह विचार कि पुनर्जन्म और नये जीवनकी परिस्थितियाँ पुण्य या पापके पुरस्कार या दडके रूपमे मिलती हैं "न्याय"-सबधी मानवीय विचारका असशोधित रूप है जो बिलकुल ही अदार्शनिक और अनाध्यात्मिक और जीवनके सच्चे अभिप्रायको ही विकृत कर देनेवाला है। यहाँ जीवन क्रमविकास है और जीव अनुभव-से बढता है, प्रकृतिमे इस या उस चीजको इसके द्वारा कार्यान्वित करता है, और यदि जीवनमे कष्ट आता है तो इस कार्यान्वयनके लिये, न कि अज्ञानमे अनिवार्य रहती भूल-भ्रांतियो या पदस्खलनके लिये ईश्वर या विश्व- विधानद्वारा दिये गये फैसलेके रूपमे।

* * *

इन प्रश्नोका निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है, क्योकि सबपर लागू होनेवाला कोई सामान्य नियम निर्धारित नही किया जा सकता। मन एक या अनेक अटल नियम बना लिया करता है। किंतु सृष्टि वास्तवमे बहुत ही नमनीय, वैचित्र्यपूर्ण और बहु-मुखी है। अत मेरे उत्तरोको इन विषयोका सपूर्ण या नि शेष प्रतिपादन बिलकुल नही मानना चाहिये।

(1) जीवन्मुक्तने अपने लिये जो भी लक्ष्य स्थिर किया हो वही वह चला जा सकता है, चाहे वह निर्वाणकी स्थिति हो या कोई दिव्य लोक, और वहाँ निवास कर सकता है, या जहाँ कही भी जाय, पार्थिव गतिधारासे सपर्क बनाये रख सकता और यदि उस गतिधारामे सहायता देनेकी उसकी इच्छा हो तो उसमे वापस भी आ सकता है।

जीवकी वर्तमान उच्चतम उपलब्धिके लोकसे सीधे एक और भी उच्चतर लोकमे जानेकी यह बात सशयात्मक है। यदि वह मूलत क्रमविकासकी नही, बल्कि किसी उच्चतर लोककी सत्ता हो, तो वह उस लोकमे लौट जायगा। यदि वह और भी ऊँचा जाना चाहे तो यह युक्तिसगत है कि जबतक वह उस उच्चतर लोककी उपयुक्त चेतना प्राप्त न कर ले तबतक उसे विकासक्रमके क्षेत्रमे वापस आना होगा। यह सनातनी विचार कि यदि देवता भी मुक्ति पाना चाहे तो उन्हे पृथ्वीपर आना होगा, इस आरोहणके लिये भी लागू हो सकता है। यदि जीव मूलत विकसनशील सत्ता है (रामकृष्णने ईश्वरकोटि और जीवकोटिका जो भेद किया है वह यहाँ भी लागू हो सकता है) तो उसे विकासक्रमके मार्गपर चलते हुए ही बढना होगा, या तो निर्वाणके द्वारा अभावात्मक निवृत्तिकी ओर या सच्चिदानदकी क्रमवर्द्धनशील अभिव्यक्तिमे भावात्मक भागवत संसिद्धिकी ओर।

वापस आनेकी असभाव्यताका प्रश्न जटिल है। दिव्य पुरुष कभी भी वापस आ सकता है – जैसा कि रामकृष्णने कहा है, ईश्वरकोटिका जीव जन्म-मृत्यु और अमरत्वके बीचकी सीढीपर इच्छानुसार चढ-उतर सकता है। अन्य लोगोके लिये यह सभावना है कि वे यदि चाहे तो, शाश्वत समा, एक आपेक्षिक अनत कालतक विश्राम कर सकते हैं, किंतु वापस आनेकी बात तबतक नही खत्म हो सकती जबतक कि वे अपनी सभाव्य उच्चतम स्थितिमे नही पहुँच जाते।

नही, नये जन्मके पहले चैत्य लोकमे वापस जाना विकासक्रमकी धाराका ही अग है, यह दिव्य पुरुषोके पुनर्जन्मके लिये अनिवार्य नही।

(2) यहाँ उन्नत चैत्य पुरुषसे अभिप्राय उससे हो सकता है जो अतरात्माकी स्वतन्त्रतातक पहुँच चुका है और भगवान्मे लीन हो गया है – लीन होनेका अर्थ नष्ट होना नही है। ऐसा पुरुष चैत्य लोकमे सोता नही वरन् अपनी आनदमयी तल्लीनताकी स्थितिमे रह सकता है या किसी उद्देश्य-सिद्धिके लिये वापस भी आ सकता है।

"अवतरण" का अर्थ प्रसगानुसार अलग-अलग होता है। यहाँ मैने इस अर्थमे व्यवहार किया था कि चैत्य पुरुष अपने लिये तैयार मानवीय चेतना और शरीरमे उतर आता है, यह अवतरण जन्मके समय हो सकता है या उससे पहले, या वह बादमे भी उतर सकता है और उसने अपने लिये जो व्यक्तित्व तैयार किया है उसे धारण कर सकता है। तुमने ऊपरके जिन व्यक्तियोकी बात कही है वह ठीक समझमे नही आ रही है। चैत्य पुरुष ही देह धारण करता है।

(3) नही, चैत्य पुरुष एकसे अधिक शरीर नही ले सकता। प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये केवल एक ही चैत्य पुरुष होता है, लेकिन उच्चतर लोकके पुरुष, जैसे अधिमानसलोकके देवतागण, एक ही समयमे एकसे अधिक शरीरोमे अपने भिन्न-भिन्न स्फुलिंग भेजकर एकसे अधिक मानव-देहोमे प्रकट हो सकते हैं। इन्हे उन देवताओ-की विभूतियाँ कहेगे।

(4) मानव-अतरात्मा चैत्य जगत्के सरक्षक नही होते। चैत्य जगत्के सरक्षको-का न तो कोई पद है जिसके लिये वे नियुक्त होते हो और न इसका कोई अधिकारी वर्ग होता है। ये तो चैत्य लोककी सत्ताएँ होते हैं और उस लोकमे अपना स्वाभाविक कार्य-कलाप करते रहते हैं। 'सरक्षक' शब्दका व्यवहार तो मैने बस उनके कार्यका स्वरूप बतानेके लिये उपमा या रूपकके रूपमे किया था।

*

* *

उस कालमे मेरे ख्यालमे शैवोके एक-दो मतोको छोडकर सार्वभौम आदर्श जन्मसे परित्राण पाना ही था। यह बात भगवान्‌के बहुतसे जन्म लेनेकी बातसे बिलकुल मेल नही खाती, क्योकि गीताने उच्चतम स्थिति भगवान्‌मे लयको नही, वरन् भगवान्‌के अदर निवास करनेको बताया है। यदि ऐसा है तो कोई कारण नही कि जो मुक्त और सिद्ध पुरुष भगवान्‌की निवास करनेकी स्थितिमे पहुँच चुके हैं उन्हे पुनर्जन्म और उसके कष्टोका भय भगवान्‌से अधिक क्यो लगे।

*

* *

पितृयानको निम्नतर लोकोमे ले जानेवाला माना जाता है जिनमे अभी भी अज्ञानके क्षेत्रमे होनेवाले विकासक्रममे पडे पितृगण गये हुए हैं। देवयानके द्वारा व्यक्ति अज्ञानसे परे प्रकाशमे पहुँच जाता है। पितृगणके सबधमे कठिनाई यह है कि पुराणोमे उन्हे वे पूर्वज माना गया है जिन्हे तर्पण दिया जाता है — एक प्रकारकी पूर्वजोकी प्राचीन पूजा है जैसी अभी भी जापानमे विद्यमान है, किंतु वेदोमे उनका अभिप्राय उन पितृगणोमे लगता है जो पहले चले गये हैं और अतिभौतिक लोकोकी खोज कर चुके हैं।

*

* *

मृत्युके समय चैत्य पुरुष यह चुनता है कि अगले जन्ममे वह क्या सपन्न करेगा और वह नये व्यक्तित्वका स्वरूप और उसकी परिस्थितियाँ भी निर्धारित करता है। जीवन अज्ञानकी परिस्थितियोमे अनुभव प्राप्त करते हुए तबतक क्रमश प्रगति करते रहनेके लिये है जबतक हम उच्चतर प्रकाशके लिये तैयार नहीं हो जाते।

*

* *

मनुष्यकी मृत्यु-क्षणकी इच्छा केवल सतहकी वस्तु है। ऐसा हो सकता है कि उसे चैत्य पुरुषने निर्धारित किया हो और इस प्रकार वह भविष्यकी गठनमे सहायता

दे सकती है, किंतु वह इच्छा चैत्य पुरुषके चुनावको निर्धारित नही करती। चैत्य पुरुषका चुनाव तो पर्देके पीछेकी चीज है। बाह्य चेतनाकी क्रिया आतरिक प्रक्रियाको निर्धारित नही करती, वास्तविकता इससे उल्टी है। तथापि कभी-कभी आतरिक क्रियाके चिह्न या अश ऊपरी सतहपर आते हैं, उदाहरणस्वरूप, मृत्युके समय कुछ व्यक्तियोको अपने भूतकालकी परिस्थितियोका एक विशाल झलकके रूपमे दर्शन या स्मरण हो जाता है, यह चैत्य पुरुषका कूच करनेसे पहले जीवनका सिंहावलोकन होता है।

*

* *

मृत्युके समय चैत्य पुरुषका जो चुनाव होता है वह व्यक्तित्वकी अगली गठनको विस्तारसे कार्यान्वित नही, निर्धारित करता है। जब वह चैत्य लोकमे प्रवेश करता है तब अपने अनुभवोके सारको आत्मसात् करना आरभ करता है और भावी चैत्य व्यक्तित्व-का निर्माण इस आत्मसात्करण द्वारा, पूर्वकृत निश्चयके अनुसार होता है। यह आत्म-सात्करण पूरा हो जानेपर वह नये जन्मके लिये तैयार हो जाता है, किंतु कम विकासवाले जीव यह सारा काम अपने-आप पूरा नही करते, उच्चतर लोककी कुछ ऐसी शक्तियाँ और सत्ताऐं होती हैं जो यह काम करती हैं। फिर, जब वह जन्म ले लेता है तो यह निश्चित नही कि वह जो करना चाहता है उसके मार्गमे भौतिक जगत्की शक्तियाँ नही आ खडी होगी और उसने अपना जो नया यंत्र और आधार बनाया है वह, हो सकता है, उस कार्यके लिये पूरा सशक्त न हो, क्योकि यहाँ उसकी अपनी शक्तियो और विश्व-शक्तियोके बीच आपसमे क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। असफलता हो सकती है, पथभ्रष्टता हो सकती है, आशिक परिपूर्त्ति होकर ही रह जा सकती है,—बहुतेरी चीजे घटित हो सकती हैं। यह सब नपातुला यत्र-विन्यास नही, वरन् जटिल शक्तियोकी क्रिया है। तथापि यह और कहा जा सकता है कि विकसित चैत्य पुरुष इस सक्रमणकालमे कही अधिक चेतन रहता है और इस कालका काफी कार्य स्वय कर लेता है। कितना समय लगता है यह निर्भर करता है उसके विकासपर और उसके एक विशेष गतिछद पर। कुछका लगभग तत्काल पुनर्जन्म होता है, दूसरोको अधिक समय लगता है, कुछको तो शताब्दियाँ लग जा सकती है। किंतु यहाँ भी यह बात है कि यदि चैत्य पुरुष काफी विकसित है तो वह अपना गतिछद और अपनी विश्राम-अवधि चुननेके लिये स्वतन्त्र होता है। प्रचलित मत अत्यधिक यत्रवत् हैं। यही बात

पाप-पुण्य और अगले जन्ममे उनके परिणामके बारेमे भी कही जा सकती है। विगत जन्ममे व्यवहृत की गयी ऊर्जाओका परिणाम अवश्य ही हुआ करता है, किंतु उस बाल-सुलभ जैसे सिद्धातके अनुसार नही। रूढिवादी मतके अनुसार इस जन्ममे सज्जन व्यक्तिका कष्ट पाना इस बातका प्रमाण होगा कि विगत जीवनमे वह बहुत बडा दुष्ट रहा होगा और दुर्जनका फलना-फूलना इस बातका प्रमाण कि पृथ्वीपर जब वह पिछली बार पधारा होगा तब वह देव-तुल्य ही रहा होगा और उस समय उसने पुण्यो और सुकर्मोके जो प्रचुर बीज बोये होगे उन्हीके फलस्वरूप वह सौभाग्यकी यह भारी फसल काट रहा है। यह बात इतनी सममित है कि सत्य नही हो सकती। यदि जन्मका लक्ष्य अनुभवके सहारे प्रगति करना है तो यह मानना ही होगा कि भूतकालके कर्मोकी जो भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे व्यक्तिके सीखने और प्रगति करनेके लिये होती हैं न कि (भूतकालकी) कक्षाके अच्छे विद्यार्थियोके लिये मिठाइयोके रूपमे और बुरोके लिये पिटाईके रूपमे। अच्छे और बुरे कर्मका वास्तविक अनुशासन एकके लिये सौभाग्य और दूसरेके लिये दुर्भाग्य नही, बल्कि यह है कि अच्छा कार्य हमे उच्चतर प्रकृतिकी ओर ले जाता है जो अतमे शोक और कष्टके परे उठ जाती है और बुरा हमे निम्नतर प्रकृतिकी ओर खीचता है जो सदैव दु ख, कष्ट और बुराईके चक्करमे पडी रहती है।

*

* *

विगत जन्मोसे आनेवाली अविजेय कठिनाई नामकी कोई चीज नही। हाँ, कुछ सस्कार ऐसे होती है जो सहायता करते हैं और कुछ ऐसे जो बाधा पहुँचाते हैं। इन बाधा पहुँचानेवाले सस्कारोको विसर्जित और विलीन करना होता है, इनके बार-बार होते रहनेका अवसर बद करना होता है, श्रीमाने तुम्हे यह बात इस प्रवृत्तिका मूल बताने और उससे छुटकारा पानेकी आवश्यकता समझानेके लिये कही थी – उन्होंने किसी अविजेय कठिनाईका नही, बल्कि इससे एकदम विपरीत सकेत किया था।

*

* *

'मूढ योनिषु' या 'अधोगच्छन्ति' मे पशु-योनिमे जानेका निश्चित सकेत नही है, लेकिन यह सच है कि इस प्रकारका सामान्य विश्वास केवल भारतमे ही नही वरन्

उन सभी देशोमे प्रचलित रहा है जिनमे 'देहातरप्राप्ति' या 'पुनर्जन्म' मे विश्वास किया जाता रहा है। शेक्सपियर जब किसीकी दादीके बारेमे यह कहता है कि वह पशुमे चली गयी तब वह देहातरणमे पाइथागोरसके विश्वासकी ओर ही इशारा करता है। किंतु अतरात्मा, चैत्य पुरुष, जब एकबार मानव-चेतनामे पहुँच जाता है तो जैसे वह वृक्ष या क्षण-जीवी कीट पतग नही बन सकता, वैसे ही वह पशुकी निम्नतर चेतनामे भी वापस नही जा सकता। सच बात यह है कि प्राणिक शक्ति या गठित उपकरणात्मक चेतना या प्रकृतिका कोई अग यदि पार्थिव जीवनकी किसी वस्तुमे प्रबल रूपमे आसक्त रहा हो तो वह पशु-योनिमे जा सकता है और प्राय ही चला जाता है। मनुष्य-शरीरमे भी तत्काल पुनर्जन्म लेने और पूर्वजन्मकी पूरी स्मृति साथ रखनेवाले जो उदाहरण हैं उनमेसे कुछका कारण इस बातमे मिल सकता है। सामान्यतया पूर्वजन्मोकी सही-सही स्मृति केवल यौगिक विकास या पारदर्शितासे ही आ सकती है।

*
* *

जब प्राण विखडित हो जाता है तब उसकी कुछ सबल वृत्तियाँ, कामनाऍं लोलुपताऍं, पशु-रूपोमे पड जा सकती हैं, उदाहरणस्वरूप, कामवासना अपने अधीनकी प्राणिक चेतनाके भागके साथ लेकर कुत्तेमे पड जा सकती या अत्यधिक लोलुपताकी कोई अभ्यासगत वृत्ति प्राणिक चेतनाके भागको सूअरमे ले जा सकती है। पशु उस प्राणिक चेतनाके प्रतिनिधि है जिसमे मन प्राणमे सवृत रहता है, अतएव ऐसी चीजे तुष्टिके लिये स्वभावत उन्हीमे जायँगी।

*
* *

मृत व्यक्तिके अश चैत्य लोककी राहपर जानेवाले आतर पुरुषके नही, अपितु मृत्युके बाद गिर पडनेवाले उसके प्राणकोषके अश होते हैं। जन्मके लिये ये जन्म ले रहे किसी अन्य जीवके प्राणके साथ जुड जा सकते है या कोई प्राणिक सत्ता इनका उपयोग जन्म ले रहे शरीरमे प्रविष्ट होने और अपनी प्रवृत्तियोकी तुष्टिके लिये उसपर आशिक अधिकार करनेके लिये कर सकती है। यह सम्मिलन जन्मके बाद भी हो सकता है।

* * *

मानवीय रूप या योनिमे जन्म लेनेवालोमे चैत्य पुरुष स्वभावत. ही सभी मे रहता है। केवल प्राणलोककी सत्ताओ जैसे अन्य प्रकारके प्राणियोमे ऐसा नही होता और ठीक यही कारण है कि वे मनुष्यपर अधिकार करना चाहते और यहाँ जन्म लिये विना ही भौतिक जीवनका मजा लेना चाहते हैं, क्योकि इस प्रकार वे विकासक्रम, आध्यात्मिक प्रगति और परिवर्तनके चैत्य विधानसे बच जाते हैं। किंतु मृत व्यक्तिके प्राणिक अश-जैसे रूपायण भिन्न चीजे हैं, ऐसी चीजे हैं जो पृथ्वीको नही छोडती और न कोई मानव-पुनर्जन्म ही धारण करती हैं, वरन् किसी ऐसे मानवीय पुनर्जन्ममे (निस्सन्देह उम मानवीय पुनर्जन्ममे चैत्य पुरुष रहता है) सयुक्त हो जाती है जिसमे उनका कुछ मादृश्य होता है और जो इसलिये उनके समावेशपर कोई आपत्ति या विरोध नही करता।

*

* *

'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' – (गीता 16 19) मे 'आसुरीपु' का अर्थ सभवत पशु नही हो सकता। गीता सुस्पष्ट शब्दोका व्यवहार करती है और यदि उसका अभिप्राय पशुमे रहता तो वह आसुरिक न कहकर पशु कहती। जहाँतक दडकी वात है वह यह है कि उनकी प्रकृति आसुरिकताकी और भी गहराइयोमे तव तक गिरती जाती है, जब तक वे मानो उसके तलको न छू लेवे। परतु यह तो जो अपनी वेलगाम प्रवृत्तियोको मुक्त रूपसे प्रश्रय देते हैं, उनसे ऊपर उठनेका प्रयत्न नही करते, उनके लिये स्वाभाविक परिणाम होता है, जब कि व्यक्तित्वके उच्चतर पक्षका अनुशीलन करनेवाला स्वभावत ही देवत्व या भगवान्की ओर ऊपर उठता और विकसित होता है। गीतामे कहा गया है कि भगवान् मारे विश्वकी क्रियाको प्रकृति द्वारा नियन्त्रित करते हैं, इमलिये 'मै फेकता हूँ' का उमके विचारोके साथ मेल है। जगत् प्रकृतिकी यत्र-रचना है, किंतु ऐमी यत्ररचना जो भगवान्की उपस्थितिद्वारा नियन्त्रित है।

*

* *

जहाँतक मै जानता हूँ, पुनर्जन्ममोमे मामान्यत नर या नारी किसी एक ही धाराका अनुसरण होता है, वारी-वारीसे परिवर्तन नही होता। मेरे ख्यालमे यही भारतीय

मत-परपरा भी है, यद्यपि शिखडी-जैसे कुछ अपवाद भी हैं जो किसी उद्देश्यसे हुए थे। यदि किसीका लिग-परिवर्तन होता है तो उसमे केंद्रीय सत्ता नही, सत्ताका कोई भाग ही परिवर्तनमे हिस्सा वँटाता है।

*
* *

प्रचलित मतसे तुम्हारा क्या मतलब है? पुनर्जन्मके जितने भी प्रचलित आख्यान मैंने सुने हैं उनमे पुरुप अगले जन्ममे पुरुष हुआ है और स्त्री स्त्री हुई है — वशर्ते कि वे पशु-योनिमे न गये हो, लेकिन पशु हो जानेपर भी, मेरा ख्याल है, पुरुष नर-पशु होता है और स्त्री मादा-पशु। लिग-परिवर्तनके वहुत थोडेसे ही उदाहरण मिलते हैं, जैसे कि महाभारतमे शिखडी। थियोसोफीकी धारणा कच्ची कल्पनासे भरी है, एक थियोसोफिस्टने तो यहाँतक कहा है कि यदि इस जन्ममे तुम पुरुष हो तो अगले जन्ममे तुम्हे नारी होना ही होगा और इसी प्रकार क्रम चलता रहेगा।

*
* *

ठीक-ठीक लिग नही, वल्कि जिसे नर-तत्त्व और नारी-तत्त्व कहा जा सकता है वही चैत्य पुरुषमे है। पुनर्जन्ममे लिग-परिवर्तनका प्रश्न कठिन है। पुनर्जन्म कुछ रेखाओपर चलता है और जहाँ तक मेरा अनुभव है और लोगोका भी सामान्य अनुभव है, एक व्यक्ति साधारणत एक ही रेखापर चलता है। किंतु लिग-परिवर्तनको असभव नही घोपित किया जा सकता। ऐसे उदाहरण हैं जिनमे वारी वारीसे परिवर्तन होता है। नरमे नारी-चिह्नोकी विद्यमानताका यह अर्थ अनिवार्य नही कि भूतकालमे उसका नारी-रूपमे जन्म हुआ था — वे शक्तियोकी सामान्य क्रीडा और अपने रूपायणोके दौरान आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे गुण होते हैं जो दोनो ही योनियोमे पाये जाते हैं। ऐमा भी हो सकता है कि मानवीय व्यक्तित्वका कोई खड किसी ऐसे जन्ममे सयुक्त रहा हो जो उसका अपना नही था। भूतकालके किसी व्यक्तिके वारेमे कहा जा सकता है, "मै वह नही था, किंतु मेरे मानसीय व्यक्तित्वका एक खड उसमे वर्तमान था।" पुनर्जन्म जटिल व्यापार है, उसका यत्रविन्यास उतना सरल नही जैसा कि जन-साधारण सोचते हैं।

* * *

मुझे तुम्हारे पत्रका प्रश्न अति अनम्य शब्दोमे और जीवनकी शक्तियो और वास्तविकताओकी नमनीयताका पर्याप्त ध्यान रखे विना उठाया गया लग रहा है। यह कुछ ऐसी समस्या लग रही है जैसी कि आधुनिकतम वैज्ञानिक सिद्धान्तोके वलपर खडी की जा सकती है कि यदि सव कुछ प्रोटोन और इलेक्ट्रोनसे वना है, और सारे प्रोटोन और इलेक्ट्रोन विल्कुल एक जैसे हैं (सिवाय इसके कि उनके समूहकी सख्याओ-मे विभिन्नता होती है, और केवल सख्याका अतर गुणमे कोई भी या इतना असाधारण अतर या कोई भी अतर कैसे ला सकता है ?) तो उनकी क्रियामे परिमाण, प्रकार, शक्ति और हर चीजकी दृष्टिसे इतना प्रकाड अतर कैसे हो जाता है ? परन्तु हमे यह क्यो मानना चाहिये कि सभी चैत्य वीजो या स्फुलिगोंने एक ही समय दौड शुरू की और सभी समान अवस्थावाले, समान शक्ति और प्रकृतिवाले थे ? माना कि सवके मूल एक भगवान् ही है, सवके अदर एक ही आत्मा है, किंतु जव अनत प्रकट होता है तो वह अनत वैविध्यमे क्यो नही प्रकट हो सकता ? भला असख्य एकरूपता ही क्यो होनी चाहिये ? इनमेसे कितने सारे वीजोंने दूसरोसे वहुत पहले आरभ किया था और उनके पीछे विकासकी कितनी वडी कहानी है ? और कितने सारे वीज शैशव-कालमे हैं, महज कच्चे और अधकचरे हैं ? और, जिन सवने एक साथ प्रारभ किया था उनमेसे भी कुछ ऐसे क्यो नही होने चाहिये जो वडी तेजीसे दौड पडे हो और कुछ ऐसे हुए हो जो भटक गये हो, कठिनाईसे वढे हो या चक्कर काटते रहे हो ? और फिर, विकास का एक क्रम है, विकासक्रमकी एक विशेष स्थितिमे ही पशु-स्तरकी समाप्ति होती है और मानवीय स्तरका आरभ। मानवीय स्तरके आरभका अर्थ होता है एक वहुत वडी क्राति या उलट-पलट। और वह वस्तुत है क्या चीज ? पशु-स्तरकी सीमातक प्राण और भौतिक तत्त्वका विकास होता है, मानवीय स्तरके आरभके लिये क्या यह आवश्यक नही कि प्राणिक और भौतिक विकासक्रमको आगे ले जानेके लिये मनोमय सत्ताका अवतरण हो ? और फिर क्या ऐसा नही हो सकता कि जो मनोमयी सत्ताएँ अवतरित हो वे एकसे वल और कदवाली न हो, और फिर, उन्हे प्राणिक और भौतिक चेतनाका जो उपादान मिला हो वह एक-सा विकसित न हो ? गुह्यविद्याकी एक यह भी परपरा है कि वर्तमान सृष्टिमे ऊपर रहती सत्ताओका एक वर्गक्रम है और जव वे अपने-आपको इस सृष्टिके अदर डाल देती है तव उनके परिणामोमे मात्राओका उतना ही विपुल अतर स्पष्टतया होता है। फिर, ये सत्ताएँ कभी-कभी मानव-प्रकृतिके जन्म-द्वारोसे इस लीलामे हस्तक्षेप भी करती हैं। वहुत प्रकारकी जटिलताएँ है और समस्याको किसी गणित-सूत्रके अनम्य रूपमे नही व्यक्त किया जा सकता।

इन समस्याओकी कठिनाईका वडा भाग – मेरा मतलव विशेपकर उनके

परस्पर-विरोधोसे है जिनकी व्याख्या नही दी जा सकती – इसलिये उठता है कि समस्या ही बुरी तरहसे खडी की जाती है। पुनर्जन्म और कर्मके प्रचलित सिद्धातको ही लिया जाय वह केवल इस मानसिक मान्यतापर आधारित है कि प्रकृतिकी क्रियाएँ नैतिक होनी चाहिये और समान न्यायकी सही-सही नैतिकताके अनुसार होनी चाहिये, इनमे पुरस्कार और दण्डका एक सूक्ष्म, यहाँतक कि गणितीय नियम होना चाहिये, या कम-से-कम, उनके परिणाम ऐसे होने चाहिये जो ठीक ठीक अनुरूपता-विषयक मानुषी कल्पनाके अनुसार हो। किंतु प्रकृति नैतिक नही है। वह अपने कार्यको सपन्न करनेके लिये सब प्रकारकी शक्तियो और प्रक्रियाओका, नैतिक, अनैतिकऔर अव-नैतिक, सबकी खिचडी बनाकर व्यवहार करती है। प्रकृतिके बाह्य पक्षको देखा जाय तो वह अपना कार्य पूरा करनेके अतिरिक्त या जीवन-लीलामे निपुणतापूर्ण वैविध्य लानेके हेतु परिस्थितियाँ तैयार करनेके अतिरिक्त और किसी भी चीजकी परवाह नही करती दीखती। चेतन आध्यात्मिक शक्तिके रूपमे प्रकृतिका जो गभीरतर पक्ष है उसे देखा जाय तो जिन जीवोका भार उसने अपने ऊपर लिया है, वह उनके अनुभव-जनित वर्द्धन, उनके आध्यात्मिक विकासके कार्यसे ही सबध रखती है और इस विषयमे स्वय इन जीवोकी बात भी सुनी जाती है। ये सभी भले आदमी विलाप और आश्चर्य करते हैं कि बिना किसी उचित कारणके उनपर और अन्यान्य भले व्यक्तियोपर ऐसे निरर्थक कष्ट या दुर्भाग्य आ पडते हैं। किंतु ये चीजे क्या वास्तवमे उनपर किसी बाहरी शक्तिसे या कर्मके यात्रिक नियमके कारण आ पडती है ? क्या यह सभव नही कि स्वय जीव ही – बाह्य मन नही, अपितु अतरस्थ पुरुष – इन सबको अपने विकासके अग-रूपमे स्वीकार और वरण करता है ताकि वह तीव्र गतिसे अवश्यक अनुभवमेसे गुजर सके, रास्ता काटकर निकल सके, भले ही बाह्य जीवन और शरीरपर सकट आये या उनकी बहुत बडी हानिके रूपमे मूल्य चुकाना पडे ? वर्द्धमान अतरात्माके लिये, हमारे अतरस्थ पुरुषके लिये, क्या कठिनाइयाँ, बाधा-विघ्न, आक्रमण आदि प्रगतिका, अधिक शक्ति बढानेका, अधिक व्यापक अनुभव प्राप्त करनेका, आध्यात्मिक विजयके लिये शिक्षण पानेका साधन नही बन सकते ? हो सकता है कि इनसब चीजोकी व्यवस्था ऐसी ही हो, न कि महज पुरस्कारके रूपमे रुपये-आने-पैसे बाँटने और दड-रूपमे विपत्तियाँ ढानेके लिये।

पत्रमे तुम्हारे मित्र द्वारा कही गयी परिस्थितियोमे जानवरोके प्राण लेनेकी जो समस्या है उसकी भी यही बात है। उसे सभी ही दशाओमे लागू होनेवाले एक अटल नैतिक सही और गलतके आधारपर खडा किया गया है – किन्ही भी परिस्थितियो-मे क्या जानवरके प्राण लेना सही है ? जब उसे सुखमृत्यु देकर कष्टसे रिहाई दी जा

सकती है तो क्या उसे अपनी आँखोके नीचे कष्ट सहने देना सही है ? इस प्रकार उठाये गये प्रश्नका कोई नि सदिग्ध उत्तर नही हो सकता, क्योकि उत्तर ऐसी सामग्रीपर निर्भर करता है जो मनके सामने नही होती। वास्तवमे इतने सारे कष्टको देखने और सुननेकी स्नायविक अक्षमता, निष्फल परेशानी, विरुचि और असुविधा आदि ऐसे वहुतसे अन्य तत्त्व है जिनके कारण लोग कठिनाईमेसे निकलनेके इस सक्षिप्त और दयापूर्ण उपायकी ओर झुकते है, इन सवमे इस भावको सवल होनेमे सहायता मिलती है कि स्वय जानवर भी इसमेसे निकल जाना चाहेगा। किंतु इसके वारेमे वास्तवमे उस पशुकी क्या भावना है ? क्या ऐसा नही कि वह वेदनाके वावजूद भी जीवनसे चिपट रहा हो ? या अतरात्माने जीवनकी उच्चतर स्थितिमे अधिक जल्दी विकसित हो उठनेके लिये इन चीजोको स्वीकार किया हो ? यदि ऐसा है तो यह माना जा सकता है कि उस जानवरके साथ वरती गयी दया उसके कर्ममे हस्तक्षेप कर सकती है। वस्तुत हो सकता है कि सही निर्णय हर मामलेमे भिन्न भिन्न हो और ऐसे ज्ञानपर निर्भर करता हो जो मनको है नही,—और यह कहना वहुत सगत हो सकता है कि जवतक उसे वह ज्ञान प्राप्त न हो जाय उसे प्राण लेनेका अधिकार नही। धर्म और नीतिशास्त्रने इस सत्यके किसी धुँधले दर्शनमे ही अहिंसाधर्मको प्रस्फुटित किया – किंतु वह भी एक ऐसा मानसिक नियम हो जाता है जिसे व्यवहारमे लागू करना असभव पाया जाता है। और शायद इन सवका पाठ यह है कि अभी जैसी स्थिति है, हर दशामे हमे अपने प्रकाशके अनुसार उत्तमके लिये प्रयत्न करना चाहिये किंतु इन समस्याओका समाधान एक ऐसे महत्तर प्रकाश, एक ऐसी महत्तर चेतनाकी ओर आगे वढनेमे मिल सकता है जिसमे मानव-मन द्वारा वर्तमान रूपमे व्यक्त की गयी समस्याएँ ही नही उठेगी, कारण तव हमे जगत्को एक भिन्न रीतिसे देखनेवाली दृष्टि मिलेगी और एक ऐसा पथ-प्रदर्शन मिलेगा जो अभी हमे नही मिलता। मानसिक या नैतिक नियम एक सामयिक उपाय है जिसे एक वहुत ही अनिश्चित और लडखडाते रूपमे काममे लेनेके लिये मनुष्य तव तक वाध्य होते हैं जवतक वे चीजोको अध्यात्म-तत्त्वके प्रकाशमे समग्र रूपमे न देख सके।

*

* *

पुनर्जन्मके वारेमे एक वहुत प्रचलित भूलसे वचना चाहिये। प्रचलित विचार यह है कि टीटस वाल्वस जॉन स्मिथ वनकर जन्म लेता है, जो व्यक्तित्व, चरित्र और गुण उसे पिछले जन्ममे प्राप्त थे उन्हे ही लेकर फिर पैदा होता है, अतर केवल यह होता

है कि इसवार वह कोट-पतलून पहन रहा है जव कि पिछली बार वह चोगा पहनता था और सीधी-सादी लैटिनकी जगह लदनिया अगरेजी वोल रहा है। पर वात ऐसी नही है। भला कालके आदिसे लेकर अततक उसी व्यक्तित्व या चरित्रको लाखो वार दुहराते रहनेमे क्या लाभ हो सकता है? अतरात्मा अनुभवके लिये जन्म लेता है, जवतक वह भगवान्को जड-तत्त्वके अदर उतार नही लाये तवतक वढते रहनेके लिये, क्रमश विकसित होते रहनेके लिये पार्थिव जीवनमे आता है। वास्तवमे शरीर धारण करनेवाला केद्रीय पुरुप है, न कि वाह्य व्यक्तित्व। व्यक्तित्व तो साँचा मात्र है जिसे उस एक जीवनमे अनुभवको आकार देनेके लिये वह गढ लेता है। दूसरे जन्ममे वह अपने लिये भिन्न व्यक्तित्व, भिन्न सामर्थ्य, भिन्न जीवन और व्यवसायका निर्माण करेगा। मान लिया जाय कि महाकवि वर्जिलने फिरसे जन्म लिया है। हो सकता है वादके एक या दो जीवनोमे वह कविता लिखे, पर अवश्य ही महाकाव्य नही लिखेगे वल्कि उसकी जगह शायद छोटे-छोटे सुन्दर और आकर्पक गीति-काव्यकी रचना करेगे जिन्हे लिखनेकी कोशिश उन्होने रोममे की थी पर सफल नही हुए थे। अन्य जन्ममे, सभव है कि वह विलकुल ही कवि न हो, वल्कि दार्शनिक और योगी वने और उच्चतम सत्यको प्राप्त और प्रकट करनेका प्रयास करे – क्योकि यह भी उनके उस जन्ममे उनकी चेतनाकी एक धारा थी जो चरितार्थ नही हुई थी। सभवत उससे पहले वह शासक या योद्धा रहे होगे, एनियस या ऑगस्टसके कार्योका गान करनेसे पहले शायद वैसे कार्य वह स्वय कर चुके होगे। इसी प्रकार, इस दिशामे या उस दिशामे, केद्रीय पुरुप एक नये चरित्र, एक नये व्यक्तित्वका विकास करता, वर्द्धित होता, विकसित होता और सभी प्रकारके पार्थिव अनुभवोमेसे गुजरता है।

विकसनशील जीव जव और भी उन्नत होता और अधिक समृद्ध तथा जटिल वन जाता है तव मानो वह अपने व्यक्तित्वोको एकत्र करता है। कभी तो वे सक्रिय तत्त्वोके पीछे खडे होते हैं, जहाँ-तहाँ अपना कोई रग, कोई विशेपता, कोई क्षमता डालते रहते हैं। अथवा, कभी वे आगे आ जाते हैं और वहाँ एक वहुमुख व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है, वहुमुख चरित्र या वहुमुखी, कभी-कभी तो सर्वतोमुखी प्रतीत होनेवाली क्षमता दिखायी देने लगती है। किंतु यदि पहलेके व्यक्तित्वको, पहलेकी क्षमताको पूरी तरह सामने लाया भी जाता है तो जो कुछ पहले किया जा चुका है उसे ही दुहरानेके लिये नही, वरन् उसी क्षमताको नये रूपो, नये आकारोमे ढालनेके लिये, उसे सत्ताके नये सामजस्यमे घुला-मिला देनेके लिये ले आया जाता है और यह चीज जो पहले थी उसकी पुनरावृत्ति नही होती। इस तरह यह आशा नही करनी चाहिये कि कोई योद्धा या कवि पहले जो कुछ भी था वस वही अपने पुनर्जन्ममे भी वना रहेगा। वाहरी विशेषताओ-

मेमे कुछ फिरसे प्रकट हो सकती हैं, परन्तु बहुत ही परिवर्तित होकर, नये सम्मिश्रणके अदर नये रूपमे ढलकर। सच पूछा जाय तो जो पहले नही किया गया था उसे ही करनेके लिये उसकी शक्तियाँ नयी दिशामे नियोजित की जायँगी।

एक और चीज। पुनर्जन्ममे प्राथमिक महत्त्वकी चीज व्यक्तित्व नही, चरित्र नहीं, वरन् चैत्य पुरुष है जो प्रकृतिके क्रमविकासके पीछे विद्यमान रहता और उसके साथ-साथ विकसित होता रहता है। चैत्य पुरुष जब शरीरसे प्रस्थान कर जाता है, अपने विश्राम-स्थलके मार्गमे जब मन और प्राणके कोषोको भी उतार देता है, तब भी वह अपने साथ अपने अनुभवोके सार-मर्मको ले जाता है – भौतिक घटनाओको नही, प्राणिक गतियोको नहीं, मनकी रचनाओको नही, सामर्थ्य या चरित्रको नही, वरन् उनमे जो सारतत्त्व उमने एकत्र किया था जिसे भागवत तत्त्वकी सज्ञा दी जा सकती है जिमके लिये बाकी सब कुछका अस्तित्व था, उसको साथ ले जाता है। यही चीज स्थायी कमाई है और यही भगवान्की ओर बढनेमे सहायक होती है। यही कारण है कि विगत जीवनोकी बाहरी घटनाओ और परिस्थितियोकी याद सामान्यतया नहीं रहा करती,—उनकी याद रहनेके लिये आवश्यक है मन, प्राण, यहाँतक कि सूक्ष्म शरीरके भी मातत्यकी ओर मबल विकासकी, क्योकि यद्यपि यह सारी चीज एक प्रकारकी बीजरूपा स्मृतिके रूपमे बनी रहती है पर फिर भी साधारणतया बाहर नही प्रकट होती। योद्धाकी गरिमामे जो भागवत तत्त्व था उसकी विश्वासपात्रता, उदात्तता और उच्च माहमिकतामे जो तत्त्व प्रकट हुआ था, कविके मुममजम मन और उसकी उदार शक्तिके पीछे जो भागवत तत्त्व था और उनमे प्रकट हुआ था, वह तत्त्व बना रहता है और चरित्रके नये सामजस्यमे नयी अभिव्यक्ति पा सकता है, या यदि नया जीवन भगवान्की ओर अभिमुख हो तो वह सिद्धिके लिये या भगवान्के लिये जो कार्य करना है उमके लिये शक्ति-रूपमे व्यवहृत हो सकता है।

*

* *

अ-भौतिकवादी यूरोपीय विचारधारा अतरात्मा और शरीरके बीच भेद करती है – शरीर मर्त्य है, मानमिक-प्राणिक चेतना अमर्त्य अतरात्मा है और जैसे धरतीपर वैमे ही स्वर्गमे मदा ही एक-सी रहती है (कैसा भयानक विचार!) या यदि पुनर्जन्म है तो भी मदा ही वही विकृत व्यक्तित्व वापम आता है और वैमा ही मूर्ख बनता है।

* * *

अपने नाना जीवनोके क्रममेसे गुजरता हुआ जीव नाना प्रकारके व्यक्तित्व धारण करता, नाना प्रकारके अनुभवोके बीचसे गुजरता है, परतु ऐसा कोई नियम नही कि वह उन्हे अगले जीवनमे ले ही जाय। वह नया मन, प्राण और शरीर धारण करता है। पिछले मन और प्राणकी क्षमताओ, प्रवृत्तियो, अभिरुचियो तथा वैयक्तिक विशिष्टताओको नया मन और प्राण पूरा-पूरा नही, बस उतना ही लेते हैं जितना कि नये जीवनके लिये उपयोगी होता है। एक जीवनमें जिसे कवित्वपूर्ण अभिव्यक्तिकी शक्ति मिली है, अगले जीवनमे हो सकता है कि उसमे न कोई कवित्वशक्ति हो, न उस ओर कोई रुचि ही। दूसरी ओर, ऐसा हो सकता है कि एक जीवनमे जो वृत्तियाँ दबा दी गयी या छूट गयी या अपूर्णत विकसित हुई, वे दूसरे जीवनमे बाहर आ जायँ। इसलिये तुमने जो वैषम्य देखा है उसमे आश्चर्य करनेकी कोई बात नही। चैत्य पुरुष भूतकालके अनुभवोके सारतत्त्वको तो रखता है, लेकिन अनुभव और व्यक्तित्वके रूपोको नही, उन्हें वह उतनी ही मात्रामे रखता है जितनीकी उसे अपनी प्रगतिकी नयी अवस्थाके लिये आवश्यकता होती है।

अनुभवके नये दौरानमे जीव कुछ समयतक ऐन्द्रिय सुखकी खोजकी अनुमति दे सकता है और बादमे उसे छोड दे सकता और ऊँची चीजोकी ओर मुड सकता है। यह सब किसी एक जीवन-कालमे भी घटित हो सकता है, दूसरे जीवनमे तो अधिक निश्चित रूपमे ऐसा हो सकता है जब कि उसमे प्राचीन व्यक्तित्वोको साथ नही ले जाया जाता।

*
* *

"अन्य शक्तियाँ" शब्दोका व्यवहार किस प्रसगमे हुआ था यह मुझे याद नही। परतु तुम्हारा यह कहना सच है कि ऐसा तब होता है जब अतीतमे किसी व्यक्तित्व या उसके भागको वर्तमान जीवनमे सबल रूपसे टान लाया जाता है। मेरे ख्यालसे यह सच है कि किसी विगत जीवनमे तुम क्रातिकारी थे या यदि क्रातिकारी नही थे तो उग्र राजनैतिक कार्यमे लगे हुए थे । मै इसे नाम या स्पष्ट आकार नही दे सकता। किंतु वहाँसे केवल आकस्मिक क्रोध और हिंस्र वृत्तियाँ ही नही, शायद सहायता, सुधार और शुद्धिकी कामना और अन्य तीव्रताएँ तथा उग्रताएँ भी आयी। जब इस प्रकार किसी व्यक्तित्वको टान लाया जाता है तो केवल अवाछनीय पहलू ही नही टाने जाते, जिन चीजोंने निर्मल और शुद्ध किया था वे भी सहायिका हो सकती हैं।

* * *

अवश्य ही अवचेतन इस जीवनके लिये ही गठित होता है और जीव उसे अपने साथ एक जीवनसे दूसरे जीवनमे नही ले जाता। यदि स्मृतिसे हमारा अभिप्राय व्योरोकी स्मृति हो तो विगत जीवनोकी स्मृति कोई ऐसी वस्तु नही जो सत्तामे कही भी सक्रिय हो। व्योरोकी स्मृति शात पडी रहती है, उसका सुराग नही मिलता, केवल यह है कि भूतकालसे टान लाये गये कुछ सघटक व्यक्तित्वोको उस विशेष जीवनकी याद वनी रहती है जिसमे वे व्यक्त थे, उदाहरणके लिये, वेनिस या रोममे किसी समय व्यक्त किया गया व्यक्तित्व उस समयकी घटनाके एक या कई व्योरोकी समय-समयपर याद कर सकता है। किंतु सामान्यत किन्ही विशेष स्मृतियोको नही, विगत जीवनोके सारको ही सत्तामे सक्रिय किया जाता है। अत यह कहना असभव है कि वह स्मृति चेतनाके किसी विशेष भागमे या किसी विशेष स्तरमे अवस्थित होती है।

*

* *

नही, अवचेतन मत्ता भौतिक जीवनका उपकरण है और मृत्युके वाद विलुप्त हो जाती है। वह इतनी अधिक असवद्ध है कि उसका सगठित स्थायी अस्तित्व नही हो सकता।

*

* *

अधिकाश लोगोकी प्राणमत्ता कुछ समयके वाद विघटित हो जाती है क्योकि वह अमरताके लिये काफी गठिन नही होती। अतरात्मा जव उतरता है तव नये जीवनके लिये नयी उपयुक्त प्राणमत्ता गठित करता है।

*

* *

यदि किमीका सवल आध्यात्मिक विकास हुआ रहता है तो उसके लिये मृत्युके वाद अपने विकसित मन या प्राणको वनाये रखना अधिक सुगम होता है। किंतु यह नितात आवश्यक नही कि वह व्यक्ति भक्त या ज्ञानी हो। उदाहरणके लिए शैली

या प्लेटो जैसे व्यक्तियोके बारेमे यह कहा जा सकता है कि उनकी मनोमयी सत्ता विकसित थी और चैत्यके चारो ओर केद्रित थी, किन्तु प्राणसत्ताके सबन्धमे यह बात शायद ही कही जा सकती है। नेपोलियनकी प्राणसत्ता मबल थी, पर चैत्य पुरुषको केन्द्र बनाकर गठित नही थी।

*

* *

(मृत्युके बाद "चक्रो" की उत्तरजीविता) वे जैसे हैं उनके उस रूपमे नही। उनका कितना अश बचा रहता है और किस मात्रामे, यह हरेकके विकासपर निर्भर करता है । निस्सन्देह चक्र तो बचे रहते हैं क्योकि वे सूक्ष्म देहमे होते हैं और वहींसे अपने अनुरूपी स्थूल चक्रोपर क्रिया करते हैं।

*

* *

जिस प्रकार चेतनाके सामान्य चेतन स्तरोमे मनुष्यके बहुतेरे व्यक्तित्व हैं, उसी प्रकार उसकी चेतना जब बादमे विकसित होती है तब विभिन्न सत्ताएँ भी उसकी चेतनाके साथ जुड सकती हैं, उसके उच्चतर मनमे या सत्ताके उच्चतर स्तरोमे उतर आ सकती और उसके व्यक्तित्वके साथ सयुक्त हो सकती हैं। यह सिद्धातकी बात हुई । जहाँ तक उस विशेष सूचनाकी बात है जिसका तुमने जिक्र किया है वह सही नही है। उसका शायद उस समयसे सबध है जब श्रीमा कार्यमे सहायताके लिये सत्ताओको नीचे उतार रही थी।

*

* *

पृथ्वीपर जन्म लेना उच्चतर लोककी सभी सत्ताओके लिये सदा सभव है। ऐसी दशामे वे सत्ताएँ अपने लिये मन या प्राणकी सृष्टि कर लेती हैं या ऐसे मन, प्राण या शरीरसे सबद्ध हो जाती हैं जो उनके प्रभावोमे पहलेसे तैयार हो चुका होता है। वास्तवमे, ऐसी सत्ताओके प्रकट होनेकी एक ही विधि नही, बल्कि बहुत-सी विधियाँ हैं।

* * *

परन्तु विगत जीवनोको अत्यधिक महत्व नही देना है। इस योगके कामके लिये व्यक्ति वह है जैसा वह है और, और भी अधिक, जैसा वह होगा। वह क्या था इसका महत्व थोडा है।

*

* *

गभीरतासे वात कही जाय तो ये ऐतिहासिक अभिनिर्धारण सकटपूर्ण खेल हैं और कल्पनाकी क्रीडाके सैकडो दरवाजे खोल देते हैं। जैसी वस्तुस्थिति है इनमेसे कुछको अवश्य ही सत्य होना भी चाहिये, परन्तु लोग जव एक वार शुरू कर देते हैं तो वे यह नही जानते कि कहाँ रुकना चाहिये। व्यक्ति अभी जैसा है उसकी व्याख्या करनेवाली शक्तियोके शरीरी रूपो या जीवनोकी अपेक्षा उनकी धाराएँ ही अधिक महत्वपूर्ण हैं, और जहाँतक विशेष जीवनो या वल्कि व्यक्तित्वोकी वात है केवल उन्हीका सार्थक्य है जो उस व्यक्तिमे वहुत निश्चित रूपसे हैं और जिन्होने, वह अभी जिसे विकसित कर रहा है, उसमे सवल रूपसे योगदान किया है। किंतु इनका नाम निर्धारित करना सदा सभव नही होता, क्योकि जो होता रहा है उसके लाखवे भागका नाम भी मानव-काल द्वारा सरक्षित नही है।

*

* *

यह समझाना कुछ कठिन है। जव किसीको नया शरीर मिलता है तो यद्यपि केंद्रीय सत्ता एक होती है तथापि जो प्रकृति उसके अदर निवास करती है,—मनकी प्रकृति, प्राणकी प्रकृति, देहकी प्रकृति—वह वहुतसे व्यक्तित्वोसे वनी होती है, न कि किसी एक सरल व्यक्तित्वसे जैसा कि अनुमान किया जाता है। यह जटिल व्यक्तित्व कुछ तो वनता है विगत जन्मोके व्यक्तित्वोको एकत्र करनेसे और कुछ वनता है पार्थिव वातावरणसे उन अनुभवो, प्रवृत्तियो और प्रभावोको एकत्र करनेसे जिन्हे सघटक व्यक्तित्वोमेसे कोई उसकी अपनी प्रकृतिके अनुकूल समझकर ग्रहण करता है। हो सकता है कि तुमने 'क' या उनके किसी शिष्यद्वारा छोडे हुए किसी ऐसे ही प्रभावको ग्रहण कर रखा हो पर तुम उन दोनोमेसे किसीके भी अवतार न होओ।

* * *

ये चीजे (बुद्ध, रामकृष्ण, विवेकानन्द और शकरका प्राय सूक्ष्म दर्शनमे दीखना) भूतकालके विचारो और प्रभावोके कारण हैं। ये कई प्रकारकी होती हैं – कभी-कभी ये केवल विचारकृत आकृतियाँ होती है जिन्हे व्यक्तिकी अपनी ही विचार-शक्ति किसी मानसिक सिद्धिके वाहनके रूपमे कार्य करनेके लिये रच डालती है, कभी-कभी विभिन्न स्तरोकी शक्तियाँ इन रूपोको धारण कर लेती हैं जिससे उस व्यक्ति द्वारा होनेवाले उनके कार्यको सहारा मिलता है, किंतु कभी-कभी व्यक्ति वास्तवमे उस चीजके सपर्कमे होता है जिसे बुद्ध या रामकृष्ण या विवेकानन्द या शकरका नाम, रूप, व्यक्तित्व प्राप्त था।

यह आवश्यक नही कि इन व्यक्तित्वोके सदृश कोई तत्त्व उस व्यक्तिमे हो। ऐसा सबध बनानेके लिये मन या प्राणका कोई विचार, अभीप्सा या रूपायण ही काफी होता है, ये शक्तियाँ जिस चीजकी प्रतीक होती हैं उसका प्रत्युत्तर देनेवाला कोई स्पदन कही भी हो तो वह काफी होता है।

*

* *

लोगोको उनके विगत जीवनोके बारेमे श्रीमाँ केवल तभी कुछ कहती हैं जब कि वह ध्यानावस्थामे उनके अतीतके दृश्य या स्मृतिको निश्चित रूपमे देखती हैं, लेकिन ऐसा आजकल विरला ही होता है।

विगत जन्मोकी जो चीज मुख्यत याद रहती है वह है व्यक्तित्वकी प्रकृति और जीवनके अनुभवके सूक्ष्म परिणाम। नाम, घटना और स्थूल विवरणकी याद विशिष्ट परिस्थितियोमे ही रहती है और उनका महत्त्व बहुत ही गौण होता है। जब लोग इन बाहरी चीजोको याद करनेकी कोशिश करते हैं तो वे साधारणतया रोमानी कल्पनाएँ खडी कर लेते है जो सच्ची नही होतीं।

मेरे ख्यालसे तुम्हे विगत जीवनोके बारेके इन विचारोको हटा देना चाहिये। यदि (नाम या महज बाहरी ब्योरोके बिना) विगत व्यक्तित्वोकी याद अपने-आप हो आये तो यह कभी-कभी महत्त्वपूर्ण चीज होती है जो वर्तमान विकासकी किसी चीजका सूत्र पकडा देती है, लेकिन उस व्यक्तित्वके स्वरूपको और चरित्रके वर्तमान सघटनमे उसके हिस्सेको जानना बिलकुल पर्याप्त है। बाकीका उपयोग अल्प है।

* * *

विगत जन्मोके वारेमे इन विचारोमे पूरा विश्वास करना आवश्यक नही। 'अ'के पुनर्जन्मके वारेमे 'क'का विचार स्पष्टतया विचार मात्र है – और कुछ नही।

जव इन चीजोमे कोई सच्चाई होती है तो अधिकतम वार यह इस वोधकी वात होती हे कि अमुक व्यक्तिमे कभी मूर्त्त हुई किसी शक्तिका हमारी अपनी प्रकृतिमे भी कुछ भाग रहा है, यह नही कि वही व्यक्तित्व यहाँ है।

नि सन्देह, पुनर्जन्म होता है, परतु यह स्थापित करनेके लिये कि अमुकने अमुकके रूपमे फिरसे जन्म लिया है, गभीरतर अनुभूतिकी आवश्यकता होती है, महज मनकी सवोधिसे काम नही चल सकता क्योकि वह आसानीसे भूल कर सकती है।

*

* *

'क' और 'ख' के वारेमे इस तरहके विचार मनके विचार हैं जिनकी ओर प्राण-सत्ताकी सवल आसक्ति होती है – विगत जीवनोके सत्यका सधान इस प्रकार नही पाया जा सकता। ये मानसिक विचार सच नही। तुम विगत जीवनोमे क्या थे – यह जाननेके लिये तुम्हे मुक्त प्रकृतिमे मिलनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रतीक्षा करनी होगी।

*

* *

मृत्यु होते ही (अन्नमय कोपके अलावा) मनोमय तथा अन्य कोपोको चैत्य पुरुप तुरत नही त्याग देता। कहा जाता है कि पृथ्वीके सपर्कमे एकदम परेके क्षेत्रमे चले जानेमे मामान्यतया तीन वर्प लग जाते हैं – किंतु, ऐमे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो इसे अधिक धीरे या जल्दी पार करे। चैत्य लोक पृथ्वीसे सपर्क नही रखता,—कमसे कम, उस तरीकेमे नही रखता। और जो भूत या प्रेत प्रतात्माओकी वैठकमे प्रकट होते हैं वे चैत्य पुरुप नही होते। 'माध्यम' के आश्रयमे उपस्थित होनेवाली चीज मिश्रण होती है – इस मिश्रणमे होती हैं माध्यमकी अवचेतन मत्ता (यहाँ 'अवचेतन' का प्रयोग यौगिक अर्थमे नही, वरन् साधारण अर्थमे किया गया है), वहाँ वैठकमे भाग लेनेवालो-की अवचेतन मत्ता, मृतको द्वारा छोडे हुए या शायद ऐमे प्राणिक कोप जिन्हे कभी कभी कोई प्रेत अयवा प्राणिक सत्ता अधिकृत कर लेती या व्यवहृत करती है, स्वय मृत व्यक्ति अपने प्राणकोपमे या नही तो उम अवमरके लिये ग्रहण की हुई किसी चीजमे

(परतु ऐसे समय प्राणिक अग ही सवाद देता है), पृथ्वीके निकटके निम्नतम प्राणिक शारीरिक जगत्‌की प्राकृतिक शक्तियाँ, अपदेवता आदि-आदि । यहाँ अधिकाश भयावह रूपसे विश्रृंखल होता है, प्रेतलोकके धूसर प्रकाश और छायाके माध्यमसे आने-वाली सभी प्रकारकी चीजोका गडवडघुटाला होता है। जो सवाद देने आते हैं, उनमेसे बहुतेरे ऐसे मालूम होते हैं जो अभी-अभी सूक्ष्म लोकमे गये हैं, वहाँ अपने-आपको पार्थिव जीवनके ही एक अधिक सुधरे सस्करणसे घिरा अनुभव करते है और समझते हैं कि पृथ्वीके वाद वही वास्तविक और सच्चा परलोक है, किंतु यह मानव-स्तरकी भावनाओ, प्रतिरूपो और साहचर्योको आशावादी ढँगसे बनाये रखना भर होता है। अत प्रेत 'पथ प्रदर्शको' तथा वैठकोमे सवाद देनेवाले अन्य प्रेतोद्वारा वर्णित परलोक ऐसा ही होता है।

*

* *

प्रेत पथप्रदर्शकोसे प्राप्त सवादोपर वहुत अधिक भरोसा नही किया जा सकता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये प्रेत पथप्रदर्शक अपने माध्यमको वस वही चीज सुझाते हैं जो कि बैठकमे शामिल होनेवाले या होनेवालोके मनमे या वातावरणमे रहती है और इसकी सार्थकता बहुत कम होती है। निस्सन्देह, अन्य लोकोके प्रभाव आते हैं, और किसी भी सख्यामे आ सकते हैं, किंतु विरले उदाहरणोके अतिरिक्त, इस पथ-प्रदर्शनका प्रधान स्वरूप इस प्रकारका नही होता।

*

* *

स्वत लेखन 'और प्रेतात्माओको वुलानेकी बैठके बहुत मिश्रित व्यापार हैं। उनमे कुछ तो माध्यमके और कुछ वैठनेवालोके अवचेतन मनसे आता है। परन्तु यह भी सच नही कि सब कुछ नाटकीय कल्पना और स्मृतिका ही खेल होता है। कभी-कभी ऐसी वाते आती हैं जिन्हे विद्यमान व्यक्तियोमेसे कोई भी न जान सकता, न याद रख सकता था, कभी-कभी तो (हालाँकि ऐसा विरला ही होता है) भविष्यकी भी झाँकियाँ मिलती हैं। किन्तु सामान्य तौरपर ये वैठके आदि ऐसी प्राणिक सत्ताओ और शक्तियोके बहुत ही नीचेके लोकोके सस्पर्शमे ला देती हैं जो स्वय ही अधकार,

असगति या छलनासे भरे हैं और जिनके साथ सबध रखना या जिनके किसी भी प्रभावके अधीन होना खतरनाक होता है। आउस्पेसकी और अन्य लोग अत्यधिक "गणितीय" मनोवृत्तिको साथ लेकर- इन परीक्षणोमेसे गुजरे होंगे और निस्सन्देह उनका यह ढँग ही उनका रक्षक था, पर साथ ही उसने उन्हे उनके अर्थको ऊपरी बौद्धिक दृष्टिके सिवा किसी अधिक गहरी दृष्टिसे नहीं देखने दिया।

*

* *

भूतसे तुम्हारा क्या मतलब है? प्रचलित भाषामे इस शब्दके अतर्गत बहुतसे पृथक्-पृथक् व्यापार आते हैं जिनमे परस्पर कोई अनिवार्य सबध नही होता। उनमेसे कुछको ही ले—

(1) सूक्ष्म शरीरमे स्थित किसी मानव अतरात्मासे वास्तविक सपर्क होना और किसी मूर्तिके दिखायी देने या किसी वाणीके सुनायी देनेसे हमारे मनमे उसका लिप्यनरण होना।

(2) कोई मानसिक रूपायण जिसे किसी मृत व्यक्तिके विचार या भाव किसी स्थान या मुहल्लेके वातावरणपर मुद्रित कर जाते हैं। वह रूपायण वहाँ घूमता रहता या अपने-आपको दुहराता रहता है जबतक कि वह शेष नही हो जाता या किसी विधिसे विघटित नही हो जाता। किसी हत्याके समयकी, उसके सबधकी या उसके पहलेकी घटनाओके दृश्यके किसी भुतहे घरमे बार-बार दिखायी देने और इसी प्रकारके बहुत सारे अन्य व्यापारोकी व्याख्या भी यही है।

(3) निम्नतर प्राणिक लोकोकी कोई सत्ता जो किसी मृत मनुष्यके छोडे हुए प्राणिक कोष या उसके प्राणिक व्यक्तित्वका कोई अग धारण कर लेती या उस रूपमे प्रकट होती या कार्य करती है और शायद उस व्यक्तिके ऊपरी विचारो और स्मृतियोको भी साथ ले लेती है।

(4) निम्नतर प्राणिक लोककी कोई सत्ता जो किसी जीवित मनुष्यके माध्यम या किसी अन्य विधि या साधनसे पर्याप्त मूर्त्त आकार धारण कर लेती है और इस तरह प्रकट होती और कार्य करती है कि लोग देख सके, इस तरह बोलती है कि लोग सुन सके अथवा इस प्रकार प्रकट हुए बिना वह मेज-कुर्सी आदि जैसी स्थूल चीजोको इधर-उधर हटाती है या पदार्थोको स्थूल रूपमे प्रकट करती या उन्हे एक जगहसे दूसरी जगह हटा देती है। इसमे पेडोपर रहनेवाले भूतो, पत्थर बरसानेकी घटनाओ, परेशानी

और शोर करनेवाले शैतानो, और बहुतसे अन्य जाने-सुने व्यापारोकी बात समझमे आ जाती है।

(5) ऐसी छाया-मूर्तियाँ जो देखनेवालेकी अपनी ही रचनाएँ होती हैं और इद्रियोको गोचर रूपमे दिखायी देती हैं।

(6) लोगोपर कुछ समयके लिये उन प्राणिक सत्ताओका अधिकार कर लेना जो कभी-कभी उनके मृत सबधी आदि होनेका बहाना करती हैं।

(7) लोगो द्वारा प्राय मृत्युके समय प्रक्षिप्त अपने-आपकी ही विचारमूर्तियाँ जो उसी समय या कुछ घटो बाद उनके मित्रो या सबधियोके सामने प्रकट होती हैं।

तुम देखोगे कि इनमेसे एक ही अवस्थामे, पहलीमे, अतरात्माका अस्तित्व माना जा सकता है और वहाँ कोई कठिनाई नही उठती।

*

* *

ससारमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भाग्यरेखाका अनुसरण करता है जो उसकी अपनी-अपनी प्रकृति और कर्मसे निर्धारित होती है,—किसी एक जीवनमे जो घटना होती है उसके अर्थ और आवश्यकताको बहुतसे जीवनोके प्रकाशमे ही समझा जा सकता है। किंतु जो व्यक्ति साधारण मन और भावनाओसे परे जा सकते और वस्तुओको उनके समग्र रूपमे देख सकते हैं, वे ही यह देख सकते हैं कि गलतियाँ, दुर्भाग्य, विपदाएँ आदि भी इस यात्राकी मजिले हैं, जीव अनुभवोका सचय करता हुआ इन सबके बीचसे गुजरता और इन सबके परे चला जाता है, और फिर वह उस यात्राके लिये तैयार हो जाता है जो उसे उच्चतर चेतना और उच्चतर जीवनमे ले जाती है। जब मनुष्य उस सीमात-रेखापर पहुँच जाता है तब उसे अपने पुराने मन और भावनाओको छोडना पडता है। तब वह साधारण ससारके सुख-दु खमे फँसे लोगोको सहानुभूतिकी दृष्टिसे और, जहाँ कही सभव होता है, आध्यात्मिक रूपसे सहायक होनेकी भावनाके साथ देखता है, पर उसमे आसक्ति नही रह जाती। वह समझ जाता है कि लोगोको उनकी सारी भूल-भ्रांतियोके भीतरसे आगे बढाया जा रहा है और उनके लिये जो कुछ उत्तम होता है उसे करनेका भार वह उस विश्वशक्तिपर छोड देता है जो उनके जीवनको देख रही और सहारा दे रही है। परन्तु जो एकमात्र वस्तु वास्तवमे महत्त्वपूर्ण है वह है उस महत्तर प्रकाशमे प्रवेश करना और भगवान्‌से सयुक्त हो जाना — एकमात्र भगवान्‌की ओर अभिमुख होना और चाहे अपने लिये हो या दूसरोके लिये, एकमात्र उन्हीपर

भरोसा रखना।

*

* *

यह प्रश्न वडा ही जटिल और कठिन है, थोडेसे शव्दोमे इसका उत्तर शायद ही दिया जा मकता है। फिर इस वातका कोई सामान्य नियम वताना असभव है कि पहले क्यो तो ऐमे घनिष्ठ आतरिक सवध होते है और फिर वादमे मृत्यु द्वारा शारीरिक विच्छेद, प्रत्येक उदाहरणमे भिन्नता होती है, उनके मिलन और विच्छेदके पीछे क्या चीज थी उसे जाननेके लिये उन व्यक्तियोको जानना और उनके अत-रात्माओके इतिहाममे अवगत होना आवश्यक होता है। माधारणत पार्थिव जीवनमे अपने रेखाचक्रको पूरा करनेमे अतरात्माको कितने ही जीवनोके वीचसे गुजरना होता है, कोई एक जीवन तो इस आध्यात्मिक विकासक्रमके लवे इतिहासमे महज एक छोटी-सी घटना होता है। यह विकासक्रम होता है भौतिक निश्चेतनासे निकलकर चेतनामे आनेका, भागवत चेतनाकी ओर जानेका, अज्ञानमे निकलकर दिव्य ज्ञानमे जानेका, अधकारसे निकलकर अर्द्ध-प्रकाशमेसे गुजरते हुए प्रकाशमे जानेका, मृत्युसे अमरत्वमे जानेका, कष्टमे निकलकर दिव्य आनदमे जानेका। कष्ट आता है प्रथमत अज्ञानके कारण, द्वितीयत दिव्य सत् और चेतनामे वैयक्तिक चेतनाके विच्छेदके कारण और यह विच्छेद भी अज्ञानकी ही करनी है। जव यह अवस्था समाप्त हो जाती है, जव व्यक्ति भगवान्मे निवास करने लगता है, जव वह अपने पृथक् तुच्छतर आत्मामे रहना छोड देता है, केवल तभी दु ख-कष्ट मर्वथा समाप्त हो मकता है। प्रत्येक अतरात्मा अपनी अपनी रेखाका अनुमरण करता है, ये रेखाएँ परस्पर मिलती हैं, एक दूरीतक माथ-माथ चलती है, फिर अलग-अलग हो जाती है, शायद वादमे फिरमे मिलनेके लिये —उनका एक वार फिर, यात्रामे किमी-न-किमी रूपमे परस्पर सहायता देनेके लिये मिलना होता है। जहाँतक मृत्युके वादके ममयकी वात है, अतरात्मा अस्तित्वके अन्य लोकोमे चला जाता है, वहाँ कुछ ममयतक ठहरता है, फिर अपने विश्राम-स्थलमे पहुँच जाता है और जवतक अन्य पार्थिव जीवनके लिये तैयार नही हो जाता तवतक वही रहता है। यही मामान्य नियम है। लेकिन देही जीवोके मवधकी जो वात है वह उन दोनोके व्यक्तिगत विकामकी चीज है जिमपर कोई मामान्यतया लागू होनेवाली वात नही कही जा मकती, क्योकि यह उन दोनोके अतरात्माओकी कहानीकी अतरग चीज होती है और उमे जाननेके लिये व्यक्तिगत जानकारीकी आवश्यकता होती है।

मै इतना ही कह सकता हूँ, पर मै नही समझता कि इससे उस महिलाको कोई विशेष सहायता मिल सकेगी, क्योकि सामान्य तौरपर इन चीजोसे सहायता उसीको मिलती है जो उस चेतनामे प्रवेश कर चुका हो जिसमे ये चीजे महज विचार ही नही वरन् वास्तविकताएँ बन जाती हैं। तब व्यक्ति शोक नही करता, क्योकि वह सत्यके अदर प्रवेश कर चुका है और सत्य ले आता है स्थिरता और शाति।

*

* *

सामान्यतया प्राणिक सबध ही हुआ करता है, चैत्य सबध अपेक्षाकृत विरल होता है। सामान्यतया विगत जीवनोकी कोई चीज इस जीवनके इन सबधोको निर्धारित करती है, परन्तु इस जीवनका सबध कदाचित् ही वह सबध होता है जो विगत जीवनोमे था और जिसने इसे निर्धारित किया था।

दो

मृत्युपर शोक नहीं

तुम्हारी स्त्रीकी दारुण मृत्युसे तुम्हे जो चोट अवश्य लगी होगी उसे मै भली-भाँति समझ सकता हूँ। किंतु तुम अव सत्यके खोजी और साधक हो। तुम्हे अव अपने मनको मानवप्राणीकी सामान्य प्रतिक्रियाओसे ऊपर उठा लेना होगा और चीजोको एक महत्तर और विशालतर प्रकाशमे देखना होगा। अपनी मृत स्त्रीको इस रूपमे कि वह एक अतरात्मा थी जो अज्ञानके जीवनके उलट-फेरोंके वीच प्रगति कर रहा था जैसा कि इस पृथ्वीपर अन्य सव कोई कर रहे हैं। उस प्रगतिमे ऐसी घटनाएँ होती हैं जो मनुष्यके मनको दुर्भाग्य प्रतीत होती हैं और हमारी इस लोककी अनुभूतिकी सदा ही स्वल्प रहती अवधिको, जिसे हम जीवन कहा करते हैं, अकालमे ही समाप्त कर देनेवाली आकस्मिक या अस्वाभाविक मृत्यु मनुष्यके मनके लिये विशेपत दर्दनाक और दुर्भाग्यपूर्ण होती है। किंतु जो व्यक्ति वाहरी रूपके पीछे पहुँच जाता है वह जानता है कि नाना अनुभवोकी धाराएँ प्रत्येक जीवको उस मोडकी ओर ले जा रही हैं जहाँसे वह अज्ञानसे निकलकर प्रकाशकी ओर जा सकता है, और जीवकी प्रगतिमे जो कोई भी घटना होती है उसका इन अनुभवोकी श्रृखलामे अपना एक अर्थ, एक आवश्यकता, एक स्थान होता है। वह जानता है कि ईश्वरीय विधानमे जो कुछ भी होता है वह सवसे अधिक भलेके लिये ही होता है, भले ही मनुष्यके मनको वह चाहे कैसा ही क्यो न लगे।

अपनी स्त्रीको ऐसे अतरात्माके रूपमे देखो जो जीवनकी दो अवस्थाओके वीचके व्यवधानको पार कर गया है। उसे अपने विश्रामस्थानकी ओर यात्रामे सहायता दो। उसे यह सहायता तुम अपने शात-स्थिर विचारोसे तथा भागवत साहाय्यका आह्वान करके पहुँचा सकते हो। अत्यधिक समयतक किया गया शोक दिवगत जीवकी यात्रामे सहायता नही देता, वल्कि उसमे रुकावट ही डालता है। अपनी क्षतिकी चिंता मत करो, वस पत्नीके आध्यात्मिक कल्याणकी ही वात सोचो।

*

* *

जो हुआ है उसे अव स्थिरता और शातिसे स्वीकार कर लेना है और यह मानना होगा कि दिवगत अतरात्माकी जन्म-जन्ममे होनेवाली प्रगतिके लिये वही चीज नियत थी और उत्तम भी, भले ही मानवीय आँखोके लिये उत्तम न हो क्योकि ये आँखे केवल वर्तमानको और वाहरी रूपको ही देखती हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासुके लिये मृत्यु तो जीवनके एक रूपसे दूसरे रूपमे जाना है, और कोई मरता नही, केवल प्रयाण करता है। इस घटनाको इसी रूपमे देखो और प्राणिक शोककी सारी प्रतिक्रियाओको हटा देते हुए, क्योकि इन मवमे उसकी यात्रामे सहायता नही पहुँच सकती, भगवान्‌के मार्ग पर दृढतासे चलते रहो।

*

* *

निस्सन्देह, यही वास्तविक तथ्य है – मृत्यु केवल शरीरका परित्याग है, व्यक्तिगत अस्तित्वका लोप नही। जव कोई दूसरे देशमे चला जाता और वहाँकी जलवायुके अनुकूल पोशाक वदल लेता है तो उसे मरना नही कहते।

तीन

मृत्यु और अतिमानसिक सिद्धि

अतिमानसिक सिद्धि हुए बिना शरीरकी अमरता नही हो सकती। योग-शक्ति-मे यह सभावना निहित है और योगी दो तीन सौ वर्षोतक या और भी अधिक जीवित रह सकते हैं, किन्तु अतिमानसिक सिद्धिके बिना अमरत्वका सच्चा तत्त्व नही प्राप्त हो सकता।

विज्ञान भी यह विश्वास करता है कि एक दिन मृत्युको स्थूल उपायसे जीता जा सकेगा, और उसकी युक्तियाँ पूरी सगत भी हैं। इसका कोई कारण नही कि अति-मानस-शक्ति ऐसा न कर सके। रूप अन्य लोकोमे स्थायी होते है, परन्तु पृथ्वीपर नही, इसका कारण यह है कि यहाँ वे इतने कठोर होते हैं कि वे अध्यात्म-सत्ताकी प्रगतिको प्रकट करते हुए उसके साथ-साथ विकसित नही हो पाते। वे यदि ऐसा कर पानेके लिये पर्याप्त रूपसे नमनीय हो जायँ तो उनके चिरस्थायी न होनेका कोई कारण नही रह जाता।

*

* *

तो क्या तुम्हे यह नही मालूम कि वृद्धोको वृद्धावस्थामे कभी कभी नये या तीसरे दाँत आ जाते है? और यदि, जैसा कि वोरोनोफने जीवित उदाहरणसे प्रमाणित किया है, वानर-ग्लैन्ड क्रिया और बलको पुनरुज्जीवित कर सकते और गंजे सरपर बाल पैदा कर सकते है,—तब? और यह भी ध्यान देनेकी बात है कि विज्ञान इन परीक्षणोके आरभमे ही है। यदि विज्ञानके सामने ये सभावनाएँ खुल रही है तो अन्य (यौगिक) साधनोसे उनके होनेकी कोरी असभवताकी घोषणा कैसे की जा सकती है।?

*

* *

मृत्यु आती है और इसका कारण यह है कि शरीरस्थ पुरुष इतने पर्याप्त रूपमे

विकसित नही हुआ होता कि वह देह-परिवर्तनकी आवश्यकताके बिना एक ही देहमे निरतर वर्द्धित होता रहे और स्वय शरीर भी काफी चेतन नही होता। यदि मन, प्राण और शरीर भी अधिक चेतन और नमनीय होते तो मृत्यु आवश्यक नही रह जाती।

*
* *

शरीरकी मृत्यु शारीरिक आकारका विघटन है, किन्तु मृत्युसे सारे ही आकार विलीन नही हो जाते।

*
* *

केवल अपनी इच्छासे शरीर छोडनेके सिवा अन्य किसी चीजसे मृत्यु होनेसे बच सकना, रोगसे मुक्त रहना आदि ऐसी चीजे हैं जो केवल चेतनाके सपूर्ण परिवर्तनमे ही प्राप्त की जा सकती हैं और इस परिवर्तनका विकास प्रत्येक व्यक्तिको स्वय अपने अदर करना होगा,—इस उपलब्धिके बिना इन चीजोकी ओरसे कोई स्वत रक्षण सभव नही।

*
* *

मृत्युका कोई अपना पृथक् अस्तित्व नही। शरीरमे ह्रास होनेका नियम है, वह नियम पहलेसे ही विद्यमान है और भौतिक प्रकृतिका अग है और उसीका परिणाम मृत्यु है। साथ ही, यह अपरिहार्य भी नही, यदि आवश्यक चेतना तथा शक्ति तथा शक्ति प्राप्त की जा सके तो फिर ह्रास और मृत्यु अवश्यम्भावी नही। किन्तु उस चेतना और शक्तिको सपूर्ण जड-प्रकृतिके अदर उतार लाना सबमे कठिन कार्य है,—कम-से-कम ऐसे रूपमे उतारना तो सबसे कठिन ही है कि वह ह्रासके नियमको ही रद्द कर दे।

*
* *

"वस्तुत मृत्यु पृथ्वीपर जीवन मात्रसे सबद्ध है"।

—श्रीमा

मुझे इसमे अस्पष्टता नही दीखती। "वस्तुत" और "सबद्ध" मे अपरिहार्यताका अर्थ नही व्यक्त होता। "वस्तुत" का अर्थ यह है कि वास्तवमे, वर्तमान वस्तु-स्थिति-मे, (पृथ्वीपर) जीवनके अतके रूपमे मृत्यु जीवनमात्रमे सबद्ध है, किन्तु इसमे यह भाव तनिक भी व्यक्त नही होता कि इससे भिन्न कभी भी कुछ नही हो सकता या कि यही सारे अस्तित्वका विधान है। वर्तमानमे यह एक वास्तविकता है जिसके कुछ कारण हैं और वे कारण बताये गये हैं,—ऐसा कुछ मानसिक और भौतिक कारणोसे है – यदि उन्हे बदल दिया जाय तो मृत्यु अपरिहार्य नही रह जाती। यह स्पष्ट है कि "यदि" कुछ शर्ते पूरी की जायँ तो ही स्थितिमे परिवर्तन हो सकता है – क्रमविकास द्वारा होनेवाली सारी प्रगति और परिवर्तन किसी "यदि" की तुष्टिपर निर्भर करते हैं। यदि पशु-मनको वाणी और युक्तिबुद्धिके विकासकी ओर आगे नही धकेला जाता तो मनोमय मनुष्य कभी अस्तित्वमे नही आता किन्तु उस "यदि" को – एक दुर्द्धर्ष और वृहत् "यदि" को – तुष्ट किया गया। यही बात उन "यदियो" की है जो आगेको प्रगतिकी शर्ते है।

*

* *

चेतनाका परिवर्तन ही आवश्यक चीज है और उसके बिना शारीरिक सिद्धि नही हो सकती। परन्तु जबतक शरीर वैसा ही रहता है जैसा कि वह अभी है,— मृत्यु, रोग, ह्रास, दु ख, अचेतनता और अज्ञानके अन्य सभी परिणामोका दास—तबतक अतिमानसिक परिवर्तनकी परिपूर्णता सभव नही। यदि इन चीजोको बने रहना है तो अतिमानसके अवतरणकी आवश्यकता शायद ही रहती है, क्योंकि भगवान्‌के साथ मानसिक – आध्यात्मिक मिलन प्राप्त करनेके लिये चेतनाके जिस परिवर्तनकी आवश्यकता होती है उसके लिये अधिमानस ही, यहाँतक कि उच्चतर मन भी पर्याप्त है। अति-मानसका अवतरण मन, प्राण और शरीरके अदर सत्यकी सचल क्रियाके लिये आवश्यक है। इसका अर्थ यह होता है कि इसके परिणाममे अतमे शरीरकी अचेतना भी विलीन हो जाय, शरीर रोग और ह्रासके नियमकी अधीनतासे मुक्त हो जाय। इसका अर्थ यह होगा कि वर्तमानमे मृत्यु जिन सामान्य प्रक्रियाओसे आती है वह उनके अधीन नही होगा। यदि देहका परिवर्तन करना होगा तो वह परिवर्तन उस देहको धारण

करनेवालेकी इच्छासे ही होगा। शरीरकी अमरताका सार यही है, न कि यह कि उसे तीन हजार वर्ष जीना ही पडे, क्योकि वह भी बधन ही होगा। किन्तु हाँ, यदि कोई हजार वर्ष या और भी अधिक जीना चाहे तो यदि उसे सपूर्ण सिद्धि प्राप्त हो तो ऐसा असभव भी नही होना चाहिये।

*

* *

"शरीरके रूपातरकी क्या आवश्यकता है जब कि यदि किसीको अमरत्वकी चेतना प्राप्त हो चुकी है तो भी उसे स्वेच्छासे, अथवा अन्य दशाओमे बाध्य होकर,—अतमे शरीरको छोडना ही पडेगा।

यह तर्क मायावादीका है जिसके लिये सारी सृष्टि ही अचिर होनेके कारण व्यर्थ और असत्य है, देवताओका जीवन भी व्यर्थ है क्योकि उनका जीवन भी कालके अतर्गत है, कालातीतमे नही। किन्तु सृष्टिका यदि कोई अर्थ हो तो फिर अपूर्ण सृष्टिके बदले पूर्ण सृष्टि ही वाछनीय है। "स्वेच्छासे छोडना ही पडेगा",—इसमे विरोधाभास है। व्यक्तिकी जवतक इच्छा रहती है,—और यह इच्छा प्रकाशमयी होती है – वह शरीर रखता है और उसी इच्छाके अनुसार शरीरको छोड देता या बदल देता है। किन्तु जिस शरीरपर निरतर कामना और पीडाका आक्रमण होता रहता है, रोग और ह्रासके कारण मृत्यु हावी रहती है, उसकी तुलनामे यह स्थिति बहुत ही भिन्न है। हाँ, बशर्ते कि पहले यह मान लिया जाय कि भागवत सृष्टि या कोई भी सृष्टि वाछनीय है।

"जडवस्तुमे, विशेषत शरीरके कोषोमे, क्षण प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, तब भला शरीरके लिये रूपातरका क्या मूल्य है?"

इस दूसरे तर्कका उत्तर यह है कि अतिमानसिक जीवन परिवर्तन और प्रगतिका बहिष्कार नही करता। यदि अतिमानसिक शरीरके कोषोका भी परिवर्तन होता रहे, और वह परिवर्तन किसी उतनी ही या अधिक सचेतन और प्रकाशमयी अवस्थाके लिये हो, तो मै नही समझता कि इस पविर्तनसे रूपातरका मूल्य कैसे घट जाता है?

*

* *

हम जो रूपातर चाहते हैं वह यह है कि हमारी चेतना भगवान्मे लीन हो जाय, चैत्य पुरुष सारी प्रकृतिको नियत्रित करता रहे, वदलता रहे और भगवान्की ओर अभिमुख किये रखे जिससे अतिम समूची सत्ता भगवान्मे निवास कर सके। इसके आगे है अतिमानसीकरण, किन्तु यह रूपातरको वस उसकी उच्चतम और विशालतम सभावनाओंतक ले जाता है, अवश्य ही उसके मूल स्वरूपको नही वदल देता।

अतिमानसीकरणके सभाव्य परिणामोमे एक है अमरत्व, किन्तु अमरता वाध्य-कर परिणाम नही और न इसका अर्थ यह है कि जीवन अभी जैसा है वह वैसा ही चिर-काल अथवा अनिश्चित अवधितक स्थायी वना रहेगा। वहुतसे लोग समझते हैं कि ऐसा ही होगा, यानी वे जैसेके तैसे वने रहेगे, उनकी मानवीय कामनाएँ वनी रहेगी, अतर केवल यही होगा कि वे उन कामनाओको अतहीन रूपसे पूरी करते रहेगे। लेकिन ऐसी अमरता तो प्राप्त करने योग्य नही होगी और लोगोको इससे थक जानेमे वहुत अधिक समय नही लगेगा। भगवान्मे निवास और भागवत चेतनाकी प्राप्ति अपने-आपमे अमरता है और शरीरको भी दिव्य वना सकना और उसे दिव्य कर्म तथा दिव्य जीवनके लिये उपयुक्त यत्र वना सकना तो इस अमरताका भौतिक प्राकट्य मात्र होगा।

*

* *

जहाँ तक मृत्यु-विजयकी वात है वह अतिमानसीकरणके अनेक परिणामोमे केवल एक परिणाम है — और मेरा ऐसा ख्याल नही कि मैंने अतिमानसिक अवतरणके वारेमे अपने विचार सुदृढ रूपमे व्यक्त किये हो। किन्तु मैंने कभी भी ऐसा कहा या सोचा नही है कि अतिमानसिक अवतरण अपने-आप ही हरेकको अमर वना देगा। वह तो वस हरेकके लिये उत्तम परिस्थितियाँ वना दे सकता है, तव या वादमे हरेक उसकी ओर उन्मीलित हो सकता और अतिमानसिक चेतना तथा उसके परिणामोको पा सकता है। किन्तु इससे साधनाकी आवश्यकता समाप्त नही होगी। यदि ऐसा होता तो तर्कसगत परिणाम यह होता कि सारी धरती, सारे मनुष्य, कुत्ते और कीट एक सुवह अपनेको अकस्मात् अतिमानसिक हो गया पाते। तव आश्रम या योगकी आवश्यकता नही होती।

प्रधान क्यो? प्रधान वात है चेतनाका अतिमानसिक परिवर्तन, मृत्यु-विजय एक गौण वस्तु है और, जैसा कि मैंने सदा कहा है, उसका अतिम भौतिक परिणाम है,

न कि सबसे पहला या अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम, वह एक ऐसी वस्तु है जो सपूर्णको पूरा करनेमे जोडी जाती है, न कि एकमात्र आवश्यक और मूलभूत वस्तु। उसे प्रथम स्थानमे रखना सारे आध्यात्मिक मूल्योको उलट देना है,—इसका अर्थ यह होगा कि साधक किसी उच्च आध्यात्मिक लक्ष्यसे नही, अपितु जीवनके प्रति किसी प्राणिक आसक्ति या शरीरकी सुरक्षाके लिये किसी स्वार्थी और सीमित खोजसे प्रवृत्त हुआ था,—ऐसा अतर्भाव अतिमानसिक परिवर्तन न ला सकेगा।

अवश्य ही हरेक चीज मेरी सफलतापर निर्भर करती है। किन्तु क्या तुमने यह कल्पना की थी कि इसका अर्थ धरतीपर मृत्युका अन्त हो जायगा और साधना किसीके भी लिये आवश्यक न रह जायगी?

*

* *

इस विषयपर तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है। साधनाकी तीन स्थितियाँ हैं – चैत्य परिवर्तन, चेतनाके उच्चतर स्तरोमे गमन और उनकी सचेतन शक्तियोका अवतरण, और अतिमानस। मृत्युपर अधिकार अतिमानसिक साधनामे भी बादकी स्थिति है, आरभकी नही। इनमेसे प्रत्येक पर्व बहुत लबे समय और उच्च तथा दीर्घ प्रयासकी माग करता है।

*

* *

शरीरके रूपातरकी अपेक्षा कही अधिक आसान रहनेवाली चीजे जबतक पूरी नही हो जाती – यद्यपि इनमेसे कोई भी वास्तवमे आसान नही – तबतक शरीरके रूपातरकी बात सोचना बिलकुल ही व्यर्थ है। आतरिक सत्ताको बदलना होगा और उसके बाद ही सबसे बाहरी सत्ता परिवर्त्तित हो सकेगी। अतएव जबतक कोई यह न समझ ले कि बाकी सब कुछ पूर्ण हो चुका है – और ऐसा दावा बल्कि आश्चर्यजनक होगा – तबतक इसपर एकाग्र होनेका क्या उपयोग है? शरीरके बारेमे पहली करणीय चीज है उसे भगवान्की शक्तिके प्रति खोल देना ताकि वह रोग और थकानके विरुद्ध बल-शक्ति पा सके और और जब रोग और थकान आये तब ऐसी क्षमता होनी चाहिये जिससे उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया की जा सके, उन्हे दूर फेका जा सके और शरीरके अदर

शक्तिका अनवरत प्रवाह वहता रहे। यदि इतना कर लिया जाय तो शारीरिक परिवर्तनसवधी वाकी चीजे अपने उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा कर सकती हैं।

*

* *

यह विलकुल सच है कि मपूर्ण मत्ताका समर्पण और परिणाममे उसका रूपातर योगका लक्ष्य है; शरीर इमसे वहिष्कृत नही है, किंतु साथ ही प्रयत्नका यह भाग सवसे अधिक कठिन और सदिग्ध है, वाकीकी पूर्ति आसान तो नही किन्तु अपेक्षाकृत कम कठिन है। आरभ करना होगा शरीरपर चेतनाके आतरिक नियत्रणसे, शरीरको जो इच्छा या शक्ति सचारित की जा रही है शरीरको उसके अनुसार अधिकाधिक चलानेके सामर्थ्यसे। अतमे जैसे-जैसे अधिकाधिक ऊँची चेतना उतर आती है और शरीरकी नमनीयता वढती है, रूपातर सभव हो जाता है।

*

* *

जवतक शरीरके प्रति आमक्ति है तवतक अमरता नही आ सकती क्योंकि अमरता तभी आ मकती है जव कि व्यक्ति अपने अमर भागमे (और यह भाग देहके माथ एकात्म नही होता) निवाम करने लगे और उसकी चेतना तथा शक्तिको देहके कोषोमे उतार लाये। निस्सन्देह, मै यहाँ यौगिक साधनोकी वात कह रहा हूँ। आजकल वैज्ञानिक लोग (कमसे कम, सिद्धान्तरूपमे) मानते हैं कि कोई ऐसा भौतिक साधन खोज निकालना सभव है जिमसे मृत्यु जीती जा सके, किन्तु इमका अर्थ वर्तमान चेतनाको वर्तमान शरीरमे वनाये रखना ही होगा। जवतक चेतनाका परिवर्तन और क्रियाओका परिवर्तन नहीं हो जाता तवतक यह वहुत तुच्छ प्राप्ति होगी।

*

* *

यह वात निर्भर करती है चेतनापर। वर्तमान अवस्थामे अधिकतर मनुष्य जीवनमे थकते नही, वे इमलिये मरते है कि उन्हे मरना पडता है, न कि इसलिये कि

वे मरना चाहते हैं, कम-से-कम उनकी प्राणसत्ता तो मृत्यु नही चाहती।कुछ अल्प-सख्यक व्यक्ति ही जीवनसे ऊब जाते हैं और उनमे से भी अधिकतर लोगोमे यह भाव वृद्धावस्थाकी असुविधाओ, बराबरकी अस्वस्थता या दुर्भाग्यके कारण आता है। प्रश्न तो यह है कि यदि शरीरमे कोई ऐसी चेतना उतर आय जो इन कष्टोसे छुटकारा दिला दे तो क्या उस अवस्थामे भी लोग जीवनसे महज उसकी लबाईके कारण उसी तरह थक जायँगे या उन्हे अदर या बाहर रसका कोई ऐसा शाश्वत स्रोत मिल जायगा जो जीवनमे उनकी रुचि बनाये रखेगा? निस्सन्देह शारीरिक अमरताका अर्थ यह नही होगा कि मनुष्य शरीरमे बधा रहेगा, वरन् यह होगा कि वह रोग और मृत्युके बधनमे नही होगा, बल्कि अपने इच्छानुसार शरीरको रख सकेगा या छोड सकेगा। मै नही जानता कि अश्वत्थामा[1] इसलिये जी रहा है कि वह मर ही नही सकता या इसलिये कि वह मरना ही नही चाहता, यह उसके लिये श्राप है या वरदान। प्रसगवश कह दूँ कि ऐसे पशु पाये जाते हैं जो अनेक शताब्दियोतक जीते हैं किन्तु दार्शनिक मस्तिष्कसे रहित रहनेके कारण उनके लिये यह प्रश्न ही नही उठता – सभवत वे इसे स्वाभाविक चीज समझते हैं।

*

* *

एडिसनका परिवार बहुत दीर्घ आयुवाला था, किन्तु उसके दादाको एक शताब्दिके बाद जीवन बहुत लबा लगने लगा और वह इसलिये मर गये कि वह मरना चाहते थे। दूसरी ओर, ऐसे लोग भी होते हैं जिनकी प्राणसत्ता बहुत सबल होती है और वे जीवनसे थकते नही। उदाहरणके लिये हम उस तुर्कको ले सकते हैं जो अभी हालमे शायद 150 वर्षकी आयुमे मरा है पर अभी भी जीनेके लिये उत्सुक था।

*

* *

अधिकतर व्यक्तियोके लिये यह मूलभूत रूपमे सत्य है कि जीवनका सुख, अस्तित्व-मात्रका सुख, जीवनके दु ख-कष्टकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है, अन्यथा अधिकतर

[1] कहा जाता है कि नर्मदा नदीके किनारे अश्वत्थामा 36000 वर्षोसे रहता है।

लोग मरना ही चाहते, जब कि सच यह है प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है – और तुम यदि उन्हे सदाके लिये मिट जानेका कोई आसान तरीका बतला दो तो वे तुम्हे धन्यवाद दिये बिना ही उसे अस्वीकार कर देगे। यही 'क' का कहना है और इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। यह भी सच है कि इसके मूलमे है अस्तित्वका आनद और यह आनद प्रत्येक चीजके पीछे विद्यमान है और अस्तित्वके सुखकी सहज भावनामे प्रतिबिम्बित होता है। अवश्य ही यह मूलगत सहज सुख ही वह आनद नही वरन् निम्नतर प्राण-चेतनामे उसकी एक फीकी और धुधली छायामात्र है, किन्तु अपने कार्यके लिये वह यथेष्ट है। स्वय मैने यह बात कहीपर कही है और इस युक्तिमे मै कोई निराधार या अतिशयोक्तिपूर्ण बात नहीं देखता।

*

* *

हाँ कुछ लोगोको शरीरकी अशुचिताके कारण शरीरमे जुगुप्सा हो जाती है, किन्तु यह भी कहूँ कि ऐसे लोग बहुत ही थोडे हैं।

पातजलिका वचन "शौचात् स्वाग जुगुप्सा" यह मान लेता है कि मन ही सब कुछ है अत यदि हमारा यह भाव हो जाय कि शरीर अस्वच्छ वस्तु है तो हमारी सारी भावनाएँ उसी भावमे समस्वर हो जायँगी। परन्तु ऐसा है नही, ऐसे अन्य भाग हैं जो मनोगत भाव या ज्ञानकी परवाह नही करते, उससे प्रभावित नही होते, अपितु अपनी ही सहजवृत्तियो और कामनाओसे चालित होते है। जिनमे वैराग्यकी ओर मोड आ चुका है वे लोग ही अपने पहलेके विद्यमान वैराग्यकी सहायताके लिये पातजलि-की बातका उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणके लिये चिकित्सक शरीर-रचनाके ज्ञानको विज्ञानके तथ्यके रूपमे रखता है, उसे अपने मनके वैज्ञानिक विभागमे अलग रखता है और इस ज्ञानका उसके अन्य भावो, भावनाओ या क्रियाकलापोपर जरा भी प्रभाव नही पडता।

*

* *

अतिमानसिक पूर्णताका अर्थ यह होता है कि शरीर चेतन हो जाता है, चेतनासे भर जाता है और चूँकि यह चेतना सत्य-चेतना होती है, उसकी सारी क्रियाएँ, चेष्टाएँ

आदि अतरकी चेतनाकी शक्तिसे सामजस्यपूर्ण, प्रकाशपूर्ण, ठीक और सच्ची वन जाती हैं, उनमे अज्ञान या अव्यवस्था नही रहती।

हठयोगकी पद्धति है शरीरके अदर प्रवल प्राणशक्तिको उतार लाना, फिर उसके द्वारा और कुछ अन्य प्रक्रियाओसे शरीरको सवल और स्वस्थ और सुयोग यत्र वनाये रखना।

*

* *

वेदमे उच्चतर लोकोकी सत्ताओके ज्योतिर्मय शरीरकी वात कही गयी है। पूर्व और पश्चिमके कुछ यौगिक सिद्धातोमे यह माना गया है कि अतिम रूपातरकी स्थिति आनेपर इस पृथ्वीपर भी मनुष्य उन्ही गुणोसे युक्त शरीरका विकास करेगा। श्रीमाके प्रथम आध्यात्मिक शिक्षकने इसे 'तेजोमय शरीर (body of glory) का नाम दिया था।

*

* *

मैंने वाइवल पढी है – एक समय वहुत अध्यवसायसे पढी है। मैंने उसे जब कभी देखा है उसकी भाषाकी प्राजलताके वावजूद भी मुझे सदा ही उसकी विचार-वस्तुमे एक अस्पष्टताका भान हुआ है, और इस कारण इन चीजोके वारेमे निश्चित होना वहुत कठिन हो जाता है। उदाहरणके लिये शरीरके वारेमे प्रस्तुत उद्धरणको ही ले,—यद्यपि सत पॉलको असाधारण रहस्यानुभूतियाँ हुई थी और अवश्य ही उन्हे वहुत गभीर (मेरे ख्यालसे विशाल न होकर वल्कि गभीर) आध्यात्मिक ज्ञान था, मै यह आश्वस्त होकर नही कह सकता कि वह अतिमानसधर्मी शरीर (भौतिक शरीर) की वात कह रहे हैं। इसमे शायद अतिमानसिक शरीरकी या किसी ऐसे अन्य तेजोमय शरीरकी वात है जो अपने ही देश और सत्त्वमे हो और जिसे उन्होंने कभी-कभी मानो उन्हें आच्छादित करते और इस मर्त्य शरीरको विनष्ट करते पाया जिसे उन्होंने भौतिक आच्छादनके रूपमे अनुभव किया था। वाइवलके वहुत सारे दूसरे पदोकी तरह इस पदके भी अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं और इसमे अतिभौतिक अनुभवकी ही वात कही गयी हो सकती है। शरीरके रूपातरका भाव विभिन्न परम्पराओमे आता है, किन्तु

मुझे कभी यह पूरा निश्चय नही हुआ कि उसका अर्थ इस जडवस्तुमे ही परिवर्तन होनेसे था। इस इलाकेमे कुछ समय पहले एक योगी थे जिन्होंने इसकी शिक्षा दी थी, किन्तु वह भी परिवर्तनके सपूर्ण हो जानेपर ज्योतिमे विलीन हो जानेकी आशा करते थे। वैष्णव दिव्य शरीरकी बात कहते हैं जो सपूर्ण सिद्धिके होनेपर इस शरीरका स्थान ले लेगा। परन्तु, फिर, क्या वह दिव्य भौतिक या अतिभौतिक शरीर है? साथ ही यह अनुमान करनेमे कोई बाधा नही है कि ये सारे भाव, सबोधि-स्फुरण, अनुभव यदि ठीक-ठीक शारीरिक रूपातरकी बात नही कहते तो उसकी ओर सकेत तो करते ही हैं।

*

* *

इस विषयपर कल्पना करनेवालोमे बहुतोका यह विचार रहा है कि भावी जातिका शरीर ज्योतिर्मय शरीर होगा और इसका अर्थ रेडिओ-ऐक्टिव शरीर हो सकता है। परन्तु साथ ही इन बातोको भी विचारमे लेना है कि—

1) अतिमानसिक शरीरको अवश्य ही ऐसा शरीर होना चाहिए जिसमे शरीरकी क्रियाओ और जडसे जड तत्त्वके सबधमे उसकी प्रतिक्रियाको भी चेतना निर्धारित करती है और फलत ये अभीके ज्ञात रूपकी जड अवस्था या नियमोपर पूरी निर्भर नही करती, और

2) स्थूल प्रक्रियाकी अपेक्षा सूक्ष्म प्रक्रिया अधिक सबल होगी, अत अग्निकी सूक्ष्म क्रिया वह कार्य कर सकेगी जिसके लिए अभी स्थूल परिवर्तनकी, उदाहरण-के लिए बढे हुए तापकी, आवश्यकता होगी।

*

* *

यदि चेतना शरीरगत स्थूल क्रिया और प्रतिक्रियाको निर्धारित नहीं कर सकती, यदि उसे भिन्न आधारकी आवश्यकता हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि इस भिन्न आधार-को भिन्न साधनसे तैयार करना होगा। किस साधन से? स्थूल साधनसे? पुराने योगियोंने शारीरिक तपस्यामे लगकर, दूसरोंने अमृत आदिकी खोजमें लगकर ऐसा करनेकी चेष्टा की थी। इस योगके अनुसार, उच्चतर शक्ति एव चेतनाकी क्रियाका

उन्मेष होना है, और इसमे अग्निकी सूक्ष्म क्रिया सम्मिलित है, और इसे शरीरको तैयार करना है और उसे अपनी वर्तमान (नियम कही जानेवाली) आदतोमे जडे रहनेके स्थानपर चित्-शक्तिके प्रति अधिक सवेदनशील बनाना है। परन्तु भिन्न आधार-की रचना तो अतिमानसिक क्रियासे ही हो सकती है। अतिमानसके आधारका निर्धारण अतिमानसको छोडकर कौन कर सकता है ?

*

* *

मेरा कोई बात टालनेका इरादा नही था। उस प्रश्नका उत्तर मै इसके सिवाय और कुछ नही दे सकता था कि मै अभीतक यह नहीं जानता कि परिवर्तित शरीरका रसायनिक सघटन क्या होगा। इसीलिये मैने कहा था कि इसमे अनुसधानकी आवश्यकता है।

मै इस विषयपर बस अपने इस सदाके विचारको व्यक्त कर रहा था कि अति-मानसिक सत्ता ही अपने शारीरिक आधारकी रचना करेगी। यदि तुम्हारा अभिप्राय यह हो कि अतिमानसिक सत्ता अपनी परिपूर्ति वर्तमान प्रक्रियाओवाले वर्तमान शरीरमे नही कर सकती तो यह बात सच है। यह स्पष्ट है कि इन प्रक्रियाओको बदलना होगा। शरीरका सघटन कहाँ तक और किस दिशामे बदला जायगा यह अलग प्रश्न है। जैसा मैने कहा था वह तुम्हारी बातके अनुसार रेडिओ-ऐक्टिव हो जा सकता है थेओ (श्रीमाके गुह्यविद्या शिक्षक) ने इसे तेजोमय शरीर कहा था। किन्तु इन सारी बातोके कारण अतिमानसिक सत्ताका वर्तमान शरीरमे परिवर्तनके लिए क्रिया करना असभव नही हो जाता। वर्तमानमे मेरी आशा इसी ओर है।

निस्सन्देह एक विशेष आरम्भिक रूपातर वैसे ही आवश्यक है जैसे कि चैत्य और आध्यात्मिक रूपातर अतिमानसिक रूपातरसे पहले आता है। परन्तु यह तो स्थूल चेतनाका परिवर्तन है जो नीचे, शरीरके कोशाणुओतककी निमज्जित चेतनामे होगा जिससे कि वे उच्चतर शक्तियोको प्रत्युत्तर दे सके और उन्हे प्रवेश दे सके और प्रक्रियाओमे भी कुछ परिवर्तन या कमसे कम एक अधिक नमनीयता आय। भोजन आदिके नियम विघ्नोको कमसे कम कर देकर इसमे सहायता देनेको अभिप्रेत हैं। इसमे शरीरके रसारनिक सघटनके परिवर्तनकी बात कहाँ तक आती है यह मै नही कह सकता। मुझे ऐसा अभी भी लगता है कि जो कोई भी तैयारी-रूपी परिवर्तन क्यो न हो, उन्हे पक्का और सम्पूर्ण तो अतिमानसिक शक्तिकी क्रिया ही कर सकती है।

क्रमविकास

विषय सूची

1 क्रमविकास (1) 229

2. क्रमविकास (2) 236

3 क्रमविकासकी प्रक्रिया 244

4 निश्चेतन 249

5 भौतिकवाद 257

6 भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा 270

7 कर्मकी उलझन 274

8. योग और मानव-विकासक्रम 277

9 मनुष्य एक मध्यवर्तिनी सत्ता 281

10 दिव्य अतिमानव 288

क्रमविकास (1)

क्रमविकासकी शक्तिका तत्त्व क्या है? उसका दायरा क्या है? जगत्मे उसका क्रियान्वयन कैसे होता है?

क्रमविकासका सिद्धान्त उन्नीसवी शताब्दिकी विचारधाराका प्रधान सुर रहा है। उसने उसके सारे विज्ञान और उसकी विचारवृत्तिको ही स्पर्श नही किया, अपितु उसकी नैतिक प्रकृति, उसकी राजनीति और उसके समाजको भी सबल रूपसे प्रभावित किया है। उसके विना जीवन तथा विश्वके विपयमे भौतिकवादी भावनाकी वह पूरी विजय नही हो सकती थी जो अभी प्रयाण कर रहे युगकी सामान्य विशिष्टता रही है और कुछ कालतक सुनिश्चित होनेका दावा करनेवाली विजय रही है, न ही इस महापरिवर्तनके उपपरिणामोके रूपमे धार्मिक अन्तर्भावके ह्रास और प्राचीन धार्मिक विश्वासोके विखण्डन जैसी महत्त्वपूर्ण वाते हो सकती थी। समाज और राज-नीतिमे इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिके नैतिक भावके स्थानपर क्रमविकासका भाव आसीन हुआ और फलत सामाजिक विचार तथा सामाजिक प्रगतिमे भौतिकवाद आ गया, आदर्शवादी मानवके स्थानपर आर्थिक मानवकी विजय हो गयी। आनु-वशिकताका वैज्ञानिक सिद्धान्त, विचारधर्मी मानव-पशुका उद्‌भव हालमे होनेका सिद्धान्त, यह प्रचलित विचार कि जीवनके लिये सघर्ष सर्वव्यापी है, और प्रतियोगिता-की सहजवृत्तिके अतिरजित विकासको इस विचारसे मिली सहायता, मामाजिक अवयव-सस्थानका विचार और आर्थिक समाजवादके विपरीत विकासको तथा स्वतत्र व्यक्तिपर सगठित राज्यशासन या जनसमुदायकी बढती विजयको इस विचारसे मिली सहायता,—ये सब उस एक ही स्रोतके नि स्राव हैं।

जगत्-विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण अब तेजीसे धराशायी हो रहा है और उसके साथ-साथ क्रमवैकासिक सिद्धान्तका भौतिकवादी प्रतिपादन भी अवश्य विलुप्त होगा। आधुनिक यूरोपीय विचार चकरानेवाली तेजीसे प्रगति कर रहा है। यदि उसकी प्रेक्षण-निष्ठा और श्रमपूर्ण प्रणालीवद्धकरणकी प्रवृत्तिमे जर्मन गुण है तो उसका एक दूसरा, केल्टिक-यूनानी पहलू भी है, उसका नमनीयता और सचलताका, द्रुत परिवर्तनके लिये तत्परताका, अतोषनीय जिज्ञासाका स्वरूप भी है। उसका यह स्वरूप एक ही विचार, एक ही प्रणालीको बहुत लम्बे समयतक सुरक्षित साम्राज्य नही

परिवर्तनके लिये तत्परताका, अतोपनीय जिज्ञासाका स्वरूप भी है। उसका यह स्वरूप एक ही विचार, एक ही प्रणालीको वहुत लम्वे समयतक सुरक्षित साम्राज्य नही वनाये रखने देता, उसे प्रश्न करने, चुनौती देने, वर्जन करने, फिरसे घडने, नये तथा विरोधी सत्यका आविष्कार करने, अन्य परीक्षणोमे जा पडनेकी उतावली रहती है। प्रश्न करनेकी इम मनोवृत्तिने क्रमविकामके सिद्धान्तके केन्द्रपर अभी आक्रमण नही किया है परन्तु उसे नया रूप और अर्थ देनेके लिये उसकी तैयारी दृष्टिगोचर हो रही है।

क्रमविकामके विपयमे मामान्य विचार यह था कि परवर्ती क्रममे आनेवाली वस्तुओके प्रत्येक रूप या अवम्थाकी उत्पत्ति उसके पूर्ववर्ती रूप या अवस्थासे हुई थी, उमका प्राकटच पूर्ववर्तिनी अवस्थाओ और पूर्ववर्तिनी प्रवृत्तियो द्वारा तैयार की गयी, यहाँ तक कि आवश्यक कर दी गई सम्भावनाके वहिर्प्राकटच या प्रसारणकी प्रक्रिया द्वारा हुआ। रूपके अन्दर उसी रूपका वीज नही जो उसे पुनरुत्पन्न करता है, उस मम्भव नये रूपका वीज भी रहता है जो उससे भिन्न होता है। आनुक्रमिक प्रगतिसे नीहारिकामेसे एक जगत्-मडल विकसित होता है, निवामके लिये अयोग्य रहनेवाले मडलमे निवामयोग्य ग्रह प्रकट होता है, अवतक अज्ञात रहनेवाली प्रक्रिया द्वारा जडमेसे जीवद्रव्यवाला प्राण उन्मज्जित होता है, कम विकसित जीव-सस्थानमेसे अधिक विकमित जीव-सस्थान उपजाता है। मत्स्य कीटका वशज है, दोपाये और चौपायेका इतिहाम मत्स्यतक वापस जाता है, मनुष्य वानरजातिका चौपाया है जिसने दो पैरोपर खडे होकर चलना सीख लिया है और अपने-आपको अपनी नयी जीवन-पद्धति तथा प्रगतिके लिये अनुपयुक्त रहनेवाले लक्षणोसे वरी कर लिया है। जडमे स्थित शक्ति वह अचेतन देवी है जिसने ये चमत्कार अपने अनुकूलनके अन्तर्निहित तत्त्व द्वारा और जीव-सम्यानमे आनुवशिकताके अतिरिक्त साधन द्वारा कार्यान्वित किये है, प्राकृतिक वरणके फलस्वरूप उन वर्गोकी वशवृद्धि और अस्तित्वमे वने रहनेकी सम्भावना होती है जो परिवेशके प्रति अनुकूलन द्वारा विकमित और अतिजीविताके अनुकूल नये लक्षणोकी पुनरुत्पत्ति करते है, अन्य वर्ग जीवनकी दौडमे पीछे पड जाते और विलुप्त हो जाते है।

एक ममय ये ही प्रमुख विचार थे, परन्तु अव इनमेसे कुछपर और ऐसोपर प्रश्न उठाया जा रहा है जो सवमे कम महत्त्वपूर्ण नही। 'जीवनके लिये सघर्ष' का विचार अव सशोधित और अस्वीकृत तक होनेको है, यह प्रस्थापना की जाती है कि यह विचार डारविनके मतका, कमसे कम, जनसामान्यने डारविन मतको जैसा समझ रखा है, उस मतका यथार्थ अग नही है। यह सशोधन जीवनके मूलमे अहभावके तत्त्वके साथ-साथ प्रेमके तत्त्वकी खोज करनेवाली, पुनरुज्जीवित होती नैतिक तथा आदर्शवादिनी

प्रवृत्तियोको दी गई रियायत है। आनुवशिकताके व्यापारमे अनुसन्धान करनेवालोके ये निष्कर्ष कि अर्जित वैशिष्टच भावी वशजोमे सचारित नही होते और यह सिद्धान्त भी समान रूपसे महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रमुखत पूर्व-प्रवणताएँ ही विरासतमे मिलती हैं, कारण, इस सशोधनसे विकासक्रमकी प्रक्रियाका रूप कम भौतिक और यात्रिक होने लगता है, उसका मूल और उसकी चालिका शक्तिका आसन उस तत्त्वमे चले जाते हैं जो जडके अन्दर कमसे कम भौतिक, अधिकसे अधिक अ-भौतिक है। अन्तमे, आकस्मिक और द्रुत प्रस्फोटनो द्वारा विकास होनेका यह नया सिद्धान्त विकासके धीमे-धीमे और क्रमश होनेके प्रथम विचारको चुनौती दे रहा है, और हम पुन एक प्रत्यक्ष उपरितलीय यात्रिकता और सर्वपर्याप्त भौतिक अनिवार्यताकी भावनामेसे निकलकर ऐसी गहराइयोमे पहुँचते हैं जिनका रहस्य मापना अभी भी बाकी है।

ये सशोधन, वस्तुत, अपने-आपमे मूलगत नही होगे। इनका महत्त्व इसमे है कि ये भौतिकवादिनी लहर द्वारा निमज्जित प्राचीन विचारोके नये रूपोमे होने-वाले महापुनरुत्थानके समकालिक हैं। प्राणवादके मत, विचारकी आदर्शात्मिका प्रवृत्तियाँ, जिनके बारेमे यह सोचा गया था कि उनका भौतिक विज्ञानके अभियानमे वध हो चुका है, अब फिर उठ रही हैं, अधिकारका दावा करती हैं और वैज्ञानिक सामान्यीकरणके प्रत्येक परिवर्तनमे अपना विवरण पाती हैं जिससे उनके अपने विस्तरण तथा पुन प्रतिष्ठापनका ही मार्ग खुलता है। तो, सम्भवतया वे कौन सी बाते हैं जिनमे भविष्यकी विशालतर और जटिलतर विचारणा क्रमविकासके सिद्धान्तको अपर्याप्त पायगी और वह सिद्धान्त तत्त्वभूत परिवर्तन स्वीकार करनेको बाध्य होगा ?

पहली बात यह है क्रमविकासका भौतिकवादी सिद्धान्त इस साख्य प्रतिष्ठापनसे प्रारम्भ करता है कि सारा जगत् अनिर्दिष्ट जडमेसे प्रकृति-शक्ति द्वारा होता विकास है, परन्तु वह साख्यके निष्क्रिय पुरुषका बहिष्कार करता है। अतएव उसकी कल्पनामे जगत् एक प्रकारका स्वचलित यत्र है जो किसी प्रकार घटित हो गया है। कोई बुद्धि-शाली कारण नही है, कोई लक्ष्य नही है, अस्तित्वका कोई हेतु नही है, वरन् केवल एक स्वचलित फैलाव और सम्मिलन है, लक्ष्यकी ओर साधनके ज्ञान या अभिप्रायसे विहीन आत्म-अनुकूलन है। यह इस सिद्धान्तका पहला विरोधाभास है और इसे यदि मानव-मन द्वारा अन्तिम रूपसे स्वीकार्य होना है तो इसके औचित्यको अभिभावक और निर्णायक होना होगा।

फिर, यदि अनिर्दिष्ट जडमे स्थित शक्ति ही विश्वका सारा आरम्भ और सारी सामग्री हो, वह शक्ति पुरुषके बिना हो, तो मन, प्राण तथा चेतना जडमेसे ही उत्पन्न विकास, यहाँ तक कि जडके व्यापार ही हो सकते हैं। वे अपने-आपमे वस्तुएँ बिलकुल

नही हो सकते, जडसे भिन्न नही हो सकते, उससे स्वतंत्र होनेकी सम्भावना तो बिलकुल नही हो सकती। यह दूसरा विरोधाभास है और वह स्थल है जहाँ यह सिद्धान्त अपनी स्थापना करनेमे अन्ततः विफल हो गया है। ज्ञानकी प्रगति इस दृष्टिकी ओर अधिकाधिक लिये जा रही है कि ये तीनो शक्तिके विभिन्न रूप हैं, प्रत्येककी अपनी विशिष्टताएँ और अपनी कार्य-पद्धति है, प्रत्येककी अन्यपर प्रतिक्रिया होती है और इस सम्पर्कसे उसके रूपोकी समृद्धि होती है।

एक इस विचारका उदय भी होने लगा है कि सृष्टि एकी नही, त्रिधा है,—अन्नमयी, प्राणमयी और मनोमयी, उसे मानो तीन लोकोका मिश्रण कहा जा सकता है जो परस्पर अन्तर्विद्ध हैं। हम वापस अपने निवासके त्रिलोकके प्राचीन वैदिक विचारपर पहुँचते हैं। और हम न्यायतः यह पूर्वानुमान कर सकते हैं कि उसके चालनका इस नये दृष्टिकोणसे परीक्षण कर चुकनेपर यह प्राचीन वैदिक ज्ञान समर्थन पायगा कि सबके अन्दर एक ही 'विधान' और 'सत्य' कार्य कर रहा है, परन्तु जिस माध्यममे कार्य चल रहा है उस माध्यम और उसके प्रधान तत्त्वके अनुसार बहुत भिन्नतया निरूपित होता है। सारे लोकोमे देवगण वे ही हैं, और वे अभिन्न तत्त्वभूत नियमोको बनाए रखते हैं, परन्तु उनके कार्यके रूप और रीतियाँ भिन्न होती हैं और नित्य विशालतर परिणामोकी ओर नियोजित होती हैं।

यदि सत्य यह है तो विकासक्रमकी क्रिया जैसी मानी जाती है उससे वह भिन्न ही होगी। उदाहरणके लिये, जडमे प्राणका विकास जडतत्त्व द्वारा नही, प्रत्युत एक *ऐसे प्राणतत्त्व द्वारा उत्पन्न और शासित हुआ होगा* जो जडकी अवस्थाओमे और उनपर कार्य कर रहा होगा और उनपर स्वकीय नियमो, अन्तर्वेगो, आवश्यकताओको आरोपित कर रहा होगा। जडतत्त्वसे भिन्न एक शक्तिमान् प्राण है जो जडमे और उसपर कार्य करता है, इस विचारका यूरोपकी आगे बढी विचारणामे प्रमुख होना आरम्भ हो गया है। एक उससे भी अधिक शक्तिमान् मन है जो प्राणमे और उसपर कार्य करता है, यह दूसरा विचार अभी तक पर्याप्त मार्ग नही बना पाया है, क्योंकि मनके नियमोका अनुसन्धान अभी भी टटोलती शैशवावस्थामे है।

फिर, भौतिकवादी सिद्धान्तमे भौतिक अनिवार्यताकी एक कठोर शृंखला मान्य होती है, प्रत्येक पूर्वगामिनी अवस्था इतनी सारी व्यक्त शक्तियो और अवस्थाओका सहयोजन होती है, प्रत्येक परिणामिनी अवस्था उसका व्यक्त परिणाम होती है। सारा रहस्य, अननुमेयका सारा तत्त्व, विलुप्त हो जाता है। यदि हम पूर्वगामिनी अवस्थाओका पूरा विश्लेषण कर सके और उनका सामान्य नियम खोज ले सके तो हम परवर्ती परिणामके विषयमे वैसे ही निश्चित हो सकते हैं जैसे ग्रहण या भूकम्पकी

बातोमे । कारण, सबकुछ अभिव्यक्ति ही है जो पूर्वगामिनी अभिव्यक्तिका तर्कसगत परिणाम होती है ।

एक बार फिर हम देखते हैं कि निष्कर्ष अति सरल तथा पैना है, जब कि जगत् अधिक सश्लिष्ट है। प्रत्यक्ष कारणोके अतिरिक्त वे कारण भी हैं जो अव्यक्त या प्रच्छन्न हैं और हमारे विश्लेषणके अन्तर्गत नही आते। हम ज्यो-ज्यो अस्तित्वके सोपानपर चढते हैं यह तत्त्व बढता जाता है, इसकी व्याप्ति जडकी अपेक्षा प्राणमे अधिक फैली हुई है, प्राणकी अपेक्षा मनमे अधिक स्वतत्र है। यूरोपीय विचारणामे सारी व्यक्त क्रियाशीलताके पीछे एक अव्यक्तकी स्थापनाकी प्रवृत्ति आ चुकी है, उस अव्यक्तको बौद्धिक अभिरुचिके अनुसार निश्चेतन या अवचेतन कहा जाता है जो उपरितलीय अस्तित्वकी तुलनामे अधिक चीजे समाए रखता है और, हमारे लिये अधिक अग्राह्य रहनेवाली विधिसे, अधिक जानता और अधिक देख सकता है। इस अव्यक्तमेसे व्यक्तका सतत उन्मज्जन होता है।

हम पुन एक प्राचीन सत्यकी ओर वापस जाते हैं जो वैदिक मुनियोको ज्ञात ही था,—वह उनका यह प्रत्यय है कि सत्ताका एक निश्चेतन या अवचेतन समुद्र है, वस्तुओ-का हृदय-समुद्र है जिसमेसे लोक अपनी रचना करते हैं। परन्तु वेद एक शासक और स्रष्टा अतिचेतनको भी मानता है, विकासक्रमके व्यापारोमे व्याप्त एक प्रच्छन्न चेतना तथा ज्ञानके आभासकी व्याख्या इस अतिचेतनसे हो जाती है और वह अतिचेतन ही उन व्यापारोके पीछे रहनेवाला स्वय-क्रियमाण 'विधान' और 'सत्य' है।

भौतिकवादी विकासक्रमका सिद्धान्त स्वभावत इस विचारकी ओर ले गया कि प्रगति धीमे-धीमे और क्रमश सीधी रेखामे हुई है। प्रत्यगमन, पुनर्जानुरूपता, और प्रतिक्रियाके चक्कर और टेढे मेढे घुमाव जिनसे सीधी रेखा मुड जाती है,—इन सबको यह सिद्धान्त मानता है, परन्तु यदि हम कालकी छोटी अवधियोको छोडकर युगावधियोके सहारे देखे तो ये चीजे अवश्य ही गौण होगी, शायद ही दृश्यमान् होगी। यहाँ भी अधिक पूरा ज्ञान पहलेसे प्राप्त धारणाओमे उलट-पुलट करता है। मनुष्यके इतिहासमे हर चीज अब इस ओर इगित करती लगती है कि गम्भीर रूपके प्रत्यावर्तन होते रहे हैं, प्रगतिके युग आये हैं, पीछे हटनेके युग आये हैं, इन सबसे मिलकर क्रम-विकासका निर्माण होता है जो एक ही सीधी रेखामे न होकर बल्कि चक्रीय होता है। मानव-सभ्यताके चक्रोका मत प्रतिपादित किया गया है, हम अब भी मानव-क्रमविकासके चक्रो, हिन्दू मतके कल्पो तथा मन्वन्तरोके सिद्धान्तपर पहुँच सकते हैं। उसका जगत्-अस्तित्वके चक्रोका मत यदि मान्य होनेसे और भी दूर है तो इसका कारण यह है कि उनकी अवधियाँ इतनी विस्तृत होगी कि वे चक्र केवल हमारे अवलोकन-साधनसे ही परे नही,

वरन् हमारे निगमन या निश्चित अनुमानके सारे साधनोसे परे होगे।

एक धीमे, अटूट और ब्यौरेवार श्रेणीक्रमके स्थानपर अब यह प्रस्तावित किया जा रहा है कि क्रमविकासके नये डग बल्कि द्रुत और आकस्मिक प्रस्फोटनो द्वारा, मानो अव्यक्तमेसे अभिव्यक्तिके फूट निकलने द्वारा भरे गए हैं। क्या हम कहेगे कि प्रकृति पर्देके पीछेसे धीमे-धीमे तैयारी करती हुई, कुछ पीछेकी ओर कार्य करती हुई, कुछ आगेकी ओर करती हुई, एक दिन बाह्य वस्तुओके ऐसे सम्मिलनपर पहुँचती है जो उसके लिए यह सम्भव करता है कि वह अपने नये भावको आकस्मिक रूपसे, उग्रतासे, एक भव्य डग भरकर, एक महिम अरुणोदयको लाकर ससिद्ध रूप देदे? और इससे प्रकृतिकी बार-बारके पतनकी, लम्बे समयमे मृत वस्तुओको पुन प्रगट करनेकी क्रिया-रीतिकी व्याख्या भी हो जाती है। वह एक अमुक तात्कालिक परिणामका लक्ष्य रखती है और वहाँतक अधिक शीघ्रतामे और पूरी तरह पहुँचनेके लिये वह अपनी अभि-व्यक्तियोमेसे बहुतोका बलिदान करती है और उन्हे प्रच्छन्नमे, अव्यक्तमे, अवचेतनमे वापस फेक देती है। परन्तु उसने उनके साथ अन्तिम रूपसे नही बरत लिया है, उसे किसी अन्य भूमिकामे किसी आगेके परिणामके लिए उनकी आवश्यकता होगी। अतएव वह उन्हें फिर आगे लाती है और वे चीजे नए रूपोमे और अन्य सम्मिलनोमे पुन प्रकट होती और नये लक्ष्योकी ओर कार्य करती हैं। क्रमविकास ऐसे ही आगे बढता है।

और प्रकृतिका भौतिक साधन? वह केवल जीवनके लिए सघर्ष ही नही है। बल्कि वास्तविक विधान, अब यह कहा जाता है, पारस्परिक सहायता या, कमसे कम, पारस्परिक समायोजन है। यह सच है कि सघर्ष होता है, पारस्परिक विनाश भी होता है, किन्तु एक गौण गतिधारा, एक लाल चिह्नित अप्रधान तत्रीके रूपमे, और उसमे तीक्ष्णता केवल तब आती है जब पारस्परिक समायोजनकी गतिधारा विफल हो जाती है और एक नये प्रयत्न, एक नये सम्मिलनके लिये पर्याप्त स्थान बनाना होता है।

अर्जित विशिष्टताएँ आनुवशिकता द्वारा सचारित होती हैं, यह स्थापना अतीव उतावली और पूरेपनके भावसे की गयी थी, अब वह शायद अति सक्षिप्त रूपमे वर्जित किए जानेके सकटमे है। केवल जडतत्त्व ही नही, वरन् जडपर कार्य करते प्राण और मन भी क्रमविकासके निर्धारणमे सहायता करते है। आनुवशिकता आन्तरात्मिक पुनरुत्पत्तिकी, नये रूपोमे प्राण एव मनके पुनर्जन्मकी भौतिक छाया मात्र है। सतत तत्त्व अथवा आधारके रूपमे, साधारणतया पुनरुत्पत्ति उसकी होती है जो विकसित हो चुका था, नई विशिष्टताएँ जातिमे सचरित हो इसके लिये आवश्यक है कि प्राणलोक और मनोलोकमे उन्हे स्वीकार किया गया हो, ग्रहण किया गया हो, अनुमोदन दिया

गया हो, केवल तभी वे भौतिक बीजमे स्वचलित रूपसे स्वत पुनरुत्पन्न हो सकती है। अन्यथा वे निजी और व्यक्तिगत अर्जन होती हैं, राजकोषमे, अवचेतनके कोषमे वापस कर दी जाती हैं और परिवारकी सम्पत्तिमे नही जुडती। जब मनोलोक और प्राण-लोक तैयार होते हैं, ये चीजे योग्य पात्रोपर मुक्त रूपसे उँडेली जाती हैं। यही कारण है कि विरासतमे प्रमुखत पूर्वप्रवणता ही मिलती है। पहले भौतिक तत्त्वमे स्थित चैत्यिक और प्राणिक शक्ति इसकी छाप पाती है, जब ऐसा पर्याप्त पैमानेपर हो चुकता है तब वह एक सर्वसामान्य नवप्रस्थानके लिये प्रस्तुत होती है और एक परिवर्तित आनुवशिकता प्रकट होती है।

इस प्रकार विकासक्रमका सारा दृश्य बदलने लगता है। अनिदिष्ट जडतत्त्वमे-मे प्रकृति-शक्ति द्वारा यान्त्रिक, क्रमिक और अनम्य विकासक्रमके स्थानपर हम अतिचेतन ज्ञान द्वारा होते एक चेतन, नमनीय, लचीले, तीव्र-विस्मयकारी और सतत-नाटकीय विकासक्रमके बोधकी ओर बढते हैं जो वस्तुओको जड, प्राण तथा मनमे अगाध निश्चेतनमेसे प्रकट करता है जिसमेंसे उनका उदय होता है।

"आर्य," अगस्त 1915

क्रमविकास (2)

आत्माके दृश्य और अदृश्य उपकरणोका क्रमिक विकास ही पार्थिव प्रकृतिका समूचा विधान है, वही पार्थिव प्रकृतिकी सत्ता और प्रक्रियाके अन्य सारे मूल्योका अतर्निहित मूलभूत सारतत्त्व भी है और उन्हे उनका सच्चा अर्थ देता है।

आत्माने अपने-आपको अचेतन जडतत्त्वमे छिपा रखा है। वह अपने लिये सर्वप्रथम, और ऐसा लगता है कि यही उसकी एकमात्र धुन है, भौतिक शक्तियोकी क्रियासे जडतत्त्वके आकारोको विकसित करता है। जब यह कार्य पर्याप्त मात्रामे हो चुकता है, केवल तभी वह प्राणमय जीवनकी बात सोचता है।

और, फिर भी, जडतत्त्वमे और उसकी शक्तियोमे अवचेतन प्राण तथा उसकी अवरुद्ध शक्तियाँ बराबर ही मौजूद थी और जडतत्त्वके उन रूपोमे भी वे विद्यमान है जो ऊपरसे अत्यत निर्जीव प्रतीत होते हैं।

तत्पश्चात् आरम्भ हुआ मुक्त मन शक्तियोकी क्रिया द्वारा अनेक रूपोमे मनका विकास। जडतत्त्वमे निहित उन प्राणशक्तियोमे और स्वय जडतत्त्वमे भी मन प्रसुप्त था। मुक्त मन शक्तियोकी क्रिया द्वारा जीवत आकारमे मनका विकास ही इस कहानी-का तीसरा अध्याय था। यह तीसरा अध्याय अभी पूरा नही हुआ है, और वह कथाका अत भी नही होगा।

*
* * *

पार्थिव प्रकृतिका क्रमविकास समाप्त नही हुआ है क्योकि उसने अभिव्यक्त प्रकृतिमे निहित चेतनाके सात स्तरोमेसे केवल तीनकी शक्तियोको ही प्रकट किया है। उसने अपनी प्रतीयमान निश्चेतनामेसे केवल मन, प्राण और जडतत्त्वकी तीन शक्तियोको ही व्यक्त किया है।

जडतत्त्वमे स्थित प्राणमेसे मन प्रकट होता है, वह सीधे भौतिक आकारमे प्रकट होनेमे असमर्थ है। वह उसमे विद्यमान अवश्य है किन्तु वहाँ निश्चेतना और जडताकी एक मौलिक शक्तिकी निद्रावस्थामे यात्रिक ढगसे कार्य करता है। जड-

तत्त्वकी निश्चेतनासे हमारा मतलब बस यही होता है, इससे अधिक कुछ भी नही, कारण, यद्यपि चेतना वहाँ होती है किन्तु वह होती है सवृत, निर्जीव, अपनी क्रियामे यान्त्रिक, और वह शक्तिकी क्रियाओको अपनी आन्तरिक उपस्थितिसे सहारा देती है, अपनी सक्रिय बुद्धिकी ज्योति द्वारा नही। यही कारण है कि जड प्रकृति अत्यत ऊँची और आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ताके कार्य तो करती है किन्तु फिर भी वहाँ किसी अत स्थ द्रष्टा या विचारकका हस्तक्षेप दृष्टिगोचर नही होता।

आकाश और भौतिक देश एक ही चीजके भिन्न-भिन्न नाम हैं। देश, यदि अपने विश्वगत स्वरूपमे नही तो अन्तत अपने मूलमे, चेतनाके सत्तत्त्वका एक ऐसा विस्तार है जिसमे ऊर्जा सत्ताके साथ सत्ताके या शक्तिके साथ शक्तिके सबधोके लिये और ऐसे प्रतीकात्मक आकारोके निर्माणके लिये गतिशील हो सकती है जो इस आदान-प्रदानके आधार बन सके। आकाश वह देश है जो भौतिक शक्तिके कार्यो और उसके द्वारा सृष्ट प्रतीकात्मक आकारोको धारण करता है, विरोधभासमयी किन्तु उपयुक्त उक्तिमे कहा जा सकता है कि आकाश अभौतिक या सार भौतिक वस्तु है।

(1)

क्रमविकास पृथ्वी-प्रकृतिका अद्वितीय और शाश्वत सक्रिय नियम और उसकी गुप्त प्रक्रिया है।

जडतत्त्वके माध्यममे आत्माके उपकरणोका क्रमिक विकास ही पार्थिव सत्ताके मूल्योका सारा मूलभूत तात्पर्य है। पार्थिव अस्तित्वके अन्य सारे नियम-विधान उसकी क्रिया और प्रक्रियाके मूल्य हैं, यह आध्यात्मिक क्रमविकास ही उसका अपना व्यापक निगूढ अर्थ है।

पृथ्वीका इतिहास सबसे पहले जड शक्तियोकी क्रियाके फलस्वरूप सुसगठित आकारोका विकास है।

इस प्रारभिक अवस्थाके बाद आता है आकारके भीतर प्राणका विकास और विमुक्त प्राण-शक्तियोकी क्रियाके फलस्वरूप जीवत आकारोके एक क्रम-सोपानकी रचना। उसके बादका चरण है जीवत शरीरोमे मनका विकास और विकसित होती मन शक्तियोकी प्रक्रिया द्वारा अधिकाधिक चेतन जीवनोका सगठन। पर यही अत नही है, कारण, मनके परे भी चेतनाकी उच्चतर शक्तियाँ हैं जो अपनी पारीकी प्रतिक्षा कर रही हैं और इस महान् लीलामे उनका अपना भाग होगा ही, इस सृजनात्मक लीलामे उनका हिस्सा होगा ही।

जडतत्त्व इस सारे क्रमविकास माध्यम है और वह ऊपरसे देखनेमे निश्चेतन और निष्प्राण है, परन्तु वह हमे ऐसा केवल इस कारणसे लगता है कि हम अपनी

पहुँचके अन्दर आनेवाले एक विशिष्ट सीमित क्षेत्र, एक सुनिश्चित पैमाने या स्वरग्रामके बाहरकी चेतनाका बोध पानेमे असमर्थ होते हैं। हमारे नीचे निम्नतर प्रदेश हैं जिनका बोध हमे नही होता और इन्हे हम अवचेतन या निश्चेतन कहते हैं। हमारे ऊपर हैं उच्चतर क्षेत्र जो हमारी निम्नतर प्रकृतिके लिये अग्राह्य, अतिचेतन हैं।

जडतत्त्वकी कठिनाई सपूर्ण निश्चेतना नही, बल्कि तमसाच्छन्न चेतना है जो उसकी अपनी ही क्रियाओमे सीमित है,—वह अस्पष्ट रूपमे, मूल रूपमे, अधतासे आत्म-अभिज्ञ है, अपने स्व-आकार और स्व-शक्तियोसे बाहरकी किसी भी चीजके प्रति वास्तवमे सवेदनशील नही है। उसकी बुरीसे बुरी अवस्थामे भी हम उसे जितना निर्ज्ञानकी स्थिति कह सकते हैं उतना निश्चेतनाकी नही। इस निर्ज्ञानत्वके भीतर एक महत्तर और फिर उससे भी महत्तर चेतनाका जागरण ही जडतत्त्वके विश्वका चमत्कार है।

जडतत्त्वकी यह निर्ज्ञानावस्था एक अवगुठित, सवृत या निद्राचारिणी चेतना है जिसके भीतर आत्माकी सारी शक्तियाँ बीजरूपमे विद्यमान हैं। जडतत्त्वके प्रत्येक कण, अणु-परमाणु, कोषके भीतर शाश्वत ब्रह्मकी सारी सर्वज्ञता और अनत ब्रह्मकी सारी सर्वशक्तिमत्ता गुप्त रूपमे रहती और अज्ञात रूपमे कार्य करती है।

आकारो और शक्तियोका क्रमविकास, जिसके द्वारा जडतत्त्व तबतक अधिकाधिक सचेतन होता जायगा जबतक कि वह आकार प्राण और मनके परे जाकर, दिव्य सवित्-के द्वारा, शाश्वत और अनत आत्माको उसके उच्चतम स्वलोकमे नही जान ले, यही पार्थिव अस्तित्वका तात्पर्य है। जडतत्त्वमे ईश्वरका मथर स्वाभिव्यक्तिशील जन्म ही पार्थिव लीलाका अभिप्राय है।

जडतत्त्व एक साथ ही शक्ति है और द्रव्य भी। जडतत्त्व परमाणविक विभाजन-मे मूर्त्त मूल सत्ता अथवा ब्रह्म है। जडतत्त्व आत्म-विस्मृततिपूर्ण निर्ज्ञानतामे अध्यात्म-तत्त्वकी शक्तियोकी अधकारपूर्ण सवृत स्थितिमे क्रियाशील की गई मूल द्रव्य शक्ति ब्रह्मशक्ति है। जड-शक्ति जड द्रव्यको, भौतिक शक्ति भौतिक ब्रह्मको ऐसे ऐसे आकार मे ढालती है जो उसकी अपनी ही अत्यन्त विशिष्ट शक्तियोको अभिव्यक्त करनेवाला होता है। जब यह कार्य पूरा हो जाता है तब भौतिक जगत् जडद्रव्यकी शक्तिचालित तामसिकताके अन्दर सचेतन प्राणके वैभवपूर्ण आगमनके लिये तैयार हो जाता है।

जडतत्त्व एकमात्र शक्ति नही, एकमात्र द्रव्य भी नहीं। कारण, प्राण, मन और जो मनके परे है, वे भी शक्तियाँ हैं और द्रव्य भी, परन्तु हैं दूसरे प्रकार और दूसरी श्रेणी-के। अध्यात्मतत्त्व ही मूल शक्ति-द्रव्य है, ये दूसरे सबके सब अध्यात्म-तत्त्वकी शक्तिके ही विभिन्न प्रकार और व्युत्पत्तियाँ हैं, अध्यात्मतत्त्वकी विभिन्न मात्राएँ और परिवर्तित

रूप हैं। जडतत्त्व भी अध्यात्मतत्त्वकी ही शक्ति और मात्राके अलावा और कुछ नही। जडतत्त्व भी ब्रह्मका द्रव्य है।

जिस जडतत्त्वको हम देखते और अनुभव करते हैं वह केवल अत्यत बाह्य कोष और आवेष्टन है, उसके पीछे भौतिक द्रव्यकी अन्य सूक्ष्मतर श्रेणियाँ हैं जो आणविक निर्झानत्वसे कम घनीभूत हैं और जिनमे प्राण, मन और अन्य शक्तियोके लिये प्रवेश करना और कार्य करना अधिक आसान है। यदि इस स्थूल दृश्यमान् भौतिक जगत्-को सहारा देने वाले सूक्ष्मतर अदृश्य भौतिक स्तर या परते न हो तो यह जगत् रह ही नही सकता, क्योकि तब अध्यात्मतत्त्व और जडतत्त्वके बीच होनेवाले आदानप्रदानकी बारीक क्रियाएँ बिलकुल नही चल सकती थी जब कि इन क्रियाओके कारण ही स्थूलतर दृश्यमान् क्रियाओका होना सभव होता है। तब क्रमविकास असभव हो जाता, प्राण, मन और मनसे आगेके तत्त्व भौतिक जगत्मे प्रकट होनेमे असमर्थ होते।

सत्ताका एकमात्र यह भौतिक लोक ही नही है जिसे कि हम देखते हैं, बल्कि एक भौतिक प्राणलोक भी है जो प्रकृतिकी भौतिक क्रियाका अपना है। फिर एक भौतिक मनोलोक है जो प्रकृतिकी मनोमयी भौतिक क्रियाका अपना है। फिर एक भौतिक अतिमानसलोक भी है जो प्रकृतिकी अतिमानसिक भौतिक क्रियाका अपना है। इनके अतिरिक्त भौतिक अध्यात्मशक्ति या अनत भौतिक सत्-चित्शक्ति-आनन्दका भी एक लोक है जो प्रकृतिकी आध्यात्मिक-भौतिक क्रियाओका अपना है। जब हम प्रकृतिके तथा अपनी भौतिक सत्ताके इन सारे लोकोको ढूंढ निकालेगे और उन्हे एक-दूसरेसे अलग कर सकेगे और लीलामे उनका जो कुछ योगदान है उसके समन्वित रूपका विश्लेषण कर सकेगे, केवल तभी हम इस बातका पता पा सकेगे कि निश्चेतन जडतत्त्वमे प्राणमयी, मनोमयी और अध्यात्ममयी चेतनाका क्रमविकास किस तरह सभव हो सका।

पर इससे भी अधिक कुछ और है, भौतिक सत्ताकी इन अनेक परतोके परे दूसरी अतिभौतिक कोटियाँ है, प्राणके बहुतसे स्तर, मनके अनेक स्तर, अतिमानस, आनन्द, चित्शक्ति और असीम सत्ताके लोक हैं जिनपर भौतिक सत्ता अपनी उत्पत्ति और निर्वाहके लिये निर्भर करती है। ये उच्चतर लोक ही उन अदृश्य ऊर्जाओको निरतर प्रकट करते रहते हैं जिन्होने भौतिक सत्ताके क्रमविकासको उस अधकारसे जहाँ यह विकास शुरू हुआ था, चेतनाकी उस ज्योतिकी जगमगाहटकी ओर ऊपर उठाया है जिसके सामने उच्चतम मानव-मन बस एक वैसा ही क्षीण प्रकाश मालूम होगा जैसा कि पूर्ण जाज्वल्यमान सूर्यके सामने जुगनूका प्रकाश मालूम होता है।

अधतम जडतत्त्व और अत्यत ज्योतिर्मय ब्रह्मके बीच चेतनाके स्तरोका यही

विपुल क्रमसोपान है। जडतत्त्वमे विद्यमान चेतनाको इस क्रमके विल्कुल अतिम सिरेपर चढ जाना होगा और वह उच्चतम शिखर हमे जो कुछ देना चाहता है उस सवको लेकर उसे वापस आना होगा, तभी यह क्रमविकास अपने उद्देश्यको पूर्णरूपेण चरितार्थ कर सकेगा।

जड, प्राण, अतिमानस या विज्ञान, और इन सवके परे परम सत्-चित-शक्ति-आनन्दकी चतुर्विध शक्ति,—ये ही हैं निश्चेतनासे अतिचेतनामे होनेवाले क्रमविकासके आरोहणकी सीढियाँ।

पृथ्वीमे प्राण सरासर कही वाहरसे नही आता, उसका मूल तत्त्व भौतिक वस्तुओ-मे वरावर ही विद्यमान रहता है। परन्तु जडतत्त्वकी आपातदृश्य निष्प्राण तामसिकता-मे वदी रहनेके कारण वह उनकी क्रियाओसे सीमित होता और अपना स्वतत्र या प्रभावी अस्तित्व अभिव्यक्त करनेमे असमर्थ होता है।

प्राण मिट्टीमे, पत्थर, धातु और हवामे, अणुपरमाणु और विद्युतकणमे, भौतिक शक्ति और आकारके उपादान होनेवाले अन्य अधिक सूक्ष्म और अभी तक अज्ञात रहती शक्तियो और कणोमे विद्यमान है, वह प्रत्येक वस्तुमे विद्यमान है, पर आरभमे उसकी उपस्थितिका पता मुश्किलसे ही चलता है, उसका सगठन वस भौतिक शक्तियो, प्रक्रियाओ, रचनाओ और रूपान्तरोको गुप्त रूपसे सहारा देनेके लिये हुआ होता है, वह जड पदार्थके आकारको तैयार करने और प्रकट करनेके लिये, न कि प्राणकी अभि-व्यक्तिके लिये, सवृत शक्तिके रूपमे वहाँ विद्यमान रहता है। उसका अपने-आपपर अधिकार नही होता, वह आकारके अन्दर आत्मचेतन नही होता, स्वाभिव्यक्तिकी ओर प्रेरित नही होता, स्वतत्र कार्यकर्त्ता नही अपितु नि सहाय औजार और यत्र होनेके कारण वह जड-तत्त्वका सेवक और आकारका दास होता है, गृहस्वामी नही।

परन्तु इस भौतिक जगत्के ऊपर एक प्राणप्रधान लोक है जो इस भौतिक जगत्-पर दवाव डालता है और अपने प्ररूपो, सामर्थ्यो, शक्तियो और प्रेरणाओमेसे जिन्हे ढालना सम्भव होता है उन सवको इस स्थूल जगत्मे ढालता है, सर्जनशील देवोकी अभिव्यक्ति करता है। जव भौतिक जगत्मे आकार तैयार हो जाता है तव इस उच्चतर लोकके देवता और जीवन-दानव जडतत्त्वको अपना सृजनात्मक स्पर्श देनेके लिये आकर्पित होते हैं। तव आता है प्राणके द्रुत गतिसे और एकाएक खिल उठनेका समय और पेड-पौधे, कीटाणु, कीडे-मकोडे और पशु प्रकट होते हैं। एक समय जो जड और निष्प्राण द्रव्य प्रतीत होता था उसीके अन्दर प्राकट्य होता है प्राणात्मा, प्राणशक्ति और प्राणशक्तिकी अनेक तथा निरन्तर अधिक जटिल होती जाती क्रियाओका। प्राणात्मा, प्राण-मन और पशु-अस्तित्वकी उत्पत्ति होती है और उनका विकास होता

है, एक नया जगत् प्रकट होता है जो जडतत्त्वके इस जगत्मे पैदा होता और इसीमे समाया रहता है और फिर भी अपने सच्चे सक्रिय स्वभावमे इसका अतिक्रमण करता है।

(2)

इस दृश्यमान् और व्यक्त जगत्का रहस्य है निश्चेतन जडतत्त्वमे अतिचेतन आत्माकी सवृति और इस पृथ्वीकी पहेलीकी कुंजी है निश्चेतन प्रकृतिके भीतरसे इस अतिचेतनका क्रमविकास। पार्थिव जीवन एक महान् ईश्वरका स्वय-निर्वाचित निवास-स्थान है और उन ईश्वरकी युग-युगकी इच्छा है इसे अध कारागारमे अपने भव्य प्रासाद और उच्च स्वर्ग-स्पर्शी मदिरमे रूपातरित करनेकी।

इस जगत्मे स्थित परमात्माका स्वरूप है एक अक्षर स्थिरता, एक शाश्वत अस्तित्व जो बाहरी क्षर रूपोको ओढ लेता है, एक असीम चेतनाकी अविभाज्य ज्योति जो अनन्तविध ब्योरो और टटोलते ज्ञानमे खडित हो जाती है, एक सर्वशक्तिमान् शक्तिकी असीम्य गतिविधि जो स्वय-आरोपित सीमाओमे अपने आश्चर्योको कार्यान्वित करती है, एक अपरिमेय आनन्दकी शाति और आह्लाद जो अपने ही सर्वग्राही और आत्मग्राही उल्लासके बहिर्मुख और अतर्मुख तीव्र भावोके हिल्लोरो और लय-तालोको उत्पन्न करता है। यही हमारे चतुर्विध अनुभवका भी स्वरूप तब होगा जब वह हमारे अन्दर अपने शुद्ध, अनावृत स्वरूपमे कार्य करेगा, और यदि आरम्भसे ही वह अभिव्यक्ति इस प्रकार हो गई होती तो फिर पार्थिव जीवनकी कोई समस्या ही नही रही होती।

परन्तु यहाँ जो यह नारायण हैं, हमारे भीतर या हमसे बाहर सारी वस्तुओ, शक्तियो और प्राणियोमे विद्यमान, यह नारायण रवाना हुए निश्चेतन प्रकृतिमे सवृति-से और उन्होने आरम्भ किया अपने प्रतीयमान विरोधी तत्त्वोसे। असत्, विच्छिन्नता और शून्यतामे एक अधी निश्चेतन शक्तिका प्राकट्य, उस शक्तिकी सृष्टियोमे कठोर श्रम, दु ख-कष्ट और वेदनाका तत्त्व इन्ही विरोधी तत्त्वोमेसे अपने पराक्रम, प्रकाश, आनत्य और आनन्दको क्रमश विकसित करनेका कार्य जडतत्त्वमे विराजमान अध्यात्म-सत्ताने चुना है।

(3)

कोई भी क्रमविकास होनेसे पहले भगवान्की सवृतिका हुआ होना अति आवश्यक है। नही तो कोई क्रमविकास नही होगा, बल्कि ऐसी नयी-नयी चीजोकी क्रमवर्तिनी सृष्टि होगी जो अपनी पूर्ववर्तिनी वस्तुओमे विद्यमान नही होगी, न उनके किसी धारा-क्रममे होनेवाले अनिवार्य परिणाम या प्रक्रियाएँ होगी, बल्कि किसी अव्याख्येय दैव-योग, किसी ठोकर खाती शुभ शक्ति या किसी बाहरी स्रष्टाकी मनमाने ढगसे इच्छित या अद्भुत ढगसे कल्पित चीजे होगी। इस सबको बदलना है।

पार्थिव रूपायण और सृजनकी दीर्घ प्रक्रिया, प्राणका अस्पष्ट चमत्कार, एक प्रतीयमान विशाल अज्ञानके भीतर प्रकट और वर्द्धित होने और वहाँ व्याख्याता, स्रष्टा और स्वामीके रूपमे राज्य करनेके लिये मनका सघर्ष, एक ऐसी महत्तर वस्तुके सकेत जो मनके ससीम चमत्कारको पार कर आत्माकी असीम अद्‌भुतताओमे चली जाती है— ये दैवयोगके अर्थहीन और आकस्मिक क्षण - स्थायी परिणाम नही, ये किसी अधी जडशक्तिकी सौभाग्य-लीला भी नही। ये बाते केवल किसी ऐसी शाश्वत और दिव्य वस्तुके कारण ही हैं और हो सकती हैं जो जडतत्त्वकी शक्ति और रूपके अन्दर छिप गई है।

पार्थिव क्रमविकासका गुप्त रहस्य है इस अतर्हित और अतर्वर्ती आत्माकी मथर और प्रगतिशील मुक्ति, किसी ऐसी वस्तु या ऐसे व्यक्तिका दुष्कर आविर्भाव जो आधार-दायी द्रव्यकी पहली साकार नीवमे सवृत होकर विद्यमान है और जिमकी क्रमश उन्मज्जित होनेवाली महत्तर गतियाँ जडतत्त्वकी प्राथमिक अभिव्यजना – शक्तिके भीतर बदी हैं।

चिंतनशील और विज्ञासु मनुष्य यहाँ हो नही सकता था यदि वह किसी ऐसे सर्वचेतन अनतका मूर्तिमान अश न होता जो उससे ऊपर अतिचेतन है परन्तु जड विश्वकी निश्चेतनामे भी छिपा पडा है।

जडतत्त्व क्रमविकासका दृश्यमान् प्रारभ तो है किन्तु उसका अत नही। आकार-का विकास क्रमविकासकी प्रक्रियाका सबसे महत्त्वपूर्ण या मवसे अर्थपूर्ण अग नही, वह उस चीजका चिह्न तो है जो की जा रही है पर वह उसका सारतत्त्व नही। भौतिक आकार अध्यात्मा-सत्ताकी प्रगतिशील अभिव्यक्तिका आधार और साधन मात्र है।

यदि सव कुछ सयोग हो या निश्चेतन अथवा परिणामहीन शक्तिका खेल, तो फिर कोई कारण नही कि अपनी सारी अपूर्णताओसे युक्त मनुष्य अचेतन बुद्धिकी इस करामातका या इस बेतरतीब चमत्कारका अतिम शब्द क्यो न हो। चूँकि दिव्यात्मा यहाँ अपनी अभिव्यक्तिमे विद्यमान हैं, अत सृष्टिस्पद का अर्थ यह है कि जडतत्त्वसे रवाना होनेवाली इस क्रमधारामे एक नयी शक्ति अवश्य प्रकट होगी।

यदि किसी अपूर्व उपयोगिता और चरम गभीर और प्रेरक तात्पर्यके प्रथम चिह्नके रूपमे प्राणतत्त्व प्रकट नही हुआ होता तो भौतिक जगत् अद्‌भुत मरुभूमिका उजाड विस्तार ही होता। परन्तु यदि प्राणमे चेतनाकी व्याख्या करनेवाली या, कमसे कम, खोज करनेवाली कोई ऐसी शक्ति नही छिपी होती जो प्राणकी शक्तियो और विधाको अधिकृत करने और उन्हे उनके अपने ससिद्ध परिणामकी ओर ले जानेके लिये उनकी ओर मुड सकती है, तो अकेला प्राण भी ऐसी गतिधारा होता जिसका उसके

उद्देश्यपूर्ण प्रारभके साथ कोई सिलसिला नही होता अथवा जिसमे उसके अपने रहस्य-को प्रकट करनेके लिये प्रकाश नही होता।

चूँकि यह अनत आत्मा और शाश्वत देवत्व यहाँ जड प्रकृतिकी क्रियामे प्रच्छन्न है, इसलिये मनसे परेकी शक्तिका विकास केवल सभव ही नही, अनिवार्य है। यदि सब कुछ वैश्व दैवयोगका परिणाम होता तो उस शक्तिका आविर्भाव वैसे ही आवश्यक न होता जैसे कि जडतत्त्वके यान्त्रिक भँवरमे लडखडानेवाली और प्रयास करनेवाली प्राणचेतनाको किसी भी आकुलकारी आविर्भावकी आवश्यकता नही होती। और यदि सब कुछ यान्त्रिक शक्तिका कार्य होता तब भी प्रकृतिके स्थूलतर प्रथम यन्त्रके साथ व्यवहार करनेका प्रयास करनेवाले उच्चतर यन्त्रके रूपमे मनके भी अप्रत्याशित रूपमे प्रकट होनेकी आवश्यकता नही होती और अतिमानस तो एक और भी अधिक अनावश्यक वस्तु और दीप्त औद्धत्य होता। अथवा, यदि कोई ससीम, प्रयोगकर्त्ता और बाहरी स्रष्टा इस विश्वका आविष्कारक होता तो फिर कोई कारण न होता कि वह मनतक आकर ही अपने प्रयासकी निपुणतासे सतुष्ट होकर रुक न जाय। किन्तु चूँकि भगवान् यहाँ सवृत हैं और उन्मज्जित हो रहे है,अत यह अनिवार्य है कि उनकी सारी शक्तियाँ या उनकी शक्तिकी सारी कोटियाँ एक-एक करके तबतक प्रकट होती जायँ जबतक कि उनका सारा गौरव मूर्तिमान् और दृष्टिगोचर न हो जाय।

क्रमविकासकी प्रक्रिया

क्रमविकासके किसी भी पर्वके अन्तमे सामान्यत यह होता है कि जिन जिन चीजोको विकासके क्षेत्रसे बाहर निकल जाना है वे सब एकबार फिर प्रबलतासे प्रकट होती हैं। यह प्रकृतिका नियम है कि मानवतामे विद्यमान किसी प्रबल प्रवृत्ति या गहरे जमे सस्कारसे छुटकारा पानेके लिये, वह प्रवृत्ति और सस्कार चाहे समष्टिमे हो या व्यष्टिमे, पहले उसे भोगसे थकाना होता है और, अन्तमे जब वह दुर्बल हो जाय तो, सयम अर्थात् निराकरण या सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा उससे छुटकारा पाना होता है। निग्रह और सयममे भेद यह है कि पहली प्रक्रियामे उस प्रवृत्तिकी सत्यताकी कोई बात तक नही पूछी जाती, उसे दबा देने, बलात् नियन्त्रित करने और, यदि सम्भव हो तो, कुचल देनेके लिये उग्र सघर्ष किया जाता है, परन्तु दूसरी प्रक्रियामे उसे मर चुकी या मर रही शक्तिके रूपमे अनुभव किया जाता है, उसके यदाकदा लौट आनेको पहले घृणासे, फिर अधीरतासे देखा जाता है, अन्तमे, उसे उदासीनतासे उस कभी सार्थक रहनेवाली परन्तु अब महत्त्वशून्य हो गई प्रवृत्तिकी प्रेतछाया, अवशेष या हल्की गूँजकी नाई देखा जाता है। इस प्रकारका लौट आना उस अवाछनीय और लुप्त हो रही राशिमे छुटकारा पानेके लिये प्रकृतिकी पद्धतिका अग है।

जब तक कोई शक्ति गुण या प्रवृत्ति अपने शैशवमे हो या जोर पर हो, और जब तक उसे उस भोग और पूरी सक्रियताकी प्राप्ति न हो चुकी हो जो उसका उचित ग्राह्य भाग है, तब तक सयम असामयिक और निष्फल होगा। यदि कोई वस्तु उत्पन्न हुई है तो उसकी जवानी, वृद्धि, भोग, जीवन और अन्तिम क्षीणता तथा मृत्यु अवश्य होगी, यदि प्रकृति अपनी सृष्टिको कोई सवेग देती है तो वह आग्रह करती है कि वह वेग समाप्त होनेसे पहले प्राकृतिक परिक्लान्तिकी विधिसे अपने-आपको खर्च करे। वृद्धि या वेगको असमय बलपूर्वक रोक देना निग्रह है, यह कुछ समयके लिये सफल हो सकता है किन्तु सदाके लिये नही। गीतामे कहा है कि सब वस्तुएँ अपनी प्रकृतिसे शासित होती हैं, अपनी प्रकृतिमे ही लौट जाती हैं, निग्रह निरर्थक है। निग्रहसे होता यह है कि असमय बलप्रयोगसे मार दी गयी चीज वस्तुत मरती नही, बल्कि कुछ समयके लिये उस प्रकृतिमे पीछे लौट जाती है जिसने उसे आगे भेजा था, वहाँ अत्यधिक शक्ति सचित कर लेती है और जिस वैध भोगसे उसे वचित कर दिया गया था उसके लिये

क्षुधातुर होकर असाधारण उग्रता लेकर वापस आती है। जब हम योगके मार्गपर पहले-पहल पग रखते हैं तो अपने बुरे सस्कारोसे छुटकारा पानेके प्रयत्लोमे हमे यही बात मिलती है। यदि हमारी प्रकृतिमे क्रोध प्रवल तत्त्व है, तो हम उसे थोडे समयके लिये कोरे बल-प्रयोगसे दवा सकते हैं और इसे आत्मनियत्रण तो कह सकते हैं , परन्तु अन्तमे अतृप्त प्रकृति हमे हरा देगी और उस आवेगका विकार आश्चर्यजनक शक्तिके साथ अप्रत्याशित क्षणमे हमपर लौट आयगा। केवल दो तरीके हैं जिनसे हम हमे दास वनानेकी चेष्टा करते विकारको प्रभावी रूपसे जीत सकते हैं। एक है प्रतिस्थापन-की रीति, जव कभी विकार उठे तव उसके वदले विरोधी गुणका स्थापन,—क्रोधके स्थानपर क्षमा, प्रेम या सहिष्णुताके विचारोको, लालसाके स्थानपर पवित्रताके मननको, अभिमानके स्थानपर नम्रता और अपने अवगुणो या अपनी नगण्यताके विचारोको ले आना। यह राजयोगकी विधि है परन्तु यह कठिन, धीमी और अनिश्चित विधि है, प्राचीन परम्पराएँ और योगका आधुनिक अनुभव दोनो ही यह दिखाते हैं कि जिन लोगोंने लम्वे वरसोतक उच्चतम आत्म-प्रभुता प्राप्त कर रखी थी वे उस चीजकी उग्रतापूर्ण वापसीसे सहसा आश्चर्यचकित रह गये जिसे उन्होने मृत या सदाके लिये वशवर्ती समझ लिया था। परन्तु यह प्रतिस्थापन-रीति यद्यपि धीमी है, तथापि वह प्रकृतिकी सर्वसामान्यतम विधियोमेसे है और अधिकतर इस उपायसे ही,— और इसे वहुधा अनजानमे या जान-अनजानमे प्रयुक्त किया जाता है,—मनुष्यका चरित्र जीवन-जीवनातरमे या एक ही जीवन-अवधिमे भी वदलता और विकसित होता है। यह विधि चीजोको उनके बीजतक नष्ट नही करती, और जिस वीजको योगसे जलाकर राख नही कर दिया जाता, वह फिर फूट निकलने और सपूर्ण तथा सवल वृक्षके रूपमे पनप उठनेमे सदा समर्थ रहता है। दूसरी रीति है विकार-का भोग करने देनेकी, ताकि उससे जल्दी छुटकारा हो जाय। जब वह अति भोगसे तृप्त और श्रान्त हो जाता है, तो वह दुर्वल और भुक्तशेष हो जाता है और उसके बाद एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो कुछ समयके लिये विरोधी शक्ति , प्रवृत्ति या गुणको स्थापित कर देती है। यदि योगी उस अवसरको निग्रहके लिये ले लेता है तो प्रत्येक उपयुक्त अवसरपर उस प्रकार दुहराया हुआ निग्रह इतना प्रभावी हो जाता है कि वह उस वृत्तिके बल और प्राणशक्तिको अतिम सयमके प्रयोगके लिये पर्याप्त मात्रामे न्यून कर देता है। भोग और प्रतिक्रियाकी यह रीति भी प्रकृतिकी प्रिय और सार्वभौम विधि है, परन्तु वह कभी भी अपने-आपमे सम्पूर्ण नही होती और यदि उसे चिरस्थायी शक्तियो और गुणोपर प्रयुक्त किया जाय तो इससे विरोधी प्रवृत्तियोके उतार-चढावके ऐसे क्रमकी स्थापनाकी सम्भावना होती है जो प्रकृतिकी क्रियाओके लिये अत्यधिक

उपयोगी, परन्तु आत्म-प्रभुताकी दृष्टिसे व्यर्थ और अनिर्णायक होता है। यह रीति तभी प्रभाविणी होती है जब कि इसके बाद सयमका प्रयोग किया जाय। योगी वृत्ति-को केवल प्रकृतिके खेलके रूपमे देखता है जिससे उसका कोई, सम्बन्ध नही, जिसका वह द्रष्टा मात्र है, क्रोध, काम या मद उसका नही, विश्वजननीका है जो अपने ही प्रयोजनोके लिये उसे क्रियमाण करती है और निष्क्रिय भी। तथापि, जब वृत्ति प्रबल, अधिकारशालिनी और अव्ययित होती है, तब इस मनोभावको सच्चे हृदयसे धारण नही किया जा सकता और इसे सच्चाईसे अनुभव किये बिना बौद्धिक तौरपर ही धारण करनेका प्रयत्न मिथ्याचार, मिथ्या अनुशासन या पाखड होता है, यह तो जब वृत्ति बारबारके भोग और निग्रहसे कुछ नि सत्त्व हो चुकती है, तभी पुरुषकी आज्ञाको मानती प्रकृति अपनी स्व-सृष्टिके साथ वस्तुत बर्ताव कर सकती है। वह उसके साथ पहले वैराग्य द्वारा, वैराग्यका घृणा-भावका जो सबसे अपरिष्कृत रूप है उसके द्वारा पेश आती है, परन्तु यह भाव इतना उग्र होता है कि वह स्थायी नही हो सकता, तो भी वह उस वृत्तिके मूल कारणसे छुटकारा पानेकी गहरी जमी इच्छाके रूपमे अपना एक सस्कार पीछे छोड जाता है जो विकारके प्रत्यागमन और अल्पकालिक राज्यके बाद भी जीवित बचा रहता है। तदनतर उसके प्रत्यागमनको अधीरतापूर्वक, किन्तु असहिष्णुताकी किसी तीव्र भावनाके बिना देखा जाता है। अन्तमे परम उदासीनता प्राप्त हो जाती है और प्रकृतिकी साधारण प्रक्रियासे प्रवृत्तिके अन्तिम निष्क्रमणका उस सयमीकी सच्ची भावनासे निरीक्षण किया जाता है जिसे यह ज्ञान रहता है कि वह साक्षी पुरुष है और उसे किसी व्यापारके समापनके लिये उससे केवल अपना विच्छेद कर लेना है। उच्चतम अवस्था मुक्तिकी ओर ले जाती है, या तो लयके रूपमे जब कि वृत्ति पूरी ही और सदाके लिये विलुप्त हो जाती है, या फिर एक अन्य प्रकारके स्वातत्र्यके रूपमे जब कि जीव जानता है कि यह ईश्वरकी लीला है और वह इस बातको ईश्वरपर छोड देता है कि ईश्वर वृत्तिको बाहर निकाल फेके या उसे अपने उद्देश्योके लिये व्यवहृत करे। यह कर्मयोगीका मनोभाव है, उस कर्मयोगीका जो अपने-आपको परमेश्वरके हाथोमे सौंप देता है और केवल उसीके लिये कर्म करता है, यह जानते हुए करता है कि उसमे ईश्वरकी ही शक्ति क्रियाशील है। आत्म-समर्पणके इस मनोभावका परिणाम यह होता है कि सर्वेश्वर सारा भार स्वय ले लेते हैं और गीताके वचनके अनुसार अपने सेवक और प्रेमीको सारे पाप और बुराईसे मुक्त कर देते हैं। इस अवस्थामे वृत्तियाँ पुरुषपर प्रभाव डाले बिना शारीरिक यत्रमे काम करती रहती है और केवल तब काम करती हैं जब कि ईश्वर उन्हे अपने प्रयोजनके लिये उभारते हैं। यह है निर्लिप्तता,

लीलाके अन्दर पूर्ण स्वतन्त्रताकी स्थिति।

समष्टिके लिये भी वही नियम है जो कि व्यष्टिके लिये। प्रेरित दृष्टिवाले चक्षुने यह देखा हे कि मानव-समाजमे क्रमविकासकी प्रक्रिया है मनुष्यमेसे हिंस्र जीव तथा वनमानुषकी प्रकृतिको निवृत्त करनेकी । कभी मनुष्य-जातिमे क्रूरता, काम-वासना, दुष्टतापूर्ण विनाश, उत्पीडन, मूर्खता, पाशविकता और अज्ञानकी शक्तियाँ उच्छृखल थी, उन्होने पूर्ण भोग प्राप्त किया, फिर धर्म और दर्शनकी उन्नतिके कारण, तृप्तिके कालोमे, जैसा कि यूरोपमे ईसाई-युगके प्रारम्भमे था, उनका स्थान कुछ तो दूसरी चीजोने लेना शुरू कर दिया और कुछ उन्हे नियत्रणमे लाया जाने लगा। जैसा ऐसी चीजोका नियम है, वे सदा ही न्यूनाधिक उग्रताके साथ फिर लौटती रही हैं और उन्होने अपने-आपको पुन प्रतिष्ठित करनेके लिये कम या अधिक सफलतासे चेष्टा की है। अन्तमे उन्नीसवी सदीमे कुछ समयतक ऐसा मालूम हुआ मानो उनमेसे कुछ शक्तियाँ, कमसे कम उस समयके लिये, नि सत्त्व हो चुकी हो और उनके सयमका तथा विकासमेसे क्रमश विसर्जित हो जानेका समय वास्तवमे आ पहुँचा हो। ऐसी आशाएँ सदा ही फिर फिर बँधा करती हैं और अन्तमे उन आशाओका चरितार्थ हो जाना भी सम्भव रहता है, परन्तु ऐसा होनेसे पहले उन वृत्तियोका एकवार फिर लौट आना अपरिहार्य होता है। भौतिक विज्ञान, प्रगति, सभ्यता और मानवहितवादके सुन्दर बाह्य रूपकी आडमे यूरोप और अमेरीकामे पशुत्वकी ओर लौटनेकी जो प्रवृत्ति बढ रही है उसमे हमे इस पुनरागमनके प्रचुर चिह्न मिलते हैं, और हमारे आनेवाले युगमे सम्भवत इसके और अधिक चिह्न मिलेगे। राजनीति और समाजमे भी ऐसा ही नियम लागू होता है। मानवजातिका राजनीतिक विकास कुछ विशेष दिशाओका अनु-सरण करता है जिनका एक बिल्कुल नया सूत्र फ्रासकी राजक्रातिके आदर्शवचन "स्वतत्रता, समानता और भ्रातृभाव" ने दिया है। परन्तु पुरानी दुनियाकी शक्तियाँ, स्वेच्छाचारी शासनकी शक्तियाँ, परम्परागत विशेषाधिकार और स्वार्थपूर्ण शोषणकी शक्तियाँ, भ्रातृभाव-विहीन सघर्ष और आवेशयुक्त आत्मस्वार्थी प्रतियोगिताकी शक्तियाँ, पृथ्वीके सिंहासनपर पुन प्रतिष्ठित होनेके लिये सदा सघर्ष कर रही हैं। एक दृढ प्रतिक्रियात्मक गतिधारा ससारके अनेक भागोमे स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है और ऐसा शायद उस इगलैडसे अधिक और कही नही हो रहा है जो कभी अपनेको प्रगति और स्वाधीनताका अगुआ समझता था। पुरानी वृत्तिकी ओर लौट जानेका प्रयत्न उन आवश्यक प्रत्यावर्तनोमेसे है जिनके बिना उस वृत्तिका इतनी पूरी तरहसे क्षय नही किया जा सकता कि वह विकासमेसे मिट जाय। किन्तु यह वृत्ति केवल पराजित की जाने और फिर कुचली जानेके लिये ही उठ रही है। दूसरी तरफ,

जनतत्रीय प्रवृत्तिकी शक्ति खर्च हो चुकी शक्ति नही, अपितु एक ऐमी शक्ति है जो अभी पूरी तरहमे प्रकट भी नही हुई है, वह कोई ऐमी शक्ति नही जो अपने भोगका अधिकाश पा चुकी हो, अपितु एक ऐसी शक्ति है जो अभी भी तेजसम्पन्न है, अतृप्त है, परिपूर्तिके लिये उत्कण्ठित है। भूतकालमे उसे दवा देनेके प्रत्येक प्रयामने आखिर-कार दवानेवाली शक्तिपर प्रतिघात किया और जनतत्रीय भावनाको नये सिरेसे भयानक क्षुवार्त्त और अतृप्त रूप दे दिया, उमके "स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव" के सौम्य आदर्गमे "अथवा मृत्यु" का भयानक जोड लगा दिया। स्वाधीनताका प्रेमी जो कि अराजकताकी स्वतन्त्रता चाहता है, समानताका प्रेमी जो कि माम्यवादकी मृतप्राय समस्वरता स्थापित करनेकी कोशिश करता है, भ्रातृ-भावका प्रेमी जो कि विश्वव्यापी कम्युनिज्मकी कल्पना करता है – इनमेसे किसीके भी चरम स्वप्नोको पूरा करनेकी सम्भावना जनतत्रीय भावनाके निकटवर्त्ती भविष्यमे नही है। परन्तु इस महान् आदर्शका कोई न कोई सामजस्यीकरण अवश्य ही मानव-जातिका निकटका भविष्य है। स्वेच्छाचारी शासन, असमानता और उद्दाम प्रति-योगिताकी पुरानी शक्तियोको जव एकवार फिर उखाड फेका जा चुकेगा तव उसके वाद उनपर क्रमिक सयमकी रीति वरती जायगी जिससे कि उसका जो भी अश वचा होगा उसे मृत वस्तुके मिटते अवशेषोकी तरह माना जायगा और किसीभावी उग्र दमनके विना धीमे-धीमे और स्थिरतासे अस्तित्वमेसे हटाकर रूपातरित कर दिया जायगा।

"कर्मयोगी" 18 9 1909

निश्चेतन

ज्ञानके किसी भी विषयको देखनेमे मनकी जो पहली या उपरितलीय दृष्टि होती है वह सदा ही भ्रमपूर्ण होती है, सारा विज्ञान, सारा सच्चा ज्ञान, सतहके पीछे जाने और आन्तरिक सत्य तथा निगूढ नियमका सन्धान पानेसे आता है। यह बात नही है कि स्वय वह वस्तु भ्रम हो अपितु यह है कि वह वैसी नही है जैसी वह सतहपर दीखती है। न ऐसा ही है कि हमे सतहपर दीखनेवाले क्रियाकलाप और व्यापार घटित नही होते, अपितु बात यह है कि वे हमारी देखनेवाली इन्द्रियोके सामने जिस रूपमे उपस्थित होते हैं केवल उन्हीके अध्ययनसे हमे उनकी सच्ची चालकशक्ति और सम्बन्धोका पता नही लग सकता।

भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमे यह बात काफी साफ है और सर्वत्र स्वीकृत है। पृथ्वी चिपटी नही, गोल है, स्थिर नही, अपितु द्विविध गतिमे अटल है, सूर्य घूमता है, किन्तु पृथ्वीके चारो ओर नही, हमे ज्योतिर्मय लगनेवाले पिण्ड अपने-आपमे अ-ज्योतिर्मय है, हमारे दैनिक अनुभवकी वस्तुओ, रग, ध्वनि, प्रकाश, वायु आदिका सच्चा स्वरूप उनके प्रतीयमान रूपसे बिल्कुल भिन्न है। हमारी इन्द्रियाँ हमे दूरी, आकार, आकृति और सम्बन्धके मिथ्या रूप दर्शाती हैं। जो पदार्थ उन्हे स्वयम्भू लगते हैं वे समुच्चय होते हैं और ऐसे सूक्ष्मतर घटकोसे निर्मित होते हैं जिन्हे हमारी सामान्य क्षमताएँ देख नही सकती। फिर, ये भौतिक घटक एक ऐसी शक्तिके रूपायण मात्र हैं जिसे हम भौतिक नही कह सकते और जिसकी साक्षी इंद्रियोको नही मिलती। तथापि, मन और इन्द्रियाँ भ्रमोके इस लोकमे तुष्ट तथा विश्वस्त रह सकते और उन्हे व्यावहारिक सत्यके रूपमे स्वीकार कर सकते हैं,—क्योकि अमुक दूरीतक वे ही व्यावहारिक सत्य हैं और एक आरम्भिक, साधारण तथा सीमित क्रियाशीलताके लिये पर्याप्त भी।

परन्तु अमुक दूरीतक ही, क्योकि एक विशालतर जीवन, एक अधिक प्रभुत्व-शालिनी क्रिया और एक महत्तर व्यावहारिकताकी सम्भावनाएँ है जिनकी ससिद्धि इन सतहोके पीछे जाने और पदार्थो तथा शक्तियोके एक अधिक सच्चे ज्ञानका उपयोग करनेसे ही हो सकती है। प्रकृतिकी गुप्त क्रियाओका आविष्कार एक सम्भाव्य आविष्कारकी ओर ले जाता है, यह सम्भावना होती है कि प्रकृतिकी शक्तियोका और भी आगेका वैसा उपयोग किया जाय जिसतक स्वय वह आगे नही बढी थी, क्योकि

रहित होकर प्रकृतिके अनुसार रहता है और निश्चेतनके हाथमें निष्क्रिय है। मन प्रवेश करता है क्रियाशीलताका क्षेत्र विस्तृत करनेके लिये, परन्तु भूलो और विकृतियोको, प्रकृतिके विरुद्ध विद्रोहको, निश्चेतन आत्माके सहजवृत्तिधर्मी निर्देशनके परित्यागको बहुगुणित करनेके लिये भी, जिनके फल-स्वरूप मानव-जीवनमे अज्ञान, मिथ्यात्व तथा दु ख-कष्टका वह महा तत्त्व उत्पन्न होता है जिसका उपालम्भ वैदिक कविने अनृतस्य भूरे कहकर दिया है।

तो यह आशा किसमें है कि मन अपनी भूलोको ठीक करेगा और अपनेको वस्तुओके सत्यानुसार निर्देशित करेगा ? आशा है विज्ञानमे निश्चेतनकी शक्तियो तथा क्रियाओके बुद्धियुक्त अवलोकन, व्यवहार और प्रवर्त्तनमे। केवल एक ही उदाहरण ले,—निश्चेतन आनुवशिकताके नियमसे कार्य करता है और यदि उसे अपने ऊपर छोड दिया जाय तो वह अच्छे तथा स्वस्थ प्ररूपोकी उत्तरजीविता सुनिश्चित करनेके लिये त्रुटिहीन रूपसे कार्य करता है। अपने सामाजिक जीवनकी मिथ्या अवस्थाओमे अवनतिके सचरण और स्थायीकरणके लिये मनुष्य आनुवशिकताका अपव्यवहार करता है। हमे आनुवशिकताके नियमका अध्ययन करना होगा, एक सुजननिकी विज्ञान विकसित करना होगा और उसे बुद्धिमत्ता तथा कठोरतासे काममे लेना होगा – जिससे वह बुद्धि द्वारा उस परिणामको सुनिश्चित करे जो निश्चेतनके सहजवृत्तिमूलक अनुकूलन द्वारा निश्चित रहता है। हम देख सकते हैं कि यह विचार और यह भाव हमे कहाँ ले जायँगे, — अर्थात, मानव-मन द्वारा विकसित भावावेगयुक्त तथा आध्यात्मिक आदर्शवादके स्थानपर एक शुष्क, बुद्धियुक्त, जडवादी आदर्शवादकी प्रतिष्ठाकी ओर, और मनुष्यजातिके सुधारका प्रयत्न प्रतिभाकी गभीर प्रेरणा और सबल चरित्र तथा व्यक्तित्वकी सुनम्य अभीप्साको छोडकर वैज्ञानिक विशेषज्ञकी कठोर यान्त्रिकता द्वारा करनेकी ओर। किन्तु, यदि यह चेतन मनकी एक दूसरी भूल ही हो, तो क्या होगा ? यदि वह भूल और रोग, प्रकृति-द्रोह और प्रकृति-व्यतिक्रम, स्वय ही गभीर निश्चेतनकी बुद्धियुक्त और निर्भूल योजनाका अग, आवश्यक अग हो, और यह इतना सारा मिथ्यात्व एक महत्तर सत्य और अधिक उन्नत सामर्थ्यतक पहुँचनेका साधन ही हो, तो क्या होगा ? यह तथ्य कि स्वय प्रतिभा जो कि हमारी विकसित होती चेतनाका सर्वोच्च परिणाम है इतनी बार किसी रोगग्रस्त शाखामे पुष्पित होती है, एक ऐसा व्यापार है जिससे अशान्तिकर सकेत उठते हैं। सुनिश्चित विज्ञानका स्पष्ट मार्ग उत्तम मार्ग हो, यह आवश्यक नहीं, वह प्राय आगेके महत्तर तथा गभीरतर ज्ञानके विकासमार्गमे बाधा बनकर खडा हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानकी दूसरी रेखापर परम्परागत विज्ञान अभी भी भौं सिकोडता है, परन्तु डाक्टरोके अभिशापके बावजूद भी वह समृद्ध हो रही है और अपने परिणाम दे रही है। वह हमे मनके अनुसन्धानकी उप-राहोमे, समोहन (हिप्नोटिज्म), मेस्मरिज्म, गुह्यविद्या और हर प्रकारकी विचित्र मनोवैज्ञानिक टोहकी ओर ले जाती है। अवश्य ही उनमे स्थूल-भौतिक पद्धतिकी सुनिश्चित स्पष्टता और दृढ आधार-वाली प्रत्यक्षवादिताकी कोई चीज नही है। फिर भी तथ्य प्रकट हो रहे हैं और तथ्यो के साथ एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल रहा है,—यह निष्कर्ष कि हमारे सतही जाग्रत् मनके पीछे एक अवगूढ आत्मा है जो निश्चेतन नही, चेतन है, जाग्रत मनसे महत्तर है, विस्मयकारी क्षमताओसे सम्पन्न है और एक बहुत अधिक निश्चित क्रिया और अनुभवके लिये समर्थ है, सतही मनके प्रति चेतन है, यद्यपि सतही मन उसके प्रति निश्चेतन है। और तब एक प्रश्न उठता है। यदि वस्तुत कोई निश्चेतन हो ही नही, अपितु सर्वत्र एक प्रच्छन्न चेतना हो जो बल और बुद्धिमत्तामे पूर्ण हो और जिसका पहला धीमा, झिझकता और अपूर्ण प्रदर्शन मन हो और जिसका प्रतिरूप हो उठना मानव-मनके प्रगतिशील विकासकी नियति हो तो? कमसे कम यह सामान्यीकरण कोई कम प्रमाण्य नही होगा और हम जितने भी तथ्य अभी जानते हैं उनकी व्याख्या इसके द्वारा जडवादी सिद्धान्तके अन्धे और निरुद्देश्य नियतिवादकी अपेक्षा बहुत अच्छी तरह होगी।

इस रेखापर मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानको आगे बढानेमे हम केवल उसीका पुनरारम्भ कर रहे होंगे जिसे हमारे सुदूर पितामह कर चुके हैं। कारण, वे पितामह भी अवलोकन करना, परीक्षण करना, वस्तुओकी सतहसे नीचे देखना आरम्भ करते ही यह देखनेको बाध्य हुए थे कि सतहका मनुष्य केवल एक रूप और एक प्रतीति है और सच्चा आत्मा अत्यन्त महत्तर और अधिक गभीर वस्तु है। वे भी विज्ञान तथा दर्शनके पहले जडवादी पर्वोमेसे गुजरे होंगे, कारण, ऐत्तरेय उपनिषदमे हम पढते है कि भौतिक जगत् तथा शरीरकी प्राप्ति करनेपर पुरुप अपने-आपको पूछता है, "यदि वचन वाणीसे है और जीवन श्वाससे, यदि दृष्टि चक्षुसे है, श्रवण कानोसे और विचार मनसे, यदि सक्षेप-मे सत्ताके सारे प्रतीयमान क्रियाकलापोकी व्याख्या प्रकृतिके स्वयक्रिय व्यापारोसे हो सकती है, "तो मै क्या हूँ?" और उपनिषद् आगे कहती है "उसने जन्म पाकर केवल भौतिक तत्त्वोकी क्रियाको पहचाना, क्योकि उसके सामने विवाद तथा निर्णयके लिये उसके अतिरिक्त था ही क्या?" तथापि, अन्तमे "उसने इस चित्-पुरुषको देखा जो निरा विस्तृत होता ब्रह्म है और उसने अपने-आपको कहा, "अब मैने वस्तुत देख लिया है।" इसी तैत्तिरीय उपनिषद्मे भृगु वारुणि ब्रह्मपर ध्यान करते हुए पहले इस निष्कर्षपर

आते हैं, "अन्न ब्रह्म," जड ब्रह्म है, और उसके उपरान्त ही यह आविष्कार करते हैं कि प्राण ब्रह्म है,—इस प्रकार अस्तित्वके जडवादी सिद्धान्तमे उठकर प्राणवादी सिद्धान्तपर आते हैं जिनकी ओर अभी यूरोपीय विचारधारा उठ रही है,—उसके बाद यह आविष्कार करते है कि मन ब्रह्म है, तदनन्तर यह कि ज्ञान ब्रह्म है – इस तरह सत्य-की सवेदनात्मिका तथा आदर्शात्मिका उपलब्धिकी ओर उठते हैं,—और अन्तमे अस्तित्वके आनन्दको ब्रह्मवत् देखते हैं। वहाँ वह अन्तिम आध्यात्मिक उपलब्धिमे मनुष्य द्वारा प्राप्त ज्ञानके सर्वोच्च निरूपणमे ठहर जाते हैं।

अतएव चेतन, न कि निश्चेतन, वह सत्य था, जिसतक प्राचीन मनोविज्ञान पहुँचा था, और उसने चेतन आत्माके तीन स्तरो, मनुष्यके जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति आत्माओका विभेद किया – अन्य शब्दोमे ये तीन हैं सतही अस्तित्व, अवचेतन या अवगूढ और अतिचेतन जो हमे निश्चेतन लगता है क्योकि उसकी चेतना-स्थिति हमारीसे उलटी है कारण, हमारी चेतना है सीमित, विभाजन तथा बहुत्वाश्रित, परन्तु वह "वह है जो एकत्व हो जाती है". हमारी चेतना द्वैत अनुभवोंके बीच सन्तुलित है, परन्तु वह आत्मा सर्वानन्दमय है, वह वह है जो हमारी सत्ताके मर्ममे प्रत्येक वस्तुका सामना शुद्ध सर्वग्राहिणी चेतनासे करता और अस्तित्वके आनन्दका भोग करता है। अतएव, यद्यपि उसका स्थान चेतनाका वह स्तर है जो हमारे लिये गहरी निद्रा है,—क्योकि मन वहाँ अपनी अभ्यस्त क्रियाशीलताको नहीं रख सकता और निश्चेतन हो जाता है,—तथापि उसका नाम है चेतोमुख प्राज्ञ। "वह," माण्डूक्योपनिषद् कहती है, "है सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अन्तर्यामी. योनि सर्वस्य; वह वह है जिसमेंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिसमे वे प्रयाण कर जाते हैं।" अत यह बात अवगूढ आत्मा विषयक अन्य आधुनिक विचार द्वारा शोधित निश्चेतन-विषयक आधुनिक विचारके बहुत अनुरूप है, क्योकि वह केवल जाग्रत् मनके लिये ही निश्चेतन है, और ऐसा ठीक इस कारण है कि यह उसके लिये अतिचेतन है और फलत मन उसे उसके स्वरूपमें न पकड पाकर केवल उसके परिणामो द्वारा ही उसे पकड पाता है। और, प्राचीन मनोविज्ञानकी गहराई और सत्यताका इस तथ्यसे अधिक अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि आधुनिक चिन्तन अपने यथातथ्य और सतर्क ज्ञानके सारे अभिमानमे जब इन गहराइयोंकी थाह लेना शुरू करता है तो उसे अन्य भाषामे वही दुहराना पडता है जो लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व लिखा जा चुका था।

इस अन्तर्यामीकी इसी धारणाको हम गीतामे दुहराया गया पाते हैं, ईश्वर ही "सकल प्राणियोके हृदयमे आसीन हैं और सकल प्राणियोको अपनी मायासे यन्त्रपर आरूढ करके घुमा रहे हैं।" कभी-कभी उपनिषद् इस आत्माका वर्णन "मनोमय

प्राण-शरीर-नेता" कह कर करती लगती है, वह वस्तुत चैत्यिक अनुसन्धान-कर्त्ताओ-का अवगूढ मन है, परन्तु यह केवल एक सापेक्ष वर्णन है। वेदान्ती मनोविज्ञान अन्य गहराइयोसे अवगत था जो हमे इस सूत्रसे परे ले जाती हैं और जिनके सम्बन्धमे देखने-पर मनोमयी सत्ता, अपनी पारीमे, उतनी ही छिछली हो जाती है जितना छिछला हमारे अवगूढ मनके लिये जाग्रत् मन है। और मानव-चिंतनके परिभ्रमणमे एक बार पुन इन गहराइयोकी परखना है, आधुनिक मनोविज्ञान जिस सत्यकी खोज कर रहा है उसकी बाध्यकारिताके कारण वह बलात् उस मार्गपर जायगा जिसपर पुराकालके ज्ञानी चले थे। नव ऊपा, सत्यके शाश्वत पथ पर चलती हुई, अपनी पूर्वगामिनी ऊषाओका अनुसरण करती है,—वे कितनी होगी, कौन कहे?

वस्तुत इस ज्ञानका प्रथमाविष्कार हमे अभी प्राप्य रहनेवाली उपनिषदोकी रचनाके अपेक्षाकृत बादके पुराकालमे नही हुआ था। यह ज्ञान तो ऋग्वेदकी अज्ञात तिथियोकी ऋचाओमे विद्यमान है, और वैदिक मुनि इसकी चर्चा इस प्रकार करते हैं कि यह और भी अधिक प्राचीन द्रष्टाओका आविष्कृत ज्ञान था जिनके सामने स्वय वे नये और आधुनिक हैं। मानवजातिपर छानेवाली अज्ञान-रात्रियो या अन्धकारमय कालोसे उन्मज्जित होते हुए हम सदा यह मान लिया करते हैं कि हम एक नये ज्ञानका श्रीगणेष कर रहे हैं, किन्तु वस्तुत हम सदा अपने पूर्व युगोके ज्ञानका पुनराविष्कार और उनकी प्राप्तिकी आवृत्ति ही किया करते हैं,—"निश्चेतन" मेसे उस प्रकाशको पुन पाते हैं जिसे उसने अपनी निगूढ तहोमे वापस खीच लिया था और जिसे अब वह एक बार फिर उस महान् यात्राके एक नये दिवस और अन्य अभियानके लिये विमुक्त कर रहा है।

और उस यात्राका लक्ष्य अन्तरात्माके जीवन तथा विकासके सामने पुराकालके मनोवैज्ञानिको द्वारा उपस्थित वह "सर्वोच्च शुभ" ही हो सकता है, अन्य कुछ नही। मनोमय प्राणी मनुष्यको जब एक बार यह बोध हो जाता है कि यह गभीर, महान् और प्रच्छन्न आत्मा विद्यमान है, और यही उसकी सत्ताकी यथार्थ सत्यता है, तो वह अवश्य-मेव उसमे प्रवेश करना, उसके अन्दर चेतन होना, बाह्य तलपर निवास करनेके बदले वही अपना केन्द्र बनाना, उसके दिव्यतर धर्म और पराप्रकृति और सामर्थ्यको जीतना और प्रयुक्त करना, अपने-आपको उसके साथ एक करना चाहेगा जिससे वह प्रतीयमान मानवके स्थानपर सत्-मानव हो जाय। और जो एकमात्र विवाद रह जाता है वह यह है कि क्या यह महान् विजय इस मानव-जीवन या पार्थिव शरीरमे प्राप्त की जा सकती है, उसका भोग किया जा सकता है, या कि वह केवल परलोकमे ही सम्भव है,—यह कि क्या मानव-चेतना वस्तुत इस निश्चेतनके, हमारे अन्दरके

इस सच्चे आत्माके प्रगतिशील आत्म-प्राकट्यके लिये वरण किया गया उपकरण है, या कि वह केवल एक अभिशप्त प्रयास है जिसका यहाँ कोई फल नही हो सकता अथवा वह केवल एक असम्बद्ध और अधूरा रेखाकन है जिसे कभी भी दिव्य चित्रका पूर्ण रूप नही दिया जा सकता।

"आर्य," सितम्बर 1915

भौतिकवाद

भौतिकवादके लिये वहुत सारी कडी बाते कही गयी हैं, ये बाते उन लोगोने कही हैं जिन्होंने जीवनको नीचेकी अपेक्षा बल्कि ऊपरसे देखना पसन्द किया था या जो भाववादात्मक मनके अधिक प्रकाशमय वातावरणमे अथवा आध्यात्मिक अस्तित्वके आकाशमे रहनेका दावा करते है। भौतिकवादपर महाबुराइयोकी सृष्टिका आरोप किया गया है, उसे इस रूपमे भी देखा गया है कि वह एक घृण्य रूपातरकी प्रधान मूर्त्ति है या मानव-जातिको भयकारी विनाशकी ओर ले जानेवाला विपथकारी है। जिनकी प्रवृत्ति और कल्पना अतीतको आदर्श मानकर उसके साथ प्रेमसे खेलती है, वे लोग भौतिकवादको उन सास्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्त्तनोका दोषी ठहराते हैं जिनसे वे घृणा करते हैं और जिन्हे वे सनातन नैतिक आदर्शोमे और दिव्य रूपमे आयोजित वर्गक्रममे खलल डालना समझते है,—यद्यपि वे यह माननेमे सुख पाते हैं कि ये परिवर्त्तन अस्थायी हैं। जो लोग आगे विशालतर आदर्शवाद और उच्चतर आध्यात्मिकताकी आशा देखते हैं, और ऐसे लोगोकी सख्या अधिक है, वे यह घोषणा करते हैं कि भौतिकवादके ह्रसित होने और चले जानेसे मानव-आत्माको भाग्यमयी मुक्ति मिलेगी। जगत्-व्यापी सघर्ष तथा प्रतियोगिता भौतिकवादके ही फल कहे जाते है, युद्ध और कराल बलिदानका होम जिसमे मानवजाति अपना बल, रक्त और वैभव लुटाती रही है,—यद्यपि वे नई विपदाएँ नही हैं, न यही आशा करना निरापद है कि वे अपने प्रकारकी अन्तिम चीजे है,—भौतिकवादको प्राप्त होनेवाला दण्ड या वह चिता कहे जाते हैं जिसे उसने अपने लिये जलायी है और जिसकी निष्ठुर ज्वालामे उसके द्वारा अस्तित्वमे लायी गयी भूले और अपवित्रताएँ जलाकर राख की जा रही है। विज्ञानके बारेमे यह घोषित किया गया है कि उसका मानवजातिका पथप्रदर्शक या शिक्षक होना सन्दिग्ध है और उसे अपनी उपयुक्त सीमाओके अन्तर्गत रहनेका आदेश दिया जा रहा है, कारण यह है कि विज्ञान लम्बे समयतक अस्तित्व-विषयक भौतिक दृष्टिकोणका मित्र था, नास्तिकता और अज्ञेयवादका प्रस्तावक था, भौतिकवाद तथा सशयवादकी विजय लानेवाला था, उनके राज्यका सिंहासन या उनके स्थायित्वका स्तम्भ था। तर्कबुद्धिपर भी आपत्ति उठायी गयी है क्योकि तर्कबुद्धिवाद और विचार-स्वातत्र्यको भौतिकवादी विचारणाका पर्यायवाची मान लिया गया।

दोपारोपणकी इतनी वडी राशिका अपना सत्य हो मकता है और उसमेसे वहुत कुछका है भी। परन्तु मानव-मन इस भाँति जिन चीजोका वारी वारीसे डका पीटता और निपेध करता है उनमेमे अधिकाशका दुहरा लच्छा है। वे हमारे सामने विपरीत चेहरे लेकर आती हैं, उनका भला पहलू रहता है और बुरा पहलू, उनका एक अँधियाला रूप भूलका रहता है और एक उजियाला रूप सत्यका, और इनमेमे उनके जिम चेहरेको हम देखते हैं उसीके अनुमार हम अपनी सम्मतिके चरम छोरकी ओर झूल जाते या उनके बीच झूलते रहते हैं। भौतिकवादको अधिकाश लोग जैमा मृत घोपित करते है, हो सकता है कि वह विल्कुल वैसा मृत न हो, भौतिकवाद वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओकी एक वडी सख्या द्वारा, शायद उनके अधिकाश, द्वारा अभी भी गृहीत है, और वैज्ञानिक मम्मति अपने सुनिर्दिष्ट सत्यके वलके कारण और मानवजातिको अपनी अनवरत मेवा देते रहनेके कारण सर्वदा एक शक्ति रहती है,—अत भौतिकवादको अभी भी और जहाँ स्थिरवद्ध सम्मति मानकर उसका निराकरण किया जाता है वहाँ भी वह कर्म तथा जीवनकी वास्तविक प्रकृतिके अधिकाशकी रचना करता है। कारण, भूत-कालके सवल सस्कार हमारी मानवीय मनोवृत्तिमेसे इतनी आसानीसे नहीं मिटाए जा सकते हैं। परन्तु यह एक तेजीसे पीछे हटती शक्ति है, अन्य विचार तथा दृष्टिकोण अन्दर भीड करते आ रहे हैं और उसे उसकी श्रेष्ठताके वाकी स्थलोसे खदेड रहे हैं। हम उमे विदाके शब्द कहे उसके पहले यह लाभदायक होगा, और अव निरापदतामे ऐमा किया भी जा सकता है, कि हम यह देखे कि उसे वल देनेवाली चीज क्या थी, उसने अपने पीछे स्थायी रूपसे क्या छोडा है, और सत्यका जो कोई भी तत्त्व उमके अन्दर रहा हो जिममे उसे अपनी व्यावहारिकता वल मिला था, हम अपने नये दृष्टिकोणोको उमके प्रति ममजित करे। हम उसे निष्पक्ष सहानुभूतिमे भी देख सकते है, परन्तु हमारी वास्तविक मत्ताके एक प्राथमिक किन्तु न्यूनतर सत्यके रूपमे ही,—क्योकि वह यह सव तो है, परन्तु इससे अधिक कुछ नही,—और उसके उचित दावो और मूल्योको स्वीकार और निर्धारित करनेका प्रयत्न कर सकते हैं। हम अव यह भी देख सकते हैं कि उसने ज्ञानका जो ढाँचा स्वय प्रस्तुत किया है उसीके वर्द्धित होनेमे वह अपने-आपसे परित्राण पानेको किस प्रकार वाध्य था।

स्वीकार करे,—क्योकि यह सच है,—कि यह युग, जिसकी विलक्षण सन्तान भौतिकवाद था और जिसमे वह पहले वदमिजाज विद्रोही और आक्रामक विचारके रूपमे प्रकट हुआ, वादमे मानवजातिके गम्भीर तथा उद्यमशील शिक्षकके रूपमे, किसी भी तरह महज भूल, विपदा तथा अवनतिका काल नही, वल्कि मानवजातिका एक सवल युग रहा है। उसके परिणामोका अध्ययन निष्पक्षतासे करे। उसने जातिके

ज्ञानको केवल विशाल रूपसे विस्तृत ही नही किया है, उसकी रिक्तताओकी पूर्ति ही नही की है, उसे अनुसन्धान, सावधानी और शुद्धताके धैर्यका अभ्यास ही नही दिया है,—ऐसा उसने यदि गवेषणाके एक ही विशाल क्षेत्रमे किया है तो भी अन्य तथा उच्चतर क्षेत्रोमे उसी जिज्ञासा, वौद्धिक ईमानदारी और ज्ञानवलके विस्तारकी तैयारी की है,—उसने आविष्कारकी अनुपम शक्ति तथा समृद्धिसे हमारे हाथोमे केवल आविष्कार, यत्र, व्यावहारिक शक्तियाँ, विजये और सुविधाएँ ही नही रखी हैं,—जिनसे यदि वहुत बुराई हुई है तो वहुत अच्छाई भी, और हमारे उच्चतर हितके लिये जिनकी अपर्याप्तताकी हम चाहे कितनी ही घोषणा करे, उन्हे छोडना भी हममेसे वहुत थोडे ही चाहेगे,—वरन् उसने, भलेही यह वात आरम्भमे विरोधाभासिनी लग सकती है, मनुष्यकी आदर्शवादिताको सवल भी किया है। कुल मिलाकर देखे तो उससे मनुष्यको एक अधिक सुखद आशा मिली है और उसकी प्रकृति मानवीय हुई है। सहिष्णुता अधिक हुई है, स्वतन्त्रता वर्द्धित हुई है, उदारता अधिक सामान्य वस्तु हुई है, शान्ति अभी व्यवहारमे सम्भव न होनेपर भी, कमसे कम, कल्पनीय हो रही है। हालमे, अठारहवी शताब्दिके इहलोकवादका प्रचार करनेवाली विचारधाराको वहुत तिरस्कृत किया गया और हेय माना गया है, उसे विकसित करनेवाली उन्नीसवी शताब्दिकी विचारधारा बहुत प्रतिकूल आलोचनासे छलनी हो गई है और पीछे छोड दी गई है। तथापि उन्होने जिन देवताओकी पूजा की है वे हीन देवता नही थे। तर्क-वुद्धि, विज्ञान, प्रगति, स्वतन्त्रता, मानवता,—ये ही उनकी देव-प्रतिमाएँ थी, और ये यदि प्रतिमाएँ ही हो तो भी इनमेसे कौनसी प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिन्हे हम कीचमे फेक डालना या राहपर पडे हीन अपूजित भग्नावशेषोके रूपमे छोड डालना चाहेगे, या यदि हम वुद्धिमान है तो इनमे किनके साथ हमे ऐसा वर्त्ताव करना चाहिये ? यदि अन्य और श्रेष्ठतर देवता हैं, या जिन दृश्य आकृतियोकी पूजा की गयी थी वे केवल मिट्टी या पत्थरकी मूर्तियाँ ही थी या उनके अनुष्ठान यदि अन्तरतम ज्ञानसे रिक्त थे, तो भी उनकी उपासना हमारे लिये आरम्भिक दीक्षा रही है और लम्बे भौतिक यज्ञने हमे एक श्रेष्ठतर धर्मके लिये तैयार किया है।

तर्कवुद्धि परम ज्योति नही है, परन्तु फिर भी वह एक आवश्यक प्रकाशदायिनी है और जवतक उसे उसके अधिकार नही दे दिये जाते, उसे हमारी प्रथम अवयौक्तिक सहजवृत्तियो, अन्तर्वेगो, दुस्साहसी उत्साहो, अमार्जित विश्वासो और अन्धे पूर्वनिर्णयो-का निर्णय और उनकी शुद्धि नही करने दिया जाता, तव तक हम किसी महत्तर आन्तरिक प्रकाशपुजके नि शेष निरावरणके लिये सर्वथा तैयार नही होते। विज्ञान एक सही ज्ञान,

अन्ततया केवल प्रक्रियाओका ज्ञान है, परन्तु प्रक्रियाओका ज्ञान भी समग्र बुद्धिमत्ताका अग ही है और पीछे स्थित गभीरतर सत्यकी ओर एक चौडे और स्पष्ट मार्गके लिये आवश्यक है। यदि उसने प्रमुखत भौतिक क्षेत्रमे श्रम किया है, यदि उसने अपने-आपको सीमित कर लिया है और अपने प्रकाशको जान बूझकर अज्ञानके किसी मेघसे घेर लिया या आच्छादित कर लिया है, फिर भी इस पद्धतिका आरम्भ कही न कही करना था और जिस प्रकार तथा रीतिका अन्वेषण हाथमे लिया गया उसके लिये वह क्षेत्र प्रथम, निकटतम, सहजतम था। सत्यके किसी पहलूके प्रति अज्ञ रहना या आशिक अज्ञान अथवा उपेक्षाका वरण करना ताकि दूसरे पहलूपर अधिक अच्छी तरह एकाग्र हुआ जा सके, प्राय हमारी अपूर्ण मन प्रकृतिके लिये आवश्यक रहता है। परन्तु अज्ञान यदि कट्टर मत बन जाता है और उसने जिसकी परीक्षा करनेमे इन्कार किया है उसे यदि अस्वीकार करता है तो यह दुर्भाग्य है, किन्तु फिर भी यदि इस जानबूझकर किये गये आत्म-परिसीमनको उसकी उपादेयताके अवसरके समाप्त हो चुकनेपर विलुप्त हो जानेको बाध्य कर दिया जाता तो किसी स्थायी हानिका होना आवश्यक नही था। चूँकि अब हमने भौतिक क्षेत्रके विषयमे अपने ज्ञानको दृढ भित्ति दे डाली है, अत अब हम मानसिक तथा आन्तरिक ज्ञानको अधिक खुले, निरापद तथा प्रकाशमय रूपसे पुन अधिकृत करनेकी ओर बहुत दृढतर पग भरते हुए बढ सकते है। इससे आध्यात्मिक सत्योको भी उच्चतर या अधिक वेधक प्रकाश और स्वाभिव्यक्ति तो नही,— यह सम्भावना दुष्कर रहती है —अपितु अधिक प्रचुर ज्योति और अधिक परिपूर्ण स्वाभिव्यक्ति प्राप्त होनेकी सम्भावना रहती है।

प्रगति मानव-जीवनके सार्थक्यका मर्म ही है क्योकि उसका अर्थ होता है हमारा महत्तर तथा समृद्धतर सत्ताकी ओर क्रमविकास, और इन युगोने इस चीजका आग्रह करके, हमे इसे अपना लक्ष्य और अपनी आवश्यकता माननेके लिये बाध्य करके निश्चल आत्म-तृप्तिकी निष्प्रभता या स्थूल आनन्दमे रहनेके प्रयासको हमारे लिये अबसे असम्भव कर दे करके पृथ्वी-जीवनकी अमोल सेवा की है और स्वर्गके मार्ग साफ कर दिये है। बाह्य प्रगति उसके लक्ष्यका अधिकतर भाग थी और आन्तरिक प्रगति अधिक सारभूत प्रगति होती है, परन्तु यदि बाह्य प्रगतिका समावेश न किया जाय तो आन्तरिक भी सम्पूर्ण नही होती। हमारी प्रगतिका आग्रह यदि कुछ समयतक किसी एक ही क्षेत्रमे बढनेपर अति एकान्तिक रूपसे जा पडे, तो भी आगेकी ओर सारी गति सहायक होती है और अन्तमे वह हमारी सत्ताके गभीरतर तथा उच्चतर प्रदेशोमे हमारे विकासकी आवश्यकताको श्रेष्ठतर शक्ति और विशालतर अर्थ देगी। स्वतन्त्रता वह देवी है जिसकी महत्ताको अब सकीर्ण रूपसे सीमित मन, राष्ट्र-शासनका उपासक या प्रतिक्रिया-

का मनकी ही इनकार कर सकता है। अवश्य ही फिर कहे कि सारभूत स्वतत्रता आन्तरिक है, परन्तु यदि आन्तरिक उपलब्धिके विना स्वतन्त्रताके लिये वाहरी प्रयास अन्तमे व्यर्थ प्रमाणित हो सकता है, फिर भी आन्तरिक स्वतत्रताका अनुसरण करना और एक वाह्य दासताको चिरस्थायी वनाना या एकाकी मुक्तिमे आनन्द लेना और मानवजातिको उसकी वेडियोमे छोड देना एक ऐसी असगति था जिसे अवश्यमेव विस्फोटित होना था, यह एक सीमित और अति स्व-केन्द्रित आदर्श था। मानवता सर्वोच्च देवता नही, ईश्वर मानवतासे अधिक है, परन्तु हमे मानवजातिमे ईश्वरकी प्राप्ति और सेवा करनी है। मानवताकी उपासनाका अर्थ है वर्द्धमान दयालुता, सहिष्णुता, उदारता, सहायता, सहति विश्वभाव, एकता व्यष्टि तथा समष्टिमे विकासकी परिपूर्णता, और किसी भी पूर्वयुगमे जैसा सम्भव था उससे वहुत अधिक तेजीसे हम इन चीजोकी ओर वढ रहे हैं, भले ही अवतक हमारे पग वुरी तरह लडखडाते रहे हो और कुछ उत्कट पुन पतन घटित हुए हो। भगवान्‌की उपासनाके अन्तर्गत अपने अन्य मानवात्माओकी उपासना हमारा विशाल आदर्श होकर हमारे अधिक निकट आती है। इन वस्तुओमेसे किसी एकको भी एक पग अधिक निकट ले आना, उन्हे चाहे कितनी ही अपूर्ण अभिव्यजना तथा सूत्र द्वारा क्यो न हो, हमारे मनमे प्रतिष्ठित करनेमे सहायता करना, उनकी और हमारी चालको तेज करना, ये प्रवल उपलब्धियाँ हैं, उदात्त सेवाएँ हैं।

तुरन्त ही यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि इन सारी महान् वस्तुओका भौतिकवादसे कोई सम्वन्ध नही। उनकी ओरकी प्रेरणा मानव-मनमे दीर्घकालीन और लम्वे समयसे सक्रिय रही है, स्वय मानवतावादके तत्त्वको, जो कि आधुनिक भावनाके प्रभावशाली विकासोमे एक रहा है, प्रथमत धर्म, करुणा और मानव-प्रेमने हमारे स्वभावमेसे व्यक्त किया और प्रमुख वनाया, मानव-प्रेमको पहले ईसाई और वौद्ध धर्मोंने अन्तरग और सवल रूपसे प्रयुक्त किया, यदि अव उनका कुछ विकास हुआ हे तो यह वहुत पहले वोए वीजोका प्राकृतिक विस्तरण है। भौतिकवादके वारेमे वल्कि यह अनुमान किया गया था कि वह विरोधी सहजवृत्तियोको प्रोत्साहित करेगा, और उसने जिस अच्छाईका पक्ष लिया उसे उसने सीमित, शुष्क और यान्त्रिक वना दिया। यदि ये सारी अधिक उदात्त वस्तुएँ वढी हैं और अपने-आपपर लगायी गयी सीमाओको तोड रही हैं तो इसका कारण यह है कि सौभाग्यसे मनुष्य सगतिविहीन है और हमारे विकासके अमुक पर्वके वाद यथार्थतया और सपूर्णतया भौतिकवादी नही हो सकता, उसे आदर्शोकी, नैतिक विस्तरणकी, एक अधिक घनिष्ठ भावुक परिपूर्तिकी आवश्यकता होती है, और इन आवश्यकताओको उसने अपनी भौतिकवृत्त

सम्मतिके विकासके साथ जोड दिया है और उसके स्वाभाविक परिणामोको उनके द्वारा सशोधित किया है। परन्तु स्वय वे आदर्श एक पहलेकी सम्मति तथा सस्कृतिसे लिये गये थे।

यह सत्य तो है परन्तु समूचा सत्य नही। प्राचीन धार्मिक सस्कृतियाँ अपने समष्टि-रूपमे प्राय और अपने कुछ अगोमे सदा ही प्रशसनीय थी, परन्तु वे यदि त्रुटि-पूर्ण नही होती, तो न तो कभी भी इतनी आसानीसे उन्हे भग किया जा सकता था, न धर्मके बोये परिणामोको बाहर लानेके लिये धर्महीन युगकी आवश्यकता होती। उनके दोष एक विशेष सकीर्णता और एकान्तिक दृष्टिके थे। अपने आदर्शमे समाहित और तीव्र और अपने प्रभावमे प्रगाढ रहनेवाली इन सस्कृतियोका विस्तरणशील प्रभाव मानव-मनपर अल्प था। उन्होने अपनी क्रिया व्यक्तिके अन्दर अत्यधिक विलग कर दी, सामाजिक व्यवस्थामे अपने आदर्शोकी क्रियाशीलता अति सकीर्ण रूपसे सीमित कर दी, उदाहरणके लिये, गिरजाघर और धर्ममतके हेतुओके लिये निर्दयता और बर्बरताका विपुल परिमाण सहन किया, उसे व्यवहृत तक भी किया, जब कि वे उस भावना और सत्यके प्रतिकूल थे जिनसे उनका आरम्भ हुआ था। जिसे उन्होने व्यक्तिके अन्तरात्मामे निरुत्साहित किया, उसे उन्होने समाजके कार्य और ढाँचेमे फिर भी बनाये रखा, इन धब्बोसे मुक्त मानव-व्यवस्थाकी कल्पना उन्होने शायद ही की हो। उनकी अभीप्साकी गहराई और उत्साहके साथ एक काली छाया थी, बौद्धिक स्पष्टताका अभाव था, एक ऐसा अन्धकार था जिसने उनकी क्रियाको भ्रमित कर दिया और उनके आध्यात्मिक तत्त्वोके विस्तरणको प्रतिहत कर दिया। उन्होने सन्यासवृत्तिके बीज-कोषका पोषण भी किया और पृथ्वी-जीवनके निश्चित उन्नयनमे विश्वास करनेकी ओर शायद ही ध्यान दिया, पृथ्वी-जीवनको उन्होने मानव-आत्माका पतन या दुख-पूर्ण उतार या अपूर्णता मानकर उससे घृणा की, या जो कोई पार्थिव आशा उन्होने स्वीकार की थी उसने अपने-आपको सृष्टिके सहस्राब्दिक अन्ततकके लिये स्थगित हो जाते देखा। मानव-जीवनकी या अस्तित्व मात्रकी व्यर्थतामे विश्वास रखना पृथ्वीसे परेके लक्ष्यकी ओरकी पूर्वव्यस्तताके अधिक अनुकूल था। पूर्णता, नैतिक विकास और मुक्ति वैयक्तिक आदर्श हो गयी और परलोकके लिये अन्तरात्माकी विलग तैयारी-के रूपमे अत्यधिक साकार हुई। धार्मिक प्रकृतिका सामाजिक प्रभाव सम्भावनाके रूपमे कितना ही अधिक क्यो न रहा हो, वह अत्यधिक परलोक-भावनासे और बुद्धिके प्रति उस अविश्वास-भावनासे निरुद्ध हो गया जो बढकर ज्ञानोन्नतिविरोध हो गयी।

धर्मनिरपेक्षतावादी शताब्दियोने पलडेको उल्टी दिशामे बहुत अधिक झुका दिया। उन्होने जाति-मानसको पूरा ही पृथ्वी तथा मनुष्यकी ओर मोड दिया, परन्तु

बौद्धिक स्पष्टता, युक्तिवृत्ति, न्याय, स्वतन्त्रता, सहिष्णुता, मानवतापर आग्रह करके, इन चीजोको आगे रखके और जातिकी प्रगति तथा उसकी पूर्णता-प्राप्तिकी सभावनाको पार्थिव जीवनके ऐसे तात्कालिक नियमके रूपमे रखके जिसकी ओर हमेशा आगे जोर लगाते रहना है, सामाजिक आदर्शको कयामतके किसी ऐसे दिनतकके लिये न टरकाते हुए जब कि कोई अन्तिम दिव्य हस्तक्षेप और फैसला उन्हे चमत्कारिक रूपसे चरितार्थ कर देगा, उन्होंने सामूहिक प्रगतिकी राह साफ कर दी। कारण, उन्होंने मानवजातिकी इन उदात्ततर सम्भावनाओको व्यावहारिक बुद्धिके लिये अधिक मान्य कर दिया। यदि स्वर्ग उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये या पूर्वयुगोसे मिले हुए आदर्शोंका आध्यात्मिक भाव उनसे छूट गया, तदपि उनपर इस तर्कबुद्धिपरक और व्यावहारिक आग्रहसे उन्होने विचारशील मनमे ये चीजे बैठा दी। उनकी अति यांत्रिक वृत्ति भी इन आदर्शोंकी प्रभाविणी क्रियाको समाजकी सरचनाकी शर्त्त ही बना देनेके लिये साधन ढूंढनेकी वैध कामनासे विकसित हुई। भौतिकवाद पृथ्वी और मनुष्यकी ओर जाति-मानसके इस झुकावका चरम बौद्धिक परिणाम था। यह एक बौद्धिक यत्र था जिसे कालात्माने विचार और प्रयत्नके उस एकान्तिक मोडको पर्याप्त दूरीतक दृढतासे जमानेके लिये, आवश्यक अवधितक मानव-मनको धृत रखनेके लिये सम्मतिके मजबूत कीलककी तरह काममे लिया। मनुष्यके लिये यह आवश्यक होता ही है कि वह अपने सारे पार्थिव अगोमे दृढतासे विकसित हो, अपने शरीर, अपने प्राण, अपने बहिर्गामी मनको सुदृढ तथा पूर्ण करे, अपनी निवास-स्थली धरतीको पूरा अधिकृत करे, भौतिक प्रकृतिको जाने और काममे ले, अपने परिवेशको समृद्ध करे और व्यापकीकृत मेधाकी सहायतासे अपनी विकसित होती मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताको सतुष्ट करे। यह उसकी समूची आवश्यकता तो नही, किन्तु उसका और मानवीय पूर्णताका एक बड़ा और आरम्भिक भाग है। इसका पूरा अर्थ बादमे प्रकट होता है, क्योंकि केवल आरम्भमे और प्रतीयमान रूपमे ही वह उसके प्राणके आवेगकी तरह दिखाई देगा, अन्तमे और वस्तुत वह इस रूपमे दिखाई देगा कि वह उसके अन्तरात्माकी आवश्यकता रहा है, दिव्यतर जीवनके लिये उपयुक्त उपकरणोकी तैयारी और उपयुक्त परिवेशकी रचना रहा है। पृथ्वीपर ईश्वरकी विधाओका अनुचर होने और अपने अन्दर ईश्वरकी परिपूर्त्तिके लिये ही वह यहाँ नियुक्त किया गया है और अवश्य ही उसे न तो पृथ्वीका तिरस्कार करना चाहिये, न ईश्वरकी प्रथम शक्तियो और शक्यताओके लिये दिये गये आधारका वर्जन। उसके विचार और लक्ष्य जब उस दिशामे अति डट जाते हैं,तब यदि उसे कुछ समयके लिये दूसरी चरमताकी ओर, निषेधात्मक या भावात्मक,

अप्रकट या प्रकट भौतिकवादकी ओर वापस झकोर दिया जाता है तो उसे शिकायत नही करनी चाहिये। यह प्रकृतिकी उग्र रीति है जिससे वह मनुष्यमे अपने स्वातिरेक-को ठीक करती है।

परन्तु भौतिकवाद अस्तित्वके एक विश्वव्यापी सत्यको जो उत्तर देता है उसीसे उसे बौद्धिक बल मिलता है। हमारी प्रबल सम्मतियोके पीछे सदा दो शक्तियाँ रहती हैं, एक तो हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता और एक विश्वास्तित्वका सत्य जिससे वह आवश्यकता उद्‌गत होती है। हमारी भौतिक और प्राणिक आवश्यकता होती है क्योकि जडगत जीवन हमारा वास्तविक आधार है, हमारे मनका पृथ्वीकी ओर मोड होता है क्योकि पृथ्वी अध्यात्म-पुरुषकी क्रियाओके लिये यहाँकी भित्ति होनेके रूपमे अभिप्रेत थी और है। वास्तवमे जब हम सावधान बुद्धिसे अपने सामने उपस्थित होते विश्व-सत्ताके रूपका पर्यावलोकन करते या यह अध्ययन करते है कि हम उसके साथ कहाँपर एक है या इस सबमे वह क्या है जो सबसे अधिक वैश्व और चिरस्थायी लगता है, तो हमे जो पहला उत्तर मिलता है वह आध्यात्मिक नही, भौतिक होता है। उपनिषदोके ऋषियोने इसे अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टिसे देखा था और जब उन्होने 'सत्ता' के विषयमे हमारे प्रथम और प्रतीयमानत सम्पूर्ण, परन्तु अन्तमे अपर्याप्त रहते दर्शनको इस भाँति व्यक्त किया, "अन्न ही ब्रह्म है, अन्नसे ही सारी वस्तुओकी उत्पत्ति हुई है, अन्नमे ही उनका अस्तित्व है, अन्नमे ही वे वापस जाती हैं," तो उन्होने सार्वभौमिक सत्यका ऐसा सूत्र निर्धारित किया जो सारे भौतिकवादी चिन्तन और भौतिक विज्ञानके लिये मान्य है और वह चिन्तन और वह विज्ञान इसीमे किया गया अनुसधान है, इसीके सार्थक ब्योरे स्पष्टीकरणो, समर्थक व्यापारो और अभिव्यजिका प्रक्रियाओका भरा जाना है, एक ही मूल पाठपर प्रकृतिकी विश्वव्यापिनी टीका है।

ध्यान देनेकी बात यह है कि यह अनुभवका प्रथम तथ्य है जिससे हम आरम्भ करते है और जो एक अमुक बिन्दुतक सत्ताका निर्विवाद और सार्वभौमिक सत्य है। यहाँ अवश्य ही जडतत्त्व हमारा आधार है, वह अद्वितीय वस्तु है जो है और टिकी रहती है जब कि प्राण, मन अन्तरात्मा और अन्य सब कुछ उसमे गौण व्यापार लगते है, किसी तरह उससे उद्‌गत होते, उसका आहार करते लगते हैं — अतएव उपनिषदोमे जड-तत्त्वके लिये अन्न (आहार) शब्दका उपयोग किया गया है,—और जब जडका विलोप हो जाता है तो वे भी ध्वस होकर हमारी दृष्टिसे बाहर हो जाते हैं। प्रतीयमान रूपमे जडका अस्तित्व उनके लिये आवश्यक है, जब कि उनका अस्तित्व जडके लिये तिल मात्र भी आवश्यक नही प्रतीत होता। 'सत्-पुरुष' सर्वप्रथम अपने इसी रूपमे अटल भावसे प्रकट होता है मानो वह यह दावा करता हो कि वह वही है, अन्य कुछ भी नही,

वह यह आग्रह करता है कि उसके जड आधारकी और उसकी आवश्यकताकी तुष्टि सबसे पहले की जायगी और, जबतक ऐसा नही कर दिया जाता वह हमारी आदर्शात्मिका भावुकताकी ओर अत्यल्प ध्यान देता हुआ या कुछ भी ध्यान नही देता हुआ दृढतासे अडा रहता है और उससे यदि हमारे नैतिक, हमारे सौन्दर्यरसिक और हमारे अन्य अधिक उत्कृष्ट बोधोका सुकुमार जाल टूट जाता है तो उसे इसकी परवाह नही रहती। उन्हे अपने राज्यकी आशा रहती है, परन्तु फिर भी विश्वास्तित्वका पहला रूप यही होता है और हमे अपना चेहरा इसकी ओरसे छिपा नही लेना है, अर्जुन भी तो कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमे भगवान्‌के कराल मुखडेसे नही छिपा पाया था, न ही हम उससे वैसे पलायन करने और बचनेका प्रयत्न कर सकते हैं जैसे शिव अपने चारो ओर आद्या शक्तिके बहुतेरे विकराल रूपोके उद्‌भूत होनेपर अपने देवत्वको भूलकर उस दृश्यसे इधर-उधर भागते फिरे थे। हमे जीवनको अवश्य ही सीधी नजरसे देखना चाहिये, चाहे उसका जो कोई भी रूप हमारे सामने आय, और भगवान्‌को उसके अन्दर भी और पीछे भी पानेके लिये सबल होना चाहिये।

जडवादी विज्ञानमे यह साहस था कि वह इस सार्वभौमिक सत्यको सन्तुलित आँखोसे देखे, उसे आरम्भ-बिन्दुके रूपमे शान्तिसे स्वीकार करे और यह पूछे कि क्या आखिरकार वह विश्वसत्ताका समूचा सूत्र नही। भौतिक विज्ञानको अपनी पहली दृष्टिमे अवश्य ही जडवादी होना होगा क्योकि जबतक वह भौतिकसे व्यवहार करता है, उसे अपने दृष्टिकोण और पद्धति दोनोमे अपने स्व-सत्यके लिये भौतिक होना होगा, उसे भौतिक विश्वकी व्याख्या प्रथमत अन्नमय ब्रह्मकी भाषा और प्रतीकोमे करनी होगी, कारण,ये उसके प्राथमिक और सर्वसामान्य पद हैं और अन्य सब द्वितीय स्थानमे आते हैं, उत्तरवर्त्ती है, एक विशेष अक्षर-माला हैं। आरम्भसे ही एक स्वेच्छाचारिताकी राहको अपनाना तुरत ही कल्पनाओ और मिथ्यात्वोकी ओर ले जायगा। विज्ञानको किसी अन्य प्रकारकी कल्पना और सबोधिमे प्रश्रय लेनेकी पुकारका अच्छा न लगना आरम्भमे उचित होता है। पदार्थोके व्यापार इन्द्रियो और उनके उपकरणात्मक प्रवर्द्धनके सामने जिन रूपोमे उपस्थित होते हैं उनके वृत्तसे भौतिक विज्ञानको जो भी चीज बाहर खीचती है और बुद्धिकी अनुभव तथा परीक्षणकी कठोर जाँच द्वारा उनसे व्यवहार करनेसे उसे अलग हटाती है, वह अवश्य ही विज्ञानको उसके कार्यसे विरक्त करेगी और स्वीकार्य नही होगी। वह वस्तुके विषयमे मानवीय दृष्टिको लानेकी अनुमति नही दे सकता, उसे मनुष्यकी व्याख्या विश्वके शब्दोमे करनी है, न कि विश्वकी व्याख्या मनुष्यके शब्दोमे। भाववादीका जो यह अति सुगम निष्कर्ष है कि चूंकि वस्तुओका अस्तित्व केवल वैसा होता है जिस रूपमे वे चेतनाको ज्ञात होते

हैं, अत उनका अस्तित्व केवल चेतना द्वारा हो सकता है और उन्हे अवश्य ही मनकी रचनाएँ होना चाहिये, इसका विज्ञानके लिये कोई अर्थ नही होता, प्रथमत उसे यह पूछना होता है कि चेतना क्या है, क्या वह जडका कारण न होकर बल्कि उसका परिणाम नही, क्योकि जैसा कि लगता है, वह जड और निश्चेतन विश्वके ढाँचेमे ही अस्तित्वमे आती है और, प्रतीयमानत वह अस्तित्व रखनेमे केवल इसी शर्त्तपर समर्थ रहती है कि वह ढाँचा पहलेसे स्थापित हो चुका हो। जडसे आरम्भ करनेके कारण विज्ञानको, कमसे कम प्राक्कल्पित रूपमे, जडवादी होना होगा।

जडतत्त्वकी क्रिया सगठित होनेमे सर्वप्रथम है, उसे कुछ दूरीतक अच्छी तरह समझ लेनेके बाद ही यह विज्ञान प्राण और मनपर विचार करनेकी ओर आगे बढ सकता है जो कि हमारी सत्ताके बिल्कुल अन्य तत्त्व होनेका दावा करते है। परन्तु पहले वह अपनेसे यह पूछनेको बाध्य होता है कि क्या मन और प्राण, दोनो ही, जैसा कि लगता है, भौतिक विकासक्रमके विशेष परिणाम नही, जडकी शक्तियाँ तथा गतिविधि ही नही ? यदि और जब यह व्याख्या तथ्योको अपने दायरेमे लेने और स्पष्ट करनेमे विफल हो चुकती है उसके बाद अधिक स्वतन्त्रतासे यह अनुसन्धान किया जा सकता है कि क्या वे सत्ताके बिल्कुल ही भिन्न तत्त्व नही। नाना दार्शनिक प्रश्न उठते हैं, जैसे, क्या उन्होंने जडमे प्रवेश किया है और कहाँसे, और क्या वे सदा ही उसके अन्दर थे, और यदि ऐसा है, तो क्या उनकी क्रिया सर्वदा न्यून और गौण है या कि उनकी सारभूत शक्ति महत्तर है, क्या वे उसके अन्दर समाये हुए हैं या वस्तुत उन्होंने ही उसे धारण कर रखा है, क्या वे उसके बाद आये हैं और उसके पूर्वप्राकट्यपर निर्भर करते हैं या कि यह उनका यहाँका सगठित प्रतीयमान रूप ही है परन्तु वस्तुत उनकी सत्ता और शक्ति जडमे पहलेकी है और स्वय जड प्राण तथा मनके मूलभूत पूर्वास्तित्वपर निर्भर करता है ? अब एक महत्तर प्रश्न उठता है, क्या मन ही अन्तिम पद है, या कि उसके परे भी कुछ है ? क्या अन्तरात्मा केवल मन, प्राण तथा शरीरकी पारस्परिक क्रियाका प्रतीयमान परिणाम तथा व्यापार है या कि उसमे हमे हमारी सत्ता और सारी सत्ताका एक स्वतन्त्र तत्त्व मिलता है जो कि महत्तर, पूर्ववर्त्ती और अन्तिम है, सारी जडसत्ता निगूढ आध्यात्मिक चेतनाका एक साथ ही आधार और आधेय है, अध्यात्मसत्ता ही प्रथम, अन्तिम और सनातन है, आदि और अन्त है, ओऽम है। अनुभवमूलक दर्शन-सिद्धान्तके लिये जड, मन, प्राण या अध्यात्म-तत्त्वमेसे कोई भी परम सत् हो सकता है, परन्तु इन उच्चतर तत्त्वोमेसे किसीको भी हमारे विचारका समस्त बौद्धिक प्रश्न-शीलताकी ओर से निरापद रहनेवाला आधार तबतक नहीं बनाया जा सकता जबतक कि भौतिकवादी प्राक्कल्पनाको पहले उसका अवसर न दे दिया गया हो और वह जाँच

न ली गई हो। हो मकता है कि विश्वके भौतिकवादी अनुसन्धानका उपयोग अन्तमे यही प्रमाणित हो और उसकी गवेषणा अस्तित्वकी आध्यात्मिक व्याख्याकी अन्तिमता-के लिये महत्तम सम्भव सेवा रही हो। जो कुछ भी हो, भौतिकवादी विज्ञान और दर्शन आखिरकार निष्पक्ष रूपसे जानने और निर्व्यक्तिक रूपसे देखनेका महान् और कठोर प्रयत्न रहे हैं। उन्होंने ऐसी वहुतसी चीजोको अस्वीकार किया है जो अब पुन प्रतिष्ठित हो रही हैं, परन्तु वह अस्वीकृति ज्ञानके कठोरतर प्रयत्नकी शर्त्त थी और उनके लिये वही वात कही जा मकती है जो वरुणपुत्र भृगुके वारेमे उपनिषद्मे है, "स तपस्तप्त्वा अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्." उसने तप करके जाना कि अन्न ही ब्रह्म है।

जडवादसे आरम्भ करनेवाला ज्ञान अपने-आपको जिन सीमाओमे वन्दी वना लेता है उनमेसे वच निकलनेके द्वारोका सकेत यहाँ प्रसग-रूपमे ही किया जा सकता है। यह सम्भावना वस्तुत अन्तमे कैसे अनिवार्य बन जायगी यह दिखलानेके लिये मुझे दूसरा अवसर चाहिये। भौतिक विज्ञानकी आँखोके सामने अस्तित्वके दो शाश्वत तत्त्व हैं, जड तथा ऊर्जा, और उसके क्रियाकलापके विवरणमे किन्ही अन्य तत्त्वोकी कतई आवश्यकता नहीं होती। जड और ऊर्जाके तथ्य और सम्वन्ध अनुभव और अनुवर्त्ती परीक्षणमे जिस प्रकार आयोजित किये जाते और वुद्धिके द्वारा विश्लेषित किये जाते हैं उनसे व्यवहार करता हुआ मन,—इसे भौतिक विज्ञानकी पर्याप्त परिभाषा होना चाहिए। उसकी पहली दृष्टिमे सत्ताका अद्वय तत्त्व है जड, ऊर्जा जडका व्यापार मात्र है, परन्तु अन्तमे यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तविकता इससे उल्टी नही, क्या ऐसा नही कि सारी वस्तुऐं ऊर्जाकी क्रिया हैं, और जड उसकी क्रियाओका क्षेत्र, शरीर और उपकरण ही? पहली दृष्टि परिमाणात्मक और निरी यान्त्रिक है, दूसरी एक गुणात्मक और अधिक आध्यात्मिक तत्त्वको प्रवेश देती है। इससे हम तुरन्त ही जड-वादी वृत्तमेसे वाहर नही हो जाते, प्रत्युत हम उसमे एक छिद्र देख लेते हैं जो चौडा होकर बाहर निकलनेकी राह तव हो जा सकता है जब कि हम इस सकेतसे चालित होकर, प्राण तथा मनको जडगत व्यापार मात्रके रूपमे नही, वरन् ऊर्जाओके रूपमे देखते हैं और यह देखते है कि वे जड ऊर्जासे बिल्कुल भिन्न ऊर्जाऐं हैं, उनके अपने ही विशिष्ट गुण, शक्तियाँ और क्रियाऐं हैं। यदि वस्तुत प्राण तथा मनकी सारी क्रियाको, जैसे एक समय आशा की जाती थी, केवल भौतिक परिमाणात्मक और यान्त्रिक, गणितिक, शारीरिक और रसायनिक पदोमे ही निर्धारित कर दिया जा सके तो वह छिद्र बाहर निकलनेकी राह नही रह जायगा, वह रुद्ध हो जायगा। वह प्रयत्न हार चुका है और वह कभी भी सफल हो सकेगा इसका कोई चिह्न नही मिलता। निरी जैव-शारीरिक, मानसिक-शारीरिक या जैव-मानसिक व्याख्या प्राण तथा मनके व्यापारोके एक सीमित

प्रदेशकी ही व्याख्या कर सकती है, और वे तथ्य यदि अधिक चीजोके साथ भी व्यवहार कर सके तो भी उनके रहस्यके किसी एक ही पहलूका, उनके निम्नतर भागका ही विवरण मिल सकेगा। वैदिक अग्निकी तरह् प्राण तथा मनके दोनो छोर एक निगूढतामे छिपे हैं, और इस विधिसे हम उसकी पूँछका सिरा ही पकड सकेगे, मस्तक फिर भी रहस्यमय और प्रच्छन्न रहेगा। अधिक जाननेके लिये हमे केवल मन तथा प्राणपर शरीर तथा जडकी सम्भव या वास्तिविक क्रियाका ही अध्ययन नही कर लेना होगा, वरन् प्राण तथा शरीरपर मनकी जो क्रिया सम्भव है उस सबका अन्वेषण कर लेना होगा, इससे अकल्पित दृश्य खुलते है। और फिर सदा वह विशाल क्षेत्र भी रहता ही है, मनकी अपने-आपमे और अपने-आपपर क्रियाका क्षेत्र, जिसके स्पष्टीकरणके लिये एक अन्य विज्ञान, मानसिक विज्ञान, चैत्यिक विज्ञानकी आवश्यकता होती है।

जडकी परीक्षा तथा व्याख्या भौतिक पद्धतियोसे और अन्नमय ब्रह्मकी भाषामे कह चुकनेपर,—सत्यत इसकी व्याख्या नही हुई होती, परन्तु इसे चलने दे,– ज्ञानकी उस विधिको अन्य क्षेत्रोमे एक सकीर्ण सीमासे आगे ले जानेमे विफल होकर, हमे अवश्य ही कमसे कम इसके लिये राजी होना चाहिये कि प्राण तथा मनकी सवीक्षा उनकी उपयुक्त पद्धतियो द्वारा की जाय और उनके तथ्योकी व्याख्या प्राणब्रह्म तथा मन-ब्रह्मकी भाषा और प्रतीकोमे की जाय। तब हम यह आविष्कार कर सकते हैं कि उस एक ही अस्तित्वकी ये भाषाएँ उस एक ही सत्यको कहाँ और कैसे व्यक्त करती और एक दूसरीके वचनोपर प्रकाश डालती हैं, और हम शायद एक अन्य, उच्च, दीप्तिमयी और उद्भासिका वाणीका भी आविष्कार कर सकते हैं जो निश्चयात्मक और सर्व-व्याख्याता शब्दके रूपमे चमक उठे। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब कि हम इन विज्ञानोमे भी उसी भावसे जुटे जिस भावसे हम भौतिक विज्ञानमे जुटे थे, उनके केवल प्रत्यक्ष और प्रथम वास्तविक व्यापारोकी ही नही, प्रत्युत मानसिक ऊर्जा और अति-भौतिक ऊर्जाकी सारी असख्य अपरीक्षित शक्यताओकी सवीक्षा करे, और निर्बन्ध तथा असीम परीक्षणसे करे। हमे पता चलेगा कि उनके अज्ञात प्रदेश बृहत् हैं। हमे यह प्रत्यक्ष होगा कि जब तक मन तथा अध्यात्मकी सम्भावनाओकी खोज अच्छी तरह नही हो जाती और उनके सत्य अधिक अच्छी तरह नही जान लिये जाते, तबतक हम विश्वास्तित्वका अन्तिम सर्वग्राही सूत्र उच्चारित नही कर सकते। इस प्रक्रियामे बहुत आरम्भमे ही देखनेमे आयगा कि जडवादी वृत्त अपने सारे पार्श्वोमे खुलता जायगा और अन्तमे वह तेजीसे भग और विलुप्त हो जायगा। विज्ञानकी तात्त्विक कठोर पद्धति-से फिर भी ससक्त रहते हुए,—किन्तु उसके निरे भौतिक उपकरण-विन्यास से नही—सवीक्षा करते हुए, परीक्षण करते हुए, किसीको भी तब तक स्थापित न मानते हुए

जब तक कि उसका सत्य कडाईसे और सार्वभौमिक रूपसे परीक्षित न हो जाय, ह
फिर भी अतिभौतिक निश्चितियोपर पहुँचेगे। अन्य साधन हैं, श्रेष्ठतर मार्ग हैं, पर
इस धाराकी राह भी उसे अद्वय मार्वभौमिक सत्यतक ले जा सकती है।

जडवादी शताब्दियोके परिश्रमकी तीन चीजे बची रहेंगी, भौतिक जगत्
सत्य और उसका महत्त्व, ज्ञानकी वैज्ञानिक पद्धति,—जो यह है कि प्रकृति और पुर
को अपनी सत्ता और आचरणकी स्वविधि प्रकट करनेके लिये राजी किया जाय, उन
अध्यारोपकी उतावली न की जाय,—और अन्तमे, किन्तु यह बात महत्त्वमे न्यूनत
होनेसे बहुत दूर है, पार्थिव जीवन और मानव-प्रयासका सत्य और महत्त्व, उसक
क्रमवैकासिक अर्थ। ये चीजे रहेगी तो सही परन्तु अन्य अर्थकी ओर मुड जायँगी अ
महत्तर परिणाम प्रकट करेगी। अपनी आशा और अपने श्रमके विषयमे अधिक निश्चि
होकर हम इन सबको एक अधिक विशालतर तथा अधिक अन्तरग जगत्-ज्ञान त
आत्म-ज्ञानके प्रकाशमे रूपान्तरित होता देखेगे।

"आर्य," अक्तूबर 1918

भाग्य और स्वतंत्र इच्छा

जगत्पर शासन करनेवाली शक्ति सज्ञान हो या ज्ञानहीन, उसके साथ अपने सम्बन्धमे मनुष्य स्वतत्र है या नही, इस प्रश्नपर मानव-विचारधाराओमे मतभेद रहा है और इसका कोई अन्तिम समाधान नही मिला है। हम अपने मानवीय सम्बन्धो-मे स्वतत्रताके लिये चेष्टा करते हैं, स्वतत्रताको अपना लक्ष्य मानकर आगे वढते हैं, अपनी मानवीय प्रगतिमे हम जो भी नया पग उठाते है वह हमे अपने आदर्शकी ओर आगे वढा देता है। पर क्या हम अपने-आपमे स्वतत्र हैं? हमे लगता है कि हम स्वतत्र हैं और हम वह करते हैं जिसे हमने चुना है, न कि वह जो हमारे लिये चुना जाता हो। परन्तु यह भी सम्भव है कि हमारी स्वतत्रता भ्रम हो और हमारी प्रतीयमान स्वतत्रता वास्तविक और लौह दासता ही। हो सकता है कि हम प्रारव्धसे, एक सर्वोच्च सज्ञान शक्तिकी इच्छासे, या अन्धी और अटल प्रकृतिकी इच्छासे, या अपने ही पूर्वकालिक विकासकी आवश्यकतासे वँधे हो।

पहला उत्तर ईश्वरपर निर्भर श्रद्धालु और विनम्र मनका है, परन्तु हम यदि कालविनके नियतिवादको ही स्वीकार न कर ले तो ईश्वरकी पथप्रदर्शिका और सर्वो-परि इच्छाको स्वीकार करनेका अर्थ व्यक्तिकी स्वतत्रताका वर्जन नही होता। दूसरा उत्तर वैज्ञानिकका है, वशपरम्परा ही हमारी प्रकृतिको निर्धारित करती है, प्रकृतिके विधान हमारे कर्मको सीमित करते हैं, कारण और परिणाम हमारे विकासकी धाराको प्रवृत्त करते हैं, और यदि यह कहा जाय कि हम कारणोको उत्पन्न करके परिणामोका निर्धारण कर सकते हैं तो उसका यह उत्तर होता है कि हमारे अपने कार्य तो पहलेके कारणोसे निर्धारित होते हैं जिनपर हमारा कोई वश नही और हमारा कर्म भी वाहरसे आनेवाले किसी उद्दीपकको दिया गया अनिवार्य प्रत्युत्तर ही होता है। तीसरा उत्तर है वौद्धोका और वौद्धोत्तर हिन्दू धर्मका। "यह तो हमारा भाग्य है, यह हमारे ललाट-पर लिखा हुआ है, जव हमारे कर्मका क्षय होता है केवल तभी हमारी विपदाएँ दूर होती हैं",—यह तामसिक निष्क्रियताकी भावना है जो कर्मके सिद्धान्तका गलत अर्थ लगाकर अपना औचित्य प्रतिष्ठित करती है।

यदि हम वौद्ध प्रभावसे अछूती सच्ची हिन्दू शिक्षाकी ओर वापस जायँ तो देखेगे कि वह इस झगडेका समाधान हमे मानव-मनोविज्ञानकी एक ऐसी दृष्टिमे देती है

जो भाग्य और स्वतत्र इच्छा दोनोको स्वीकार करती है। वौद्ध और हिन्दू धर्मोमे भेद यह है कि वौद्धधर्मके लिये मानव-अन्तरात्मा कुछ भी नही, किन्तु हिन्दू धर्मके लिये वह सव कुछ है। समूचे विश्वका अस्तित्व आत्मामे, आत्माके द्वारा, आत्माके लिये है, हम जो कुछ करते, सोचते और अनुभव करते हैं, आत्माके लिये, प्रकृति आत्मापर निर्भर है, उसकी सारी गतिविधि, क्रीडा, क्रियाकलाप आत्माके लिये है।

भाग्य और कुछ नहीं एक अटूट कार्यकारण सम्वन्ध है जो विधि या विधानका ही दूसरा नाम है, और यह विधान आत्माकी तुष्टिके लिये प्रकृतिके हाथमे यत्र मात्र है। विधान और कुछ नही, वस क्रियाकी प्रणाली या नियम है, उसे हमारे दर्शनमे विधान नही वल्कि धर्म, एक साथ धारण किये रखना कहा गया है, यह वह तत्त्व है जिसमे विश्वका कार्य उसके अगोका कार्य और व्यक्तिका कार्य एक साथ धृत रहते हैं। विश्वमे अगो और व्यक्तियोमे इस कार्यको कर्म क्रिया, क्रीडा या ऊर्जा कहा जाता है, और जिस वस्तुमे कर्म घटित होता है उसकी प्रकृति द्वारा नियत कर्म, 'स्वभावनियतम् कर्म',' धर्म या विधानकी परिभाषा है। प्रत्येक पृथक् सत्ताका, प्रत्येक व्यक्तिका एक स्वभाव है और वह उसीके अनुसार कार्य करता है, व्यक्तियोके प्रत्येक दल, जाति या समष्टिका एक स्वभाव है और वह दल, जाति या समष्टि उसीके अनुसार कार्य करती है, और फिर विश्वका भी अपना स्वभाव है और वह उसीके अनुसार कार्य करता है, वही उसकी पशुओ, वृक्षो या अन्य व्यक्ति-समूहोसे भिन्न सत्ताका धर्म है। प्रत्येक मनुष्यका एक अपना विविक्त स्वभाव है और वही उसकी सत्ताका धर्म है और उसे ही उसके व्यक्ति-रूपमे उसका पथप्रदर्शन करना चाहिये। परन्तु उन छोटे-छोटे धर्मोसे ऊपर और परे विश्वका महान् धर्म है जो यह कहता है कि अमुक पूर्वकर्म अवश्य ही अमुक नवीन कर्म या फल उत्पन्न करेगा।

कार्यकारण-सम्वन्धके सारे नियमकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि पूर्वकर्म वादके कर्मको, कर्मफलको ले आता है। हिन्दू मत यह है कि वास्तविक वाणी या कार्यके साथ-साथ विचार और भावनाएँ भी कर्मका अग हैं और परिणाम उत्पन्न करती हैं, और हम इस यूरोपीय भावनाको स्वीकार नही करते कि वाणी और कार्यके रूपमे विचार और भावनाकी वाहरी अभिव्यक्ति स्वय विचार या भावनासे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह वाहरी अभिव्यक्ति अभिव्यक्त वस्तुका अश मात्र और उसके परिणाम भी कर्मफलका अश मात्र हैं। पूर्वकर्मके फल या परिणाम एक प्रकारके नही, अनेक प्रकारके होते हैं। प्रथमत विचार या भावनाका एक विशेष प्रकारका अभ्यास इस जीवनमे विशेष प्रकारका कर्म और वचन या कर्म और वचनके विशेष प्रकारके अभ्यास उत्पन्न करता है जो दूसरे जन्ममे सौभाग्य या दुर्भाग्यके रूपमे आकार

धारण करते हैं। फिर, वह दूमरोकी भलाई या बुराईके लिये किये गये अपने कर्ममे दूमरे जन्ममे हमारे लिये मुख या दु खकी अवश्यम्भाविता उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भावी जीवनोमे विचार या भावनाके उम अभ्यामके वने रहनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करता है जिममे मौभाग्य-दुर्भाग्यका मुख-दु खका वना रहना अन्तर्निहित रहता है। अथवा अन्य रेखाओपर काम करता हुआ, वह एक विद्रोह या प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है वर्तमानके म्थानपर विपरीत अभ्यामोको ला विठाना है जो अच्छाई और वुराईके लिये उलटे परिणाम पैदा करते हैं। यही कर्म-शृंखला है, कर्म-वन्धन है जिसे हिन्दू भाग्य कहते और जिममे वे छुटकारा चाहते हैं।

परन्तु यदि विधानमे वचना मम्भव न हो, प्रकृति यदि परम और अप्रशाम्य हो, तो फिर छुटकारा नही हो सकता, तव स्वतत्रता हो जाता है कपोलकल्पना वन्धन हो जाता है चिरवन्धन। निस्तार तव तक नही मिल सकता जव तक हमारे अन्दर ऐमा कुछ न हो जो म्वतन्त्र और स्वामी हो, प्रकृतिमे श्रेष्ठतर हो। यह हस्ती हिन्दू ज्ञानको चिरस्वतत्र तथा चिरानन्दमय आत्मामे मिलती है जो विश्वके परमात्माके साथ तत्त्वत और यथार्थत एक है। आत्मा कार्य नही करता, प्रकृति ही अपने अन्दर कार्यको धारण किये रहती है। यदि आत्मा कार्य करता तो वह अपने कार्यसे वद्ध हो जाता। जो वस्तु कार्य करती है वह है प्रकृति जो कि वस्तुओके स्वभावको नियत करती है और धर्म या विधानका स्रोत और परिस्थिति है। अन्तरात्मा या पुरुप स्वभाव-का धारक है, सारे कर्म और कर्म-फलका उपद्रष्टा और भोक्ता है, धर्म और विधानका अनुमन्ता है। वह राजा, प्रभु या ईश्वर है और उमकी अनुमतिके विना प्रकृति कुछ भी नही कर सकती। परन्तु राजा विधानसे ऊपर और स्वतत्र है।

अनुमति देनेकी यह शक्ति ही हमारे जीवनोमे स्वतत्र इच्छाका तत्त्व होती है। आत्मा अपने-आपके वद्ध होनेकी अनुमति नही देता, वल्कि यह अनुमति देता है कि उसका भोग काल, देश और कार्यकारण-परम्परासे तथा स्वभाव और धर्मसे आवद्ध हो। वह पुण्य या पाप, सौभाग्य या दुर्भाग्य, स्वस्थता या रुग्णता, सुख या दु खके लिये अनुमति देता या उन्हे अम्वीकार कर देता है। जिस चीजसे वह आमक्त होता है उसे प्रकृति उमके लिये वहुल करती है, जिससे वह थक जाता है, जिसके लिये उममे वैराग्य होता है उसे प्रकृति उमसे अलग हटा लेती है। वम, होता यह है कि चूंकि भोग देश और कालमे होता है, अत अनुमतिके वापम ले लेनेके वाद भी अभ्यासगत क्रिया कुछ ममयतक होती रहती है, ऐसा वैमे ही होता है जैमे भाप वन्द कर देनेके वाद भी इजन चलता रहता है पर कुछ देरके वाद वह धीमा हो जाता है और उन्तमे एकदम रुक जाता है। और चूंकि भोग कार्यकारण-परम्परामे होता है अत. कर्मका अभ्यास स्वयमेव और

स्वतन्त्रतासे नही, बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया या बहुत-सी सुव्यवस्थित प्रक्रियाओ-मेसे किसी एकके द्वारा छूटता है। अव ससारके सामने यह महान् सत्य प्रकट हो रहा है कि 'इच्छा' ही वह चीज है जो ससारको चला रही है और भाग्य तो प्रक्रिया मात्र है जिसके द्वारा 'इच्छा' अपने-आपको चरितार्थ करती है।

परन्तु प्रकृतिके ऊपर अपने प्रभुत्वका अनुभव करनेके लिये मानव-अन्तरात्माको अनन्तके साथ, विश्वात्माके साथ योग स्थापित करना होगा। उसकी इच्छाको विश्व-व्यापिनी इच्छाके साथ एक हो जाना होगा। मानव-अन्तरात्मा विश्वात्माके साथ एक है, परन्तु शरीरमे वह पृथक् और असवद्ध वस्तुकी तरह स्थित होता है क्योंकि उसे एक अमुक स्वतन्त्रता दी गई है ताकि वस्तुओका स्वभाव विभिन्न शरीरमे विभिन्न रूपोमे विकसित हो सके। इस स्वतन्त्रताका उपयोग मानव-जीव अज्ञानपूर्वक कर सकता है या ज्ञानपूर्वक। यदि वह इसका उपयोग अज्ञानपूर्वक करता है तो वह वास्तव-मे स्वतन्त्र नही, क्योंकि अज्ञान प्रकृतिके हाथमे होनेका भ्रम अपने साथ ले आता है। ज्ञानपूर्वक उपयोग करनेपर जीवकी स्वतन्त्रता वैश्व इच्छाके प्रति समर्पण हो जाती है। मानव-जीवके सामने यह चुनाव रखा गया है कि या तो वह प्रकृतिके अन्दर भाग्यका प्रतीयमान वन्धन स्वीकार करे या परमात्मा और परमेश्वरकी विश्वव्यापिनी स्वतन्त्रता एव प्रभुतामे प्रकृतिमेसे ससिद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त करे। अपने-आपको प्रकृति-के वन्धनमेसे धीरे-धीरे मुक्त करना ही मनुष्यजातिकी सच्ची प्रगति है। जड पत्थर या कुन्दा प्राकृतिक नियमोकी निष्क्रिय क्रीडा है, ईश्वर उनका स्वामी। मनुष्य इन दो चरम छोरोके बीच खडा है और एकसे दूसरेकी ओर ऊपर उठ रहा है।

"कर्मयोगी," 29 1 1910

कर्मकी उलझन

यह स्पष्ट है कि कर्मके प्रचलित सिद्धान्तको और विश्वात्माकी कार्यविधियोका औचित्य सिद्ध करनेके उसके छिछले प्रयत्नको हमे बहुत पीछे छोड देना चाहिये, क्योकि वह विश्वात्माकी कार्यविधियोका नियम-विधान और न्यायकी सक्षिप्त धारणाओके साथ जबरदस्ती और भद्देपनसे एकसाम्य करनेका प्रयत्न करता है, मनुष्यके बाह्य मनको प्रिय रहनेवाली पुरस्कार और दड, लोभ और भयकी भद्दी और प्राय: बर्बरता पूर्ण आदिम पद्धतियोको विश्वात्माकी कार्य-पद्धतियोपर जबरदस्ती लादनेकी कोशिश करता है। यहाँ, प्रकृतिकी क्रियाके मूलमे, एक अधिक वास्तविक और आध्यात्मिक सत्य है और ऐसी यात्रिक क्रिया बहुत ही कम होती है जिसका हिसाब लगाया जा सके। यहाँ तुच्छ मानवीय महत्त्वसे बँधा हुआ कठोर और सकीर्ण नैतिक नियम नही है पिटाई और मिठाईकी मिश्रित प्रणालीमे शिशु-आत्माको दी जानेवाली शिक्षा नही है, बर्बर क्रूरता युक्त वैश्व न्यायका निरर्थक चक्र नहीं है जो मनुष्यके अज्ञानपूर्ण निर्णयो तथा सामाजिक इच्छाओ और प्रवृत्तियोके रास्तेपर स्वचालित यत्रकी भाँति चलता हो। जीवन और पुनर्जन्म इन कृत्रिम रचनाओका नही, अपितु किसी आत्मिक गतिधाराका अनुसरण करते हैं जिनका प्रकृतिके गम्भीरतम प्रयोजनसे अतरग सबध होता है। अवचेतन जडतत्वमेसे निकलते और अपनी ज्योतिर्मय दिव्यताकी ओर आरोहण करते अतरात्माकी चेतना और अनुभूतिके ऊर्ध्वारोहणपर दृष्टि रखनेवाली एक वैश्व इच्छा एव प्रज्ञा कर्मके मानदडको स्थिर करती है और कर्मकी रेखाओको, या यो कहे कि कर्मके सत्यको — क्योकि नियमकी धारणा तो अत्यधिक यात्रिक वस्तु है — निरन्तर विस्तारित करती है।

कारण, नियमसे हम जो समझते हैं वह है प्रकृतिमे होनेवाली कोई एक ही अ-परिवर्तनशील और अभ्यासगत गतिधारा या पुनरावृत्ति जिसके फलस्वरूप वस्तुओकी एक सुनिश्चित क्रम-परपरा उत्पन्न होती है और वह क्रम होना चाहिये सुस्पष्ट, सुनिश्चित, अपने नियम-विधानसे बँधा हुआ, अपरिवर्तनशील। यदि ऐसा नही है, यदि गतिधारा बहुत अधिक परिवर्तनशील है, यदि क्रिया और प्रतिक्रियाकी अत्यधिक घबडा देने-वाली विविधता या व्यतिक्रम, शक्तियोकी अत्यन्त प्रचुर जटिलता बीचमे आ पडती है, तो हमारी तर्कबुद्धिकी सकीर्ण और हठी अक्षमताको वहाँ कोई नियम

नही, एक अनिश्चितता और अस्तव्यस्तता ही दीखती है। हमारी तर्कबुद्धिको अपनी उपयुक्त परिस्थितियोको काटने-छाँटने तथा स्वच्छन्दतापूर्वक चुनने, अपनी अपरिवर्तनशील तथ्य-सामग्रीको पृथक् करने, जीवनका एक ढाँचा ही ढाँचा बना देने या उसे यान्त्रिक रूप देनेका अवसर अवश्य मिलना चाहिये, नही तो वह सूक्ष्म और अनिश्चित मानदडोके क्षेत्रमे ठीक-ठीक विचार करने या प्रभावशाली ढगसे कार्य करनेमे असमर्थ होकर मुँह फाडे भौचक्की सी खडी रह जाती है। उसे शक्तिमती प्रकृतिके साथ भी उसी प्रकार व्यवहार करने देना होगा जिस प्रकार कि वह मनुष्यके समाज, राजनीति, नीतिशास्त्र आचार आदिके साथ व्यवहार करती है, कारण, वह केवल वही समझ सकती और अच्छी तरह काम कर सकती है जहाँ उसे अपने ही कृत्रिम नियमोको बनाने और सुस्पष्ट रूपमे निर्धारित करने, एक स्पष्ट, सुनिश्चित, कठोर और अमोघ विधि-व्यवस्थाका निर्माण करने और 'अनन्त'से हमारे मन और प्राणपर दवाव डालनेवाली अतहीन परिवर्तनशीलता, विविधता और जटिलताके लिये यथासभव कमसे कम गुजाइश छोडनेका अधिकार-पत्र दे दिया जाता है। इस आवश्यकतासे चालित होकर हम अपने अतरात्माओके लिये और विश्वात्माके लिये भी एक ऐसा ही एकमात्र और अपरिवर्तनशील कर्मका नियम गढनेका प्रयत्न करते हैं जैसा कि यदि जगत्का शासन हमारे हाथमे सौंप दिया गया होता तो स्वय हमने बनाया होता। तब हमने यह रहस्यपूर्ण विश्व नही, बल्कि एक तर्कसंगत विश्वका नमूना बनाया होता जो हमारी क्रियामे सरल कौर सुनिश्चित मार्ग-दर्शनकी चाहके लिये और हमारी सीमित बुद्धिको सरल और सुस्पष्ट प्रतीत होनेवाले सुनिर्दिष्ट व्यावहारिक नियमकी आवश्यकताके लिये उपयुक्त होता। किन्तु यह शक्ति जिसे हम 'कर्म' कहते हैं कोई ऐसी सुनिश्चित और अपरिवर्तनशील यान्त्रिक क्रिया नही सिद्ध होती जैसी कि हमे आशा थी, बल्कि वह तो कई भिन्न-भिन्न भूमिकाओकी वस्तु है और ज्यो-ज्यो वह एकसे दूसरी उच्चतर भूमिकापर चढती है त्यो-त्यो, और प्रत्येक भूमिकापर भी, वह अपने रूप और चालको, तत्त्वतकको परिवर्तित कर देती है, क्योकि वह कोई एक ही गतिधारा नही, बल्कि एक अनिश्चित जटिल जाल है जो ऊपरकी ओर जानेवाली ऐसी अनेक वर्तुलाकार गति-धाराओमेसे निर्मित है जिनमे परस्पर सामजस्य स्थापित करना या यह पता लगाना हमारे लिये काफी मुश्किल होता है कि वे जटिलताएँ प्रकृतिके साथ पुरुषके व्यवहारोके इस विशाल क्षेत्रमे हमारे लिये अज्ञात और अचित्य रहनेवाले किस निगूढ सामजस्यका ताना-बाना बुन रही हैं।

तो हमे अब कर्मको नियम नही, वरन् समस्त क्रिया और जीवनका बहुमुखी सक्रिय सत्य, इस जगत्मे अनन्तकी आगिक गतिधारा कहना चाहिये। प्राचीन मनी-

पियोंने उसके अन्दरके इसी सत्यको देखा था, पीछे चलकर अल्पतर बुद्धिवाले मनुष्योंने उसे काटकर टुकडे-टुकडे कर डाला और आमान तथा भ्रमात्मक लोकप्रिय सूत्रका रूप दे दिया। कर्मकी क्रिया आत्माकी अनेक निगूढ सभावनाओकी गति-धाराओका अनुसरण करती है और उन्हे आत्माके असख्य हिलोरोमे, परस्पर सयुक्त होने और सघर्ष करनेवाली विश्व-शक्तियोकी अनेक तरगो और धाराओमे ले जाती है, वह सृजनात्मक 'अनन्त' की क्रियाविधि है, वह प्रकृतिमे व्यष्टि-आत्मा और विश्वात्माकी प्रगतिका दीर्घ एव बहुविध मार्ग है। उसकी जटिलताएँ हमारे भौतिक मन द्वारा नहीं सुलझायी जा सकती, क्योकि भौतिक मन सदा वस्तुओके ऊपरी रूपमे बँधा रहता है और न यह कार्य कामनामूलक प्राणात्मक मन द्वारा ही सभव है, क्योकि वह अपनी ही सहजप्रवृत्तियो, लालसाओ और दु साहसपूर्ण सकल्पोके गुबारमे दृश्य और अदृश्य लोकोकी उन असख्य अनुकूल और विरोधी शक्तियोकी भूलभूलैयामेमे लडखडाता आगे बढता है जो कि हमे चारो ओरसे घेरे रहती, प्रेरित करती, आगे धकेलती और रोकती हैं। और स्पष्ट कटे-छँटे सिद्धान्तोंकी खोजका दृढाग्रह करनेवाली हमारी तर्कबुद्धिकी निश्चितियो द्वारा भी उसका निर्दोष वर्गीकरण और व्याख्या सभव नही, उसे अलग-अलग गटठरोमे भी नही बाँधा जा सकता। अभी जो हमारे लिए प्रकृति द्वारा लिखी गयी कर्मकी अस्पष्ट चित्रलिपि है उसे हम केवल उस दिन बिलकुल ठीक-ठीक पढ सकेगे जब कि हमारी विस्तीर्ण चेतनामे ज्ञानकी अतिमानसिक विधिका उदय होगा। अतिमानसिक चक्षु एक ही दृष्टिमे सैकडो सयुक्त होती और पृथक् होती गतियोको देख सकता और अपने समन्वयात्मक सत्य-दर्शनकी विशालतामे उस सबको आवेष्टित कर सकता है जो हमारे मनके लिये असख्य परस्परविरोधी सत्यो और शक्तियोका सघर्ष, विरोध, मुठभेड और गुत्थमगुत्था-युद्ध है। अतिमानसिक दृष्टिमे सत्य एक ही साथ अद्वय और अनन्त होता है और उसकी क्रीडाकी जटिलताएँ 'शाश्वत' के बहु-मुख एकत्वकी समृद्ध अर्थवत्ताको बहुत ही सहजतासे प्रगट करनेमे सहायक होती हैं।

योग और मानव-विकासक्रम

हमारी मानव-प्रकृतिका सारा श्रम रहा है शरीर और प्राणावेगोके बन्धनसे परित्राण पानेका प्रयत्न। वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार मानव-प्राणीने आरम्भ किया पशु-रूपसे, वह वन्य मानवकी अवस्थामेसे विकसित होता हुआ बढा और उसने आधुनिक सभ्य मनुष्यकी उत्कृष्टता प्राप्त कर ली। भारतीय मत भिन्न है। ईश्वरने जगत् की सृष्टि 'एक' मे से वहु और आध्यात्मिकतामेसे भौतिकके विकास द्वारा की। भौतिक जगत्का निर्माण जिन पदार्थोसे हुआ है उन्हे ईश्वरने आरम्भसे ही उनके कारण-रूपमे आयोजित किया था, उन्हे सूक्ष्म या अतिभौतिक लोकमे उनकी सत्ताके धर्मानुसार विकसित किया था और तदुपरान्त सूक्ष्म या-भौतिक लोकमे अभिव्यक्त किया है। कारणसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे स्थूल, और फिर वापस, यही सूत्र है। जडमे एकवार अभिव्यक्त हो जानेपर जगत् ऐसे नियमो द्वारा अग्रसर होता है जो युग-युगान्तरमे भी नही बदलते, पर वह बढता है एक नियमित अनुक्रमसे, जब तक कि सब कुछ वापस उस मूलमे न चला जाय जहाँसे वह आया था। भौतिक वापस चला जाता है अति-भौतिकमे और अतिभौतिक सवृत है कारण अथवा बीजमे। उसे पुन तब व्यक्त किया जाता है जव विस्तरणका काल पुन आता है और वह अपनी यात्रामे सदृश रेखाओपर किन्तु भिन्न व्योरोसे तव तक चलता जाता है जव तक कि सकोचनका समय न आ जाय। हिन्दू मत जगत्के प्रपचके पुनरावर्त्तनशील धाराक्रमकी तरह देखता है जिसकी शैली भिन्न होती है किन्तु सामान्य सूत्र वहीका वही रहता है। यह सिद्धान्त केवल तभी स्वीकार्य होता है जब कि हम विष्णु पुराणमे प्रतिपादित "विज्ञानविजृम्भितानि" की धारणाके सत्यको मानते हो,—यह कि जगत् वैश्व प्रज्ञामेसे विकसित हुआ है, वह प्रज्ञा ही सारे भौतिक प्रपचके मूलमे है और वृक्षकी वृद्धि और लोष्टके विकासक्रमको और सजीव प्राणियोके विकास और मानवजातिकी प्रगतिको भी अपनी अन्तर्निवासिनी शक्तिसे आकार देती है। हम जो कोई भी सिद्धान्त लेवे, भौतिक जगत्के नियमोपर असर नही पडता। युग-युग, कल्प-कल्प, नारायण ही नित्य विकसित होती मानवतामे अपनेको अभिव्यक्त करते हैं और मानवता विस्तरण तथा सकोचनके धाराक्रमसे अनुभवमे वर्द्धित होती हुई ईश्वरमे अपनी नियत आत्मोपलब्धिकी ओर बढती है। हिन्दुओका युग-सिद्धान्त इस क्रमविकासका निषेध नही करता। हिन्दू मतके हर युग-

की नैतिक और आध्यात्मिक क्रमविकासकी अपनी धारा रही है और सत्ययुगमे कलि-युगतक धर्मका ह्रास वस्तुत अवनति नही अपितु हृदयमे एक अधिक गहरी आध्यात्मिक तीव्रताकी तैयारीके लिए आध्यात्मिकताके बाह्य रूपो और सहारोकी घिसाई रहा है। प्रत्येक कलियुगमे मानवजातिको आध्यात्मिकताके सारतत्त्वकी कोई प्राप्ति होती है। हम चाहे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणको ले चाहे प्राचीन हिन्दू दृष्टिकोणको, मानवजातिकी प्रगति सच्ची बात है। ब्रह्मका चक्र निरन्तर घूमता रहता है किन्तु वह एक ही स्थलपर नही घूमता, उसके चक्र उमे आगे ले जाते हैं।

मनुष्य और पशुमे भेद यह है कि पशु देह और प्राणिक आवेगोका दास है, अशनाया मृत्यु। क्षुधाने, जो कि मृत्यु है, प्राचीन जगत्‌मेमे भौतिक जगत्‌को विकसित किया और शरीरकी क्षुधा और कामना और प्राणिक सवेदन और प्राणसे सम्बन्धित आरम्भिक सवेग ही पशुमे और पशुकी अवस्थाके बराबर रहनेवाले वन्य मनुष्यमे जगत्‌का आहार करना चाहते हैं। यूरोपीय विज्ञानके अनुसार, इस पशु-अवस्थामेसे सामाजिक अवस्था-मे बौद्धिक और नैतिक विकास द्वारा व्याघ्र और वानरको निवृत्त करते मनुष्यका उदय होता है। यदि पशुको निवृत्त करना है तो यह स्पष्ट है कि देह और प्राणको जीतना ही होगा, और वह विजय जैसे जैसे सपूर्ण होती है, वैसे वैसे मनुष्यका विकास होता है। बहुतोने मानवजातिकी प्रगतिको प्रमुखत मानवीय बुद्धिके विकासमे माना है, और इसमे सन्देह नही कि बौद्धिक विकास आत्म-विजयके लिये अत्यावश्यक है। पशु और वन्य मनुष्य शरीरसे इस कारण बँधे हैं कि पशुके भाव और वन्य मनुष्यके भाव अधिकाशमे उन सवेदनो और साहचर्योतक सीमित हैं जिनका शरीरसे सम्बन्ध होता है। बुद्धिका विकास मनुष्यको अन्दरके गभीरतर आत्माको पाने और हमारे दर्शन शास्त्रोमे कही गयी देहात्मिका बुद्धिके स्थानपर, जिन भावो और सवेदनोके कारण हम अपने शरीरको ही 'हम' मानते हैं उनके समूहके स्थानपर ऐसे अन्य भावोकी अवलिको स्थापित करनेमे समर्थ करता है जो शरीरसे आगे चले जाते हैं और जो, अपने ही आनन्द-के लिए अस्तित्वमे रहते हुए और बौद्धिक तथा नैतिक सतुष्टिको जीवनके प्रधान लक्ष्योके रूपमे प्रतिस्थापित करते हुए, निम्नतर ऐन्द्रिय कामनाओके कलरवको यदि पूरा शान्त नही भी कर मकते तो उनपर अधिकार तो करते ही हैं। शरीरकी चिन्ताओ और सुखो और प्राणके आवेगो, सवेगो और सवेदनोमे तल्लीन रहनेवाला वह पशु-अज्ञान तामसिक होता है, वह प्रकृतिके उस तीसरे तत्त्वकी प्रधानताका परिणाम है जो अज्ञान और जडताकी ओर ले जाता है। वह अवस्था पशुकी और मानवताके निम्नतर रूपोकी है; पुराणोमे उन्हे ही प्रथम या तामसिक सृष्टि कहा जाता है। बुद्धि-का विकास इस पशु-अज्ञानको मिटाना चाहता है, फलत मानव-विकासक्रममें उसका

परम महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है।

परन्तु मनुष्य बुद्धि द्वारा ही नही उठता। यदि परिष्कृत बुद्धिको शुद्धीकृत सवेगोका अवलम्ब न हो तो बुद्धिमे एक बार फिर शरीरके अधीन होने और उसकी सेविका होनेकी प्रवणता होती है और समूचे मनुष्यपर शरीरका नेतृत्व प्राकृतिक अवस्थाके समयकी अपेक्षा अधिक खतरनाक हो जाता है क्योकि प्राकृतिक अवस्थाकी निर्दोषिता चली गयी होती है। ज्ञानबलको इन्द्रियोके हाथोमे कर दिया जाता है, सत्त्व तमसकी सेवा करता है, हमारे अन्दरका देव पाशविकका दास हो जाता है। वैज्ञानिक भौतिकवाद जगत्के लिए इसी अवस्थाकी ओर वापसीको प्रोत्साहन देनेका अनिष्ट अनजानमे कर रहा है। मनुष्यके अकस्मात् जाग्रत् समूहोको भावोके साथ बौद्धिक रूपसे व्यवहार करनेका अभ्यास नही, वे स्वतन्त्र विचारके स्फुट आकर्षक नवाचारोको समझनेमे तो सक्षप है परन्तु उसकी सूक्ष्म अस्फुट बातोको पहचाननेमे नही, वे पशु-अवस्थाकी ओर वापस लुढकनेकी राहपर, वर्वरतामे फिरसे गिरनेकी राहपर हैं, यह अवस्था वैमी ही है जैसी कि रोमन साम्राज्यकी भौतिक सभ्यता और बौद्धिक सस्कृतिकी ऊँची स्थितिमे थी और जिसे एक प्रतिष्ठित ब्रिटिश राजनीतिज्ञने यूरोपकी अवस्थाके समीप बताया था। अतएव भावावेगका विकास स्वस्थ मानव-क्रमविकासकी पहली शर्त्त है। जबतक भावनाएँ शरीरसे निवृत्त नही हो जाती और पर-प्रेम पाशविक आत्म-प्रेमका स्थान बढते रूपमे नही ले लेता तबतक कोई ऊर्ध्व-मुखी प्रगति नही हो सकती। मानव-समाजके सगठनसे मनुष्यमे परहितात्मक तत्त्व-का विकास होना चाहता है, वह जीवनकी ओर बढता है और "अशनाया मृत्यु" से लोहा लेता और उसे जीतता है। अत क्रमविकासमे सबसे महत्त्वपूर्ण सत्र जीवनके लिए सघर्षका नही, कमसे कम कपने जीवनके लिए सघर्षका तो नही, अपितु दूसरोके जीवनके लिए, अपनी सन्ततिके लिए, अपने परिवारके लिए, अपने वर्गके लिए, अपने समुदायके लिए, अपनी जाति और राष्ट्रके लिए, मानवजातिके लिए सघर्षका है। हमारे वैयक्तिक मन और शरीरतक मीमित रहनेवाले पुराने सकीर्ण आत्माका स्थान लेता है एक नित्य आत्मा, और समाज इसी नैतिक वर्द्धनको सहायता देता और सगठित करता है।

मानव-प्रगतिके वारेमे यहाँतक हमारे अपने विचारो और पश्चिमके विचारो-के बीच मूलभूत भेद इस बातके अलावा अल्प है कि पश्चिम इस क्रमविकासको जड-तत्त्वका विकास मानता है और युक्तिबुद्धिकी, चिन्तनशील और प्रेक्षणशील बुद्धिकी तुष्टिको हमारी प्रगतिका सबसे ऊँचा सत्र। यहीपर हमारा धर्म विज्ञानसे अलग हो जाता है। वह यह घोषणा करता है कि जो गभीरतर भावावेगप्रेरक और बौद्धिक

आत्मा शरीरमे मवृत और प्राणकी कामनाओसे आच्छादित था उसकी पुन प्राप्तिमे जडतत्त्वपर विजय ही क्रमविकास है। उपनिपदोकी भापामे मन कोश और बुद्धि-कोशमे प्राणकोश और अन्नकोशकी अपेक्षा अधिक विशेपता है और मनुष्य अपने क्रम-विकाममे उन्हीकी ओर उठता है। फिर धर्म हमारे विकासक्रमके लिए शुद्धीकृत भावावेगो या प्रेक्षणशील और चिन्तनशील बुद्धिकी परिष्कृत क्रियाशीलताकी अपेक्षा उच्चतर सत्र खोजता है। विकासक्रमका उच्चतम सत्र है अध्यात्म-सत्ता जिसमे मानवजातिके त्रिधर्म, ज्ञान, प्रेम तथा कर्मको अपनी परिपूर्त्ति और लक्ष्यकी उपलब्धि होती है, यही है आनन्दकोशमे स्थित आत्मा, और जो विश्वात्मा ईश्वर है उसके साथ इम वैयक्तिक आत्माके समागम और तादात्म्यसे ही मनुष्य पूरा विशुद्ध, पूरा सवल, पूरा बुद्धिमान और पूरा आनन्दमय वनेगा। भावावेगोकी शुद्धि और बुद्धिके परिष्कार द्वारा शरीर और प्राणात्मापर विजय भूतकालका प्रधान कार्य थी। शुद्धि की गई है नैतिकता और धर्म द्वारा, परिष्कार किया गया है विज्ञान और दर्शन द्वारा, कला, माहित्य और सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन वह प्रधान माध्यम रहे हैं जिसमे इन उन्नायिका शक्तियोने कार्य किया है। भावावेगो और बुद्धिपर अध्यात्म-तत्त्व द्वारा विजय भविष्यका कार्य है। योग वह माधन है जिसके द्वारा वह विजय सम्भव वनती है।

मानवजातिकी अतीतकी प्रगति बहुत ही अनिश्चित आधारपर कायम है, योगमे तेजीमे उसकी आवृत्ति की जाती है, उसे पक्का किया जाता और उसपर अविच्छिद्य अधिकार किया जाता है। शरीरको जीता जाता है जैमे माधारण सभ्य मनुष्यने किया है उस तरह अपूर्ण रूपसे नही, अपितु पूरी तरह। प्राणिक अगको शुद्ध किया जाता है और उसके वाह्य जगत्के साथके सम्वन्धोमे उसे उच्चतर भावावेगपरक और वौद्धिक आत्माका उपकरण वनाया जाता है। वाहरकी ओर जानेवाले भावोके स्थान-पर अन्दर चलनेवाले भाव लाए जाते हैं, निम्नतर गुणोको आधारमेसे निवृत्त किया जाता और उनकी जगह उच्चतर गुणोको लाया जाता है, निम्नतर भावावेगोको अधिक उदात्त भावावेगोके समूह द्वारा निकाल दिया जाता है। अन्तमे मारे भावो और भावावेगोको शान्त कर दिया जाता है और मवोधिमयी बुद्धिके पूर्ण जागरण द्वारा, जिममे कि मनका आत्माके माथ ममागम होता है, अन्तमे समूचे मनुष्यको 'अनन्त' की मेवामे नियुक्त कर दिया जाता है। मारा मिथ्या आत्मा सच्चे आत्मामे विलीन हो जाता है। मनुष्यका ईश्वरसे साधर्म्य, मायुज्य या तादात्म्य हो जाता है। यही मुक्ति है, यही वह अवस्था है जिसमे मानवताको उस स्वातन्त्र्य एव उस आत्माकी पूर्णोपलब्धि होती है जो उमके मनातन लक्ष्य हैं।

कर्मयोगी, 3 7 1909

मनुष्य एक मध्यवर्तिनी सत्ता

मनुष्य मध्यवर्तिनी सत्ता है, अतिम नही, क्योकि मनुष्यके अन्दर और उमके परे वहुत ऊँचाई तक ज्योतिर्मयी कोटियाँ उठती हैं जो दिव्य अतिमानवता तक जाती हैं। यही है हमारी भवितव्यता और हमारे अभीप्सु, किन्तु विक्षुब्ध और सीमित पार्थिव अस्तित्वकी मुक्तिदायिनी कुजी।

मनुष्यसे हमारा अभिप्राय है जीवत शरीरमे वदी मनसे। परन्तु मन ही चेतनाकी उच्चतम सभाव्य शक्ति नही, कारण, मनको सत्य अधिकृत नही है, वह तो सत्यका अज्ञ अन्वेषक ही है। मनसे परे चेतनाकी एक अतिमानसिक या विज्ञानमयी शक्ति है जिसे सत्य नित्य उपलब्ध है। यह अतिमानस मूलत दिव्य ज्ञाता एव स्रष्टाकी सक्रिय चेतना है, अपने स्वभावमे युगपत् और अविच्छेद्य रूपसे उमकी अनन्त प्रज्ञा और अनन्त इच्छा है। अतिमानस अतिमानव है, विज्ञानमय अतिमानवत्व ही क्रमविकाममे वह आगामी सुस्पष्ट और विजयी स्तर है जहाँ पार्थिव प्रकृतिको पहुँचना है।

मानवसे अतिमानवकी ओरका डग ही पार्थिव क्रमविकासमे अब आगे आनेवाली ससिद्धि है। वह डग अनिवार्य है क्योकि वह एक साथ ही अन्त स्य परमात्माका अभिप्राय और प्रकृतिकी प्रक्रियाकी युक्तिसगत परिणति भी है।

जड और पशु-जगत्मे मानव सभावनाका उदय किसी आनेवाली दिव्य ज्योतिकी प्रथम किरण, जडतत्त्वके भीतरसे देवताके जन्मका प्रथम सुदूर आश्वासन था। मानव-जगत्मे अतिमानवका प्रादुर्भाव इस भागवत प्रतिज्ञाकी परिपूर्ति होगा। हमारा मन जिस जड चेतनामे जँजीरसे वँधे गुलामकी तरह काम करता है उसीके भीतरसे दिव्य शक्ति, आनन्द और ज्ञानके गुप्त सूर्यका तेजोमडल वाहर निकल रहा है, अतिमानस उसी जाज्वल्यमान प्रभामडलका गठित शरीर होगा।

अतिमानवताका अर्थ ऐसा मनुष्य होना नही है जो अपनी प्रकृतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका हो, वह मानवीय महत्ता, ज्ञान, वल, वुद्धि, इच्छा, चरित्र, प्रतिभा, सक्रिय शक्ति, साधुता, प्रेम, पवित्रता या पूर्णताकी उच्चतर कोटि भी नही है। अतिमानस मनोमय मनुष्य और उसकी सीमाओसे परेकी चीज है, वह तो मानवीय प्रकृतिकी उच्चतम चेतनासे भी महत्तर चेतना है।

मनुष्य मनोमयी सत्ता है जिसकी मन शक्ति स्थूल मस्तिष्कमे सवृत, तमसाच्छन्न

और विकृत होकर यहाँ पर कार्य करती है। यहाँ तक कि मानवजातिके उच्चतम व्यक्तिमे भी यह मन शक्ति इस पराधीनताके कारण अपनी परम शक्ति और स्व-तन्त्रताकी उज्जवल सभावनाओको खो वैठती है, अपनी दिव्य शक्तियोकी ओर भी बद हो जाती है, हमारे जीवनको कुछ सकीर्ण और अनिश्चित सीमाओके परे परिवर्तित करनेमे असमर्थ होती है, यह एक सीमाबद्ध और अवरुद्ध शक्ति है जो बहुत वार प्राण और शरीरकी सेविका मात्र या उनकी रुचियोका पोपण करनेवाली या उनके मनोरजन-की सामग्री जुटानेवाली होती है, इससे अधिक कुछ नहीं। परन्तु दिव्य अतिमानव विज्ञानमय आत्मा होगा। उसमे अतिमानस मानसिक और भौतिक यन्त्रोपर अपना हाथ रखेगा और, ऊपर खडे होकर, वह मन, प्राण और शरीरको रूपान्तरित करेगा।

मनुष्यमे सबसे ऊँची शक्ति है मन। परन्तु मनुष्यका यह मन अज्ञानमयी, तमोग्रस्त और प्रयत्नसघर्षरत शक्ति है। और अधिकतम ज्योतिर्मयताकी अवस्थामे भी उसे केवल एक क्षीण, प्रतिविम्बित और धूमिल ज्योति ही प्राप्त होती है। अति-मानवका कन्द्रीय यत्र होगा अतिमानव जो कि मुक्त स्वामी और दिव्य महिमाओका प्रकाशक होगा। उसके स्वयभू ज्ञान, स्वत प्रवर्तित शक्ति और निष्कलक आनन्दकी अवाध क्रिया पार्थिव जीवनपर देवताओका सामजस्य अकित कर देगी।

मनुष्य अपने-आपमे एक महत्त्वाकाक्षी 'कुछ नही' से अधिक नही। वह अपनेसे परेकी विशालता और महानताको छूनेका प्रयत्न करती तुच्छता है, वह ऊँचाईयोसे मोहित बौना है। उसका मन विश्वमनकी दीप्तियोके बीच काली किरण जैसा है। उसका प्राण विश्व-प्राणका प्रयास करनेवाला, हर्षसे उछल पडनेवाला, कष्ट भोगनेवाला, उत्सुक, आवेग-प्रताडित और शोक-जर्जरित अथवा अधे और मूक भावसे लालसा करनेवाला तुच्छ क्षण है। उसका शरीर इस जड जगत्मे कठिन प्रयास करनेवाला क्षणभगुर अणुमात्र है। वह प्रकृतिके रहस्यपूर्ण ऊर्ध्वमुख उभारका अत नही हो सकता। अवश्य ही इन सबके परे कोई चीज है, कोई ऐसी चीज जैसा कि मनुष्यजातिको भविष्यमे बनना है, अभी उस चीजकी सभावना और अस्तित्वको अस्वीकार करनेवाली सीमाओ-की विशाल दीवार खडी है और वह चीज उस दीवारकी दरारोके भीतरसे केवल टूटी-फूटी झाँकियोकी तरह दिखायी देती है। अमर अन्तरात्मा मनुष्यके भीतर कहीपर होता है और अपनी उपस्थितिकी कुछ चिनगारियोको प्रकट करता है, ऊपरसे एक शाश्वत आत्मा मनुष्यके ऊपर छाया हुआ है और वह उसके प्रकृति-स्थ अन्तरात्माकी अविच्छिन्नताका भर्त्ता है। किन्तु इस महत्तर आत्माके अवतरणमे मनुष्यके निर्मित व्यक्तित्वका कठोर ढक्कन बाधक होता है, और वह अन्त स्थित ज्योतिर्मय अन्तरात्मा घने बाह्य आवरणसे लिपटा, घुटा और पीडित होता है। कुछ जनोको छोडकर बाकी

सबमे अन्तरात्मा शायद ही कभी सक्रिय होता है,अधिकतर लोगोमे वह मुश्किलसे ही दिखायी देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मनुष्यका अन्तरात्मा और आत्मा उसकी बाह्य और दृश्य वास्तविकताके अग नही हैं वल्कि उसकी प्रकृतिके ऊपर और पीछे ही विद्यमान हैं। वे मानो अभी जडतत्त्वमे उत्पन्न नही हुए है वल्कि उत्पन्न होनेकी अवस्थामे हैं, वे मानवीय चेतनाके लिये ससिद्ध और प्रत्यक्ष वस्तुएँ होनेकी अपेक्षा सम्भावनाएँ ही अधिक हैं।

मनुष्यकी महत्ता मनुष्य क्या है उसमे नही, वरन् जिसे वह सम्भव बनाता है उसमे है। उसका गौरव इसमे है कि वह जीवत प्रयासका बद स्थल और गुप्त कारखाना है जिसमे दिव्य शिल्पीके हाथो अतिमानवताको तैयार किया जा रहा है। परन्तु उसे एक और भी महत्तर महत्तामे प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त है और वह यह है कि चूंकि उसे निम्नतर सृष्टिसे भिन्न होनेका सुयोग प्राप्त है अत वह अशत इस दिव्य परिवर्त्तनका शिल्पी है, उसकी चेतन अनुमति, उसका निवेदित सकल्प और सहयोग इसलिए आवश्यक हैं कि जो महिमा उसका स्थान ग्रहण करनेवाली है, वह उसके शरीरमे उतर सके। उसकी अभीप्सा अतिमानसिक स्रष्टाको पृथ्वीकी पुकार है।

यदि पृथ्वी पुकारे और परमात्मा उत्तर दे तो उस महान् और गौरवपूर्ण रूपातरकी घडी अभी ही चली आ सकती है।

परन्तु जिस पार्थिव चेतनाको हम मूर्तिमान करते हैं उसे मनसे अतिमानसमे जानेके इस अभूतपूर्व आरोहणसे कौनसा लाभ प्राप्त होगा और अतिमानसिक परिवर्तनका क्या मूल्य चुकाना होगा? भला किस परिणामके लिये मनुष्य इस सकटापन्न दु साध्य कार्यके हेतु अपनी सुरक्षित मानवीय सीमाओको छोड दे?

सबसे पहले यह विचार करके देखा जाय कि जब प्रकृति निष्प्राण जडतत्त्व प्रतीत होनेवाली वस्तुकी मूढ निश्चेतनता और जडतासे निकलकर उद्भिद क्षेत्रकी बोधशक्तिकी प्रकम्पमान जागृतिमे चली गयी थी तब क्या लाभ हुआ था? यह प्राणकी प्राप्ति हुई थी, यह लाभ था एक छोटीसी वस्तुका प्रथमारभ जो अधकारमे टटोलती है और अभी सवृत है, एक ऐसी चेतनामे पहुँचती है जो इन्द्रिय-कपनकी ओर, प्राणगत लालसाओकी तैयारीकी ओर, एक जीवत हर्ष और सौन्दर्यकी ओर वर्द्धित होनेके लिए मूक भावसे अपनेको बाहरकी ओर फैलाती है। उद्भिदने प्राणके एक आद्य रूपको ससिद्ध किया पर उसे वह अधिकृत नही कर सका, कारण, इस आद्यसगठित प्राणचेतनामे बोधशक्ति तो थी, पर वह अधी, मूक, बधिर, मिट्टीसे बँधी हुई थी और अपने ही स्नायु और शिरामे अतर्ग्रस्त थी, वह उनमेसे बाहर नही निकल सकती थी, न ही वह अपने स्नायु-स्वरूपके पीछे जा सकती थी जैसे कि पशुका प्राणमय मन जाता है,

उसकी ओर ऊपरसे मुड तो वह और भी कम सकी जैसा कि अपनी गतिविधिको जानने, अनुभव करने और नियन्त्रित करनेके लिये मनुष्यका प्रेक्षक और चिन्तक मन करता है। यह एक कैदवद लाभ था, क्योकि उस समय भी आद्य निश्चेतनाका एक वडा दवाव था जिसने जडतत्त्वके प्रपच और जडतत्त्वकी ऊर्जाके प्रपच द्वारा आत्माके सारे चिह्नोको ढक लिया था। प्रकृति किसी भी तरह वहाँ नही रुक सकी, क्योकि उसने अपने अन्दर ऐसा वहुत कुछ धारण कर रखा था जो अभीतक गुह्य, सम्भाव्य, अव्यक्त, अव्यवस्थित और सुप्त ही था, क्रमविकास आगे जानेके लिए वाध्य था। पशुको प्रकृतिके मस्तक और शिखरपर उद्भिदका स्थान लेना था।

इसके वाद जव प्रकृति उद्भिद-राज्यके अधकारमेसे निकलकर पशुजीवनके जाग्रत् इन्द्रियबोध, कामना और हृदयावेग तथा मुक्त गतिविधिमे चली गयी तव भला क्या लाभ हुआ ? लाभमे मिले मुक्त इन्द्रियबोध, अनुभव, कामना, साहस और चालाकी, कामना, अनुराग और कर्मके विषयोकी प्राप्तिकी सयोजना, भूख, युद्ध और विजय,कामवृत्ति, क्रीडा और सुख, चेतन प्राणीके सारे हर्ष और शोक। केवल शरीरका जीवन नही जो कि पशुमे उद्भिदके जैसा ही है, बल्कि प्राणिक मन उत्पन्न हुआ जो पृथ्वीकी कहानीमे पहली वार ही प्रकट हुआ और एक रूपसे दूसरे अधिक सुसगठित रूपमे तवतक वर्द्धित होता गया जवतक कि वह सर्वोत्तम रूपके अन्दर अपने विधि-विधानकी सीमा तक नही पहुँच गया।

पशुने मनका एक प्रथम रूप प्राप्त किया, पर वह उसे अधिकृत नही कर सका, क्योकि वह प्रथम सगठित मनश्चेतना सकीर्ण क्षेत्रमे आबद्ध थी, स्थूल शरीर, मस्तिष्क और स्नायुके सारे क्रियाकलापसे वँधी हुई थी, भौतिक जीवन और उसकी वासनाओ, आवश्यकताओ और अनुरागोकी सेवा करनेके लिये विवश थी, प्राणिक प्रेरणाके आग्रह-पूर्ण उपयोगोसे, स्थूल लालसा, अनुभव और कर्मसे सीमित थी, अपने ही निम्नतर उपकरणो, साहचर्य, स्मृति और सहज-प्रवृत्तिके अपने सहज-स्वाभाविक मिश्रणसे आवद्ध थी। वह उनमेसे वाहर नही निकल सकी, वह उनके अवलोकनके लिए उनके पीछे नहीं जा सकी जैसा कि मनुष्यकी वुद्धि करती है, और उनके नियत्रण, विस्तरण, पुन व्यवस्थापन, अतिक्रमण, समुन्नयनके लिये मनुष्यकी बुद्धि और इच्छाकी तरह ऊपरसे उनकी ओर नीचे मुडना तो उससे और भी कम हो सका।

प्रकृतिके आरोहणके प्रत्येक प्रमुख स्तरपर विकसनशील आत्मामे चेतनाका विपर्यय घटित हुआ है। जिस तरह पर्वतारोही अपने परिश्रमका लक्ष्य रहनेवाली चोटीपर पाँव रखता है और उन्नत तथा अधिक विस्तीर्ण दृष्टि-शक्तिसे नीचेकी ओर उस सवको देखता है जो एक समय उसके ऊपर या उसके साथ समान स्तर पर था,

पर अव उसके पैरोके नीचे है, वैसे ही क्रमविकसनशील जीव अपने भूतकालीन स्वरूप-का, अपनी पहलेकी किन्तु अव पार की हुई स्थितिका केवल अतिक्रमण ही नही करता, वल्कि स्वानुभव और दृष्टिके एक उच्चतर स्तरसे, एक नये प्रवोधात्मक अनुभव या एक नयी सवोधात्मिका दृष्टिको लेकर और महत्तर मूल्याकन-पद्धतिमे फलोत्पादिका शक्तिके साथ उस सवपर शासन करता है जो एक समय उसकी अपनी चेतना था पर अव उससे नीचे है और निम्नतर सृष्टिकी वस्तु है। यह विपर्यय सुनिश्चित विजयका चिह्न और प्रकृतिकी आमूल प्रगतिकी मुहर-छाप है।

आध्यात्मिक क्रमविकासमे जो नयी चेतना प्राप्त होती है वह उस चेतनाकी तुलनामे जो एक समय हमारी अपनी थी पर जिसे हम अव पीछे छोड चुके हैं, सदा ही स्तर और वलमे उच्चतर होती है, दृष्टि और अनुभवमे विशालतर, व्यापकतर, विस्तीर्ण-तर होती है, क्षमताओमे अधिक समृद्ध और अधिक श्रेष्ठ, अधिक जटिल, जीवत तथा सवल होती है। वहाँ महत्तर विस्तार और प्रदेश होता है, वे ऊँचाइयाँ होती हैं जो अलभ्य थी, वे गहराइयाँ और घनिष्टताएँ होती हैं जिनकी आशा नही थी। एक ज्योतिर्मय विस्तीर्णता होती है जो परमेश्वरके कार्यपर उसकी अपनी मुहर है।

ध्यान रहे कि प्रकृतिने अवतक जो भी महान् मौलिक प्रगतिके पग आगे वढाये हैं, उनमेसे प्रत्येक ही अपनी अदना पूर्वावस्थाकी अपेक्षा परिवर्तनकी दृष्टिसे अनन्तगुणा महान्, अपने परिणामोमे अनतगुणा विशाल रहा है। अधिकाधिक समृद्ध और अधि-काधिक विशाल प्राकट्यके लिए चमत्कारी उद्घाटन हुआ है, सृष्टिमे नया प्रकाश आया है और उसके तात्पर्योमे सक्रिय ऊँचाई आयी है। जिस जगत्मे हम रहते हैं, उसमे चौरस भूमिपर मिलनेवाली सवकी समानता नही, वल्कि लगातार वढती हुई उन ढालू ऊँचाइयोकी क्रमपरम्परा है जो अपने गिरिकधोको परमात्माकी ओर उठाती हैं।

चूँकि मनुष्य मनोमय प्राणी है, अत वह स्वभावत ही यह कल्पना करता है कि विश्वमे मन ही अद्वितीय महान् नेता, कार्यकर्ता और स्रष्टा अथवा अनिवार्य प्रति-निधि है। किन्तु यह भूल है, ज्ञानके लिये भी मन एकमात्र या महत्तम सभव यत्र नही, एकमात्र अभीप्सु और अन्वेषक नही। मन प्रकृतिकी विशाल और यथार्थ अवचेतन क्रिया तथा भगवान्के विशालतर अभ्रात अतिचेतन कर्मके वीच उपस्थित होनेवाला अदक्ष मध्यवर्ती है।

ऐसा कुछ भी नही है जिसे मन तो कर सकता हो पर मनकी निश्चलता और विचारशून्य स्थिरतामे अधिक अच्छी तरह नही किया जा सकता हो।

जव मन स्थिर हो जाता है तव सत्यको अपना अवसर मिलता है कि वह नीरवता-

की पवित्रतामे सुनाई दे सके।

सत्य 'मन' के विचार द्वारा नही बल्कि एकमात्र तादात्म्य और निश्चल नीरव दर्शन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सत्य शाश्वत देशकी शात शब्दविहीन ज्योतिमे निवास करता है, वह तार्किक वादविवादके शोर और बकवासके बीच नही आता।

मनका विचार, अधिकसे अधिक, सत्यका चमकीला और पारदर्शी परिधान हो सकता है, वह तो उसका शरीर भी नही होता। इस परिधानकी ओर नही, बल्कि इसके पार देखनेसे सत्यके आकारका कुछ सकेत मिल सकता है। सत्यका एक विचार-शरीर हो सकता है, किन्तु वह शरीर तो स्वत स्फूर्त अतिमानसिक विचार और शब्द ही हैं जो कि पूरे गठित होकर ज्योतिमेंसे फूट निकलते हैं, वह मनके द्वारा कठिनता पूर्वक बनी कोई नकली चीज और पैवदपट्टी नही होता। अतिमानसिक विचार सत्य-प्राप्तिका साधन नही, बल्कि उसकी अभिव्यजनाकी एक पद्धति है, क्योकि अतिमानस-मे सत्य स्वयलब्ध या स्वयभू होता है। वह ज्योतिसे आनेवाला बाण होता है, उसके पास पहुँचनेका सेतु नही।

अतरमे विचार और शब्दसे पृथक् हो जाओ, अपने अतरमे निश्चल हो जाओ, ऊपरकी ओर ज्योतिको और बाहरकी ओर अपने चारो ओर रहनेवाली विशाल विश्व-चेतनाको देखो। दीप्ति और विशालताके साथ अधिकाधिक एक होते जाओ। तब सत्यकी ऊषा तुमपर ऊपरसे आविर्भूत होगी और वह सत्य तुम्हारे ऊपर चारो ओरसे प्रवाहित होगा।

परन्तु केवल तभी जब कि मनकी पवित्रता उसकी नीरवतासे कम प्रगाढ न हो। कारण, अशुद्ध मनमे तो नीरवता पथभ्रष्ट करनेवाली दीप्तियो और मिथ्या वाणीसे, उसके अपने ही व्यर्थ दभो और मतोकी प्रतिध्वनि या उन्नयनसे अथवा उसके गुप्त गर्व, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकाक्षा, कामना लोभ या वासनाको दिये गये प्रत्युत्तरसे तुरन्त भर जायगी। भागवत वाणियोसे कही अधिक तत्परतासे दानव और राक्षस उसके साथ बातें करेंगे।

नीरवता अनिवार्य है, पर साथ ही विशालता भी आवश्यक है। मन यदि निश्चल-नीरव न हो तो वह दिव्य सत्यकी ज्योतियो और वाणियोको ग्रहण नही कर सकता या ग्रहण करके उनके साथ अपनी टिमटिमाती दीपशिखाओंको और अधी, दंभी बकवासोंको मिश्रित कर देता है। क्रियाशील, धृष्ट और शोर मचानेवाला होने-के कारण वह जो कुछ ग्रहण करता है उसे वह विकृत और विरूप बना देता है। अगर वह विशाल न हो तो वह सत्यकी कार्यकारिणी शक्ति और सृष्टिकारिणी क्षमताको अपने अन्दर नही रख सकता। वहाँ कोई ज्योति खेल तो सकती है, किन्तु वह सकीर्ण,

सीमित और वन्ध्या हो जाती है जो शक्ति उतरती है वह आवद्ध हो जाती और बाधा पाती है और इस विद्रोही परदेशी स्तरसे अपनी विशाल ऊँचाइयोपर लौट जाती है। या कोई चीज यदि नीचे उतरती और ठहरती भी है तो वह मानो कीचडमे पडा हुआ मोती ही होती है, कारण, प्रकृतिमे परिवर्तन नही होता या केवल एक हल्की तीव्रता ही गठित होती है जो ऊपर शिखरोकी ओर क्षीण रूपमे सकेत तो करती है, पर उसकी धृति और अपने चारो ओरके जगत्‌पर उसकी विसृति बहुत कम होती है।

दिव्य अतिमानव

दिव्य अतिमानव वनना, भगवान्‌का पूर्ण आधार वनना, बस यही है तुम्हारा कार्य, तुम्हारी सत्ताका उद्देश्य और वह प्रयोजन जिसके लिये तुम यहाँ हो। अन्य जो कुछ भी तुम्हें करना पडता है, वह सब केवल तुम्हारी तैयारी है या मार्गका आनन्द या अपने उद्देश्यसे पतन। किन्तु लक्ष्य यही है, उद्देश्य यही है, और तुम्हारी सत्ताकी महत्ता और प्रसन्नता लक्ष्यके आनन्दमे है, न कि मार्गकी शक्ति या मार्गके आनन्दमे, मार्गका आनन्द होता है क्योकि जो तुम्हे आकर्षित कर रहा है वह तुम्हारे पथपर तुम्हारे साथ भी है और चढनेकी शक्ति तुम्हे इसलिये दी गई थी कि तुम अपने सर्वोच्च स्व-शिखरोतक चढ सको।

यदि तुम्हारा कोई कर्त्तव्य है तो यही है, यदि तुम पूछते हो कि तुम्हारा उद्देश्य क्या होगा, तो यही तुम्हारा उद्देश्य हो, यदि तुम्हे आनन्दकी चाह हो तो इससे महत्तर दूसरा आनन्द नही, क्योकि अन्य सारे आनन्द खडित और सीमित हैं, वे स्वप्नका आनन्द, निद्राका आनन्द या आत्मविस्मृतिका आनन्द है। किन्तु यह तुम्हारी सपूर्ण सत्ताका आनन्द है। कारण, यदि तुम पूछते हो, "मेरी सत्ता क्या है?" तो यही तुम्हारी सत्ता है - भगवान्, और अन्य सब कुछ उसीका खडित या विकृत रूप मात्र है। यदि तुम 'सत्य' की खोज करते हो, तो यही 'सत्य' है। इसे अपने सामने रखो और सब वातोमे इसके प्रति सच्चे रहो।

किसी व्यक्तिने देखा तो केवल परदेके भीतरसे और उस परदेको ही समझ लिया मुखमडल, पर उसने कहा वहुत ही सुन्दर कि तुम्हारा उद्देश्य है स्वय 'तुम' वन जाना, और उसने पुन सुन्दर रूपसे कहा कि मनुष्यका स्वभाव है अपने-आपका अति-क्रमण। वास्तवमे यही है उसका स्वभाव और सचमुच यही है उसके स्वातिक्रमणका दिव्य उद्देश्य।

तो जिस आत्माका तुम्हे अतिक्रमण करना है वह क्या है और क्या है वह 'आत्मा' जो तुम्हे वनना है? क्योकि यही तुम्हे भूल नही करनी चाहिये, कारण, यही भूल, अपने-आपको न जानना ही, तुम्हारे सारे क्लेशोका स्रोत और तुम्हारी सारी चूकोका कारण है।

तुम वाह्य रूपमे जो प्रतीत होते हो वही वह आत्मा है जिसका तुम्हे अतिक्रमण

करना है और वही वह मानव है जिस रूपमे तुम उसे जानते हो, वह है प्रतीयमान पुरुष। और वह मानव क्या है ? वह प्राण और जडतत्त्वकी दासतामे निबद्ध मनोमय जीव है, और जहाँ मनुष्य प्राण और जडतत्त्वके अधीन नही, वहाँ वह अपने मनका दास है। किन्तु यह एक बहुत बडी और भारी दासता है, क्योकि मनका दास होनेका अर्थ है असत्य, ससीम और प्रतीयमानका दास होना।

जो आत्मा तुम्हे बनना है वह वह आत्मा है जो तुम मन, प्राण और जडतत्त्वके परदेके पीछे अपने अतरमे हो। वह है आध्यात्मिक, दिव्य, अतिमानव, सच्चा पुरुष बनना, कारण, जो मनोमय पुरुषसे ऊपर है वही अतिमानव है। वह है अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीरका स्वामी बनना, वह है उस प्रकृतिका राजा बन जाना जिसके हाथमे तुम अभी यत्रवत् हो, वह है उस प्रकृतिसे ऊपर उठ जाना जिसने अभी तुम्हे अपने पैरो तले दबा रखा है। वह है दास नही, अपितु स्वतन्त्र होना, विभक्त नही, अपितु एक होना, मृत्युसे तमसाच्छादित नही, अपितु अमर होना, अधकारसे ग्रस्त नहीं, अपितु प्रकाशसे परिपूर्ण होना, शोक और कष्टका शिकार नही, अपितु आनन्दसे पूर्ण होना, निर्बलतामे निक्षिप्त नही, अपितु शक्तिमे उन्नीत होना। वह है अनन्तमे निवास करना और ससीमको अधिकृत करना। वह है ईश्वरमे निवास करना और उनकी सत्तामे उनके साथ एक हो जाना। यह स्वय 'तुम' बन जाना ही है और इसके फलस्वरूप जो कुछ होता है वह सब।

अपने-आपमे स्वतन्त्र बनो, और इस प्रकार अपने मन, प्राण और शरीरमे स्वतत्र बनो। कारण, आत्मा स्वतत्र है।

ईश्वर और सब जीवोके साथ एक होओ, अपने आत्मामे निवास करो न कि अपने क्षुद्र अहभावमे। कारण, आत्मा एकत्व है।

स्वय तुम अमर हो जाओ, और मृत्युमे विश्वास नही रखो, क्योकि मृत्यु तुम्हारी नहीं, तुम्हारे शरीरकी होती है। कारण, आत्मा अमरत्व है।

अमर होना अपनी सत्ता, चेतना और आनन्दमे अनत होना है, कारण, आत्मा अनंत है और जो कुछ सात है वह उसकी अनततासे ही रहता है।

तुम ये वस्तुएँ हो, अतएव तुम ये सब बन सकते हो, किन्तु तुम यदि ये वस्तुएँ नही हो तो तुम कभी भी ये नही बन सकते। जो तुम्हारे भीतर है केवल वही तुम्हारी सत्तामे प्रकट हो सकता है। तुम निस्सन्देह इससे भिन्न प्रतीत होते हो, किन्तु तुम बाह्य रूपोका दास क्यो रहोगे ?

बल्कि उठो, अपना अतिक्रमण करो, आत्मरूपको प्राप्त करो। तुम मनुष्य हो और मनुष्यका सपूर्ण स्वभाव ही है अपनेसे कुछ अधिक बन जाना। वह मानव-

पशु था, वह अव पशुमानवसे कुछ अधिक वन गया है। वह विचारक है, शिल्पी है, सौन्दर्योपासक है। वह विचारकसे कुछ अधिक वनेगा, वह वनेगा ज्ञानका द्रष्टा, वह शिल्पीसे कुछ अधिक वनेगा, वह वनेगा अपनी सृष्टिका स्रष्टा और स्वामी, वह सौन्दर्योपासकसे कुछ अधिक वनेगा, क्योकि वह समस्त सौन्दर्य और समस्त आनन्द-का उपभोग करेगा। शरीरत वह इस अमर तत्त्वको खोजता है, प्राणत वह शाश्वत जीवन और अपनी सत्ताकी अनत शक्तिको ढूँढता है, मनत और ज्ञानमे अपूर्ण रहता हुआ वह सम्पूर्ण प्रकाश और परम सत्य-दर्शनकी खोज करता है।

इनको प्राप्त करना ही अतिमानव होना है, क्योकि उसे मनमेसे अतिमानसमे आरोहण करना है। उसे चाहे दिव्य मन कहा जाय चाहे 'ज्ञान' या अतिमानस, वह भागवत इच्छा और भागवत् चेतनाकी शक्ति और ज्योति है। अतिमानसके द्वारा परमात्माने अपने-आपको देखा और विभिन्न लोकोमे अपने-आपको सृष्ट किया, उसीके द्वारा वह उनमे निवास करता और उनपर शासन करता है। उसीके द्वारा वह स्वराट् और सम्राट है।

अतिमानस ही अतिमानव है, अतएव मनका अतिक्रमण करके ऊपर उठ जाना ही शर्त है।

अतिमानव वनना दिव्य जीवन यापन करना है, देवता बन जाना है, कारण, देवतागण ईश्वरकी शक्तियाँ हैं। मानवतामे ईश्वरकी शक्तियाँ बनकर रहो।

भागवत सत्तामे निवास करना एव परमात्माकी चेतना और आनन्दको, उनकी इच्छा और ज्ञानको अपने ऊपर अधिकार करने देना तथा उनको अपने साथ और अपने द्वारा क्रीडा करने देना, यही तात्पर्य है।

यही है पर्वतपर होनेवाला तुम्हारा रूपान्तर। यह है तुम्हारा ईश्वरको आत्मावत् जान लेना और सारी वस्तुओमे उनका साक्षात्कार करना। निवास करो उनकी सत्तामे चमको उनके प्रकाशसे, कार्य करो उनकी शक्तिसे, आनदित होओ उनके आनन्दसे। वह 'अग्नि', वह 'सूर्य', वह 'समुद्र' हो जाओ, वह आनन्द और वह महत्ता और वह सौन्दर्य हो जाओ।

जव तुम आशिक रूपमे भी यह कर लोगे, तुम अतिमानवताकी आरभिक सीढि-योपर चढ जाओगे।

पृथ्वीपर अतिमानसिक आविर्भाव

विषय सूची

1 सन्देश	295
2. शरीरकी पूर्णता	299
3 दिव्य शरीर	313
4 अतिमानस और दिव्य जीवन	334
5 अतिमानस और मानवजाति	343
6 क्रमविकासमे अतिमानस	353
7 ज्योतिर्मानस	360
8 अतिमानस और ज्योतिर्मानस	363

(इन लेखोंका प्रकाशनकाल क्रमश: फरवरी 1949, अप्रैल 1949, अगस्त 1949, नवम्बर 1949, फरवरी 1950, अप्रैल 1950, अगस्त 1950 और नवम्बर 1950 है।)

सन्देश

आश्रमकी "शारीरिक शिक्षण पत्रिका" के इस अकके प्रकाशनके अवसरपर मै इस पत्रिकाको और श्री अरविन्द आश्रमकी युवक खेल सस्थाको आशीर्वाद दे रहा हूँ। साथ ही मै ऐसी सस्थाओके अस्तित्वके गहरे हेतु और विशेषतया राष्ट्रके लिए ऐसी सस्थाओके व्यापक सगठन और यहाँ जिन खेलो या शारीरिक व्यायामोका अभ्यास किया जाता है उनके व्यापक सगठनकी आवश्यकता और उपादेयतापर कुछ कहना चाहूँगा। अपने अधिक सतही पहलूमे वे ऐसे खेल और मनोरजन भर लगते हैं जिन्हे लोग मनोविनोदके लिए या शरीरकी ऊर्जा और क्रियाशीलताकी सहजवृत्तिके विकास-के क्षेत्र या शारीरिक स्वास्थ्य और वलके वर्द्धन और सरक्षणके साधनके क्षेत्रके रूपमे लेते हैं, किन्तु वे और भी वहुत कुछ हैं या हो सकते हैं वे ऐमे अभ्यासो, क्षमताओ और गुणोके वर्द्धनके भी क्षेत्र हैं जो राष्ट्रके लिए, युद्धमे हो या शान्तिमे, और उसके राजनैतिक तथा सामाजिक क्रियाकलापोमे, वस्तुत सयुक्त मानवीय उद्योगके अधिकतर प्रान्तोमे, वहुत आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इस पहलूको हम इस विपयका राष्ट्रीय पहलू कह सकते है और इसे मै विशेप प्रधानता देना चाहूँगा।

हमारे युगमे इन खेलो और व्यायामोने वह स्थान लिया है और वह व्यापक आकर्पण पाया है जो प्राचीन युगमे यूनान जैसे देशोमे देखनेमे आते थे। यूनानमे मान-वीय क्रियाशीलताके सारे पहलुओका समान विकास था और व्यायामशाला, रथ-दौड और अन्य खेलो तथा व्यायामोको शारीरिक क्षेत्रमे वही महत्त्व मिला था जो कि मानसिक क्षेत्रमे कला, काव्य और नाटकको, और नगर-राज्योका शासनवर्ग उनपर विशेप ध्यान देता था और उन्हे प्रोत्साहित करता था। यूनानने ही ओलिम्पिअडकी प्रथा डाली थी और ओलिम्पिअडका हालमे अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाके रूपमे पुन स्थापन प्राचीन अन्तर्वृत्तिकी पुनर्जागृतिका महत्त्वपूर्ण चिह्न है। इस प्रकारकी रुचि हमारे देशमे भी कुछ परिमाणमे फैल गयी है और भारत ओलिम्पिअड जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओमे स्थान पाने लगा है। स्वतन्त्र भारतका नवस्थापित शासन राष्ट्र-जीवनके सारे पार्श्वोके विकासमे रुचि लेना भी शुरू कर रहा है और यह सम्भावना है कि जो क्षेत्र पहले नागरिकोकी वैयक्तिक चेष्टाके भरोमे छोड दिये गये थे उनमे वह सक्रिय भाग लेवे और निर्देशनका अभ्यास डाले। उदाहरणके लिए वह देशमे स्वास्थ्य

और शारीरिक दुरुस्तीको लाने और कायम रखने और उसके महत्त्वकी आम मान्यता-को फैलानेके प्रश्नको ले रहा है। खेलो, व्यायाम-सस्थाओ और इस प्रकारके सारे क्रियाकलापोको दिया जानेवाला प्रोत्साहन इसी सम्बन्धमे अपार सहायता देगा। बचपन, यौवन और आरम्भिक प्रौढावस्थामे ऐसी कसरतोमे भाग लेनेकी आदतके फैलनेसे तन्दुरुस्ती और शारीरिक स्फूर्तिवाले लोगोके उद्भवमे बहुत सहायता मिलेगी।

परन्तु, शारीरिक स्वास्थ्य, बल और दुरुस्तीकी स्थापना कितनी ही आवश्यक क्यो न हो, उससे भी अधिक ऊँचा अर्थ रखता है अनुशासन, मनोबल और स्वस्थ तथा सबल चरित्रका विकास जिसकी ओर ये क्रियाकलाप सहायक हो सकते हैं। ऐसे बहुत सारे खेल हैं जिनका इस उद्देश्यके लिए अतीव मूल्य है, कारण, वे साहस, दिलेरी, स्फूर्ति-वती क्रिया और आरम्भ-चेष्टा आदि गुणोको गढनेमे सहायता देते और उन्हे आवश्यक भी कर देते हैं, या वे कौशल, अभग इच्छा या द्रुत निश्चय और क्रियाकी आपदकालमे क्या करना है उसे देख लेने और उसे कर डालनेमे निपुणताकी माँग करते हैं। एक अतीव मूल्यवान् विकास होता है मूलभूत और सहजवृत्तिपरक शारीरिक चेतनाका जागरण, यह चेतना मानसिक विचारके किसी भी सकेतके बिना देख सकती है कि क्या आवश्यक है और उसे कर भी सकती है, जो मनमे क्षिप्र अन्तर्दृष्टि और इच्छामे स्वत स्फूर्त और द्रुत निश्चय है उसीके समतुल्य यह चेतना शरीरमे है। इसमे हम शरीरकी समस्वर और सही गतियोको, विशेषतया सम्मिलित क्रियामे होनेवाली गतियोकी क्षमताकी रचनाको जोड सकते हैं जिनमे शारीरिक प्रयत्नका व्यय कम होता है और ऊर्जाकी बर्बादीसे बचा जाता है, ये गतियाँ मार्चिग या ड्रिल जैसी कसरतोके फल होती हैं और अशिक्षित वैयक्तिक शरीरमे साधारणत पायी जानेवाली ढीली-ढाली और भटकती, असमस्वर या अव्यवस्थित या बर्बादीवाली गतियोका स्थान लेती हैं। इन क्रिया-कलापोका एक दूसरा अमूल्य परिणाम होता है उस भावनाका विकास जिसे हम खिलाडी-की भावना कहते है। इसके अन्तर्गत हैं सबके प्रति सौजन्य, सहनशीलता और विचार-शीलता, प्रतियोगियो और प्रतिद्वन्द्वियोके लिए सही मनोभाव और मैत्री, आत्मसंयम और खेलके नियमोका निष्ठासे पालन, गन्दे उपायोका वर्जन और साफ खेल, हार-जीतका समान रूपसे स्वीकरण जिसमे सफल प्रतियोगियोके प्रति दौर्जन्य, रोष या दुर्भावना न हो, नियुक्त निर्णायक, अम्पायर या रेफरीके निर्णयोको माननेकी निष्ठा। इन गुणोका मूल्य केवल खेलोके लिए नही, आम जीवनके लिए भी है, और इनके विकास-के लिए खेलोसे मिल सकनेवाली सहायता सीधी और अमूल्य होती है। यदि इन्हे केवल व्यक्तिके जीवनमे नही, अपितु राष्ट्रजीवनमे और अन्तर्राष्ट्रीय जीवनमे व्यापक किया जा सके जहाँ कि आजके दिन विरोधी प्रवृत्तियाँ अति फैल गयी हैं तो हमारे इस

विक्षुब्ध जगत्मे जीवन अधिक सरल होगा और वह सुसगति और सौहार्दकी अधिक सम्भावनाकी ओर खुलेगा जिनकी कि उसे बहुत आवश्यकता है। और भी महत्त्वपूर्ण है अनुशासनका अभ्यास, आज्ञापालन, व्यवस्था और दलवद्ध कार्यका अभ्यास जो कि कुछ खेलोके लिए आवश्यक होते है। कारण, इनके विना सफलता अनिश्चित या असम्भव होती है । जीवनमे, विशेषतया राष्ट्रीय जीवनमे, ऐसे क्रियाकलाप असख्य हैं जिनमे सफलताके लिए, सग्राममे विजय या उद्देश्यकी पूर्तिके लिए, सम्मिलित कार्यमे नेतृत्व और नेताकी आज्ञाका पालन आवश्यक होते हैं। नेता या कप्तानकी भूमिका,उसका नेतृत्वका वल और नैपुण्य, अपने अनुगामियोका विश्वास वनाए रखना और उनकी तत्पर आज्ञाकारिता पाते रहना सव प्रकारके सम्मिलित कार्य या व्रतमे अति महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु स्वय आज्ञाकारी होना और दूसरोके साथ एक मन या एक शरीर होकर कार्य करना सीखे विना थोडे ही लोग इन चीजोका विकास कर सकते हैं। शिक्षाकी यह कडाई, अनुशासन और आज्ञापालनका यह अभ्यास वैयक्तिक स्वतन्त्रतासे असगत नही,प्राय यह उसके सही व्यवहारके लिए आवश्यक अवस्था भी भी है, वैसे ही जैसे कि व्यवस्था स्वतन्त्रतासे असगत नही, बल्कि स्वतन्त्रताके सही व्यवहारकी ओर उसके सरक्षण और टिके रहनेकी भी शर्त है। सव प्रकारके सम्मिलित कार्योमे यह नियम अपरिहार्य है साज मिलाना आवश्यक हो जाता है और जिस वाद्य-गोष्ठीमे व्यक्ति सगीतज्ञ अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार गायन वादन करते हो और निर्देशकके सकेतोको माननेसे इन्कार करते हो उस ऑरकेस्ट्राके लिए सफलता नही हो सकती। आध्यात्मिक वातोमे भी यही नियम लागू होता है, गुरुके निर्देशनकी अवहेलना करनेवाला और उसके स्थानपर नौसिखिएकी अशिक्षित प्रेरणाओको चाहनेवाला साधक आध्यात्मिक सिद्धिके पथको प्राय घनतासे घेरे रखनेवाली ठोकरो या विपदाओसे भी शायद ही वच सकता है। खेलकूदोसे मिलती शिक्षासे जो अन्य लाभ लिए जा सकते हैं उन्हें गिनाने या राष्ट्रीय जीवनके लिए उनके उपयोगकी वात कहनेकी आवश्यकता नही, मैंने जो कहा है वह काफी है। जो कुछ भी हो, हमारे जैसे विद्यालयो-मे और युनिवर्सिटिओमे खेलकूदका अव एक माना हुआ और अनिवार्य स्थान है, कारण, शरीरकी शिक्षाके विना मनकी ऊँचीसे ऊँची और पूरीसे पूरी शिक्षा भी काफी नही। मैंने जिन गुणोको गिनाया है वे जहाँ हैं नही या अपर्याप्त रूपसे हैं वहाँ सवल वैयक्तिक इच्छा या राष्ट्रीय इच्छा उनका निर्माण कर दे सकती हैं, परन्तु उनके विकासमे जो सहायता खेलकूदसे मिलती है वह सीधी सहायता है और किसी भी तरह नगण्य नही। हमारे आश्रममे उनपर जो ध्यान दिया जा रहा है उसके लिए ये पर्याप्त कारण होगे, अन्य कारण भी हैं किन्तु यहाँ उन्हे कहनेकी आवश्यकता नही। यहाँ मेरा सरोकार

राष्ट्रीय जीवनके लिए उनके महत्त्वमे और उसके लिए वे जिन गुणोको रचते या उभाडते हैं उनकी आवश्यकतामे है। जिम राष्ट्रको वे अधिकसे अधिक मात्रामे प्राप्त होगे उनके लिए यह मम्भावना होगी कि वह विजय, सफलता और महानताके लिए, और एकता और अधिक मामजम्यपूर्ण जगत-व्यवस्थाको लानेके लिए, जिसे हम मानव-जातिके भविष्यके लिए अपनी आगाके रूपमे देखते है, उमका जो योगदान हो सकता है उसके लिए भी सबसे मबल होगा।

दिसम्बर 30, 1948

शरीरकी पूर्णता

शरीरकी पूर्णता, अपने प्राप्य साधनो द्वारा हम जितनी बडी पूर्णता पा सके वह पूर्णता, इसे ही शारीरिक शिक्षाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। पूर्णता ही हमारे शिक्षणका, आध्यात्मिक और चैत्य, मानसिक और प्राणिक शिक्षणका सच्चा लक्ष्य है, और उसे ही हमारे शारीरिक शिक्षणका भी लक्ष्य होना चाहिए। यदि हममे सत्ता-की समग्र पूर्णताकी खोज है तो उसके शारीरिक भागको अलग नही छोड दिया जा सकता, कारण, शरीर ही भौतिक आधार है, शरीर ही वह उपकारण है जिसे हमे काममे लेना है। प्राचीन सस्कृत उक्ति है "शरीरम् खलु धर्मसाधनम्", शरीर ही धर्म-परिपूर्तिका साधन है, और धर्मका अर्थ वह हर आदर्श है जिसे हम अपने सामने रख सकते है और उसकी चरितार्थता और क्रियाका विधान। समग्र पूर्णता वह अन्तिम लक्ष्य है जिसे हम अपने सामने रखते हैं, क्योंकि हमारा आदर्श है दिव्य जीवन जिसका हम यहाँ सृजन करना चाहते हैं, पृथ्वीपर परिपूरित अध्यात्मका जीवन, जड विश्वकी अवस्थाओमे यही, पृथ्वीपर ही अपना आध्यात्मिक रूपान्तर सम्पादित करता जीवन। ऐसा तबतक नही हो सकता जबतक कि शरीर भी रूपान्तरित न हो जाय, उसकी क्रिया-शीलता और क्रियाकलाप परम सामर्थ्य और वह पूर्णता न पा ले जो उसके लिए सम्भव है या जिसे सम्भव किया जा सकता है।

इस आश्रममे हमने शारीरिक शिक्षणको एक विशेष ध्यान और क्षेत्र देना शुरू किया है, उसके व्यायामो और अनुशीलनके वाछनीय फलके रूपमे शरीरमे शारीरिक चेतनाकी एक सापेक्ष पूर्णताके बारेमे और वह शरीर जिस मन, प्राण और चरित्रका आवास है उसकी सापेक्ष पूर्णताके बारेमे जो कि शरीरकी अपनी सहज क्षमताओके जागरण और विकाससे कम भी नही, मै पहलेके सन्देशमे सकेत दे चुका हूँ। शारीरिक चेतनाके विकासको हमारे लक्ष्यका महत्त्वपूर्ण भाग सदा ही होना चाहिए, किन्तु इसके लिए स्वय शरीरका सही विकास मूलभूत तत्त्व है, स्वास्थ्य, बल और दुरुस्ती पहली आवश्यकताएँ हैं, किन्तु शारीरिक ढाँचेको भी जितना सम्भव हो सके अच्छेसे अच्छा होना होगा। भौतिक जगत्मे दिव्य जीवनका अर्थ अवश्य ही अस्तित्वके दोनो छोरो, आध्यात्मिक शिखर और भौतिक आधारका मिलन है। जीव, जिसके जीवनका आधार जडमे स्थापित है, अध्यात्मकी ऊँचाइयोपर आरोहण करता है, किन्तु वह

अपने आधारका परित्याग नही कर देता, वह तो ऊँचाइयो और गहराइयोको सयुक्त करता है। अध्यात्मपुरुष जडमे और भौतिक जगत्मे अपनी सारी आभाओ, महिमाओ और शक्तियोके साथ उतरता है और उनसे भौतिक जगत्के जीवनको भरता और रूपान्तरित करता है जिससे वह अधिकाधिक दिव्य होता जाता है। वह रूपान्तर किसी निरी सूक्ष्म और आध्यात्मिक वस्तुमे परिवर्तन नही है जिसके लिए जडतत्त्व प्रकृत्या अरुचिकर हो और जिसे यह अनुभव होता हो कि जडतत्त्व विघ्न ही है या अध्यात्म-पुरुषको बाँधनेवाला बन्धन। वह रूपान्तर जडको अध्यात्मके रूपकी तरह लेता है,—हाँलाकि वह रूप अभी तो उसे छिपाता ही है – और उसे प्राकटचकारी उपकरण-के रूपमे बदल देता है, वह जडतत्त्वकी ऊर्जाओ, उसकी क्षमताओ, उसकी पद्धतियोका परित्याग नही करता, वह उनकी गुप्त सम्भावनाओको बाहर लाता है, उन्नीत करता है, उदात्त करता है, उनकी अन्त स्थ दिव्यताको व्यक्त करता है। दिव्य जीवन किसी भी ऐसी वस्तुका वर्जन नही करेगा जिसे दिव्य बनाया जा सकता है, उसे सब कुछको पकडना है, ऊपर उठाना है, पूरा पूर्ण बनाना है। ज्ञानकी ओर सघर्ष करते किन्तु अभी भी अज्ञानी रहते मनको अतिमानसिक आलोक तथा सत्यकी ओर ऊपर उठना और उसमे चले जाना और उसे नीचे उतार लाना है जिससे कि वह हमारे विचार, प्रत्यक्षबोध और अन्तर्दृष्टि और हमारे सारे ज्ञान-साधनोको परिप्लुत कर दे और फलत वे अपनी अन्तरग और बहिरग गतिविधियोमे उच्चतम सत्यसे दीप्त हो जायँ। हमारा प्राण अभी भी अन्धकार और अव्यवस्थासे भरा है, इतने सारे फीके और निम्न-तर लक्ष्योमे व्यस्त है, उसे अपनी सारी प्रेरणाओ और सहजवृत्तियोके उन्नीत और प्रदीप्त रूपका अनुभव करना ही चाहिए, ऊपरके अतिमानसिक परप्राणका महिमावान् प्रतिपर्ण बनना ही चाहिए। शारीरिक चेतना और शारीरिक सत्ताको, स्वय शरीरको, वह जो कुछ भी है और करता है उस सबमे ऐसी पूर्णता पानी ही चाहिए जिसकी कल्पना हम अभी शायद ही कर सकते हैं। अन्तमे वह परतत्त्वसे आनेवाले आलोक, सौन्दर्य एव आनन्दसे भी परिप्लुत हो जा सकता है और दिव्य जीवन दिव्य शरीर धारण कर सकता है।

परन्तु पहले यह आवश्यक है कि प्रकृतिका क्रमविकास उस बिन्दुतक पहुँच गया हो जहाँ उसका 'अध्यात्म-पुरुष' से सीधा मिलन हो सके, जहाँ वह आध्यात्मिक परि-वर्तनाभिमुख अभीप्साका अनुभव कर सके और अपनेको उस शक्तिकी क्रियाओकी ओर खोल सके जो उसे रूपान्तरित करेगी। परम पूर्णता, समग्र पूर्णता केवल तभी सम्भव है जबकि हमारी निम्नतर या मानवीय प्रकृतिका रूपान्तर हो जाय, मनका रूपान्तर एक ज्योतिर्मयी वस्तुमे हो जाय, प्राणका रूपान्तर हो जाय एक शक्तिमयी

वस्तुमे, उसकी सारी शक्तियोकी सही क्रिया, सही व्यवहारके उपकरणके रूपमे, उसकी सत्ताके सुखद उन्नयनके उपकरणके रूपमे जिससे उसका उसकी वर्तमान अपेक्षाकृत सकीर्ण सम्भावनामेसे प्राणकी स्वय-सिद्धिकर क्रिया-शक्ति और आनन्दकी ओर उत्थान हो। वैसे ही, शरीर अभी जिन सीमाओसे ग्रस्त है और जिनसे वह अपनी वर्तमान बडीसे बडी मानवीय प्राप्तिमे भी बाधा पाता है, उनसे परेके उपकरणके रूपमे उसकी क्रिया, उसके व्यापार, उसके सामर्थ्योके धर्मान्तरण द्वारा शरीरका रूपान्तर-कारी परिवर्तन होना होगा। हमे जिस परिवर्तनको सिद्ध करना है उसकी समग्रताके अन्दर मानवीय साधनो और शक्तियोको भी सम्मिलित करना है, उन्हे छोड नही देना है वरन् नये जीवनके अग-रूपमे उनका उनकी चरम सम्भावनातक व्यवहार और अभिवर्द्धन करना है। हमारी वर्तमान मानवीय मन शक्तियो और प्राणशक्तियो-का पृथ्वीपर दिव्य जीवनके तत्त्वोके रूपमे ऐसा उन्नयन होनेकी कल्पना बहुत कठिनाई-के बिना की जा सकती हैं, किन्तु शरीरकी पूर्णताकी कल्पना हम किस रूपमे करेगे ?

भूतकालमे साधकोने शरीरको आध्यात्मिक पूर्णताका साधन और आध्यात्मिक परिवर्तनका क्षेत्र न मानकर बल्कि उसे बाधाके रूपमे, एक ऐसी वस्तुके रूपमे देखा है जिसे जीतना और परित्यक्त करना है। उसे जडतत्त्वकी स्थूलता कहकर, अलघ्य बाधा कहकर और शरीरकी बाधाओको ऐसी अपरिवर्तनशील वस्तु कहकर तिरस्कृत किया गया है जिससे रूपान्तर असम्भव हो जाता है। यह इस कारण है कि मानव-शरीर, अपने अच्छेसे अच्छे रूपमे भी, ऐसी प्राण-ऊर्जासे चालित लगता है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं और जो अपनी तुच्छतर शारीरिक क्रियाओमे ऐसे बहुत कुछसे दूषित हो जाती है जो तुच्छ या अपरिष्कृत या बुरा है, स्वय शरीर जडतत्त्वकी तामसिकता और निश्चेतनासे आक्रान्त है, केवल आशिक रूपमे जगा हुआ है, और स्नायविक क्रिया-शीलतासे स्पन्दित और प्राणवन्त होकर भी वह अपने घटक कोषो और ऊतकोकी मूलभूत क्रिया और उनके गुप्त क्रियाकलापोमे अवचेतन है। अपनी पूरीसे पूरी ताकत और शक्ति और सौन्दर्यकी बडीसे बडी श्रीमे भी वह भौतिक निश्चेतनाका ही पुष्प है, निश्चेतन ही वह भूमि है जिससे वह उपजा है और उसके सामर्थ्योके विस्तरण और मूलभूत स्वातिक्रमणके किसी भी प्रयत्नके सामने हर बिन्दुपर विरोधमे एक सकीर्ण सीमा खडी करता है। किन्तु यदि धरतीपर दिव्य जीवन सम्भव है तो इस स्वाति-क्रमणको भी सम्भव होना ही चाहिए।

पूर्णताकी खोजमे हम अपनी सत्ताके दोनो छोरोमेसे किसीसे भी शुरु कर सकते हैं और तब हमे, आरम्भमे तो अवश्य ही, अपने चुनावके उपयुक्त साधनो और प्रक्रिया-ओका व्यवहार करना होता है। योगमे प्रक्रिया है आध्यात्मिक और चैत्य, उसकी

प्राणिक और दैहिक प्रक्रियाओको भी आध्यात्मिक या चैत्य मोड दे दिया जाता है और साधारण प्राण तथा जडतत्त्वकी जो अपनी गतिवत्ता होती है उसकी अपेक्षा अधिक ऊँची गतिवत्तातक उठा दिया जाता है, उदाहरणके लिए हठयोग और राजयोगमे श्वास या आसनका उपयोग। आध्यात्मिक ऊर्जाके ग्रहण और चैत्य शक्तियो और पद्धतियोके सगठनके लिए मन, प्राण और शरीरकी पहलेसे तैयारी आवश्यक होती है, किन्तु इसे भी योगके उपयुक्त विशेष मोड दे दिया जाता है। दूसरी ओर, यदि हम नीचेके छोरपर किसी भी क्षेत्रमे आरम्भ करे तो हमे प्राण और जडतत्त्वसे मिलते साधनो और प्रक्रियाओका व्यवहार करना होता है और प्राणिक तथा भौतिक ऊर्जा द्वारा आरोपित अवस्थाओ और, कह सकते हैं, उनकी टेकनीकका आदर करना होता है। आरम्भिक सम्भावनाओसे आगे, सामान्य सम्भावनाओसे भी आगेकी प्राप्त क्रिया-शीलता, उपलब्धि और पूर्णताका विस्तार हम कर सकते हैं, किन्तु हमे फिर भी उसी आधारपर खडे होना पडता है जिससे हमने आरम्भ किया था और उन्ही सीमाओके अन्तर्गत रहना होता है जो हमे उस आधारसे मिली हैं। ऐसा नही है कि इन दो छोरो-से होनेवाली क्रियाका मिलन नही हो सकता और उच्चतर पूर्णता निम्नतरको अपने अन्दर नही ले सकती और ऊपर नही उठा सकती, परन्तु सामान्यत ऐसा केवल निम्न-तरसे उच्चतर दृष्टि, अभीप्सा और हेतुकी ओर सक्रमण द्वारा ही किया जा सकता है यदि मानव-जीवनको दिव्य जीवनमे रूपान्तरित करना हमारा लक्ष्य है तो ऐसा हमे करना ही होगा। किन्तु यही आवश्यकता खडी होती है मानव-जीवनके क्रिया-कलापोको उठाने और उन्हे अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे उदात्त करनेकी। यहाँ निम्नतर पूर्णता विलुप्त नही होगी, वह रहेगी, किन्तु उस उच्चतर पूर्णतासे अभिवर्द्धित और रूपान्तरित होकर जो अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे ही मिल सकती है। यदि हम काव्य और कला, दार्शनिक विचारणा, लिखित शब्दकी पूर्णता या पार्थिव जीवनके पूर्ण सगठनपर विचार करे तो यह स्पष्ट हो जायगा इन्हे भी लेना होगा और जो सम्भावनाएँ सिद्ध हो चुकी हैं या जो भी पूर्णता प्राप्त हो चुकी है, उन्हे एक नयी और अधिक बडी पूर्णतामे समाविष्ट करना होगा किन्तु आध्यात्मिक चेतनाकी विशालतर दृष्टि और प्रेरणाके साथ, नये रूपो और सामर्थ्योके साथ। शरीरकी पूर्णताके साथ भी यही बात होगी।

ससारके जीवनका त्याग करनेवाली या उससे मुँह मोडनेवाली आध्यात्मिकता-का रूख प्राण और जडतत्त्वको अस्वीकार करने और अन्तमे उनका बहिष्कार कर देनेका होता था, ऐसा न करके उन्हे एक मूलतया आध्यात्मिक खोजके अन्तर्गत ऊपर उठानेका अर्थ ऐसे विकास होते हैं जिन्हे प्राचीन प्रकारकी आध्यात्मिक सस्था अपने

कार्यसे अलग मान सकती थी। जगत्मे दिव्य जीवन, या उस जीवनको अपना उद्देश्य और कार्य माननेवाली सस्था, ये जगत्मे रहनेवाले साधारण लोगोके जीवनसे कोई बाहरकी वस्तु या उसकी ओरसे पूरे बन्द या सासारिक जीवनसे असम्बन्धित नही हो सकते या नही रह सकते, इन्हे जगत्से बाहर या अलग नही, जगत्के अन्दर भगवान्का काम करना है। पुराने युगमे आश्रमवासी ऋषियोके जीवनका ऐसा सम्बन्ध था, वे थे स्रष्टा, शिक्षक, मनुष्यके पथप्रदर्शक, और प्राचीन युगमे भारतके लोगोके जीवनका विकास और निर्देशन बडे परिमाणमे उनके गठनकारी प्रभावसे हुआ था। नये प्रयास-मे निहित जीवन और क्रियाकलाप ठीक प्राचीन जैसे नहीं हैं, किन्तु उन्हे भी जगत्-पर एक क्रिया और जगत्मे एक नयी सृष्टि होना ही चाहिए। जगत्से इनका सम्पर्क और संम्बन्ध और ऐसे क्रियाकलाप भी होने ही चाहिये जो साधारण जीवनमे अपना स्थान पाते हैं और जिनके आरम्भिक या प्राथमिक उद्देश्य बाह्य जगत्मे होनेवाले उन्ही क्रियाकलापोसे भिन्न नही भी लग सकते हैं। यहाँ अपने आश्रममे हमने निवासी साधको-के बच्चोकी शिक्षाके लिए विद्यालयकी स्थापना आवश्यक पायी है जो परिचित रीति-योसे, किन्तु उनमे कुछ परिवर्तन करके, शिक्षा दे रहा है और घने शारीरिक प्रशिक्षणको उनके विकासके अगके रूपमे, महत्त्वपूर्ण अगके रूपमे मान रहा है, आश्रमकी युवक खेलमडलीके खेलकूद और व्यायाम इसीसे साकार हुए हैं और यह पत्रिका उसीको व्यक्त करती है। कुछ लोगोका प्रश्न है कि साधकोके लिए बनाये गये आश्रममे खेल-कूदका क्या स्थान हो सकता है और आध्यात्मिकता तथा खेलकूदके बीच क्या सम्बन्ध हो सकता है। मनुष्यके सामान्य जीवनके क्रियाकलापोके साथ इस प्रकारकी सस्थाके सम्बन्धोके बारेमे मै लिख चुका हूँ और पहलेके अकमे मैने बताया है कि राष्ट्रीय जीवनके लिए ऐसे प्रशिक्षणकी क्या उपादेयता हो सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय जीवनको उससे क्या लाभ हो सकता है, प्रश्नका पहला उत्तर इसीमे है। यदि हम प्रथम उद्देश्योसे आगे देखे और शरीरकी पूर्णताको सम्मिलित करनेवाली समग्र पूर्णताकी अभीप्साकी ओर मुडे तो हमे एक दूसरा उत्तर मिल सकता है।

आश्रमके जीवनमे खेलकूद और शारीरिक कसरतो जैसे क्रियाकलापको प्रवेश देनेमे यह जाहिर है कि इनकी पद्धतियोको और प्राप्तिके प्रथम लक्ष्योको हमने जिसे सत्ताका निम्नतर छोर कहा है उसीकी चीजे होना चाहिए। मूलत इनका प्रवेश आश्रम विद्यालयके बच्चोकी शारीरिक शिक्षा और दैहिक विकासके लिए किया गया है और वे इतनी छोटी आयुके हैं कि उनके क्रियाकलापमे किसी खरे आध्यात्मिक लक्ष्य या अभ्यासका प्रवेश नही हो सकता और जब वे अपने भविष्यकी दिशाको चुननेकी उम्रके हो जायँगे तब उनमेसे बहुतोका आध्यात्मिक जीवनमे प्रवेश करना निश्चित

नही। लक्ष्य तो शरीरका प्रशिक्षण और मन तथा चरित्रके कुछ अगोका वह विकास ही होना चाहिए जहाँ तक कि वह इस प्रशिक्षण द्वारा या इसके सम्बन्धसे किया जा सकता है, और पहलेके अकमे मै यह बता चुका हूँ कि ऐसा कैसे और किस दिशामे किया जा सकता है। इन सीमाओके अन्दर एक सापेक्ष और मानवीय पूर्णता ही प्राप्त की जा सकती है, इससे महत्तर चीज उच्चतर शक्तियोसे, चैत्य शक्तियोसे, अध्यात्म-वलके हस्तक्षेपसे ही मिल सकती है। फिर भी, मानवीय सीमाओके अन्दर जो चीज प्राप्य है वह वहुत महत्त्वपूर्ण और कभी कभी महान् हो सकती है जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह सत्ताके मानवीय परासके विकासका अग है और उसकी उपलब्धियाँ, विशेषतया मन और इच्छाकी चीजोमे, हमे दिव्यताकी आधी राह पार करा सकती है। शरीर और उसके जीवनके स्वक्षेत्रमे, शारीरिक उपलब्धिकी राहमे, मन और इच्छा ही शरीरके साथ जो कर गुजरते हैं,—शारीरिक सहनशीलता, सब प्रकारके पराक्रमके व्यापार, थकान या शक्तिलोपको न माननेवाली और शुरूमे जो सम्भव लगता है उससे आगे चालू रहनेवाली दीर्घस्थायी क्रियाशीलता, अन्तहीन और घातक शारीरिक कष्टमे साहसिकता और उसके अधीन होनेसे इनकार,—ये और बहुत प्रकारकी अन्य जीते जो कभी कभी चमत्कारिक या चमत्कारिक-जैसी होती हैं मानवीय क्षेत्रमे देखनेमे आती है और हमारी समग्र पूर्णताकी धारणाके अगके रूपमे उन्हे लेना ही चाहिए। युद्ध, यात्रा और साहसिक कार्योके दौरान आनेवाली अधिकसे अधिक कठिन और हतोत्साहकारिणी परिस्थितियोमे मनुष्यके शरीर, उसके मन, उसकी प्राण-ऊर्जापर जो कोई भी माँग लादी जाय, उस शरीर, मन और प्राण-ऊर्जाका अडिग और दृढ उत्तर उसी प्रकारका होता है और उनकी सहनशक्ति अद्भुत परिमाण प्राप्त कर सकती है और शरीरमेका निश्चेतन भी आश्चर्यप्रद उत्तर देनेमे सक्षम लगता है।

शरीर, हमने कहा है, निश्चेतनकी रचना है और स्वय भी निश्चेतन है या अपने आत्माके अगो या अपनी क्रियाके बहुत सारे अशमे अवचेतन तो है ही, परन्तु जिसे हम निश्चेतन कहते हैं वह उस गुप्त चेतनाका या अतिचेतनका एक रूप, एक निवास-स्थल, एक उपकरण ही है जिसने उस चमत्कारका सृजन किया है जिसे हम विश्व कहते हैं। जड है निश्चेतनका क्षेत्र और निश्चेतनकी रचना, किन्तु निश्चेतन जडके क्रिया-व्यापारोकी पूर्णता, एक लक्ष्य और उद्देश्यके प्रति उनके साधनोका पूर्ण अनुकूलन, उनके अद्भुत कार्य और उनके सृष्ट सौन्दर्य-चमत्कार, ये सब, विरोधमे हमारे सारे अज्ञानपूर्ण सम्भव इनकारके बावजूद, भौतिक विश्वके हर अग और परिस्पन्दमे उस अतिचेतनाकी विद्यमानता और उसकी चेतनाकी शक्तिके साक्षी हैं। वह शरीरमे विद्यमान है, उसने शरीरको बनाया है, और हमारी चेतनामे उसका उन्मज्जन क्रम-

विकासका लक्ष्य और हमारे जीवन-रहस्यकी कुंजी है।

बचपन और प्रथम युवावस्थामे व्यक्तिकी शिक्षाका अर्थ उसकी वास्तविक और सुप्त सम्भावनाओको उनके पूरेसे पूरे विकासतक पहुँचाना होना चाहिए, उसमे खेलकूद और शारीरिक कसरतो जैसे क्रियाकलापोके उपयोगमे हमे जिन साधनो और पद्धतियोको काममे लेना होगा वे शरीरकी प्रकृतिसे सीमित हैं और उसका लक्ष्य शरीरके अपने सामर्थ्यो और क्षमताओकी और साथ ही वह मन, इच्छा, चरित्र और कर्मके जिन सामर्थ्यों और क्षमताओका आवास और उपकरण दोनो ही है उनकी भी ऐसी सापेक्ष मानवीय पूर्णता, जहाँ तक कि ये पद्धतियाँ उनके विकासमे सहायता दे सकती हैं, होनी ही चाहिए। ये अनुशीलन पूर्णताके मानसिक और नैतिक अगोमे योगदान कर सकते हैं, इस विषयमे मै काफी लिख चुका हूँ और उसे यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नही। स्वय शरीरके लिए इन साधनो द्वारा विकसित की जा सकनेवाली पूर्णताएँ उसके प्राकृतिक गुणो और सामर्थ्योकी हैं और द्वितीयत इस रूपमे शरीरकी सामान्य दुरुस्तीका प्रशिक्षण है कि वह उन सारे क्रियाकलापोके लिए उपकरण है जिनकी माँग मन और इच्छा, प्राण-ऊर्जा, या हमारी उस सूक्ष्म शारीरिक सत्ताके सक्रिय प्रत्यक्ष-बोध, प्रेरणा और सहजवृत्तियाँ उससे कर सकती हैं जिसे हम जानते नही किन्तु जो हमारी प्रकृतिमे बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व और अभिकर्त्ता है। शरीरकी प्राकृतिक पूर्णताके लिए पहली अवस्थाएँ हैं स्वास्थ्य और बल, केवल मासल बल, अवयवोकी ठोस ताकत और शारीरिक दम ही नही, अपितु वह सूक्ष्मतर, सतर्क, नमनीय और अनुकूलनीय शक्ति जिसे हमारे स्नायविक और सूक्ष्म शारीरिक अग ढाँचेके क्रियाकलापमे दे सकते हैं। एक और भी अधिक क्रियावन्त शक्ति है जिसे प्राण-ऊर्जाओसे की गयी माँग शरीरमे ला सकती है और जो शरीरको महत्तर क्रियाकलापोके लिए, अति असाधारणताके ऐसे करतबोके लिए भी उभार सकती है जिनके लिए शरीर अपनी सामान्यावस्थामे समर्थ नही होता। फिर वह बल भी है जिसे मन और इच्छा अपनी माँगो और प्रेरणो और उन छिपी ताकतोसे शरीरको दे सकते या उसपर स्वामियो और प्रेरकोके रूपमे आरोपित कर सकते हैं जिन्हें हम काममे लेते हैं या जो ही हमे काममे लेती है जब कि हम उनकी क्रियाके उत्सको नहीं जानते। इस प्रकार शरीरके जिन प्राकृतिक गुणो और सामर्थ्योको जगाया और उकसाया जा सकता और प्रशिक्षित करके सामान्य क्रियाकलाप बनाया जा सकता है उनमें हमे सब प्रकारकी शारीरिक क्रियाओमे दक्षता और स्थिरताको गिनना ही होगा, जैसे कि दौडमे तेजी, लडाईमे दक्षता पर्वतारोहीकी निपुणता और सहनशीलता, सैनिक, नाविक, पर्यटक या अन्वेषकके शरीरमे, जिसकी चर्चा मै पहले कर चुका हूँ, या सब प्रकारके साहसिक कार्योमे शरीरमे जो भी माँग की जा

सकती है उसके प्रति सतत और प्राय असाधारण उत्तर और शारीरिक उपलब्धिका वह सारा विस्तृत प्रदेश जिसका कि मनुष्य आदि हो गया है या जिसकी ओर वह स्वेच्छा-से या परिस्थितियोकी वाध्यतासे धकेला जाता है। उससे सवके लिए शरीरकी व्यापक दुरुस्ती चाही जा सकती है जो कि इस सारी क्रियाका सर्वसामान्य सूत्र है, एक ऐसी दुरुस्ती जिसे थोडेसे लोगो या वहुतोने पायी है, जिसे एक विस्तृत और वहुमुख शारीरिक शिक्षा और अनुशासन द्वारा व्यापक किया जा सकता है। इनमेसे कुछ क्रियाकलापो-को खेलकूदकी श्रेणीमे रखा जा सकता है, ऐसे अन्य क्रियाकलाप भी हैं जिनके लिए खेलकूद और शारीरिक व्यायाम प्रभावी तैयारी हो सकते हैं। उनमेसे कुछमे सम्मिलित क्रियाके लिए प्रशिक्षण, सम्मिलित गतिविधि और अनुशासन आवश्यक हैं और इसके लिए शारीरिक व्यायाम हमे तैयार कर सकते हैं, दूसरे ऐसे हैं जिनमे विकसित वैयक्तिक इच्छा, मनका कौशल और क्षिप्र वोध, प्राण-ऊर्जाकी शक्तिमत्ता और सूक्ष्म शारीरिक प्रेरणा अधिक प्रधान रूपसे आवश्यक हैं और एकमात्र ययेष्ट प्रशिक्षक भी हो सकते है। शरीरकी प्राकृतिक ताकतो, उसके सामर्थ्य और मानवीय मन तथा इच्छाकी सेवामे उसकी साधनरूपिणी दुरुस्तीके वारेमे हमारी धारणामे, फलत हमारी शरीरकी समग्र पूर्णता सम्वन्वी धारणामे सव कुछको सम्मिलित कर लेना होगा।

इस पूर्णताके लिए दो शर्ते हैं, शरीर-चेतनाका यथासम्भव अधिकसे अधिक सम्पूर्ण जागरण और एक ऐसी शिक्षा, उसकी सम्भावनाओका एक ऐसा उद्‌वोधन जो भी यथासम्भव अधिकसे अधिक सम्पूर्ण और पूरी तरह विकसित, शायद वहुमुख भी हो। रूप या शरीर, निस्सन्देह, अपने मूलमे निश्चेतनकी रचना है और सव ओर उससे सीमित है, किन्तु फिर भी वह उस निश्चेतनकी रचना है जो उसके अन्दर गुप्त चेतनाको विकसित कर रहा है और जिसका ज्ञान, वल तथा आनन्दके आलोकमे वर्द्धन हो रहा है। हमे उसे उस विन्दुपर लेना है जहाँ वह इन चीजोमे अपने मानवीय क्रम-विकासमे पहुँच गया है, जहाँ तक हो सके इनका पूरा उपयोग करना है और, जहाँ तक हम ऐसा कर सके, इस क्रमविकासको उतनी ऊँची कोटितक उठाना है जितना कि वैयक्तिक स्वभाव और प्रकृतिकी शक्ति करने दे। जगत्मे सारे रूपोके अन्दर एक शक्ति कार्य कर रही है, वह अचेतन रूपसे सक्रिय या अपने निम्नतर निरूपणोमे तामसिकतासे पीडित है, किन्तु मनुष्यमे शुरूसे चेतन है और उसकी सम्भावनाएँ अशत जाग्रत्, अशत निद्रित या प्रसुप्त हैं जो उसमे जाग्रत् है हमे उसे पूरा चेतन वनाना है, जो निद्रित है हमे उसे जगाना और उसके काममे लगाना है, जो प्रसुप्त है हमे उसे उद्‌वुद्ध और शिक्षित करना है। यहाँ शरीर-चेतनाके दो पहलू हैं, एकमे वह एक प्रकारकी स्वचलता लगती है जो भौतिक स्तरपर अपना कार्य मनके हस्तक्षेपके विना

करती जाती है और कुछ अशोमे यह सम्भावना भी नही रहती कि मन उसे सीधा देख सके, या यदि वह चेतन है या उसे देखा जा सकता है तो भी वह, एक बार आरम्भ हो जानेपर, एक प्रतीयमानत यान्त्रिक क्रिया द्वारा चालू रहती या चालू रहनेमे सामर्थ होती है जिसे मनके निर्देशनकी आवश्यकता नही होती और वह तबतक चालू रहती है जबतक कि मनका हस्तक्षेप न हो।

ऐसी अन्य गतियाँ हैं जो मन द्वारा सिखायी गयी और प्रशिक्षित होती हैं और, फिर भी, जब विचार या इच्छाका साथ नही होता तब भी स्वत ही किन्तु दोषहीन रूपसे चलना जारी रख सकती हैं, ऐसे अन्य गतियाँ भी हैं जो निद्रामे क्रिया कर सकती और जाग्रत बुद्धिके लिए मूल्यवान् परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जिसे प्रशिक्षित और विकसित स्वचलता कहकर वर्णित किया जा सकता है, किसी भी माँगको उत्तर देनेके लिए तैयार आँख, कान, हाथ और सारे अवयवोका पूर्ण नैपुण्य और सामर्थ्य, उपकरणके रूपमे विकसित स्वत स्फूर्त क्रिया, मन और प्राण-ऊर्जा उसमे जो भी चाहे उसके लिए उसकी पूरी योग्यता। साधारणत यही वह उत्तम प्राप्ति है जो हमे निम्नतर छोरपर तब मिल सकती है जब कि हम उस छोरसे आरम्भ करते हैं और उसीके साधनो और पद्धतियोतक सीमित रहते हैं। इससे अधिकके लिए हमे स्वय मन, प्राण-ऊर्जा या अध्यात्मतत्त्वकी ऊर्जाकी ओर और वे शरीरकी महत्तर पूर्णताके लिए क्या कर सकते हैं उसकी ओर मुडना होगा। शारीरिक क्षेत्रमे शारीरिक साधनोसे हम अधिकसे अधिक जो भी कर सकते हैं वह असुरक्षित और सीमाबद्ध होगा ही, जो शरीरका पूर्ण स्वास्थ्य और बल प्रतीत होता है वह भी सुरक्षित नही और किसी भी समय अन्दरके उतार-चढावसे या बाहरके मजबूत आक्रमण या धक्केसे टूट जा सकता है उच्चतर और अधिक स्थायी पूर्णता हमारी सीमाओके टूटनेमे ही आ सकती है। जिस ओर हमारी चेतनाका वर्द्धन होना ही चाहिए वैसी एक दिशा है शरीर और उसके सामर्थ्योपर अन्दर या ऊपरसे बढती हुई पकड और हमारी सत्ताके उच्चतर अगोको अधिक चेतन उत्तर। मन प्रधानतया मनुष्य है, वह मनोमय प्राणी है और जितना वह उपनिषद्के वर्णन 'प्राणशरीर नेता मनोमय पुरुष' को पूरा करता है उतना ही अधिक उसकी मानवीय पूर्णताका वर्द्धन होता है। यदि मन प्राण-ऊर्जा, सूक्ष्म शारीरिक चेतना और शरीरकी सहजवृत्तियो और स्वचलताओको अपने दायरेमे ले सके, उनको वशमे कर सके, उनमे प्रवेश कर सके, उनकी सहजवृत्तिगत या स्वत-स्फूर्त क्रियाको चेतन रूपसे व्यवहृत और, जैसा कि हम कह सकते हैं, पूरा मनोमय कर दे सके तो इन ऊर्जाओकी पूर्णता भी, इनकी क्रिया भी अधिक चेतन, अपने प्रति अधिक

संविद्, अधिक पूर्ण हो जा सकती है। परन्तु मनका भी पूर्णतामे वर्द्धित होना आवश्यक होता है और ऐसा वह उत्तम रूपसे तब कर सकता है जब कि वह स्थूल मनकी अ-विश्वसनीय बुद्धिपर कम निर्भर करे, युक्तिबुद्धिकी अधिक व्यवस्थित और सही क्रियासे भी सीमित न हो और सबोधिमे वर्द्धित हो सके और अधिक विस्तृत, गहरी और निकट दृष्टिको और अधिक ऊँची सबोधिमूलिका इच्छाकी ऊर्जाके अधिक प्रकाशमय प्रवेगको पा सके। मनके वर्तमान विकासकी सीमाओके अन्दर भी उस मात्राको मापना कठिन है जिसमे मन शरीरके सामर्थ्यों और क्षमताओपर अपने नियत्रण या व्यवहार-सामर्थ्य-को विस्तृत कर सकता है, और जब मन और भी ऊँचे सामर्थ्योंतक उठता है और अपनी मानवीय सीमाओको पीछे धकेल देता है तो उसके लिए कोई भी सीमाएँ निर्धारित करना असम्भव हो जाता है यहाँ तक कि ऐसी सिद्धियाँ भी है जिनमे शारीरिक अगोकी स्वचल क्रियामे इच्छाका हस्तक्षेप सम्भव लगता है। जहाँ कही भी सीमाएँ हटती हैं वहाँ और उनके हटनेके अनुपातमे शरीर अध्यात्मतत्त्वकी क्रियाका अधिक नम्य और प्रत्युत्तरशील और उसी मात्रामे अधिक योग्य और पूर्ण उपकरण हो जाता है। यहाँ, भौतिक जगत्मे, सारे प्रभावी और अभिव्यजक क्रियाकलापोमे हमारी सत्ताके दोनो छोरोकी सहकारिता अपरिहार्य है। शरीर यदि थकान या प्राकृतिक असमर्थता या किसी भी दूसरे कारणसे विचार या इच्छाका साथ देनेमे अक्षम या किसी भी तरह अप्रत्युत्तरशील या अपर्याप्त रूपमे प्रत्युत्तरशील है तो उस परिमाणमे क्रिया फलीभूत नही होती या न्यून पड जाती या किसी मात्रामे असन्तोषप्रद या अधूरी होती है। काव्य-प्रेरणाके बहिर्प्रवाहको ही ले जो कि अध्यात्मतत्त्वका बिलकुल मानसिक कारनामा ही लगता है, उसमे भी यह आवश्यक है कि मस्तिष्कका प्रत्युत्तरशील प्रकम्पन हो और विचार तथा दृष्टिकी जो शक्ति और शब्दका जो आलोक अपनी राह बना रहा या खोद रहा है या अपनी पूर्ण अभिव्यजनाको खोज रहा है उसकी मागणिके रूपमे वह खुला हुआ हो। मस्तिष्क यदि थका है या किसी अवरोधके कारण अप्रभ है तो या तो प्रेरणा आ नही सकती और कुछ भी लिखा नही जाता या वह विफल हो जाती है और कोई अवर वस्तु ही बाहर आ सकती है, या नही तो जो प्रकाशमय निरूपण साकार होनेका प्रयत्न कर रहा था उसका स्थान निम्नतर प्रेरणा ले लेती है या मस्तिष्कको कम प्रदीप्त प्रेरणाका साथ देना अधिक आसान लगता है या फिर वह परिश्रम करता है और पद्य-रचनाकी सूझ पाता या खडी करता है। जो क्रियाकलाप अधिकसे अधिक विशुद्ध रूपमे मानसिक हैं उनमे भी शारीरिक उपकरणकी तत्परता या पूर्ण प्रशिक्षण अपरि-हार्य शर्त्त है। वह तत्परता, वह प्रत्युत्तर भी शरीरकी समग्र पूर्णताका अग है।

यहाँके वर्द्धमान क्रमविकासका मूलभूत लक्ष्य और चिह्न है प्रतीयमान रूपसे

निश्चेतन विश्वमे चेतनाका उन्मज्जन, चेतनाका वर्द्धन और उसके साथ जीवके आलोक और शक्तिका वर्द्धन, रूप और उसकी क्रियाका विकास या उसकी टिके रहने-की क्षमता अपरिहार्य तो है, किन्तु समूचा अर्थ या केन्द्रीय हेतु नही। चेतना-का अधिकाधिक जागरण और उसका अपनी दृष्टि तथा क्रियाके अधिकाधिक ऊँचे स्तर और विशालतर विस्तारकी ओर आरोहण उस परम तथा समग्र पूर्णताकी ओर हमारी प्रगतिकी शर्त्त है जो कि हमारे अस्तित्वका लक्ष्य है। यह शरीरकी समग्र पूर्णताकी शर्त्त भी है। हम अभी मनके जिन किन्ही भी ऊँचे स्तरोकी कल्पना करते हैं उनसे भी ऊँचे स्तर हैं और हमे एक दिन उनतक पहुँचना ही है और उनसे परे अधिक महान् जीवनकी, आध्यात्मिक जीवनकी ऊँचाईयोपर उठ जाना है। हम ज्यो ज्यो उठते हैं हमे अपने निम्नतर अगोको उनकी ओर खोलना है और उनको आलोक तथा बलकी उन श्रेष्ठतर और परम क्रियावत्ताओसे भर देना है, शरीरको हमे अधिकाधिक चेतन, यहाँ तक कि सम्पूर्णतया चेतन ढाँचा और उपकरण, अध्यात्म-तत्त्वका चेतन चिह्न, मुहर और बल बनाना है। वह जैसे-जैसे इस पूर्णतामे वर्द्धित होता है उसकी सचल क्रियाकी शक्ति और विस्तृति और अध्यात्मतत्त्वके प्रति उसकी सवेदनशीलता और सेवा वर्द्धित होगी ही, उसपर अध्यात्मतत्त्वका नियत्रण भी बढेगा ही, और उसकी क्रियाकी नमनीयता भी बढेगी ही,—ऐसा उसके विकासित और अर्जित शक्तिमय अगोमे होगा और साथ ही उसके स्वचलित प्रत्युत्तरोमे भी, उन प्रत्युत्तरोमेभी जो अभी शुद्धतया शारीरिक रचनागत हैं और यान्त्रिक निश्चेतनाकी क्रियाएँ लगते हैं। यह सच्चे रूपान्तरके बिना नही हो सकता और मन तथा प्राणका और स्वय शरीरका रूपान्तर वह परिवर्तन है जिसकी ओर हमारा विकासक्रम गुप्त रूपसे बढ रहा है और इस रूपान्तरके बिना धरतीपर दिव्य जीवनकी परिपूर्णताका उद्भव नही हो सकता। इस रूपान्तरमे स्वय शरीर अभिकर्त्ता और भागीदार हो सकता है। निस्सन्देह, अध्यात्मतत्त्वके लिए ऐसी महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है जिसमे निष्क्रिय शरीर और अपूर्ण चेतनावाला शरीर ही भौतिक क्रियामे उसका अन्तिम या सबसे नीचेका साधन हो, किन्तु वह कोई पूर्ण या सम्पूर्ण वस्तु नही हो सकती। पूरा चेतन शरीर भौतिक रूपान्तरकी सही भौतिक पद्धति और प्रक्रियाका आविष्कार और क्रियान्वयन भी कर सकता है। निस्सन्देह, इसके लिए आवश्यक है कि अध्यात्म-तत्त्वकी परम ज्योति, शक्ति और सर्जनशील आनन्द व्यष्टिचेतनाके शिखरपर अभि-व्यक्त हो गए हो और उन्होंने शरीरमे अपने आदर्शोको सचारित कर दिया हो, किन्तु इस क्रियान्वयनमे शरीर फिर भी अपना आत्माविष्कार और उपलब्धिका स्वत स्फूर्त भाग अदा कर सकता है। इस प्रकार शरीर अपने आत्म-रूपान्तरमे और समूची

सत्ताके सर्वांगीण रूपान्तरमे भागीदार और अभिकर्त्ता हो सकता है, यह बात भी शरीरकी समग्र पूर्णताका अंग, चिह्न और प्रमाण होगी।

यदि चेतनाका उन्मज्जन और वर्द्धन क्रमविकासका केन्द्रीय हेतु और उसके गुप्त उद्देश्यकी कुंजी हो तो उस क्रमविकासकी प्रकृतिके नाते ही इस वर्द्धनमे केवल उसकी क्षमताओका अधिकाधिक विस्तरण नही, अधिकाधिक ऊँचे स्तरकी ओर तब-तक आरोहण भी निहित होगा जबतक कि वह उस ऊँचेसे ऊँचे स्तरतक नही पहुँच जाय जहाँतक उसका पहुँचना सम्भव है। कारण, वह आरम्भ करता है निश्चेतनामे सवृतिके सबसे नीचेके स्तरमे जिसे हम जडतत्त्वमे क्रिया करते और भौतिक विश्वकी सृष्टि करते देखते हैं, वह आगे बढता है अज्ञान द्वारा जो कि फिर भी सदा ही विकसित होता ज्ञान है और सदा ही महत्तर आलोककी ओर और इच्छाके सदा ही महत्तर सगठन और नैपुण्यकी ओर और अपने सारे अन्तर्निहित और उन्मज्जित होते सामर्थ्योंके सदा ही महत्तर सामजस्यीकरणकी ओर बढता है, अन्तमे उसे ऐसे स्थलपर पहुँचना ही चाहिए जहाँ वह अपने सामर्थ्यकी परिपूर्णताका विकास या अर्जन करता है और वह एक ऐसी स्थिति या क्रिया होगी जिसमे ज्ञानका खोजी अज्ञान नही, अपितु वह ज्ञान है जो आत्मवान् है, सत्तामे अन्तर्निष्ठ है, अपने सत्योका स्वामी है और उन्हे एक स्वाभाविक दृष्टि तथा शक्तिमे क्रियान्वित कर रहा है जो परिसीमन या भूलभ्रान्तिसे आक्रान्त नही। या यदि कोई परिसीमन है तो उसे स्वारोपित आवरण ही होना चाहिए जिसके पीछे उसने सत्यको कालके अन्दर अभिव्यक्तिके लिये पीछेकी ओर रखा होगा परन्तु उसे वह जब चाहे बाहर खीच लायगा और इसके लिए उसे खोज या अर्जनकी आवश्यकता नही होगी और ऐसा वह वस्तुओके सही बोधके क्रममे या जिसे कालकी पुकारके अनुसरणमे अभिव्यक्त करना है उसके सही धाराक्रममे करेगा। इसका अर्थ होगा उस चेतनामे प्रवेश या गमन जिसे ऋत-चेतना कहा जा सकता है, वह चेतना स्वयम्भू होगी और उसमे सत्ता अपनी स्व-वास्तविकताओसे अवगत होगी और उसमे उनको ऐसी काल-सृष्टिमे अभिव्यक्त करनेका अन्तर्निहित सामर्थ्य होगा जिसमे सब कुछ वह 'सत्य' होगा जो अपने निर्भ्रान्त डग भर रहा होगा और अपने स्व-सामंजस्योको सम्मिलित कर रहा होगा; प्रत्येक विचारणा, इच्छा, भावना और क्रिया सहज रूपसे सही, प्रेरित या सर्वोधिमूलिका होगी, सत्यके आलोकके सहारे चालित और फलतः पूर्ण होगी। सब कुछ अध्यात्मतत्त्वकी अन्तर्निष्ठ वास्तविकताओ-को व्यक्त करेगा, वहाँ अध्यात्मतत्त्वके बलका कोई पूरापन रहेगा। वहाँ मनकी वर्तमान सीमाएँ पार हो गयी होगी · मन हो जायगा 'सत्य' के आलोकका अवलोकन, इच्छा हो जायगी 'सत्य' की शक्ति और बल, प्राण हो जायगा 'सत्य' की प्रगतिशील

परिपूर्ति, स्वय शरीर हो जायगा 'सत्य' का चेतन पात्र और उसके आत्म-निष्पादनके साधनका अग और उसके आत्म-सविद् अस्तित्वका रूप। यदि जडके जगत्‌मे दिव्य जीवन होना है या अध्यात्ममयी चेतनाकी पूरी अभिव्यक्ति होनी है तो अन्तत इस ऋत-चेतनाके किसी आरम्भ, उसकी किसी प्रथम आकृति या क्रियातक पहुँचना ही होगा और उसका प्रथम क्रियाचालन चाहिए ही। या, वस्तुत कममे कम, ऐसी ऋत-चेतनाका हमारे अपने मन, प्राण तथा शरीरसे सम्पर्क होना ही चाहिए, उसे उतरकर इसके सस्पर्शमे होना ही चाहिए, इसकी दृष्टि और क्रियाको नियत्रित करना, इसके प्रेरक हेतुओको चालित करना, इसकी शक्तियोको हस्तगत करना और उनकी दिशा और उद्देश्यको गढना ही चाहिए। जिन्हे इसका स्पर्श होगा वे सभीके सभी इसे पूरा साकार करनेमे समर्थ नही हो सकेगे, परन्तु हरेक इसे अपने आध्यात्मिक स्वभाव, अपने आन्तरिक सामर्थ्य, अपनी प्राकृतिक क्रमविकास-रेखाके अनुसार कोई रूप देगा वह निरापदतासे उस पूर्णतातक पहुँच जायगा जिसका उसे तात्कालिक सामर्थ्य रह रहा हो और वह पुरुषके सत्य और प्रकृतिके सत्यपर पूरा अधिकार पानेकी राहपर होगा।

ऐसी ऋत-चेतनाके क्रियाकलापोमे उसके सत्यके डगोकी एक निश्चित, चेतन, दृष्टिशालिनी और इच्छुक स्वत क्रिया होगी जो प्रतीयमान शून्यमेसे इस व्यवस्थित विश्वको बाहर लानेवाली निश्चेतन या निश्चेतन लगती शक्तिकी अचूक स्वत क्रिया-का स्थान लेगी। इसमे 'सत्-पुरुष' की अभिव्यक्तिके एक नए क्रमकी सृष्टि होगी जिसमे पूर्ण पूर्णता सम्भव होगी, परम और समग्र पूर्णता भी अन्तिम सम्भावनाके प्रदेशोमे प्रकट होगी। यदि हम इस शक्तिको भौतिक जगत्‌मे उतार सके तो मानवीय पूर्णताकी सम्भावना, व्यक्ति, समाज और जातिकी पूर्णताकी सम्भावना, आत्मापर आन्तरिक प्रभुत्व और प्रकृतिकी शक्तियोपर पूरा प्रभुत्व और शासन और उनके उपयोगके बारेमे हमारे युग-युगके स्वप्न अन्तमे समग्र आत्म-सिद्धिकी आशा देख सकेगे। यह सम्पूर्ण मानव-परिपूर्ति सारी सीमाओसे आगे निकल जा सकती और दिव्य जीवन-के स्वभावमे रूपान्तरित हो जा सकती है। प्राणके बल और मनके प्रकाशको अपने अन्दर लेने और अभिव्यक्त करनेके बाद, जडतत्त्व अध्यात्मतत्त्वके श्रेष्ठतर या परम बल और प्रकाशको अपने अन्दर उतारेगा और पार्थिव शरीरमे अपने निश्चेतनामय अगोका त्याग करेगा और अध्यात्मतत्त्वका पूर्णतया चेतन ढाँचा बन जायगा। इस निवासीकी इच्छा और शक्ति अपने शारीरिक आवासके स्वास्थ्य और बलकी सुरक्षित सम्पूर्णता और स्थिरताको कायम रख सकेगी, शारीरिक ढाँचेकी सारी प्राकृतिक क्षमताएँ, शारीरिक चेतनाकी सारी शक्तियाँ अपने चरम विस्तारतक पहुँचेगी और वहाँ उनकी त्रुटिहीन क्रिया उनके अधिकारमे होगी और सुरक्षित होगी। उपकरणके

रूपमे शरीरकोसामर्थ्यका पूरापन प्राप्त होगा, उसका निवासी उससे जो भी चाहेगा उसके लिए, अभी जो कुछ सम्भव है उससे बहुत आगे भी, सारे व्यवहारोके लिए उपयुक्तताकी समग्रता उसे प्राप्त होगी। यहाँ तक कि वह एक परम सौन्दर्य तथा आनन्दका उद्भासक पात्र बन सकेगा,—जैसे दीपाधार अपने अन्दरकी बत्तीके प्रकाश-को प्रतिविम्बित और विकीर्ण करता है उसी प्रकार वह अध्यात्मतत्त्वकी ज्योतिके सौन्दर्यको फैला रहा होगा, बिखेर रहा होगा, विकीर्ण कर रहा होगा, वह अपने अन्दर अध्यात्मतत्त्वके आनन्दको, दर्शी मनके हर्षको, प्राणके हर्ष और आध्यात्मिक सुखको, आध्यात्मिक चेतनासे उन्मुक्त और सतत आनन्दसे पुलकित जडतत्त्वके हर्षको अपने अन्दर लिए होगा। आध्यात्मीकृत शरीरकी समग्र पूर्णता यही होगी।

यह सब तुरन्त ही नही हो जा सकता, किन्तु यदि दिव्य शक्ति, ज्योति एव आनन्द हमारी सत्ताके शिखरपर प्रतिष्ठित हो सके और अपनी शक्तिको मन और प्राण और शरीरमे उतार सके, कोशाणुओको आलोकित कर सके उन्हे फिरसे गढ सके, चेतनाको सारे ढाँचेके अन्दर जगा सके, तो ऐसा आकस्मिक आलोकीकरण सम्भव भी हो सकता है। परन्तु राह खुल जायगी और व्यक्तिमे जो कुछ भी सम्भव है उसका निष्पादन अधिकाधिक चरितार्थ हो सकेगा। उस समग्रकी निष्पत्तिमे शारीरिक सत्ताका भी भाग होगा।

परम सद्वस्तु परम सच्चिदानन्दकी प्राप्तिकी ओर प्रमुक्त जीवकी गतिधारा-मे क्रमविकासशीला प्रकृतिको अनन्त पुरुष जैसे जैसे अधिक ऊँची ऊचाइयो और अधिक चौडी चौडाइयोकी ओर ले जाता है सदा ही आगे क्षितिज मिलते जायँगे। किन्तु अभी इसकी चर्चाका उपयुक्त समय नही आया है, जो कुछ लिखा जा चुका है वह, वर्तमान गठनवाला मानवीय मन भविष्यके लिए जो आशा करनेका साहस कर सकता है और आलोकित विचारणा जिसे कुछ मात्रामे समझ सकती हैं, शायद उतना भर हो गया है। जडतत्त्वमे उतरती और उसपर आधिपत्य करती ऋत-चेतनाके ये परिणाम क्रमवैकासिक श्रमके लिए पर्याप्त औचित्य होगे। अध्यात्म-पुरुषके इस ऊर्ध्वमुख सर्वोन्नायक प्रसारमे आध्यात्मीकृत प्रकृतिकी विजयका समकालिक या क्रमागत सर्वसमावेशकारी, सर्वरूपान्तरकारी अधोमुख प्रसार हो सकेगा और जड-तत्त्व और शारीरिक चेतना और शारीरिक रूप तथा क्रियाका महिमावान् परिवर्तन हो सकेगा जिसे हम शरीरकी समग्र पूर्णता ही नही, परम पूर्णता कह सकेंगे।

मार्च 23, 1949

दिव्य शरीर

दिव्य शरीरमे दिव्य जीवन हमारे मान्य आदर्शका सूत्र है। किन्तु दिव्य शरीर क्या होगा? उस शरीरकी प्रकृति कैसी होगी, गठन कैसी होगी? उसकी क्रिया-शीलताका तत्त्व क्या होगा? उसकी वह पूर्णता क्या होगी जो उसे उस सीमित और अपूर्ण सफलतासे विभेदित करती है जिसमे हम अभी आवद्ध हैं? उसके जीवनकी अवस्थाएँ और क्रियाव्यापार क्या होगे जिनके कारण उसे धरतीपर आधारमे स्थूल रहनेपर भी दिव्य माना जा सके?

उसे यदि क्रमविकासकी उत्पत्ति होना है,—और हमे उसे इसी रूपमे देखना है,—और वह क्रमविकास यदि हमारी मानवीय अपूर्णता और अज्ञानमेसे पुरुष और प्रकृतिके महत्तर सत्यमे विकास है, तो वह किस प्रक्रिया या किन पर्वोमेसे होकर अभि-व्यक्तिमे उद्भूत हो सकता या तेजीसे आ सकता है? धरतीपर क्रमविकासकी प्रक्रिया धीमी और मन्द रही है, यदि रूपान्तर होना है, प्रगतिशील या आकस्मिक परिवर्तन होना है तो किस तत्त्वके हस्तक्षेपकी आवश्यकता है?

हमारे लिए इस रूपान्तरकी सम्भावना, निम्सन्देह, हमारे क्रमविकासके फलस्वरूप ही आती है। जैसे प्रकृतिने जडसे आगे विकसित होकर प्राणको अभि-व्यक्त किया है, प्राणसे आगे वढकर मनको अभिव्यक्त किया है, वैसे ही उसे मनमे भी आगे विकसित होना और हमारे जीवनकी ऐसी चेतना और शक्तिको अभिव्यक्त करना होगा जो हमारे मनोमय जीवनकी अपूर्णता और सीमासे मुक्त हो, जो अति-मानसिक या ऋत-चेतना हो और अध्यात्मकी शक्ति तथा पूर्णताको विकसित करनेमे समर्थ हो। यहाँ धीमा और मन्द परिवर्तन हमारे क्रमविकासके नियम या रीतिके रूपमे नही रह जायगा, ऐसा न्यूनाधिक मात्रामे केवल तवतक रहेगा जब तक कि मानसिक अज्ञान चिपका रहेगा और हमारे आरोहणमे विघ्न देगा, किन्तु एकबार ऋत-चेतनामे हमारा विकास हो जानेपर उसकी सत्ताके आध्यात्मिक सत्यका वल ही सव कुछ निर्दिष्ट करेगा। उस सत्यमे हम मुक्त होगे और वह मन, प्राण तथा देहको रूपान्तरित करेगा। ज्योति, आनन्द, सौन्दर्य, और सारी सत्ताकी स्वत स्फूर्त सही क्रियाकी पूर्णता वहाँ अतिमानसिक ऋत-चेतनाकी सहजात शक्तियाँ हैं, और वे प्रकृत्या ही मन, प्राण तथा देहको, यहाँ धरतीपर भी, ऋत-चिन्मय अध्यात्मकी अभिव्यक्तिमे रूपान्तरित

करेगी। धरतीकी अन्धकारिताएँ अतिमानसिक ऋत-चेतनाके विरुद्ध नही टिकेगी कारण, वह चेतना विजयके लिए अध्यात्मकी सर्वदर्शिनी ज्योति और सर्वशक्ति-शालिनी शक्तिको धरतीमे भी काफी मात्रामे ला सकती है। सब कुछ उसकी ज्योति तथा शक्तिकी ओर न भी खुले, किन्तु जो कुछ खुलता है उसे उस मात्रामे परिवर्तित होना ही चाहिए। यही रूपान्तरका तत्त्व-विधान होगा।

हो सकता है कि एक मनोगत परिवर्तन प्रकृतिपर अन्तरात्माका स्वामित्व, मनका ज्योतिके तत्त्वमे और प्राण-शक्तिका बल तथा पवित्रतामे रूपान्तर पहला चरण होगा, समस्याके समाधानके लिए, निरे मानवीय सूत्रसे परे निस्तार पाने और धरती-पर दिव्य जीवन कही जा सकनेवाली जैसी किसी वस्तुको स्थापित करनेके लिए पहला प्रयत्न होगा, अतिमानवताका, पृथ्वी-प्रकृतिकी परिस्थितियोमे अतिमानसिक जीवन-का पहला रेखाकन होगा। परन्तु वह वह सम्पूर्ण और मूलगत परिवर्तन नही हो सकेगा जो कि आवश्यक है, वह समग्र रूपान्तर नही, दिव्य देहमे दिव्य जीवनकी सम्पूर्णता नही। शरीर फिर भी मानवीय होगा, वस्तुत अपनी उत्पत्ति और मूलभूत प्रकृतिमे पशु होगा और इसके कारण उसके अपने अनिवार्य सीमायन शरीरधारिणी सत्ताके उच्चतर अगोपर आरोपित होगे। जैसे अज्ञान तथा भूलभ्रान्ति द्वारा होनेवाला सीमायन अरूपान्तरित मनका मूलभूत दोष है, जैसे अपूर्ण आवेगो, खीचतानो और कामनाकी चाहो द्वारा सीमायन अरूपान्तरित प्राणशक्तिके दोष हैं, वैसे ही शारीरिक क्रियाकी सम्भावनाओकी अपूर्णता, उससे की गयी माँगोके प्रति उसकी अर्ध-चेतनाके उत्तरमे एक अपूर्णता, एक सीमायन, और उसके मूल पशुगुणकी स्थूलता और कलक अरूपान्तरित या अपूर्णतया रूपान्तरित देहके दोष होगे। वे प्रकृतिके उच्चतर अगो-की क्रियामे बाधा देगे ही और उन्हे अपनी ओर नीचे भी खीच लेगे। शरीरका रूपान्तर प्रकृतिके समग्र रूपान्तरके लिए आवश्यक शर्त्त है।

ऐसा भी हो सकता है कि रूपान्तर पर्व पर्व करके हो, अभी भी मनोमय प्रदेशकी वस्तु रहनेवाली प्रकृतिकी ऐसी शक्तियाँ हैं जो फिर भी उस वर्द्धमान विज्ञानकी सम्भावनाएँ हैं जो कि हमारे मानवीय मनसे ऊपर उठा हुआ है और भगवान्की ज्योति तथा बलमे भाग ले रहा है, उन लोकोसे होकर आरोहण, उनका मनोमयी सत्तामे अवरोहण, स्वभाविक क्रमवैकासिक गतिक्रम लग सकता है। परन्तु व्यवहारमे ऐसा पाया जा सकता है कि बीचमे आनेवाले ये स्तर समग्र रूपान्तरके लिए पर्याप्त नही होंगे, कारण, वे तो उस मनोमयी सत्ताकी ही आलोकित सम्भावनाएँ होगे जो अभी-तक उस शब्दके पूरे अर्थमे अतिमानसिक नही हुई है, अत वे मनमे आंशिक दिव्यताको ही उतार सकेगे या मनको आंशिक दिव्यताकी ओर उठा सकेगे किन्तु ऋत-चेतनाकी

सम्पूर्ण अतिमानसतामे उसका उत्थान सम्पादित नहीं कर सकेगे। फिर भी ये स्तर आरोहणमे ऐसी भूमिकाएँ हो सकते हैं जिनतक कुछ लोग पहुँचेंगे और जहाँ वे ठहर जायेंगे जब कि दूसरे लोग और भी ऊपर जायेंगे और अर्द्ध-दिव्य अस्तित्वके श्रेष्ठतर स्तरतक पहुँच सकेंगे और वहाँ रह सकेंगे। यह अनुमान नही कर लेना है कि सारी मानवजाति एक साथ ही अतिमानसमे उठ जायगी, पहले केवल वे ही आरोहणकी चोटी या किसी बीचकी ऊँचाईतक पहुँच सकेगे जिनके आन्तरिक क्रमविकासने उन्हे ऐसे महान् परिवर्तनके योग्य कर दिया है या जो भगवान्के सीधे स्पर्श द्वारा उसकी पूर्ण ज्योति एव शक्ति एव आनन्दमे उन्नीत कर दिये गये हैं। मानवजातिका बडा समूह फिर भी लम्बे समयतक केवल सामान्य या अशत आलोकित और उन्नीत मानवीय प्रकृतिसे तुष्ट रह सकता है। परन्तु यह अपने-आपमे पृथ्वी-प्रकृतिका पर्याप्त आमूल परिवर्तन और आरम्भिक रूपान्तर होगा, कारण, जिन्हें ऊपर उठनेकी इच्छा होगी उन सबके लिए राह खुली होगी, ऋत-चेतनाका अतिमानसिक प्रभाव पृथ्वीको स्पर्श करेगा और उसके अरूपान्तरित समूहको भी प्रभावित करेगा और वहाँ वह आशा होगी, अन्तत सबके लिए वह आश्वासन प्राप्य होगा जिसमे भाग लेना या जिसे उपलब्ध करना अभी कुछ ही जनोके लिए सम्भव है।

जो कुछ भी हो ये बाते आरम्भ मात्र होगी, ये पृथ्वीपर दिव्य जीवनकी सम्पूर्णता नही हो सकेगी, यह पार्थिव जीवनका नूतन दिशाग्रहण होगा, किन्तु उसके परिवर्तन-का शीर्ष नही। उस शीर्षके लिए आवश्यक है उस अतिमानसिक ऋत-चेतनाका परम राज्य जीवनके अन्य सारे रूप जिसके अधीन होंगे और जिसे वे ऐसे परम तत्त्व और परम शक्ति मानकर उसपर आश्रित होंगे जिसे वे लक्ष्यके रूपमे देख सकें, जिसके प्रभावो-से वे लाभ उठा सकें, जिसके द्योतन और अन्तर्वेधिनी शक्तिके किसी अशसे वे चालित और उत्थित हो सके। विशेष करके, जैसे मानवीय शरीरको पहलेके पशु-रूपमे परि-वर्तन करके और एक ऐसी सीधी खडी आकृतिको लेकर अस्तित्वमे आना पडा जिसमे मनके तत्त्व और मनोमय जीवके जीवनके लिए उपयोगी और आवश्यक गतिधाराओ और क्रियाकलापोकी अभिव्यँजना कर सकनेवाले प्राणकी नूतन शक्ति आयी, वैसे ही एक ऐसे शरीरका विकास करना होगा जिसमे एक दिव्य क्रियाकी नयी शक्तियो, क्रियाओ या कोटियोका आगमन होगा जो ऋत-चिन्मय सत्ताको प्रकट करेगी, अतिमानसिक चेतनाका स्वभाव होगी और चिन्मय पुरुषको अभिव्यक्त करेगी। जब कि वहाँ यह सामर्थ्य होना ही चाहिए कि पृथ्वी-जीवनके जिन क्रियाकलापोका अध्यात्मीकरण किया जा सकता है उन सबको लिया जाय और उदात्त बनाया जाय, साथ ही, मूल पशुता और उसके द्वारा अमिट रूपमे दूषित क्रियाओके एक अतिक्रमणको या कमसे

कम उनके किसी रक्षक रूपान्तरको, चेतनाके और उन्हे अनुप्राणित करनेवाले हेतुओके कुछ चैत्यीकरण या अध्यात्मीकरणको, और इस प्रकार जिसका रूपान्तर न किया जा सके उस सबके परित्यागको, जिसे उसकी उपकरणात्मिका सरचना, उसकी क्रिया और सगठन कहा जा सकता है उसके भी एक परिवर्तनको, इन चीजोपर एक सम्पूर्ण और अभूतपूर्व नियत्रणको इस समग्र परिवर्तनका परिणाम या अनुषगी होना ही चाहिए। आध्यात्मिक शक्तियोपर अधिकार करनेवाले बहुत सारे लोगोके जीवनमे कुछ मात्रामे इन बातोके उदाहरण मिलते है किन्तु एक अपवादस्वरूप और कभी-कभी आनेवाली चीजकी तरह ही, एक नयी चेतना, नये प्राण और नयी प्रकृतिके सगठनकी तरह न होकर बल्कि अर्जित सामर्थ्यकी अनियमित या अधूरी अभिव्यक्तिकी तरह ही। ऐसे भौतिक रूपान्तरको कहाँ तक ले जाया जा सकता है? उसे धरतीपरके जीवनके साथ सगत रहना हो और उस जीवनको पार्थिव क्षेत्रसे परे न ले जाना हो या पारलौकिक अस्तित्व-की ओर न धकेलना हो तो वे कौनसी सीमाएँ हैं जिनके अन्दर उसे रहना होगा? अति-मानसिक चेतना एक निश्चित परिमाण नही, अपितु एक ऐसी शक्ति है जो सम्भावनाके अधिकाधिक ऊँचे स्तरोकी ओर तबतक जाती रहती है जबतक कि वह आध्यात्मिक जीवनके परमोत्कर्षोतक न पहुँच जाय जिनमे कि अतिमानसकी परिपूर्ति होगी और अतिमानससे परिपूर्ति होती है आध्यात्मिक चेतनाके उन प्रदेशोकी जो कि मानवीय या मानसिक स्तरसे उसकी ओर बढ रहे है। इस प्रगतिक्रममे शरीर भी एक अधिक पूर्ण रूप, अपनी अभिव्यजिका शक्तियोका अधिक ऊँचा प्रसार पा सकता है, दिव्यताका अधिकाधिक पूर्ण पात्र बन सकता है।

*

* *

भूतकालमे शरीरकी यह भवितव्यता विरली ही मानी गयी है या यहाँ धरती-परके शरीरके लिए नही मानी गई है, बल्कि ऐसे रूपोके बारेमे यह कल्पना होती है या वे इस तरह दिखायी देते हैं कि वे स्वर्गिक सत्ताओकी विशेषताएँ हैं और वे पार्थिव प्रकृति-मे अभी भी बँधे रहनेवाले जीवके लिए सम्भव नही। वैष्णवोने चिन्मय देहकी बात कही है, कान्तिमय या तेजोमय देहकी धारणा की गई है जो वेदोकी ज्योतिर्मय देह हो सकती है। कुछ लोगोने उच्च कोटिके विकासवाले आध्यात्मिक लोगोके शरीरोसे एक प्रकाशको विकीर्ण होते देखा है जो कि परिवेष्टनकारी तेजोमडलके विकिरण जितना भी प्रसृत हो गया है और रामकृष्ण जैसे महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व-

के जीवनमे इस प्रकारके आरम्भिक व्यापारकी वात आयी है। परन्तु ये चीजे या तो केवल धारणागत रही हैं या विरली और यदा-कदा होनेवाली, और अधिकतर शरीरके वारेमे यह नही माना गया है कि उसमे आध्यात्मिक सम्भावना या रूपान्तरका सामर्थ्य है । शरीरके वारेमे यह कहा गया है कि वह धर्मके निष्पादनका साधन है, और यहाँ धर्ममे जीवनके सारे उच्च प्रयोजन, उपलब्धियाँ और आदर्श समाविष्ट हैं और आध्यात्मिक परिवर्तन भी उनसे वाहर नही किन्तु वह एक ऐसा उपकरण है जिसे उसका काम हो जानेपर त्याग देना है और, यद्यपि शरीरमे रहनेकी अवधिमे आध्यात्मिक सिद्धि हो सकती है और होनी भी अवश्य चाहिए, उसका पूरा फलन शारीरिक ढाँचेको छोड देनेके वाद ही हो सकता है। आध्यात्मिक परम्परामे शरीरको अधिकतर एक विघ्न, आध्यात्मीकरण या रूपान्तरके लिए असमर्थ और एक भारी वोझ माना गया है जो कि जीवको पार्थिव प्रकृतिसे ससक्त रखता और 'परम' मे आध्यात्मिक परिपूर्ति या 'परम' मे अपनी व्यष्टि-सत्ताके विलयनकी ओर उसके आरोहणको रोकता है। परन्तु जव कि हमारी नियतिमे शरीरके भागके वारेमे यह धारणा उस साधनाके लिए काफी उपयुक्त है जो धरतीको केवल अज्ञानके क्षेत्रकी तरह और धरतीके जीवनको उस जीवन-उपरतिकी तैयारीकी तरह देखती है जो कि हमारी रक्षिका और आध्यात्मिक मुक्तिकी अपरिहार्य शर्त्त है, यह उस साधनाके लिए अपर्याप्त है जो यह कल्पना करती है कि पृथ्वीपर दिव्य जीवन होगा और पृथ्वी-प्रकृतिकी मुक्ति यहाँपर अध्यात्म-सत्ताके शरीरग्रहणके समग्र उद्देश्यका अग है। सत्ताका समग्र रूपान्तर यदि हमारा लक्ष्य है तो शरीरके रूपान्तरको उसका अपरिहार्य अग होना ही चाहिए, इसके विना पृथ्वीपर पूरा दिव्य जीवन सम्भव नही।

शरीरका भूतकालका विकासक्रम ही और विशेषत उसकी पशु-प्रकृति और पशु-इतिहास इस परिणतिकी राहमे वाधक लगते हैं। शरीर, जैसा कि हम देख चुके हैं, निश्चेतनकी उत्पत्ति और सृष्टि है, स्वय निश्चेतन या अर्द्ध-चेतन है, उसने आरम्भ किया अचेतन जडका रूप होकर, उसने प्राणको विकसित किया और वह जड पदार्थसे चलकर प्राणवन्त विकास हो गया, उसने मनको विकसित किया और वनस्पतिकी अवचेतना तथा पशुके आरम्भिक अविकसित मन या अधूरी वुद्धिसे मनुष्यके वौद्धिक मन और अधिक पूरी वुद्धिको विकसित किया और अव वह हमारे समग्र आध्यात्मिक प्रयासके भौतिक आधार, पात्र और उपकरणात्मक साधनके रूपमे काम दे रहा है। उसकी पशु-प्रकृति और उसकी स्थूल सीमाएँ निस्सन्देह हमारी आध्यात्मिक पूर्णताकी राहमे विघ्न होकर खडी है, परन्तु उसने अन्तरात्माको विकसित किया है और वह उसके साधनके रूपमे काम देनेमे समर्थ है, इस वातसे यह सकेत मिल सकता है कि वह

आगेके विकासके लिए समर्थ है और अध्यात्मका देवायतन और प्राकट्य बन सकता है, जडतत्त्वकी गुप्त आध्यात्मिकताको व्यक्त कर सकता है, अर्द्धचेतन मात्रके स्थानपर पूरा चेतन बन सकता है, अध्यात्मके साथ एक निश्चित एकत्व पा सकता है। यदि उसे दिव्य जीवनमे विघ्न न रह जाकर उस जीवनका सम्पूर्ण उपकरण बन जाना है तो इतना तो करना ही चाहिए, कमसे कम इतनी मात्रामे तो करना ही चाहिए कि वह अपनी मूल पृथ्वी-प्रकृतिको पार कर जाय।

*

* *

फिर भी, मानवीय शरीरको उसके अच्छेसे अच्छे रूपमे ले तो भी, उसकी पशु-देह और उसकी पशु-प्रकृति और प्रेरणोकी असुविधाएँ और उसकी सीमाएँ आरम्भमे वर्तमान रहती हैं और सदा ही तबतक टिकी रहती हैं जब तक कि पूरी और मूलभूत मुक्ति न हो जाय और जबतक उसमे सज्ञाहीनता या अर्द्ध-सज्ञा ही हो और उसके अन्त-रात्मा, मन और प्राण-शक्ति जडतत्त्वसे, सब प्रकारकी भौतिकतासे, अनुन्नत पृथ्वी-प्रकृतिकी पुकारसे बद्ध रहे और ये चीजे निरन्तर अध्यात्मकी पुकारका विरोध करती हो, उच्चतर वस्तुओकी ओरके आरोहणको सीमित करती हो। इससे शारीरिक सत्तामे बन्धन आता है भौतिक उपकरणोका, मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियोका जो कि भौतिकता और सब प्रकारके भौतिकवादसे ससक्त हैं, शरीर-यन्त्र और उसकी आवश्यकताओ और बाध्यताओका, भोजनकी अपरिहार्य आवश्यकताका और भोजन जुटाने और सचित करनेके साधनको जीवनकी चिन्ताके विषयोमे एक विषय मानने-वाली लगनका, थकान और नीदका, शारीरिक कामनाकी तुष्टिका। मनुष्यकी प्राण-शक्ति भी इन छोटी चीजोसे बँध जाती है, उसे अपनी अधिक बडी आकाक्षाओ और चाहोके दायरेको, धरतीके खिचावसे ऊपर उठने और अपने चैत्य अगोके अधिक स्वर्गिक सबोधिस्फुरणो और हृदयके आदर्श और अन्तरात्माकी एषणाओके अनुसरणके प्रवेग-को सीमित करना होता है। शरीर मनपर भौतिक सत्ताकी सीमाएँ और यह बोध आरोपित करता है कि भौतिक वस्तुओकी ही एकमात्र पूरी वास्तवता है और बाकी सब एक प्रकारसे कल्पनाकी, ऐसी ज्योतियो और महिमाओकी चमचमाती आतिश-बाजी है जिनका पूरा खेल यहाँ नही, परेके स्वर्गोमे, अस्तित्वके उच्चतर लोकोमे ही हो सकता है, इससे भाव और अभीप्सा आक्रान्त हो जाते हैं सन्देहके भारसे, सूक्ष्मेन्द्रियोकी साखी और सबोधि अनिश्चिततसे, अतिभौतिक चेतना और अनुभूतिका

बृहत् क्षेत्र अवास्तवताके आरोपसे, और अपनी आदि सीमितकारिणी मानवतामेसे अतिमानसिक सत्य एव दिव्य प्रकृतिकी ओर होनेवाला अध्यात्मसत्ताका विकास उसकी पार्थिव जडोसे बँध जाता है। इन विघ्नोको पार किया जा सकता है, शरीरके इनकार-और विरोधको जीता जा सकता है, उसका रूपान्तर सम्भव है। जैसे हमारी मनोमयी मानवतासे अतिमानसिक ऋत-चेतनाकी अतिमानवताको और जो हमारे लिए अभी अतिचेतन है उसकी दिव्यताको अभिव्यक्त कराया जा सकता है वैसे ही हमारे निश्चेतन और पशु-अगको आलोकित किया जा सकता और दैवी प्रकृतिको अभिव्यक्त करनेमे समर्थ वनाया जा सकता है और वहाँ पर समग्र रूपान्तरको वास्तविकता वना दिया जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी पशुताके बन्धन और बाध्यताएँ बाध्यकारी न रह जायँ और उसकी भौतिकताकी ऐसी शुद्धि कर दी जाय कि स्वय उस भौतिकताको दिव्य प्रकृतिकी अभिव्यक्तिकी भौतिक ठोसतामे परिणत किया जा सके। कारण, पृथ्वी-परिवर्तनकी समग्रतामे किसी भी तात्त्विक वस्तुको बाहर नही छोडना होगा, स्वय जडतत्त्वको आध्यात्मिक सद्वस्तुके, भगवान्के प्राकट्यके साधनमे परिणत किया जा सकता है।

कठिनाई द्विविध है, आन्तरिक और शारीरिक पहली है प्राणपर अनुन्नत पशुताका विशेषतया शरीरकी स्थूल सहजवृत्तियो, आवेगो, कामनाओसे उत्पन्न परिणाम, दूसरी है हमारी शारीरिक सरचना और अवयव—साधनतत्त्वका परिणाम जिससे उच्चतर दिव्य प्रकृतिकी क्रियाशक्तिपर उसके प्रतिबन्ध लादे जाते हैं। इन दो कठिनाइयोमेसे पहलीसे सलटना और उसे जीतना अधिक आसान है, कारण, यहाँ इच्छा बीचमे पड सकती और शरीरपर उच्चतर प्रकृतिकी शक्तिको आरोपित कर सकती है। शरीरके इन आवेगो और सहजवृत्तियोमेसे कुछको आध्यात्मिक अभीप्सुओने विशेष रूपसे हानिकारक पाया है और उनका शरीरके सन्यासवृत वर्जनके पक्षमे काफी जोर रहा है। कामभावना, कामुकता और जो कुछ यौनभावनासे उत्पन्न होता और उसके अस्तित्वका साक्षी होता है, इन सबका आध्यात्मिक जीवनमेसे वर्जन और बहिष्कार करना पडा है और यह चीज कठिन होनेपर भी बिलकुल ही असम्भव नही और साधकके लिए इसे प्रमुख शर्त बनाया जा सकता है। यह सभी कृच्छ साधनामे स्वाभाविक और अपरिहार्य है और उस शर्तकी पूर्ति शुरूमे आसान न होनेपर भी कुछ समयके बाद बिलकुल साध्य हो जाती है, कामवासनाकी सहजवृत्ति और कामवेगोको जीतना वस्तुत उन सबके लिए अपरिहार्य है जो आत्म-प्रभुताको पाना और आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हो। उसपर पूरा अधिकार पाना सभी साधकोके लिए आवश्यक है, उसका उच्छेद सम्पूर्ण सन्यासीके लिए। इतना भर मानना ही होगा और इसके

बाध्यकारी महत्त्व और इसके तत्त्वको न्यून नही करना है।

परन्तु कामावेगके स्थूल शारीरिक भोगकी बातको छोडे दे तो लिंग-तत्त्वकी सारी मान्यताको धरतीपरके दिव्य जीवनसे बहिष्कृत नही किया जा सकता, वह जीवनमे विद्यमान है, एक बडा भाग अदा करता है,और उससे व्यवहार करना है, उसकी सहज उपेक्षा नही की जा सकती, उसे बस दमित नही कर दिया जा सकता, दाब कर नही रखा जा सकता, नजरसे हटाकर नही रखा जा सकता। प्रथम स्थानमे, वह अपने एक पहलूमे एक वैश्व तत्त्व और दिव्य तत्त्व भी है वह ईश्वर और शक्तिका आध्यात्मिक रूप लेता है और उसके बिना जगत्-सृष्टि नही होती, पुरुष और प्रकृतिके विश्व-तत्त्वकी अभिव्यक्ति नही होती जब कि पुरुष और प्रकृति दोनो ही सृष्टिके लिए आवश्यक हैं, अपने साहचर्य और आदानप्रदानमे सृष्टिकी आन्तरिक क्रियाकी क्रीडाके लिए भी आवश्यक हैं और जीव तथा प्रकृतिके रूपमे अपनी अभिव्यक्तिमे लीलाकी सारी प्रक्रिया-के लिये मूलगत हैं। स्वय दिव्य जीवनमे इन दो शक्तियोका देहधारण या, कमसे कम, किसी रूपमे उनकी विद्यमानता या उनके शरीरी रूपो या प्रतिनिधियो द्वारा उनका आरम्भकारी प्रभाव नूतन सृष्टिको सम्भव बनानेके लिए अपरिहार्य होगा। यौनभावना मानसिक और प्राणिक स्तरपर अपनी मानवीय क्रियामे पूरा अदिव्य तत्त्व नही, उसके अधिक उदात्त पहलू और आदर्शवृत्तियाँ हैं और यह देखना है कि उन्हे नए और विशालतर जीवनमे किस तरह और कहाँतक प्रवेश दिया जा सकता है। कामवासना और कामप्रेरणाके सारे स्थूल पशुभोगका अन्त कर देना होगा, वह केवल उन लोगोमे चालू रह सकता है जो उच्चतर जीवनके लिए तैयार नही या सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके लिए अबतक तैयार नही। जिन लोगोंने उस जीवनके लिए अभीप्सा की है किन्तु जो अभीतक उसे उसके पूरेपनमे नही ले सके उन सबको यौन-भावनाको परिष्कृत करना होगा, आध्यात्मिक या चैत्य प्रेरणके नीचे और उच्चतर मन तथा उच्चतर प्राणके नियत्रणके नीचे आना होगा और अपने सारे अधिक हल्के, छिछोरे या पतित रूपोको छोडना और आदर्शकी पवित्रताके स्पर्शका अनुभव पाना होगा। प्रेम रहेगा, प्रेमके विशुद्ध सत्यके रूप अधिकाधिक ऊँचे डगोमे मिलेगे जब तक कि वह अपने उच्चतम स्वरूपको न पा लेवे, सर्वप्रेममे विस्तृत न हो जाय, भगवान्के प्रेममे विलीन न हो जाय। नर-नारीका प्रेम उस उन्नयन और उत्कर्षको प्राप्त करेगा, कारण, जिसे आदर्श और आध्यात्मिकके स्पर्शका अनुभव हो सकता है वह सब आरोहण-की राहपर तबतक चलता ही जायगा जबतक कि वह दिव्य सद्वस्तुतक नही पहुँच जाय। शरीर और उसके क्रियाकलापोको दिव्य जीवनके अगकी तरह स्वीकार करना ही होगा, उन्हे इस विधानके नीचे गुजरना ही होगा, परन्तु जैसा कि अन्य क्रमवैकासिक

सक्रमणोमे हुआ है, जो दिव्य जीवनके विधानको स्वीकार नही कर सकता उसे स्वीकार नही किया जा सकता और वह आरोहिका प्रकृतिसे अलग होकर गिर ही जायगा।

शरीरके रूपान्तरको जिस दूसरी कठिनाईका सामना करना होता है वह है शरीरका अपने अस्तित्वमात्रके लिए भोजनपर निर्भर करना, और यहाँ भी समस्या वनकर खडी हैं स्थूल शारीरिक सहजवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, कामनाएँ जो कि इस कठिन तत्त्वसे सयुक्त हैं, जीभकी मूलभूत लालसाएँ, भोजनका लोभ और पेटकी विषयी भोजनरसिकता, मनकी तबकी अशिष्टता जब वह इन्द्रियके कीचमे लोटता, अपने निरे पशु-अगकी दासताका पालन करता और जडतत्त्वके नीचे अपनी अधीनताका आलिगन करता है। हमारे अन्दरका उच्चतर मनुष्य शरीर और उसकी चाहोके विषयमे एक सयमित मिताचारमे, एक सयतता और निवृत्ति या लापरवाहीमे और उच्चतर वस्तुओकी तन्मयतामे आश्रय लेता है। साधक प्राय ही, जैन सन्यासियोकी तरह, बारबारके लम्बे उपवासोंका आश्रय लेता है जो उसे, कमसे कम कुछ समयके लिए, शरीरकी माँगोके पँजेमेसे निकाल देते हैं और उसे अपने अन्दर अध्यात्मके बडे कक्षोकी शुद्ध रिक्तताको अनुभव करनेमे सहायता देते हैं। परन्तु यह सब मुक्ति नही है और यह प्रश्न किया जा सकता है कि दिव्य जीवनको भी, केवल आरम्भमे ही नही किन्तु हमेशाके लिए, इस आवश्यकताके अधीन होना है या नही। परन्तु वह इसमेसे अपनी पूरी मुक्ति केवल तब पा सकेगा जब कि उसे वह राह मिल जाय जिससे वह विश्वऊर्जासे इस प्रकार आहरण कर सके कि वह ऊर्जा हमारी शारीरिक सत्ताके प्राणिक अगोको ही नही, उसके घटक भौतिक तत्त्वको भी पोषण दे सके और उसे जड-तत्त्वकी किसी बाहरी वस्तुसे पोषण पानेकी आवश्यकता न रहे। निस्सन्देह यह सम्भव है कि बहुत लम्बे उपवासोके दौरान भी अन्तरात्मा, मन और प्राणकी, शरीरकी भी, पूरी ऊर्जाएँ और क्रियाएँ कायम रखी जायँ, सब समय जाग्रत् किन्तु योगमे एकाग्र रहा जाय, या दिन-रात गहराईसे विचार किया जाय और लिखा जाय, सोया नही जाय, हर दिन आठ घन्टे टहला जाय, ये सारे काम अलग अलग या साथ-साथ किए जायँ और बलका कोई भी क्षय, कोई भी थकान, किसी भी तरहका अभाव या ह्रास अनुभूत न हो। फिर, उपवासके अन्तमे चिकित्साविज्ञान द्वारा आदिष्ट सक्रमण या एहति-यातको माने बिना सामान्य या सामान्याधिक परिमाणमे भी भोजन लिया जा सकता है, मानो उस शरीरके लिए जो एक प्रकारके आरम्भिक रूपान्तर द्वारा योगकी शक्तियो और क्रियाकलापोका उपकरण होने लिए प्रशिक्षित हो चुका है, पूरा उपवास और भोजतृप्ति स्वाभाविक अवस्थाएँ हो जिनका सीधे ही और आसान राहसे बारी बारीसे आना होता हो। परन्तु जिस एक चीजसे बचाव नही होता वह है शरीरके भौतिक

ऊतकोकी, उसके मास और सत्त्वकी वर्बादी। यह धारणा की जा सकती है कि यदि किसी व्यवहार्य राह और साधनका पता चल जाय तो इस अन्तिम अभेद्य बाधाको भी जीता जा सकता और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियोके साथ शरीरकी शक्तियोके उस आदानप्रदान द्वारा शरीरका पालन किया जा सकता है जिसमे प्रकृतिको वह दे दिया जायगा जिसकी उसे व्यक्तिसे आवश्यकता है और प्रकृतिसे सीधे ही उसकी विश्व-सत्ताकी पोषिका ऊर्जाओसे प्राप्ति की जायगी। यह धारणा की जा सकती है कि जीवनके क्रमविकासके आधारमे हम जिस व्यापारको, अपने चारो ओरसे पोषण और आत्म-पुनर्नवीकरणके साधनका आहरण करनेके सामर्थ्यको देखते हैं, उसका आविष्कार और पुन स्थापन उस क्रमविकासके शिखरपर किया जा सके। या नहीं तो विकसित सत्ता उन साधनोको अपने परिपार्श्वसे, चारो ओरसे और नीचेसे ऊपर या अन्दर न खीचकर बल्कि ऊपरसे नीचे खीच सकती है। परन्तु जबतक इस तरहकी कोई चीज मिल न जाय या सम्भव न बन जाय हमे भोजनकी ओर और प्रकृतिकी स्थापित भौतिक शक्तियोकी ओर वापस, जाना होगा।

वास्तवमे हम अपने भौतिक जीवनके पुनर्भरणके लिए और शरीरमे मानसिक, प्राणिक और अन्य शक्तियोके पुनर्भरणके लिए, अनजाने ही, विश्वऊर्जासे, जडस्थ शक्ति-से निरन्तर आहरण किया करते हैं आदानप्रदानकी जिन अदृश्य प्रक्रियाओको प्रकृति निरन्तर बनाए रखती है उनमे हम ऐसा प्रत्यक्ष रूपसे और प्रकृतिके दिये गये विशेष साधनोसे करते हैं, सास लेना इनमेसे एक है, फिर नीद और विश्राम भी। परन्तु स्थूल भौतिक देह और उसकी क्रियाओ और आन्तरिक शक्तियोके पालन और पुन-र्नवीकरणके लिए अपने बुनियादी साधनके रूपमे प्रकृतिने भोजनके रूपमे बाहरी वस्तुके लिए जानेको, उसके पाचनको, जो कुछ परिपाच्य है उस सबके परिपाचन और जिसका परिपाचन हो नही सकता या करना नही चाहिए उसके निरसनको चुना है, पालन भरके लिए इतना भर काफी है, किन्तु इस प्रकार पालित शरीरके स्वास्थ्य और बलको सुरक्षित करनेके लिए उसने बहुत प्रकारके शारीरिक व्यायामो और खेलोकी प्रेरणा, ऊर्जाके व्यय और पुनर्नवीकरणकी राहो, बहुविध कर्म और श्रमके वरण या आवश्यकताको जोड दिया है। नए जीवनमे, कमसे कम उसके आरम्भमे, अपूर्ण रूप-से ही रूपान्तरित शरीरके पालनके लिए भोजन या स्थापित प्राकृतिक पद्धतिकी आवश्यकताके चरम या साहसी वर्जनकी माँग आवश्यक या वाछनीय नही होगी। यदि या जब इन चीजोको पार करना होगा तब इसे अवश्य ही अध्यात्मकी जाग्रत इच्छा, स्वय जडतत्त्वमे रहनेवाली इच्छाके परिणामकी तरह, अनुल्लघ्य क्रमवैकासिकी प्रेरणाकी तरह, कालके सर्जनात्मक रूपान्तरणोके कार्य या विश्वातीतमेसे किसी

अवतरणकी तरह आना चाहिये। इस बीच, जो भी हमारे लिए विश्वातीत चेतना है उसके आह्वान द्वारा या स्वय विश्वातीतसे किसी आक्रमण या अवतरण द्वारा, चारो ओर या ऊपरसे सत्ताकी उच्चतर शक्तियोकी चेतन क्रिया द्वारा विश्वऊर्जाको अन्दर खीचना एक कभी-कभी, बार-बार या बराबर होनेवाला व्यापार हो जा सकता है और वह भोजनके महत्त्व और उसकी आवश्यकताकी मात्राको इतना घटा दे सकता है कि वह प्रधान व्यवसाय न रह कर एक गौण और अधिकाधिक न्यून आवश्यकता हो जाय। इस बीच भोजन और सामान्य प्रकृति-क्रियाको स्वीकार किया जा सकता है यद्यपि उसके उपयोगको अज्ञानकी रीति रहनेवाली आसक्ति, कामना, अधिक स्थूल और विवेकहीन क्षुधाओ और ऐन्द्रिय सुखोकी ललकसे मुक्त करना होगा, स्थूल प्रक्रियाओको सूक्ष्म करना है और स्थूलतम प्रक्रियाओको अन्त कर देना और नयी प्रक्रियाओको खोजना हो सकता है या नयी साधन-विधियाँ उद्भूत हो सकती हैं। जबतक वह स्वीकृत है उसमे एक परिष्कृत रस अनुमेय हो सकता है और स्वादका एक निष्काम आनन्द भी स्थूल स्वादका और पसन्दगी और नापसन्दगी द्वारा उस मानवीय निर्वाचनका स्थान ले ले सकता है जो हमारा प्रकृतिको उससे हमे मिलती चीजोके सम्बन्धमे उत्तर होता है। यह याद रखना चाहिए कि पृथ्वीपर दिव्य जीवनके लिए पृथ्वी और जडतत्त्वका वर्जन नहीं करना है और किया भी नही जा सकता, उन्हे तो बस उदात्त होना और अपने अन्दर अध्यात्मकी सम्भावनाओको व्यक्त करना है, अध्यात्मके उच्चतम उपयोगोका सेवक होना और महत्तम जीवनके उपकरणोमे रूपान्तरित होना है।

दिव्य जीवनको सदा ही पूर्णताकी प्रेरणासे चालित होना चाहिए, जीवनके हर्षकी पूर्णता उसका अग है और मूलभूत अग है, शरीरका वस्तुओमे आनन्द और शरीर-का जीवन-हर्ष उससे बहिष्कृत नही हैं, उन्हें भी पूर्ण बनाना है। एक विशाल समग्रता इस नूतन और वर्द्धमान जीवन-रीतिकी प्रकृति ही है, यह है ज्योति-वस्तुमे रूपान्तरित मनकी, आध्यात्मिक ओज एव हर्षकी शक्तिमे रूपान्तरित प्राणकी, दिव्य कर्म, दिव्य ज्ञान, दिव्य आनन्दके उपकरणमे रूपान्तरित शरीरकी सम्भावनाओकी सपूर्ति। जो कुछ अपनेको रूपान्तरित करनेमे समर्थ है, जो कुछ स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्म-सत्ताकी इस समग्रताके प्राकटचके लिए उपकरण, पात्र या अवसर हो सकता है उस सबको इसके दायरेमे ले लिया जा सकता है।

*

* *

अब, शरीरकी पशुता जिन बाध्यताओको आरोपित करती और उच्चतर जीवनके अभीप्सुकी राहमे दृढ विरोधके रूपमे आगे रखती है उनका पूराका पूरा वर्जन करनेवालोके लिए कामभावनाकी एक समस्या उठती है वह है जातिको चालू रखनेकी आवश्यकता जिसके लिए कामक्रिया ही वह एकमात्र साधन है जिसे प्रकृतिने प्राणियोके लिए दे रखा है और जो जातिपर अनिवार्य रूपसे आरोपित है। निस्सन्देह, इस समस्यासे मलटना न तो दिव्य जीवनके खोजी व्यक्तिके लिए आवश्यक है, न उन लोगोके समुदायके लिए ही जो उसकी खोज केवल अपने लिए नही करते अपितु यह चाहते है कि मानवजातिमे उसकी मान्यता, कमसे कम आदर्शके रूपमे, फैल जाय। ऐसे बहुत सारे लोग सदा ही रहेगे जो इस आदर्शसे सरोकार नही रखेगे या उसकी पूरी चरितार्थताके लिए तैयार नही होगे और जातिको चालू रखनेकी बात उनके भरोसे छोड दी जा सकती है। दिव्य जीवन वितानेवालोकी सख्या उस अभीप्सासे स्पृष्ट लोगोके स्वैच्छिक आसजन द्वारा कायम रखी जा सकेगी और उस आदर्शके फैलनेसे बढेगी भी, और इस हेतु स्थूल साधन अपनानेकी, काम-निवृत्तिके कडे नियमसे स्खलनकी आवश्यकता नही होगी। परन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमे, दूसरे दृष्टिकोणसे, पृथ्वीपर दिव्य जीवनके सर्जन और विस्तरणमे सहायता देनेके लिए पृथ्वी-जीवनमे प्रवेश करना चाहनेवाले अन्तरात्माओके लिए शरीरोका स्वैच्छिक सर्जन वाछनीय पाया जा सकेगा। तब इस कार्यके लिए स्थूल प्रजननकी आवश्यकतासे केवल तब बचा जा सकता है जब कि अतिभौतिक प्रकारका नया साधन विकसित और सुलभ किया जा सके। इस प्रकारका विकास अवश्य ही जिसे अभी गुह्यविद्याका क्षेत्र माना जाता है उसकी और जातिके सर्वसामान्य मानसके ज्ञान या अधिकारसे बाहरकी क्रिया या सर्जनकी छिपी शक्तियोके व्यवहारकी वस्तु होगा। गुह्यविद्याका अर्थ सत्यत है हमारी प्रकृति, अन्तरात्मा, मन, प्राणशक्ति और सूक्ष्म शारीरिक चेतनाकी क्षमताओकी उच्चतर शक्तियोका व्यवहार जिससे उनके अपने गुप्त विधान और उमकी अन्तर्शक्तियोके किसी दबावसे, मानवीय या पार्थिव मन, प्राण और शरीरमे या जडके जगत्मे पदार्थो और घटनाओमे अभिव्यक्ति और परिणामके लिए, उनके स्वलोक या भौतिक लोकमे परिणाम घटित किए जा सके। इन अल्पज्ञात या अबतक अविकमित रहती शक्तियोके आविष्कार या विस्तरणको अब कुछ विख्यात चिन्तक मानवजातिके आसन्न क्रमविकासमे उसके अगले डगके रूपमे देखते हैं, हमने जिम प्रकारके सर्जनकी बात कही है उसे इन विकासोमे समाविष्ट नही किया गया है, किन्तु उसे नयी सम्भावनाओमे एक सम्भावना अवश्य मानना होगा। प्रजननके इस विषयमे या मनुष्य और पशुमे शारीरिक प्राणशक्तिके पुनर्नवीकरणके लिए भौतिक विज्ञान

भी प्रकृतिके सामान्य उपकरणो या पद्धतिसे आगे निकलनेके लिए भौतिक साधन पानेकी कोशिश कर रहा है, किन्तु गुह्य साधनका आश्रय और सूक्ष्म भौतिक प्रक्रियाओका हस्तक्षेप यदि सम्भव हो सके तो उनकी विधि महत्तर विधि होगी जिससे कि भौतिक शक्तिके हाथ आनेवाले एकमात्र साधनो और परिणामोकी सीमाओ, पतनो, अधूरेपन और भारी अपूर्णतासे बचा जा सकेगा। भारतमे शुरूके युगसे ही इन गुप्त चीजोके अच्छे ज्ञानवाले या विकसित आध्यात्मिक ज्ञान, अनुभव और सक्रिय शक्तिवाले लोगो द्वारा इन शक्तियोके व्यवहारकी सम्भावना और वास्तवतामे बहुत फैला हुआ विश्वास रहा है और तन्त्रोमे तो उनकी पद्धति और व्यवहारकी सगठित प्रणालीमे भी विश्वास रहा है। योगीके हस्तक्षेप द्वारा सन्तानकी वाछित उत्पत्ति कर सकनेमे भी साधारणत विश्वास किया जाता रहा है और प्राय उसके लिए प्रार्थना की गयी है और कभी कभी इस प्रकार प्राप्त सन्तानके लिए उस योगीकी इच्छा या आशीष द्वारा किसी आध्यात्मिक उपलब्धि या भवितव्यताका वरदान माँगा जाता है और ऐसे फलका उल्लेख भूतकालकी परम्परामे तो मिलता ही है, वर्तमानकी साखी भी उसका समर्थन करती है। परन्तु यहाँ फिर भी प्रजननके सामान्य साधनके आश्रयकी और भौतिक प्रकृतिकी स्थूल पद्धतिकी आवश्यकता रहती है। यदि हमे इस आवश्यकतासे बचना है तो एक विशुद्ध गुह्य पद्धतिको, भौतिक परिणामके लिए अतिभौतिक साधन द्वारा क्रिया करती अतिभौतिक प्रक्रियाओके अवलम्बको सम्भव होना होगा कामावेग और उसकी पशु-प्रक्रियाके अवलम्बका अतिक्रमण अन्यथा सम्भव नही हो सकेगा। । यदि भौतिकीकरण और अभौतिकीकरणके व्यापारमे कोई वास्तविकता है जिसके सम्भव होनेका दावा गुह्यवेत्ता करते हैं और जिसके प्रमाणमे हममेसे बहुतोको घटनाएँ देखनेको मिली हैं, तो इस प्रकारकी पद्धति सम्भावनाके दायरेसे बाहर नही होगी। कारण, गुह्यविद्याके सिद्धान्तके अनुसार, और योगज्ञान हमारे सामने सत्ताके स्तरो और लोकोके जिस श्रेणीक्रमका रेखाकन करता है उसके अनुसार, सूक्ष्म भौतिक शक्ति ही नही, सूक्ष्म भौतिक जडवस्तु भी है जो प्राण और स्थूल जडवस्तुके बीच पडती है और इस सूक्ष्म भौतिक धातुमे मर्जन करना और इस प्रकार बनाए गए रूपोको हमारी अधिक स्थूल भौतिकतामे अवक्षिप्त करना साध्य है। इस सूक्ष्म भौतिक धातुमे रचित पदार्थका गुह्य शक्ति और प्रक्रियाके हस्तक्षेप द्वारा अपनी सूक्ष्मतामेसे स्थूल जडतत्त्वकी अवस्थामे सीधा सक्रमण चाहे किसी ठोस भौतिक पद्धतिकी सहायता या हस्तक्षेपसे हो, चाहे उसके विना ही, उसे सम्भव तो होना चाहिए, और यह सम्भावना मानी भी जाती है। शरीरमे प्रविष्ट होना या अपने लिए शरीर गढना और पृथ्वीपर दिव्य जीवनमे भाग लेना चाहनेवाले अन्तरात्माको कामक्रियाके द्वारा जन्ममे आये विना या किसी अवनति-

के बिना या अपने मन और भौतिक शरीरके वर्द्धन और विकासमे उन भारी परिसीमनो-मेसे किसीको भी आने दिए बिना जो कि हमारी वर्तमान जीवनविधिके लिये अपरिहार्य हैं, इस सीधे रूपान्तरणकी पद्धतिसे ऐसा करनेमे सहायता दी जा सकती या ऐसी आकृति भी दे दी जा सकती है। तब वह तुरन्त ही उस सत्यतः दिव्य भौतिक शरीरके ढाँचे और महत्तर सामर्थ्यो और क्रियाकलापोको धारण कर सकेगा जिसका आविर्भाव दिव्यीकृत पृथ्वी-प्रकृतिमे प्राण और आकार दोनोके समग्रतया रूपान्तरित जीवनकी ओर वर्द्धमान क्रमविकासमे एक दिन होगा ही।

परन्तु इस दिव्य शरीरका आन्तरिक या बाह्य आकार और ढाँचा क्या होगा? उसके साधन क्या होगे? पशु और मनुष्यके शरीरके विकासके भौतिक इतिहासने उसे अवयवोकी एक सूक्ष्मतासे निर्मित और व्यौरेवार प्रणाली और उनकी क्रियाकी एक पराश्रित व्यवस्थासे बँधा छोड दिया है जो किसी भी समय अव्यवस्था हो जा सकती है, व्यापक या स्थानिक असगठनकी ओर खुली है, आसानीसे विक्षुब्ध होनेवाली स्नायविक प्रणालीपर आश्रित है और ऐसे मस्तिष्कके नेतृत्वमे है जिसके प्रकम्पन हमारे चेतन नियन्त्रणमे नही अपितु यान्त्रिक और स्वचल माने जाते हैं। जडवादीके अनुसार यह सब एकमात्र जडका क्रियाकलाप है जिसकी मूलभूत वास्तवता रसायनिक है। हमे यह मानना होता है कि शरीरका निर्माण रसायनिक तत्त्वोके माध्यमसे होता है जो परमाणुओ, मोलक्यूलो और कोशाणुओकी रचना करते हैं और फिर ये भी एक जटिल शारीरिक ढाँचे और साधनविन्यासके आधारगत करण और एकमात्र सचालक हैं, वह ढाँचा और साधनविन्यास ही हमारे सारे कर्मो, विचारो, भावनाओका एकमात्र यान्त्रिक कारण है, अन्तरात्मा कल्पित वस्तु है और मन और प्राण इस यत्रकी भौतिक और यान्त्रिक अभिव्यक्ति और रूप ही हैं जो निश्चेतन जडमे अन्तर्निष्ठ रहनेवाली शक्तियो द्वारा क्रियान्वित और स्वयमेव चालित होता है, भले ही उसमे चेतनाका मिथ्याभास हो। यदि यही बात सच्ची होती तो यह स्पष्ट है कि शरीर या किसी भी और चीजका दिव्यीकरण या दिव्य रूपान्तर और कुछ नही, एक भ्रम, एक कल्पना, एक निरर्थक और असम्भव मरीचिका होगा। परन्तु यदि हम यह भी मान ले कि इस शरीरमे एक अन्तरात्मा, एक चेतन इच्छा सक्रिय है, तो भी उसका दिव्य रूपान्तर तबतक नही हो सकेगा जबतक कि स्वय शरीर-यन्त्रमे और उसकी भौतिक क्रियाओके सगठनमे आमूल परिवर्तन नहीं आ जाय। रूपान्तरकारी माध्यम अपने काममे शारीरिक गठनकी अपरिवर्तनीय मर्यादाओसे बँधा होगा और रोक दिया जायगा और हमारे अन्दरका अपरिवर्तित या अपूर्णतया परिवर्तित मूल पशु उसे रोक रखेगा। इन शारीरिक प्रबन्धोकी स्वाभाविक अव्यवस्थाएँ, विचलन, रोग वहाँ फिर भी होंगे और उन्हे केवल

सतत सतर्कता या चिरनियन्त्रण द्वारा ही बाहर रखा जा सकेगा जिसके लिए शारीरिक यन्त्रका आध्यात्मिक निवासी और स्वामी बाध्य होगा। उसे सत्यत दिव्य शरीर नही कहा जा सकेगा, कारण, दिव्य शरीरमे इन सारी चीजोकी ओरसे अन्तर्निष्ठ स्वतन्त्रता स्वभाविक और चिरस्थायी होगी, यह स्वतन्त्रता उसकी सत्ताका सामान्य और सहजात सत्य और फलत अवश्यम्भावी और अपरिवर्तनीय होगी। शरीर-सगठनके क्रियाकलापो और, जैसा कि भलीभाँति हो सकता है, उसके ढाँचे और, अवश्य ही, उसके अति यान्त्रिक और भौतिक आवेग और चालिका शक्तियोका आमूल रूपान्तर अवश्यमेव होगा। वह कौन सा माध्यम है जिसे हम इस सर्वमहत्त्वपूर्ण मुक्ति और परिवर्तनका साधन बना सकते हैं? हमारे अन्दर कोई चीज है या कोई चीज विकसित की जा सकती है—वह शायद हमारी सत्ताका एक केन्द्रीय और अभी भी गुह्य रहता अग है,—जिसमे ऐसी शक्तियाँ है जिनका बल, हमारी वास्तविक और वर्तमान निर्मितिमे, जो हो सकता है उसका अश मात्र है परन्तु जो, यदि वे सम्पूर्ण और आधि-पत्यशालिनी हो जायें, तो अन्तरात्मा और अतिमानसिक ऋत-चित्की ज्योति और शक्तिकी सहायतासे आवश्यक शारीरिक रूपान्तर और उसके परिणाम घटित करनेमे सत्यत समर्थ होगी। यह बात तान्त्रिक ज्ञान द्वारा व्यक्त और योग-पद्धतियोमे स्वीकृत चक्र-योजनामे मिल सकती है। ये चक्र हमारी सत्ताकी सारी सक्रिय शक्तियोके चेतन केन्द्र और उत्स हैं जो अपनी क्रियाको स्नायुजालो द्वारा सगठित करते हैं और एक आरोही क्रममे सगठित हैं, वह क्रम सबसे नीचेके शारीरिक चक्रसे उच्चतम मनोमय और आध्यात्मिक चक्रकी ओर उठता है जिसे सहस्रदल कहते हैं और जहाँ आरोहिणी प्रकृति, तान्त्रिकोकी कुण्डलिनी शक्ति, ब्रह्मसे मिलती और दिव्य पुरुषमे मुक्त हो जाती है। ये चक्र हमारे अन्दर बन्द या आधे बन्द होते हैं, और हमारी भौतिक प्रकृतिमे उनकी पूरी सम्भाव्य शक्तिको अभिव्यक्त किया जा सके उससे पहले उन्हे खोलना होगा परन्तु जब एक बार वे खुल जाते और पूरे सक्रिय हो जाते हैं तो उनकी शक्तियोके विकास और समग्र रूपान्तरकी सम्भावनाकी कोई सीमा आसानीसे नही तै की जा सकती।

परन्तु इन शक्तियोके आविर्भाव और इनकी मुक्त तथा दिव्यतर क्रियाका स्वय शरीरपर क्या परिणाम होगा? इनका उसके साथ सक्रिय सम्बन्ध क्या होगा और तब भी वर्तमान रहती पशु-प्रकृति और उसकी पशु-प्रेरणाओ और स्थूल भौतिक पद्धति-पर इनकी रूपान्तरकारिणी क्रिया क्या होगी? यह कहा जा सकता है कि पहला आवश्यक परिवर्तन होगा मन, प्राण-शक्ति, सूक्ष्म शारीरिक करणो और शारीरिक चेतनाका अधिक स्वच्छन्द और अधिक दिव्य क्रियामे मुक्त होना, उनकी चेतनाकी अनेक आयामो-वाली और असीम क्रिया, स्वय शारीरिक चेतनाका, उसके उपकरणोका और जडके

जगत्मे आत्माकी अभिव्यक्तिके लिए उसके सामर्थ्य और क्षमताकी उच्चतर शक्तियो-का बडा प्रस्फुटन और उनका उन्नयन्। जो सूक्ष्मेन्द्रियाँ अभी हममे छिपी हुई हैं वे निर्बन्ध क्रियामे आगे आ सकेगी और स्वय भौतिक इन्द्रियाँ, जो हमारे लिए अभी अदृश्य है उसको देखनेके लिए या जो चीजे हमे घेरे हुई हैं किन्तु अभी अग्राह्य हैं या हमारे ज्ञानकी पहुँचसे बाहर रखी गई हैं उनके आविष्कारके लिए, साधन या माध्यम हो जा सकेगी। पशुप्रकृतिके आवेगोपर कडा नियन्त्रण रखा जा सकेगा या उनकी शुद्धि की जा सकेगी और उन्हे सूक्ष्म बनाया जा सकेगा जिससे कि वे दायित्व न होकर सम्पत्ति हो सकेगे और उन्हे इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकेगा कि वे अधिक दिव्य जीवनके अग और प्रक्रियाएँ हो सकेगे। परन्तु इन परिवर्तनोके बाद भी ऐसी भौतिक प्रक्रियाएँ बची रहेगी जो पुरानी राहपर चलेगी और उच्चतर नियन्त्रणके वशमे होनेवाली नही होगी और यदि उन्हे नही बदला जा सका तो स्वय बाकी रूपान्तर भी रुक जा सकता और अधूरा रह जा सकता है। शरीरके समग्र रूपान्तरके लिए आवश्यक होगा उसके सघटनके भौतिकतम अगका, उसकी सरचना, उसकी प्रक्रियाओ, उसके प्रकृति-विन्यासका यथेष्ट परिवर्तन।

फिर, ऐसा सोचा जा सकता है कि एक पूरा नियन्त्रण, इस शरीर-सघटन और उसकी अदृष्ट क्रियाका ज्ञान और अवलोकन और उसके व्यापारोको चेतन इच्छाके अनुसार निर्दिष्ट करनेवाला प्रभावी नियन्त्रण यथेष्ट होगा, इस सम्भावनाकी पुष्टि यह कहकर दी गयी है कि यह कुछ लोगोमे तो सिद्ध ही हो चुकी है और उनमे आन्तरिक शक्तियोके विकासका अग रही है। इस प्रकारके स्वामित्वके सुविदित और सु-प्रमाणित उदाहरण हैं श्वासको रोकना और फिर भी शरीरके जीवनका स्थिर रहना, केवल श्वासको ही नही, सारी प्राणिक अभिव्यक्तियोको जब चाह तब लम्बे समयके लिये बिलकुल ही बन्द कर देना, वैसे ही जब चाहे तब हृदयकी गतिको रोक देना और साथ ही विचार, वाणी और अन्य मानसिक क्रियाओका किसी क्षीणताके बिना चालू रहना, शरीरपर इच्छाशक्तिके अधिकारके ये और अन्य व्यापार भी मिलते हैं। परन्तु ये सफलताएँ कभी कभी और कही कही होती है, वे रूपान्तर नही होती, आवश्यक है समग्र नियन्त्रण और एक स्थापित और अभ्यस्त और वस्तुत स्वाभाविक स्वामित्व। यह उपलब्ध हो जानेपर भी दिव्य शरीरकी प्राप्तिके हेतु सम्पूर्ण मुक्ति और परिवर्तनके लिए किसी अधिक मूलभूत वस्तुकी भी माँग हो सकती है।

फिर, यह कहा जा सकता है कि जैसे शरीरके आधारित बाह्य रूपको वैसे ही उसकी अवयव-सरचनाको भी पृथ्वी-प्रकृतिके रक्षणके लिए, पृथ्वी-जीवनके साथ दिव्य जीवनके सम्बन्धके लिए और क्रमविकास-प्रक्रियाके चालू रहनेके लिए एक

आवश्यक भौतिक भित्तिके रूपमे रक्षित रखना होगा जिससे कि ऊपरकी ओर उससे बाहर और दूर सत्ताकी उस स्थितिमे निकल जानेको रोका जा सके जो पार्थिव लोककी दिव्य परिपूर्तिकी चीज न होकर उच्चतर लोककी ही होगी। हमारी प्रकृतिमे रहनेवाले पशुतत्त्वका यदि यथेष्ट रूपान्तर हो जाय जिससे वह अभिव्यक्तिमे बाधा न होकर उसका उपकरण हो जाय तो उसका दीर्घायु अस्तित्व भी सातत्यके रक्षणके लिए, क्रमवैकसिक समग्रके रक्षणके लिए आवश्यक होगा, वह भौतिक जगत्मे उद्भूत होते देवके लिए, जिसे भौतिक जगत्मे कार्य करना होगा और नए जीवनके कार्य और चमत्कार पूरे करने होगे, जीवन्त वाहनके रूपमे आवश्यक होगा। यह निश्चित है कि इस सम्बन्धको बनानेवाले किसी शरीर-रूपको और पृथ्वी-क्रियाबल और उसके मूलभूत क्रियाकलापोकी किसी क्रियाको वहाँ होना ही चाहिए, परन्तु उस सम्बन्धको बन्धन या नियन्त्रक परिसीमन या परिवर्तनकी समग्रताका खडन नही होना चाहिए। वर्तमान शरीर-सघटनके किसी रूपान्तरके बिना उसका सरक्षण पुरानी प्रकृतिके अन्तर्गत बन्धन और नियन्त्रणकी तरह ही कार्य करेगा। एक भौतिक आधार तो होगा, किन्तु वह होगा पृथ्वीका और पार्थिव, पुरानी पृथ्वीका, न कि दिव्यतर आन्तरिक सरचनावाली नई पृथ्वीका, कारण, पुराने आयोजनका उस सरचनासे सामजस्य नही होगा, वह उसके आगेके विकासके काम नहीं आ सकेगा, जडमे उसके आधारके रूपमे उसे सहारा भी नही दे सकेगा। वह सत्ताके एक भागका, निम्नतर भागका, अरूपान्तरित मानवता और अपरिवर्तित पशुक्रियासे गठबन्धन कर देगा और अतिमानसिक प्रकृतिकी अतिमानवतामे उसकी उन्मुक्ति नही होने देगा। तो यहाँ भी परिवर्तन आवश्यक है, वह परिवर्तन समग्र शारीरिक रूपान्तरका आवश्यक अग होगा और समूचे मनुष्यको, अन्तिम परिणाममे तो अवश्य ही, दिव्य बना देगा और उसके विकासक्रमको अधूरा नही छोडेगा।

यह कहना होगा कि यह लक्ष्य तब काफी पूरा हो जायगा जब कि चक्रोके साधन-विनियोग और उनकी शक्तियोका प्रकृतिके सारे क्रियाकलापोपर राज्य होगा, शरीरपर उनका पूरा आधिपत्य होगा और भौतिक जीवनमे जडलोकमे उन्हे जो कुछ करना है उस सबके लिए वे शरीरको उसके ढाँचेके रूप और उसकी अवयव-क्रियाओ, दोनोमे ही सचारका निर्बन्ध माध्यम और साधन और सबोध तथा सचल क्रियाका नमनीय उपकरण बना देगे। स्वय भौतिक अवयवोकी कार्यकारिणी प्रक्रियाओमे और, बहुत सम्भवत, उनके सघटन और उनके महत्त्वमे भी परिवर्तन होना होगा, उन्हे नए दैहिक जीवनपर अपने परिसीमनोका अनुल्लघ्य आरोपण नही करने दिया जा सकेगा। आरम्भमे वे अधिक स्पष्ट रूपमे सचार और क्रियाके माध्यमोके बाहरी सिरे हो जा

सकते हैं, अधिवासीकी मनोगत प्रयोजनोके लिए अधिक कामके हो जा सकते हैं, अपने प्रत्युत्तरोमे कम अन्धतासे भौतिक हो सकते है, जो आन्तरिक गतिधाराए और शक्तियाँ उन्हे काममे लेती हैं और जिनके बारेमे हमारे अन्दरका भौतिक मनुष्य यह गलत अनुमान करता है कि भौतिक अवयव ही उन्हे उत्पन्न कर रहे और काममे ले रहे हैं, उनकी क्रिया और लक्ष्यके प्रति अधिक चेतन हो जा सकते हैं। मस्तिष्क होगा विचारोके रूपके सचारका साधन और शरीर तथा बाह्य जगत्पर उनके आग्रहकी बैटरी, तब शरीर और बाह्य जगत्मे विचार अधिक सीधी तरहसे प्रभावी हो सकेगे, स्थूल साधन-के बिना एक मनसे दूसरे मनमे अपना सचार कर सकेगे, वैसे ही दूसरोके विचारो, कार्यो और जीवनोपर, यहाँ तक कि भौतिक वस्तुओपर भी सीधे प्रभाव उत्पन्न कर सकेगे। समान रूपसे, जगत्पर चैत्य चक्रकी शक्तियो द्वारा बाहर फेकी गयी भावनाओ और भावावेगोके आदानप्रदानके लिए हृदय सीधा सचारकर्त्ता और माध्यम होगा। हृदय सीधे हृदयको उत्तर दे सकेगा, जीवन-शक्ति अपरिचितता और दूरीके बावजूद अन्य जीवनोकी सहायताके लिए आ सकेगी और उनकी पुकारका उत्तर दे सकेगी, बहुत सारे जीव किसी बाह्य सचारके बिना अद्वय दिव्य केन्द्रसे आते सन्देशसे रोमाचित हो सकेगे, वहाँसे आती गुप्त ज्योतिमे मिल सकेगे। इच्छाशक्ति भोजनसे व्यवहार करनेवाले अवयवोको वशमे कर सकेगी, स्वत ही स्वास्थ्यकी सुरक्षा कर सकेगी, लोभ और कामनाका अन्त कर सकेगी, सूक्ष्मतर प्रक्रियाओको ला बैठा सकेगी या वैश्व प्राणशक्तिसे बल और सत्त्वको अन्दर खीच सकेगी जिससे कि शरीर लम्बे समयतक, क्षय या बर्बादीके बिना, अपने स्वबल और सत्त्वको बनाए रख सकेगा, भौतिक खाद्य पदार्थोके पोषणकी आवश्यकताके बिना इस प्रकार रह सकेगा, और फिर भी थकावटके बिना, निद्रा या विश्रामके विरामके विना, सम्पूर्ण कार्य चालू रख सकेगा। अन्तरात्माकी इच्छा या मनकी इच्छा लिग-चक्र और लिग-अवयवोपर उच्चतर उत्सोसे कार्य कर सकेगी जिससे कि स्थूलतर कामवासना या कामोद्दीपनको निष्कासित किया जा सकेगा और उनके व्यवहारको पशु-उत्तेजना या अपरिष्कृत प्रवेग या कामनाके काम आनेके स्थानपर, यह क्षेत्र जिस ओजसका कारखाना है उस ओजसके मचय और उत्पादनमे लगाया जा सकेगा और मस्तिष्क, हृदय तथा प्राणशक्तिकी ओर निर्दिष्ट किया जा सकेगा जिससे कि मन, अन्तरात्मा, अध्यात्म तथा उच्चतर प्राणशक्तियोकी क्रियाको अवलम्ब मिलेगा और निम्नतर वस्तुओंपर ऊर्जाका व्यय सीमित होगा। अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, अधिक आसानीसे सबको आलोकसे भर सकेगा और वस्तुत शरीरके भौतिक तत्त्वको अपने महत्तर स्वोद्देश्यके लिए उच्चतर उपयोगमे लगा सकेगा।

यह एक प्रथम सबल परिवर्तन तो होगा, किन्तु किसी भी तरह वह पूरी चीज नही जो सम्भव या वाछनीय है। कारण, ऐसा भली भाँति हो सकता है कि क्रमवैकासिकी प्रेरणा अवयवोकी भौतिक क्रिया और उपयोगमे स्वय अवयवोके परिवर्तनकी ओर बढेगी और उनके साधनविनियोगकी आवश्यकताको, उनके अस्तित्वकी भी आवश्यकताको बहुत कम कर देगी। तब हम सूक्ष्म शरीरके प्रति चेतन होगे, उसमे जो कुछ चल रहा होगा उस सबका हमे बोध होगा, और सूक्ष्म शरीरके चक्र अपनी ऊर्जाओको भौतिक स्नायुजालो और ऊतकोमे प्रवाहित करेगे और समूचे भौतिक शरीरमे विकीर्ण करेगे, सारे स्थूल जीवनको और इस नूतन अस्तित्वके लिए उसके आवश्यक क्रियाकलापोको इन उच्चतर करणो द्वारा, अधिक स्वतन्त्र और प्रचुर रूपमे और कम बोझिल और प्रतिबन्धक पद्धतिसे, कायम रखा जा सकेगा। यह चीज इतनी दूर चली जा सकेगी कि ये अवयव अपरिहार्य न रह जायँ, यहाँ तक कि अति बाधक ही अनुभूत हो हो सकता है कि केन्द्रीय शक्ति उनके व्यवहारको अधिकाधिक कम करे और अन्तमे उसे बिलकुल ही अलग हटा दे। यदि ऐसा हो जायगा तो कृश होते जानेसे उनका क्षय हो जा सकता है, उनकी मात्रा घटकर नगण्य या बिलकुल ही विलुप्त हो जा सकती है। केन्द्रीय शक्ति उनके स्थानपर बहुत भिन्न प्रकारके सूक्ष्म अवयवोको या यदि किसी भौतिक वस्तुकी आवश्यकता हुई तो ऐसे उपकरणोको ला बैठायगी जो, हम जिन्हे अवयव कहकर जानते हैं वैसे न होकर, बल्कि क्रियाबलके रूप होंगे या सुनम्य सचारक। यह चीज शरीरके परम समग्र रूपान्तरका अग तो हो सकेगी, परन्तु हो सकता है कि यह भी अन्तिम न हो। ऐसे परिवर्तनोकी कल्पना करना आगे दूर देखना है और वस्तुओके वर्तमान रूपसे आसक्त रहनेवाले मन उनकी सम्भावनामे विश्वास करनेमे अक्षम हो सकते हैं। क्रमवैकासिक प्रेरणापर किसी भी आवश्यक परिवर्तनकी कोई ऐसी सीमाएँ और कोई ऐसी असम्भावना नही लादी जा सकती। सब कुछका मूलभूत परिवर्तन आवश्यक नही इसके विपरीत, समग्रतामे जो फिर भी आवश्यक है उस सबको सरक्षित रखना है, किन्तु सबको पूर्ण बनाना है। चेतनाका वर्द्धन, विस्तरण और उन्नयन इस लोकमे क्रमवैकासिक उद्देश्यकी केन्द्रीय इच्छा और लक्ष्य मालूम होता है, इसके लिए या क्रमवैकासिक उद्देश्यके सहायक साधन और सरक्षक परिवेशकी प्रगतिके लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उसे रखना और बढाना होगा, किन्तु जिसे पार कर जाना है, जिस किसी भी चीजका उपयोग नही रह गया है या जो भी चीज अवनत हो गयी है, असहायक या बाधक हो गयी है, उसका परित्याग कर दिया जा सकता है; उसे राहमे छोड दिया जा सकता है। यह बात शरीरके आरम्भिक रूपोकी शुरुआतसे उसके सबसे विकसित रूप, मानवीय रूपतकके विकास-

क्रमके इतिहासमे स्पष्ट रही है, मानवीय शरीरसे दिव्य शरीरकी ओर सक्रमणमे यही प्रक्रिया क्यो न लागू हो इसका कोई कारण नही। पृथ्वीपर दिव्य शरीरकी अभिव्यक्ति या निर्मितिके लिए एक आरम्भिक रूपान्तर, एक नूतन, महत्तर और अधिक विकसित प्ररूपका प्राकटच होना ही चाहिए, वर्तमान शारीरिक रूप और उसकी सीमित सम्भावनाओको कुछ हेरफेर करके चलाए रखनेसे ऐसा नही होगा। जिसे सरक्षित रखना है वस्तुत उसे सरक्षित रखना ही चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि पृथ्वीपर नए जीवनके कामके लिए जो कुछ भी आवश्यक या पूरा उपयोगी है उसे सरक्षित रखना ही चाहिए , जो कुछ तब भी आवश्यक है और उसके काम आनेवाला है किन्तु अपूर्ण है, उसे रखना तो होगा किन्तु विकसित करके, पूर्ण बना करके। नए उद्देश्योके लिए जो कुछ कामका नही रह गया है या अक्षमताके रूपमे है, उसे अलग फेकना ही होगा। जडतत्त्वके आवश्यक रूपो और उपकरणोको रहना ही चाहिये क्योकि दिव्य जीवनको जडके जगत्मे भी अभिव्यक्त होना है, किन्तु उनके जडतत्वको परिष्कृत, उन्नीत, उदात्त, आलोकित करना होगा, क्योकि जडतत्त्व और जड-जगत्को अन्तर्वासी अध्यात्म पुरुषको वर्द्धमान रूपसे अभिव्यक्त करना है।

नए प्ररूपको, दिव्य शरीरको, प्रस्फुटित हो चुके क्रमवैकासिक रूपको चालू रखना ही चाहिए, प्रकृति सब समय जिस प्ररूपका विकास करती रही है वहाँसे धारा चालू रहनी ही चाहिए, मानवीय शरीरसे दिव्य शरीरकी ओर धारा चलनी ही चाहिए, जो अबतक प्राप्त हो चुका है और अशत पूर्ण बना है उसका उच्च परिणाम रहनेवाली किन्तु पहचानमे न आनेवाली किसी वस्तुकी ओर अलग नही छूट पडना है। मानव-शरीरमे ऐसे अग और उपकरण हैं जो दिव्य जीवनके काम आनेके लिए काफी विकसित हैं, उन्हे अपने रूपमे टिके रहना होगा, किन्तु साथ ही उन्हे और भी अधिक पूर्ण बनाना होगा, उनके क्षेत्र और उपयोगकी सीमाओको हटाना होगा, उनकी त्रुटि, रोग और ह्रासकी बाध्यताका अन्त करना होगा, उनकी सबोध और सचल क्रियाकी क्षमताओको उनकी वर्तमान सीमासे आगे ले जाना होगा। शरीरको ऐसी नयी शक्तियाँ पानी होगी जिनकी उपलब्धिकी आशा हमारी वर्तमान मानवता नही कर सकती, जिनका वह सपना भी नही देख सकती या जिनकी वह कल्पना भर कर सकती है। अभी जिसे आविष्कृत औजारो और यन्त्र द्वारा जाना, क्रियान्वित या सृष्ट किया जा सकता है, वैसे बहुत कुछको नया शरीर अपनी स्वशक्तिसे या अधिवासी अध्यात्म-पुरुष सीधे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त कर ले सकता है। स्वय शरीर दूसरे शरीरोके साथ सचार करनेके नये साधन और क्षेत्र, ज्ञान-प्राप्तिकी नयी प्रक्रियाएँ, एक नया रसबोध, अपने और पदार्थोके चालनकी नयी शक्ति-मात्राएँ पा सकता है। उसके

लिए यह असम्भव नही भी हो सकता है कि वह दूरको नजदीक करने और दूरीको विनष्ट करनेके लिए, अभी जो शरीरके वोधसे परे है उसका वोध पानेके लिए, जहाँकी क्रिया अभी उसकी पहुँच और क्षेत्रसे वाहर है वहाँ क्रिया करनेके लिए, जिन सूक्ष्मताओ और नमनीयताओको वर्तमान अवस्थाओमे अनुमति नही दी जा सकती उन्हे भौतिक ढाँचे-की आवश्यक स्थिरताके रूपमे विकसित करनेके लिए, अपने ही सघटन, उपादान या प्राकृतिक उपकरणोके सहजात साधनोको अधिकृत या व्यक्त करे। ये वाते और अन्य वहुसख्यक शक्यताएँ प्रकट हो सकती हैं और शरीर ऐसा उपकरण वन सकता है जो हमारी वर्तमान कल्पनाकी सम्भावनाकी अपेक्षा अमेय रूपमे श्रेष्ठतर होगा। प्राथमिक प्रज्ञानात्मक सत्य-चेतनासे अतिमानसके ऊपर उठते क्षेत्रोकी उच्चतम ऊँचाइयोकी ओर क्रमविकास हो सकेगा और वह स्वय अतिमानसके तटोको पार कर जा सकता है जहाँ वह सत्ताके सर्वोच्च सत्य, तपसके क्रियावल, आनन्दकी महिमा और मधुरता, मर्वसर्जक आनन्दके परम सार और काष्ठाके लोकोके सघटक परम एंव विशुद्ध सत्, चित् एव आनन्दसे स्पृष्ट जीवनको प्रकट करनेवाले रूपोकी छायाका प्रसार करना, उन्हे विकसित करना, उनकी रेखाकृति अकित करना शुरू करता है। शारीरिक सत्ताका रूपान्तर प्रगतिकी इस धाराका अनुसरण कर सकता है और स्वाभिव्यक्ति-शील अध्यात्मपुरुषकी इस सर्वोच्च महानता और महिमाके कुछ अशको दिव्य शरीर यहाँ, पृथ्वीपर, प्रतिविम्वित या पुनरुत्पन्न कर सकता है।

अतिमानस और दिव्य जीवन

पृथ्वीपर दिव्य जीवनको ही हमने अपने सामने आदर्शके रूपमे रखा है, और वह हमारी सत्ताके आध्यात्मिक परिवर्तन और हमारी प्रकृतिके आमूल और आधार-भूत परिवर्तन, क्रमविकास या क्रान्तिसे ही आ सकता है। धरतीपर देहीको अपने मन, प्राण तथा शरीरके आवरणोके आधिपत्यमे निकालकर अपनी आध्यात्मिक सद्वस्तुकी पूरी चेतना और अधिकारमे उठ जाना होगा और उसकी प्रकृतिको भी मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी स्वभाविक चेतना और चेतनाशक्तिमेसे अध्यात्म-पुरुषकी महत्तर चेतना, महत्तर सत्ताशक्ति और अधिक विशाल तथा अधिक स्वतत्र जीवनमे उठाना होगा। पहलेके ये आवरण उससे छूट नही जायँगे, वे तो आवरण या अपूर्ण प्राकट्य न रहकर सच्ची अभिव्यक्तियाँ होगे, वे ज्योतिकी स्थितियो, आध्यात्मिक जीवनकी शक्तियो, आध्यात्मिक अस्तित्वके वाहनोमे परिवर्तित हो जायँगे। परन्तु फिर ऐसा तब तक नही हो सकता जब तक कि मन, प्राण और शरीरको उनसे श्रेष्ठतर सत्ताकी स्थिति और शक्ति, उस अतिमानसकी शक्ति ऊपर न उठा ले और रूपान्तरित न कर ले जो कि हमारी असम्पूर्ण मन प्रकृतिसे उतना ऊपर है जितनी कि वह प्रकृति पशु-जीवन और प्राणवन्त जडकी प्रकृतिसे, और निरी जड प्रकृतिसे तो अमेय रूपमे ऊपर है।

अतिमानस तो तत्त्वत ही ऋत-चित् है, सत्य-चेतना है, उस अज्ञानसे सदा स्वतत्र रहनेवाली चेतना है जो हमारे वर्तमान प्राकृतिक या क्रमवैकासिक जीवनकी भित्ति है और जिसमेसे हमारे अन्दर प्रकृति आत्मज्ञान और जगत्ज्ञान और सही चेतना और हमारे विश्वगत जीवनके सही व्यवहारतक पहुँचनेका प्रयत्न कर रही है। अति-मानस है सत्य-चेतना, अत उसमे यह ज्ञान अन्तर्विष्ट है और उसमे सच्चे जीवनकी यह शक्ति है; उसकी राह सीधी है और वह अपने लक्ष्यपर सीधे जा सकता है, उसका क्षेत्र विशाल है और असीम्य भी बना दिया जा सकता है, ऐसा इस कारण है कि उसकी प्रकृति ही ज्ञानस्वरूपा है, उसे ज्ञानका अर्जन नही करना होता है, ज्ञान उसे स्वाधिकारमे हस्तगत रहता है, उसके डग निर्ज्ञान या अज्ञानमेसे किसी अपूर्ण ज्योतिकी ओर नही, अपितु सत्यसे महत्तर सत्यकी ओर, सही बोधसे अधिक गहरे बोधकी ओर, एक सबोधि-से दूसरी सबोधिकी ओर, आलोकीकरणसे विशुद्ध और असीम ज्योतिर्मयताकी ओर,

बढती विस्तृतियोसे अपार बृहत्ताओकी ओर, आनन्त्यकी ओर ही होते हैं। अपने शिखरोपर उसे दिव्य सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त रहती है, किन्तु अपनी श्रेणीबद्ध स्वाभिव्यक्तिकी क्रमवैकासिकी गतिधारामे भी, जिसके द्वारा वह अन्तत अपनी सर्वोच्च ऊँचाईयोको व्यक्त करेगा, वह प्रकृत्या ही अज्ञान और भूलसे तत्त्वत मुक्त रहेगा वह आरम्भ करता है सत्य और ज्योतिसे और सदा ही सत्य और ज्योतिमे विचरण करता है। जैसे उसका ज्ञान सदा सत्य होता है, वैसे ही उसकी इच्छा भी सदा सत्य होती है, वस्तुओके साथ व्यवहार करनेमे वह टटोलता नही, उसके डग लडखडाते नही। अतिमानसमे भावना और भावोच्छ्वास अपने सत्यसे नही डिगते, भूल-चूक नही करते, सही और वास्तवसे अलग नही हटते, सौन्दर्य और आनन्दका अपव्यवहार नही कर सकते, दिव्य साधुतासे अलग मोड नही ले सकते। अतिमानसमे इन्द्रियबोधका उन निकृष्टताओकी ओर अपनिदेशन या विचलन नही हो सकता जो यहाँ उसकी स्वाभाविक अपूर्णताएँ हैं और हमारे अज्ञानजनित कलक, अविश्वास और अपव्यवहारका कारण है। अतिमानस द्वारा अधूरा कथन भी एक आगेके सत्यकी ओर ले जानेवाला सत्य होता है, उसकी अधूरी क्रिया सम्पूर्णताकी ओर डग होती है। अतिमानसका सारा जीवन, कर्म और नेतृत्व प्रकृत्या ही उन मिथ्यात्वो और अनिश्चितियोसे बचा हुआ है जो हमारे पल्ले पडे हैं, वह अपनी पूर्णताकी ओर निरापदतासे बढता है। सत्य-चेतना यदि एक बार अपनी निश्चित स्व-भित्तिपर स्थापित हो जाय तो दिव्य जीवनका क्रमविकास आनन्दके बीच प्रगति होगा, ज्योतिमेसे गुजरते हुए आनन्दकी ओर गमन होगा।

अतिमानस दिव्य पुरुष एव दिव्य प्रकृतिकी शाश्वत वास्तवता है। अपने स्व-लोकमे वह अस्तित्वमे है ही और सदा ही होता है और उसे अपनी सत्ताका स्वधर्म अधिकृत रहता है, अतिमानसका सृजन नही करना है, उसका जडके अदरकी सवृति-मेंसे या अनस्तित्वमेसे अस्तित्वमे उन्मज्जन या क्रमविकास नही होना है जब कि मनकी दृष्टिको उसके बारेमे ऐसा लग सकता है, क्योकि स्वय मनके बारेमे मनकी दृष्टिको ऐसा लगता है कि उसका प्राण और जडमेसे इस प्रकार उन्मज्जन हुआ है या प्राण और जडके अन्दरकी सवृतिमेसे उसका क्रमविकास हुआ है। अतिमानसका स्वरूप सदा एकसा रहा है, वह वह ज्ञानमयी सत्ता है जो एक सत्यसे दूसरे सत्यकी ओर बढती है, सृष्टि करती है, बल्कि जिसे अभिव्यक्त करना है उसे अभिव्यक्त करती है और ऐसा वह करती है पहलेसे विद्यमान ज्ञानकी शक्तिसे, सायोगिक रूपमे नही अपितु स्वय सत्ताके अन्दर एक स्वयम्भू नियतिसे, स्वय उस वस्तुकी आवश्यकतासे जो इस नाते अवश्यम्भावी होती है। उसकी दिव्य जीवनकी अभिव्यक्ति भी अवश्यम्भावी होगी,

उमके अपने स्तरपर उसका अपना जीवन दिव्य है और यदि अतिमानस पृथ्वीपर उतर आय तो वह दिव्य जीवनको अवश्य ही अपने माथ लायगा और यहाँ स्थापित करेगा।

अतिमानम मन, प्राण तथा जडमे परेके अस्तित्वकी कोटि है और जैसे मन, प्राण तथा जड पृथ्वीपर अभिव्यक्त हुए है, वैसे ही वस्तुओके अवश्यम्भावी दौरानमे अतिमानसको भी जडके इस जगत्मे अभिव्यक्त होना ही चाहिये। वस्तुत एक अतिमानस यहाँ है ही, किन्तु वह सवृत है, इस व्यक्त मन, प्राण और जडके पीछे छिपा हुआ है और अभीतक खुलेमे या अपने स्वबलमे कार्य नही कर रहा है, यदि वह कार्य करता है तो इन निम्ननर शक्तियो द्वारा ही और उनके गुणोसे परिवर्तित होकर, फलत वह अभीतक पहचानमे नही आता। वह अवतरित होते अतिमानसके आगमन और पहुँचसे ही पृथ्वीपर मुक्त हो सकता और अपने-आपको हमारे भौतिक, प्राणिक और मानसिक अगोमे प्रकट कर सकता है जिससे कि ये निम्नतर शक्तियाँ हमारी समूची सत्ताकी ममग्र दिव्यभावापन्न क्रियाके अश हो जा सके यही वह चीज है जो हमारे लिये ससिद्ध दिव्यता या दिव्य जीवनको लायगी। वस्तुत जडमे सवृत प्राण और मनने अपने-आपको यहाँ इसी तरहसे ससिद्ध किया है, कारण, जो सवृत है केवल वही उन्मिषित हो सकता है नही तो कोई उन्मज्जन नही होता।

अतएव अतिमानसिक ऋत-चित्की अभिव्यक्ति वह प्रधान सद्वस्तु है जो दिव्य जीवनको सम्भव वनायगी। दिव्य जीवन तो तभी पूरा और पूर्ण होगा जवकि विचार, आवेग और कर्मकी सारी गतिविधि स्वयम्भू और ज्योतिर्मय-स्वयक्रिय सत्य-चेतनासे शासित और निदेशित होगी और हमारी समूची प्रकृति उससे सघटित और उसके उपादानसे बनी होगी। अभी भी, वस्तुओके प्रकट रूपमे तो नही, किन्तु सत्यत, एक निगूढ स्वयम्भू ज्ञान और सत्य ही यहाँ सृष्टिमे अभिव्यक्त होनेके लिये क्रियारत है। भगवान् हममे अन्त स्थ है ही, स्वय हम अपनी अन्तरतम सत्यतामे वही हैं और हमे इसी सत्यताको अभिव्यक्त करना है, दिव्य जीवनकी प्रेरणा इसीसे वनती है और इसीसे इस भौतिक अस्तित्वमे भी दिव्य जीवनका सृजन अनिवार्य हो जाता है।

अत अतिमानस और उसकी सत्यचेतनाका आविर्भाव अवश्यम्भावी है, जल्दी हो या देरीसे, वह इस जगत्मे घटित होगा ही। किन्तु उसके दो पहलू हैं, ऊपरसे आवरोहण और नीचेसे आरोहण, आध्यात्मपुरुपका आत्म-प्राकट्य और प्रकृतिमे क्रमविकास। आरोहण अवश्य ही प्रकृतिका प्रयत्न, प्रकृतिकी क्रिया है, प्रकृतिकी ओरसे अपने निम्नतर अगोको क्रमवैकासिक या क्रान्तिकारी परिवर्तन, धर्मान्तरण या रूपान्तरण द्वारा दिव्य सद्वस्तुमे ऊपर उठानेकी प्रवृति या प्रेरणा है और ऐसा किसी प्रक्रिया और प्रगति द्वारा या तेज चमत्कार द्वारा घटित हो सकता है। अध्यात्म-सत्ताका

अवरोहण या आत्म-प्राकट्य ऊर्ध्वसे परम सद्वस्तुका कार्य है जो कि सिद्धिको सम्भव बनाता है और वह या तो उस प्रगति और प्रक्रियाकी परिपूर्तिको लानेवाली दिव्य सहायताके रूपमे या चमत्कारके अनुमोदनके रूपमे प्रगट हो सकता है। क्रमविकास हमे इस जगत्मे जैसा दिखाई देता है वह धीमी और कठिन प्रक्रिया है और, वस्तुत, स्थायी परिणामोकी प्राप्तिके लिए उसे युग-युगकी आवश्यकता होती है, किन्तु इसका कारण यह है कि वह प्रकृत्या निश्चेतन आरम्भोमेसे उन्मज्जन है, निर्ज्ञानसे आरम्भ है और एक ऐसी क्रिया है जो प्राकृतिक सत्ताओके अज्ञानमे और अचेतन शक्ति जैसी लगती चीजके द्वारा होती है। इसके विपरीत, एक ऐसा क्रमविकास हो सकता है जो अन्धकारमे न होकर आलोकमे होगा और जिसमे विकसित होती सत्ता चेतन भागीदार और सह-योगिनी होगी, और ठीक उसे ही यहाँ घटित होना चाहिये। अज्ञानसे ज्ञानकी ओरके प्रयत्न और प्रगतिमे भी प्रकृतिकी ऊँचाइयोपर इसे ही, यदि पूरी तरह नही तो अशतया ही, करणीय प्रयास होना चाहिए, और आध्यात्मिक परिवर्तन, सिद्धि, रूपान्तरकी ओर अन्तिम गतिधारामे इस प्रयासको पूरा ही ऐसा होना चाहिये। ऐसा तो तब और भी होना चाहिये जबकि ज्ञान और अज्ञानकी विभाजिका रेखाके पार सक्रमण होता है और क्रमविकास होता है ज्ञानसे महत्तर ज्ञानकी ओर, चेतनासे महत्तर चेतनाकी ओर, सत्तासे महत्तर सत्ताकी ओर। तब साधारण क्रमविकासकी धीमी चालकी आवश्यकता नही रह जाती, धर्मान्तिरण तेजीसे हो सकता है, रूपान्तरपर रूपान्तर जल्दी-जल्दी हो सकता है, हमारे सामान्य वर्त्तमान मनको चमत्कारोका ताँता लगनेवाली चीजे घटित हो सकती हैं। अतिमानसिक स्तरोपर होनेवाला क्रमविकास ऐसे स्वरूपवाला भली-भाति हो सकता है, समान रूपसे, यदि सत्ता ऐसा चाहे तो, वह वस्तुओकी किसी एक अतिमानसिक स्थिति या अवस्थाका एक स्तरसे दिव्य स्तरकी ओर, किसी परेकी वस्तु किन्तु फिर भी अतिमानसिक रहती वस्तुकी ओर अत्वरित गमन हो सकता है, वह दिव्य श्रेणियोका निर्माण हो सकता है, परम अतिमानसकी ओर या उससे भी परे सच्चिदानन्दके स्वप्नातीत स्तरोकी ओर निर्बाध वर्द्धन हो सकता है।

अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानसकी सत्य-चेतना अपने-आपमे एक और समग्र है जन ज्ञानका परिसीमन होता है या आशिक आविर्भाव-जैसी दीखनेवाली बात होती है तब भी ऐसा स्वैच्छिक ही होता है, वह परिसीमन किसी प्रकारके अज्ञानसे नही होता, उसका परिणाम भी किसी प्रकारका अज्ञान नही होता, वह ज्ञानका निषेध या रोक रखे जाना नही, कारण, सत्यका बाकी सारा भाग जिसे व्यक्त नही किया गया है वहाँ अन्तर्निहित है। सबसे बडी बात यह है कि वहाँ परस्पर-विरोध नही है मनको जो भी चीजे परस्पर-विरोधिनी लगेगी वहाँ वे अपने-आपमे सही सम्बन्ध और मेलजोल

लिये रहती हैं, यदि वस्तुत किसी मेलकी आवश्यकता हो ही, क्योंकि इन प्रतीयमान विरोधियोका सामजस्य वहाँ सम्पूर्ण है। मन व्यक्तिक और निर्व्यक्तिकको एक दूसरेके सामने मानो दो विपरीतोकी तरह खडा करनेको प्रवण रहता है, किन्तु अतिमानस उन्हे, नीचेसे नीचे भी, एक ही सद्वस्तुकी सहपूरिका और परस्पर-पूर्तिकारिणी शक्तियोके रूपमे और, अधिक स्वभावतया, इस रूपमे देखता और अनुभूत करता है कि वे परस्पर-सलयित और अविच्छेद्य हैं और स्वय भी वही अद्वय सद्वस्तु हैं। व्यक्तिका अपनी निर्व्यक्तिकताका पहलू है जो उससे अविच्छेद्य है और जिसके विना वह वह नही हो सकता था जो कि वह अभी है, न वह अपना पूरा स्वरूप पा सकता था निर्व्यक्तिक अपनी सत्यतामे सत्की स्थिति, चेतनाकी स्थिति और आनन्दकी स्थिति नही, अपितु वह स्वयम्भू सत् है जो अपने प्रति चेतन है, अपने ही स्वयम्भू आनन्दसे परिपूर्ण है, आनन्द जिसकी सत्ताकी धातु ही है, अत वह अद्वय एव असीम्य पुरुष है। अतिमानसमे सान्त अनन्तको खडित या सीमित नही करता, अपने-आपको अनन्तकी विपरीतताके रूपमे अनुभव नही करता, बल्कि वह तो अपने स्वानन्त्यका ही अनुभव करता है सापेक्ष और कालिक शाश्वतताका प्रत्याख्यान नही, अपितु उसके पहलुओका सही सम्बन्ध है, शाश्वतका सहज गुण या अनश्वर लक्षण है। वहाँ काल विस्तरणगत शाश्वत है और शाश्वतका अनुभव क्षणिकके अन्दर किया जा सकता है। अत अखड भगवान् अतिमानसमे हैं और उसकी अस्तित्व-रीतिके समर्थनमे भ्रमवाद या आत्मविरोधिनी मायाके सिद्धान्तको घुसेडनेकी आवश्यकता नही। अव यह स्पष्ट होगा कि अपने-आपको या अपनी सत्यताको पानेके लिये भगवान्के लिये जीवनसे पलायन करना आवश्यक नही, वह तो उसे चाहे विश्वजीवनमे, चाहे उसके विश्वातीत अस्तित्वमे, सदा ही आयत्त है। दिव्य जीवन भगवान् या परम सद्वस्तुका खण्डन नहीं हो सकता, वह उसी सद्वस्तुका अग है, उसीका एक पहलू या प्राकट्य है, वह अन्य कुछ हो भी नही सकता। अतिमानसिक स्तरपर जीवनमे पूरे भगवान् अधिकारमे रहते हैं, और जब अतिमानस पृथ्वीपर उतरेगा, वह भगवान्को अपने साथ लायगा ही और उस पूरे अधिकारको यहाँ सम्भव करेगा।

जो लोग दिव्य जीवनमे प्रवेश करते और उसे आयत्त करते हैं उन्हे वह जीवन सत्य-चेतना और उसकी अन्तर्वस्तुओंपर बढता हुआ और अन्तमे पूरा आधिपत्य दे देगा, वह अपने साथ आत्म-स्थ भगवान् और प्रकृति-स्थ भगवान्की उपलब्धि लायगा। ईश्वरको खोजनेवाला जो कुछ भी खोजता है उसकी पूर्ति, वह ज्यो-ज्यो आध्यात्मिक पूर्णताकी ओर बढता है, उसकी अध्यात्म-सत्तामे और उसके जीवनमे होगी। उसे विश्वातीत सद्वस्तुका बोध होगा, उसे आत्मानुभूतिमे परम सत्-चित्-आनन्द आयत्त

होगा, वह सच्चिदानन्दके साथ एक होगा। वह विश्वपुरुष एव विश्वप्रकृतिके साथ एक हो जायगा वह जगत्को अपने अन्दर, अपनी विश्वचेतनाके अन्दर समाविष्ट करेगा और अपनेको सकल भूतोके साथ एक अनुभव करेगा, वह अपने-आपको सबके अन्दर और सबको अपने अन्दर देखेगा, जो आत्मा सकल भूत हो गया है उससे वह सयुक्त और एकात्म हो जायगा। उसे सर्वसुन्दरका सौन्दर्य और सर्वाद्भुतका चमत्कार प्रत्यक्ष होगा, वह अन्तमे ब्रह्मानन्दमे प्रवेश करेगा और उसमे स्थायी रूपसे निवाम करेगा और इम सबके लिये उसे जीवनका परित्याग नही करना होगा, किसी आत्म-निर्वापणकारी निर्वाणमे आध्यात्मिक व्यक्तिके विनाशमे डुबकी नही लगानी होगी। वह भगवान्को जैसे आत्मामे वैसेही प्रकृतिमे उपलब्ध कर सकता है। भगवान्की प्रकृति है ज्योति, शक्ति एव आनन्द, दिव्य ज्योति, शक्ति एव आनन्दको वह अपने ऊपर और अपने अन्दर उतरते, अपनी प्रकृतिके धागे-धागेको, अपनी सत्ताके हर कोषाणु और परमाणुको भरते, अपने अन्तरात्मा, मन प्राण तथा शरीरको प्लावित करते, अपने-आपको असीम्य सागरकी तरह घेरते और जगत्को भरते, अपनी सारी भावना, इन्द्रियबोध और अनुभवको परिप्लुत करते, अपने सारे जीवनको सत्यत और शुद्धत दिव्य बनाते अनुभव कर सकता है। यह और वे अन्य सारी चीजे जिन्हे आध्यात्मिक चेतना उसके लिये ला सकती है, उसे दिव्य जीवनसे तब मिल जायँगी जब वह जीवन अपनी अधिकतम सम्पूर्णता और पूर्णतापर पहुँचेगा और अतिमानसिक सत्य-चेतना उसके सारे अगोमे परिपूरित हो जायगी, परन्तु ऐसा होनेके पहले भी यदि अतिमानस उसपर उतर आय और उसके जीवनका निदेशन हाथमे ले ले तो वह इस सबके किसी अशकी प्राप्ति कर सकता, उसमे वर्द्धित हो सकता, उसमे रह सकता है। भगवान्के साथके सारे सम्बन्ध उसके होगे, ईश्वरज्ञान, दिव्य कर्म एव ईश्वर-भक्तिकी त्रिवेणी उसके अन्दर खुलेगी और उसकी समूची सत्ता तथा प्रकृतिकी पूर्ण आत्मदेन और समर्पणकी ओर बढेगी। वह ईश्वरमे और ईश्वरके साथ रहेगा, ईश्वर-को अधिकृत करेगा, जैसा कहा जाता है, सारे पृथक् व्यक्तित्वको भूल जाकर, किन्तु उसे आत्म-निर्वापणमे खोए बिना ईश्वरमे डूब भी जायगा। ईश्वरप्रेम और सारा प्रेममाधुर्य उसके रहेगे, सस्पर्शका आनन्द, साथ ही एकत्वका आनन्द और एकत्वमे भिन्नताका आनन्द भी। अनन्तके अनुभवके अनन्त क्षेत्र उसके होगे, अनन्तके आलिंगन-मे सान्तका हर्ष भी उसका होगा।

अतिमानसका अवरोहण उसे ग्रहण करनेवालो और सत्य-चेतनामे ससिद्ध होनेवालोके लिये दिव्य जीवनकी सारी सम्भावनाओको लायगा। वह केवल उस समूचे विशिष्ट अनुभवको ही नही लेगा जिसे हम अभी आध्यात्मिक जीवनकी, वस्तु

मानते है, अपितु उस सबको भी लेगा जिसे हम अभी उस श्रेणीसे बाहर कर देते है किन्तु जो दिव्यीकरणके लिये समर्थ है, पृथ्वी-प्रकृति और पृथ्वी-जीवनकी ऐसी किसी भी चीजको उससे बाहर नही रखा जायगा जिसे अतिमानसके स्पर्शसे रूपान्तरित किया जा सकता और अध्यात्मके अभिव्यक्त जीवनमे ऊपर उठा लिया जा सकता हो। कारण, पृथ्वीपर दिव्य जीवनका कोई अलग चीज होना, ऐसी ऐकान्तिक चीज होना जरूरी नही जिसका कि सामान्य पार्थिव अस्तित्वसे सम्बन्ध न हो वह मानव-प्राणी और मानव-जीवनको लेगा, जिसे रूपान्तरित किया जा सकता है उसे रूपान्तरित करेगा, जिसका भी आध्यात्मीकरण किया जा सकता है उसका आध्यात्मीकरण करेगा, बाकीपर अपना प्रभाव डालेगा और एक मूलगत या उन्नायक परिवर्तन सम्पादित करेगा, विश्वसत्ता और व्यष्टिसत्ताके बीच गभीरतर सयोग लायगा, आदर्शको, जो कि आध्यात्मिक सत्यकी ज्योतिर्मयी छाया है, आध्यात्मिक सत्यसे भर डालेगा और एक महत्तर तथा उच्चतर जीवनमे या उसकी ओर उत्थानमे सहायता देगा। वह मनको विचार तथा इच्छाके अधिक दिव्य आलोककी ओर, प्राणको अधिक गभीर सच्चे भावावेग और क्रियाकी ओर, अपनी विशालतर शक्तिकी ओर, उच्च लक्ष्यो और हेतुओकी ओर उठायगा। जिस किसीको भी अवतक उसकी सत्ताके पूरे स्व-सत्यमे नही उठाया जा सकता उसे वह उस पूरेपनके अधिक पास लायगा, जो कुछ उस परिवर्तनके लिये तैयार नही है उसे भी, जब कभी उसके वर्त्तमानके अधूरे क्रमविकासने उसे आत्मपूर्तिके लिये तैयार कर दिया होगा, वह सम्भावना खुलती दिखाई देगी। यदि शरीर अतिमानसका स्पर्श सह सके तो वह भी अपने स्व-सत्यसे अधिक अवगत होगा,—कारण, एक शरीर-चेतना है जिसका एक अपना सहजप्रवृत्तिगत सत्य होता है, सही अवस्था और क्रियाका सामर्थ्य होता है, उसके कोषाणुओ और ऊतकोके सघटन-मे एक प्रकारका अत्यन्त गुह्य ज्ञान भी होता है जो किसी दिन चेतन हो जा सकता और शारीरिक सत्ताके रूपान्तरमे सहायक हो सकता है। पृथ्वी-प्रकृति और पृथ्वी-चेतनामे एक जागृति आनी ही चाहिये जो एक नूतन और अधिक दिव्य जगत्-व्यवस्थाकी ओर उसके क्रमविकासका यदि वास्तविक आरम्भ नही भी, तो भी कमसे कम, उसकी प्रभाविणी तैयारी और पहले डग होगी।

यह होगी दिव्य जीवनकी पूर्ति जिसे अतिमानसका अवरोहण और जीवकी समूची प्रकृतिको हस्तगत करता सत्य-चैतन्य उन सबमे लायगा जो उसके बल या प्रभावकी ओर खुल सकेंगे। जो समर्थ हैं उन सबपर इसका पहला अव्यवहित प्रभाव यह होगा कि सत्य-चैतन्यमे प्रविष्ट होने और प्रकृतिकी सारी गतिविधिको अधिकाधिक अतिमानसिक सत्यमे, कर्मगत सत्यमे, सारी सत्ताकी, शरीरकी भी सच्ची अवस्थाओमे

परिणत करनेकी, अन्तत रूपान्तरकी, दिव्य बनानेवाले परिवर्तनकी सम्भावना होगी। इस प्रकार खुल सकने और खुले रह सकनेवालोके लिये इस विकासकी कोई सीमा नही होगी, कोई मूलभूत कठिनाई भी नही होगी, कारण, मन, प्राण-शक्ति तथा देहमे ऊपरसे प्रवाहित होती आती अतिमानसिक ज्योति एव शक्तिके दबावसे सारी कठिनाइयाँ घुल जायेंगी। किन्तु यह आवश्यक नही कि अतिमानसिक अवरोहणका परिणाम इस प्रकार पूरा खुल सकनेवालोतक ही सीमित रहे, यह आवश्यक नही कि वह अति-मानसिक परिवर्तनतक सीमित रहे, मनोमयी प्रकृतिके मुक्त और पूर्णीकृत दायरेमे मनोमयी सत्ताका एक लघु या गौण रूपान्तर भी हो सकेगा। अभीका मानवीय मन सीमित मन है, अपूर्ण है, उसमे हर क्षण सत्य-धारासे सब प्रकारके विचलनकी, सत्यके छूट जानेकी, सब प्रकारकी भूल-भ्रान्तियोकी सम्भावना रहती है, प्रकृतिके सम्पूर्ण मिथ्यात्व और विकृतिके फुसलावोकी ओर भी वह खुला होता है, वह अन्धा बना दिया गया, निश्चेतना और अज्ञानकी ओर नीचे खीच दिया गया मन है, वह अज्ञानतक मुश्किलसे पहुँचता है, वह वह बुद्धि है जो उच्चतर ज्ञानकी व्याख्या अमूर्तताओ और परोक्ष आकृतियोमे करनेकी ओर प्रवण रहती है, उच्चतर सबोधिके सन्देशोको भी अनिश्चित और विवादग्रस्त पकडसे ही हस्तगत करती और धरे रखती है, उसके स्थानपर आविर्भाव हो सकता है सच्चे मनका जो कि मुक्त कर दिया गया होगा और जो अपनी और अपने उपकरणोकी निर्बन्ध और अधिकतम पूर्णताके लिए समर्थ होगा, मुक्त और आलोकित मन द्वारा शासित प्राणका, ज्योतिके प्रति सवेदनशील शरीरका जो कि मुक्त मन तथा इच्छाकी उससे की जानेवाली सारी माँगोका पालन कर सकेगा। यह परिवर्तन केवल कुछ लोगोमे ही न होकर जातिमे विस्तृत और सर्वव्यापक हो जा सकता है। यदि यह सम्भावना पूरी हो जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि मानवका पूर्णताका स्वप्न, अपनी पूर्णता, अपनी शुद्धीकृत और प्रबुद्ध प्रकृतिकी पूर्णता, अपने कर्म और जीवनकी सारी धाराओकी पूर्णताका स्वप्न, स्वप्न नही रह जायगा अपितु वह ऐसा सत्य हो जायगा जिसे वास्तविक किया जा सकेगा, और मानवताको निश्चेतना और अज्ञानके अधिपत्यमेसे उठा लिया जा सकेगा। मनोमय जीवके जीवनको अति-मानसके जीवनमे समजस किया जा सकेगा जो तब उसके ऊपर सबसे ऊँची व्यवस्था होगा और वह सत्य-चैतन्यकी विस्तृति और सलग्न भूमि, दिव्य जीवनका अग और प्रान्त भी हो जायगा। यह स्पष्ट है कि यदि अतिमानस है और अतिमानसिक सत्ताकी व्यवस्थाको पृथ्वी-प्रकृतिमे वैसे ही प्रधान तत्त्वके रूपमे स्थापित किया जा रहा है जैसे कि मन अभी प्रधान तत्त्व है, किन्तु इसके अलावा उसके साथ निश्चिति है, पार्थिव अस्तित्वपर एक पूरा शासन है, सबको उनके स्तरपर और उनकी स्वाभाविक सीमाओ-

मे रूपान्तरित करनेका सामर्थ्य है जो कि अभी मनको उसकी अपूर्णतामे प्राप्त नही है, तो मानव-जीवनका एक विपुल परिवर्त्तन अवश्यम्भावी होगा, भले ही वह रूपान्तरतक विस्तृत नही हो।

अव यह विचार करनेको वाकी रह जाता है कि इस सम्भावनाकी राहमे वाधाएँ क्या-क्या हो सकती हैं, विशेषत वे वाधाएँ जो कि पृथ्वी-व्यवस्थाकी प्रकृतिसे और उसके इस क्रियारूपके कारण मिलती हैं कि वह श्रेणीवद्ध क्रमविकासका क्षेत्र है जिसमे हमारी मानवजाति एक पर्व है और,जैसा कि तर्क किया जा सकता है, उसकी अपूर्णता क्रमवैकासिक आवश्यकता ही है। श्रेणीक्रमके सिद्धान्तका आदर रखकर अतिमानस इस कठिनाईको अपनी विद्यमानतासे और वस्तुओपर अपने शासनसे कहाँ तक पार कर सकेगा या करेगा और वह अज्ञान तथा निश्चेतना द्वारा आरोपित गलत और अज्ञानमयी व्यवस्थाको ठीक कर सकेगा या नहीं और उसके वदले ऐसा सही श्रेणीक्रम स्थापित कर सकेगा या नही जिसमे पूर्णता और दिव्यीकरण सम्भव होगे ? अवश्य ही व्यक्तिके लिये राह खुली होगी, मनुष्योकी जो कोई भी गोष्ठी सयुक्त प्रयास करती हुई पूर्ण और वैयक्तिक सामूहिक जीवनकी अभीप्सु होगी या दिव्य जीवनकी अभीप्सा करेगी, उसे अपनी अभीप्साके लिये सहायता मिलेगी कमसे कम इसे तो अतिमानस अपना न्यूनसे न्यून परिणाम वनायगा। परन्तु इससे महत्तर सम्भावना भी है और वह सारी मानवजातिको दी जा सकती है। अत हमे इस प्रश्नपर विचार करना है कि अतिमानसके अवरोहणका मानवजातिके लिये क्या अर्थ होगा। मानवजातिके समूचे जीवन और क्रमवैकासिक भविष्य और नियतिके लिये उसका क्या परिणाम होगा, उसमे क्या आशा होगी ?

अतिमानस और मानवजाति

अत हमारे पार्थिव अस्तित्वमे अतिमानसके उतर आनेका मानवजातिके लिए क्या परिणाम होगा? अज्ञान और निश्चेतनाके जगत्मे जन्म लेनेवाली इस जातिके लिए जो कि अपनी चेतनाके ऊर्ध्वमुख क्रमविकासके लिए और आध्यात्मिक पुरुष एव आध्यात्मिक प्रकृतिकी ज्योति, शक्ति एव आनन्दमे आरोहणके लिए समर्थ है, उसका क्या परिणाम होगा? अतिमानस-जैसी परम सर्जनशक्ति और उसकी सत्य-चेतनाका पृथ्वी-जीवनमे उतर आना उस जीवनमे केवल कोई ऐसा नया गुण या जोडा हुआ तत्त्व या उसके अग्रभागमे रखा गया ऐसा कुछ ही नही हो सकता जिसका और कोई महत्त्व न हो या केवल कोई सीमित महत्त्व हो, जिसका कि वाकी पृथ्वी-प्रकृतिपर गहरे प्रभाव डालनेवाला परिणाम न हो। जिस भौतिक जगत्मे हस्तक्षेप करनेको यह शक्ति उतरी होगी उसपर इसका यदि और कोई प्रधान परिणाम न भी हो तो भी, खासकर, वह समूची मानवजातिपर एक विपुल प्रभाव डालेगी ही, उसके यहाँके जीवन-के वर्तमान और भावी दृश्यमे आमूल परिवर्तन भी लायगी ही। यह निष्कर्ष निकलता ही है कि उसका प्रभाव, इसके द्वारा होनेवाला परिवर्तन दूर तक जायगा, विपुल भी होगा · वह पृथ्वीपर अतिमानसको और जीवोकी अतिमानसिक जातिको स्थापित ही नही करेगा, वह स्वय मनमे और अवश्यम्भावी परिणामके रूपमे मनोमय प्राणी मनुष्यकी चेतनामे एक उन्नायक और रूपान्तरकारी परिवर्तन ला सकेगा और समान रूपसे उसके जीवनके तत्त्वो और रूपोमे, उसकी क्रियारीतियोमे और उसके जीवनकी समूची रचना और चालढालमे आमूल और रूपान्तरकारी परिवर्तन लायगा। मनुष्यके लिए वह अवश्य ही अतिमानमिक चेतना और अतिमानसिक जीवनकी राह खोल देगा, कारण, हमे यह अनुमान करना ही होगा कि ऐसे रूपान्तरसे अतिमानसिक जीवोकी जाति वैसे ही सृष्ट होगी जैसे स्वय मानवजातिका उदय प्राथमिक पशु-अवस्थामेसे चेतनाके एक कम आमूल किन्तु फिर भी अनल्प उन्नयन और अभिवर्द्धन और शरीरके साधनविनियोग और उसकी अन्त स्थ और विकासमान् मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षमताओ और सामर्थ्योके धर्मान्तरणसे हुआ है। परन्तु किसी ऐसे पूरे रूपान्तरके विना भी, अभी हमे यहाँ ज्ञानको खोजनेवाले और केवल आशिक ज्ञानतक पहुँचने-वाले मूलभूत अज्ञानका जो तत्त्व दिखाई देता है, उसका स्थान ज्ञान-तत्त्व इतनी दूरीतक ले ले मकता है कि मानव-मन आलोककी, अपने-आपको प्राप्त करते ज्ञानकी शक्ति

हो जा सकेगा, तब वह आधी राहके अर्द्ध-आलोकका नागरिक या अज्ञानका दास और सेवक नही होगा, मिश्र ज्ञान और भ्रान्तिका सचारक नही होगा। मन अपने मूल उद्भवमे जैसा है, मनुष्यमे वह वैसा ही, अर्थात् अतिमानसकी एक गौण, सीमित और विशेष क्रिया, सत्यका पर्याप्त ज्योतिर्मय पात्र हो जा सकता है, और कमसे कम उसके कर्मोमे सारा मिथ्यात्व वन्द हो जा सकता है।

तुरन्त ही यह आपत्ति की जा सकती है कि यह वात सारी क्रमवैकासिक व्यवस्था और उसके सतुलनको वदल देगी और उसकी सम्पूर्णतामे एक ऐसा अन्तराल छोड देगी जिसका कोई उपचार नही मनुष्य और पशुके वीच ऐसी खाई होगी जिसपर पुल नही वाँधा जा सकता और पशुतासे दिव्यताकी ओर चेतनाकी प्रगतिमे उसपर होकर यात्रा करनेके लिए क्रमवैकासिक प्रेरणाके लिए राह नही होगी, कारण, प्रस्तावित रूपान्तरणमे एक प्रकारकी दिव्यता सन्निहित होगी। यह तर्क किया जा मकता है कि क्रमविकासकी सच्ची प्रक्रिया है वर्तमानकी व्यवस्थामे ही एक नये तत्त्व, कोटि या पर्वको जोड देना, न कि किसी पहलेसे स्थापित लक्षणमे कोई परिवर्तन लाना। मनुष्य अस्तित्वमे आया किन्तु पशु पशु ही रह गया और उसने अर्द्ध-मानवताकी ओर प्रगति नही की मनुष्यका साहचर्य या मनुष्यके द्वारा प्रशिक्षण पाकर घरेलू पशुओमे चेतना, सामर्थ्यो या अभ्यासोके जितने भी हल्के आपरिवर्तन उत्पन्न होते हैं वे पशु-वुद्धिके हल्के परिवर्तन भर हैं। पौधोका पशु-चेतनाकी ओर जाना या बुद्धिहीन जडका तनिक भी या अवचेतन या अर्द्ध-अवचेतन रूपसे अपने प्रति चेतन होना या प्रत्युत्तरशील या प्रतिक्रियाशील होना तो और भी कम हो सकता है। वैश्व व्यवस्थामे मूलगत विभेद रहते हैं और वे अपरिवर्तित ही रहेगे। परन्तु यह आपत्ति यह मान लेती है कि नयी मानवता सारीकी सारी एक ही स्तरकी होगी, लेकिन वस्तुत चेतनाकी ऐसी श्रेणियाँ भली भाँति हो सकती हैं जो उसके अल्पतम विकसित तत्त्वो और उन उच्चतर पशुओके वीचकी दूरीको पाट देगी जो अर्द्ध-मानवीय प्रकारमे भले ही नहीं चले जा सके फिर भी उच्चतर पशु-वुद्धिकी ओर प्रगति कर सकेगे कारण, कुछ परीक्षण यह दिखाते हैं कि वे सरासर अप्रगतिशील नही। ये श्रेणियाँ वर्तमान क्रमके अल्पतम विकसित मनुष्यो-की तरह सक्रमणमे काम आयेंगी. वे कोई इतना वडा अन्तराल नही छोडती जो कि विश्वकी क्रमवैकासिक व्यवस्थामे खलल डाले। वस्तुस्थितिमे जड़ और पौधोके वीच, पौधो और निम्नतर पशुओके वीच पशुओकी विभिन्न जातियोके वीच, विभिन्न श्रेणियोको विभक्त करनेवाली एक वडी छलाँग देखनेमे आ मकती है, साथ ही, उच्चतम पशु और मनुष्यके वीच जो सदाकी और काफी लम्वी छलाँग है वह तो है ही। अत क्रमवैकासिक व्यवस्थामे ऐसा अन्तराल नही होगा जिसका उपचार न हो, मानव-मन

और पशु-मनके बीच, मानव-प्राणीके नये प्रकार और पुराने पशु-स्तरके बीच ऐसी दूरी नही होगी जिसे कूदकर पार नही किया जा सके या जिसके कारण अधिकतम विकसित पशु-जीवकी नयी मानवताके अल्पतम विकसित प्रकारकी ओर यात्रामे कोई ऐसी खाई बन जाय जिसपर पुल नही बाँधा जा सके। जैसा कि अभी है, एक कूद, एक छलाँग तब भी होगी, किन्तु वह पशुता और दिव्यताके बीच, पशुमानससे अतिमानसतककी नही होगी उसके एक तटपर होगा ऊँचासे ऊँचा विकसित पशु-मन जो मानव-सम्भावनाओकी ओर मुड रहा होगा,—कारण इसके बिना पशुसे मनुष्यतककी यात्रा तै नही हो सकती,—और दूसरे तटपर होगा वह मानव-मन जो अपने उच्चतर किन्तु तबके अप्राप्त रहते सामर्थ्योकी उस समय पूरी उपलब्धिकी ओर तो नही, किन्तु उनकी सम्भावनाकी ओर जाग रहा होगा।

पृथ्वी-प्रकृतिमे अतिमानसके हस्तक्षेपका, परम सृजनात्मक सत्य-शक्तिके अवरोहणका एक परिणाम क्रमविकासके विधानमे, उसकी पद्धति और उसके आयोजन-मे परिवर्तनका होना खूब सम्भव है ज्ञानके द्वारा क्रमविकासके सिद्धान्तका विशालतर तत्त्व भौतिक विश्वकी शक्तियोमे प्रविष्ट हो जा सकता है। यह बात नूतन सृष्टिमे प्रथमारम्भकी अवस्थासे आगे बढ सकती है और उस व्यवस्थामे बढते प्रभाव उत्पन्न कर सकती है जो अभी पूरी ही अज्ञानमे होता क्रमविकास है और वस्तुत निश्चेतनके सम्पूर्ण निर्ज्ञानसे आरम्भ करती है और जिसे हम उसकी उच्चतम ज्ञानप्राप्तिमे भी अल्पतर अज्ञान ही कह सकते हैं, —क्योकि वह ज्ञानपर सीधे और पूरे अधिकारकी अपेक्षा उसका प्रतिरूपण ही अधिक है। यदि मनुष्य उच्चतर ज्ञानकी शक्तियो और साधनोको पूरेपन जैसी मात्रामे विकसित करना शुरू कर दे, यदि विकसित होता पशु अपनी मनोवृत्तिके द्वारोको चेतन विचारके आरम्भो और एक आरम्भिक युक्तिबुद्धि-की ओर खोल दे,—अपने उच्चतम बिन्दुपर वह अभी भी उससे इतनी असाध्य दूरी-पर नही है,—यदि पौधा अपनी प्रथम अवचेतन प्रतिक्रियाओको विकसित कर ले और किसी प्रकारकी प्राथमिक स्नायविक सवेदनशीलताको प्राप्त कर ले, यदि जड-तत्त्व, जो कि अध्यात्मतत्त्वका अन्धा रूप है, अपने अन्दर छिपी शक्तिसे अधिक जीवन्त हो जाय और वस्तुओके गुप्त अर्थको, उसने जिन गुह्य वास्तवताओको ढँक रखा है,—उदाहरणके लिए अतीतका वह लेखा जिसे वह अपनी मूल निश्चेतनामे सदा ही सरक्षित रखता है या उसकी अन्तर्गूढ शक्तियो और अदृश्य गतिविधिकी क्रिया जो कि नयी मानवीय बुद्धिके सूक्ष्मतर व्यापीकृत बोधके सामने भौतिक प्रकृतिमे प्रच्छन्न रहती शक्तियोको व्यक्त करती है,—उनको अधिक तत्परतासे देने लगे, तो यह एक विपुल परिवर्तन होगा जो भविष्यमे महत्तर परिवर्तनोका आश्वासन देता है, किन्तु इसका

अर्थ विश्वव्यवस्थाको भग करना नही, वरन् उसका उन्नयन ही होगा। क्रमविकास स्वय विकसित होगा, परन्तु वह विक्षुब्ध नही होगा, लढखडायगा नही।

अतिमानसिक सत्य-चेतनाके नेतृत्वमे स्वभाविक परिवर्तनके रूपमे मैने मानव-मनके जिस रूपान्तरकी बात कही है उसकी धारणा सिद्धान्तरूपमे करना या उसे व्यावहारिक वास्तवता मानना हमारे लिए कठिन है, क्योकि मनके बारेमे हमारी धारणाएँ मानव-मनोवृत्तिकी एक ऐसे जगत्की अनुभूतिमे जमी हुई है जो निश्चेतनासे आरम्भ करता है और एक प्रथम और लगभग पूरे निर्ज्ञान और एक धीरे-धीरे कम होते अज्ञानसे होकर एक उच्च कोटिकी ओर, किन्तु फिर भी अशत सज्जित ज्ञानके सदा अधूरे रहनेवाले दायरे और अपूर्ण रहनेवाली पद्धतिकी ओर ही बढता है जिससे उस चेतनाकी आवश्यकताएँ पूरी नही पडती जो सदा अपने फिर भी अमेय दूरीपर स्थित पूर्णपदकी ओर बढा करती है। इस लोकमे मनके क्रमविकासकी वर्तमान स्थितिमे उसकी जो अपूर्णताएँ और सीमाएँ दिखायी देती है उन्हे हम उसकी प्रकृतिका अग ही मान लेते हैं, किन्तु वास्तवता यह है कि वह जिन सीमारेखाओके बाडेमे अभी भी रह रहा है वे उसकी अभी भी अधूरी रहती क्रमवैकासिक प्रगतिकी अस्थायी सीमाएँ और माप ही हैं, उसकी पद्धतियाँ और साधनोकी त्रुटियाँ उसकी अपक्वताके दोष है, उसकी सत्ताके सघटनके धर्म नही, पार्थिव शरीरमे अपने उपकरणोसे दबे मानसिक जीवकी बाधक अवस्थाओके बीच मनने जो प्राप्ति की है वह असाधारण है, किन्तु उसके आलोकित भविष्यमे उसके लिए जो सम्भव होगा उससे यह प्राप्ति बहुत नीचे है, आगे नही। कारण, ऐसा नही है कि मन प्रकृत्या ही भूल-भ्रान्तियोका आविष्कारक हो, मिथ्यात्वके सामर्थ्यसे आबद्ध और भूल-भ्रान्तियोका जनक हो, अपनी ही गल्तियो-से सम्बद्ध हो और लडखडाते जीवनका नायक हो जैसा कि वह वर्तमानमे हमारी मानवीय त्रुटियोके कारण है अपने मूलमे वह ज्योति-तत्त्व है, अतिमानसमेसे व्यक्त किया गया उपकरण है, और यद्यपि वह सीमाओके अन्तर्गत कार्य करनेको और सीमाओकी सृष्टि भी करनेको नियोजित है तथापि वे सीमाएँ एक विशेष क्रियाके लिए ज्योतिर्मय सीमा-तट हैं, स्वैच्छिक और सोद्देश्य परिसीमन हैं, अनन्तताकी आँखोके नीचे नित्य विस्तरण-शील सान्तकी सेवा है। मनका यही स्वरूप अनिमानसके स्पर्शसे प्रकट होगा और मानव-मनोवृत्तिको अतिमानसिक ज्ञानका अनुपगी और गौण उपकरण बना देगा। मनोबुद्धिसे सीमित न रह जाते मनके लिए यह सम्भव होगा कि वह एक प्रकारके मानसिक विज्ञानके लिए, एक क्षीण क्रियामे सत्यके ज्योतिर्मय प्रत्युत्पादनके लिए समर्थ हो जाय जो कि ज्योतिकी शक्तिको केवल अपने ही स्तरतक नही, स्वातिक्रमणकी ओर उनकी चढाईमे चेतनाके निम्नतर स्तरोतक भी विस्तृत कर रहा होगा। अधिमानस, सबोधि,

आलोकित मन और वह मन जिसे मैने उच्चतर मन कहा है और आध्यात्मीकृत तथा विमुक्त मनके अन्य स्तर ऊपर उठाए गए मानव-मन और उसकी शोधित और उन्नीत भावना, प्राणशक्ति और क्रियामे अपनी शक्तियोका कुछ अश प्रतिविम्वित कर सकेगे और अपने पठारो और आरोही अस्तित्वकी चोटियोकी ओर जीवके आरोहणकी तैयारी कर मकेगे। मूलत यही वह परिवर्तन है जिमकी कल्पना हम नयी क्रमवैकामिक व्यवस्थाके परिणाम-रूपमे कर सकते हैं और इसका अर्थ होगा स्वय क्रमवैकामिक क्षेत्रका अनल्प विस्तरण, और पृथ्वी-प्रकृतिमे अतिमानसके आविर्भावका मानवजाति-पर क्या परिणाम होगा इम प्रश्नका उत्तर भी इसमे मिलेगा।

अतिमानससे अपने उद्‌गममे मन यदि अतिमानस-शक्ति ही है, ज्योति-तत्त्व या ज्योति-शक्ति या ज्ञानके लिए शक्ति है जो एक गौण उद्देश्यके लिए अपनी क्रियामे विशेपित है, तो भी, जव उस उद्देश्यके क्रियान्वनके लिए वह अपने-आपको अतिमानमिक ज्योतिसे, अतिमानसिक तत्त्वकी अव्यवहित शक्ति और अवलम्वदायिनी ज्योतिसे अधिकाधिक अलग कर लेता है तो वह एक भिन्न पहलू धारण कर लेता है। अपने उच्चतम स्वसत्यसे जव वह इस दिशामे अधिकाधिक निकल जाता है तभी वह अज्ञानका स्रष्टा या जनक हो जाता है और अज्ञान-जगत्‌मे उच्चतम शक्ति होता या प्रतीत होता है, स्वय वह अज्ञानाधीन हो जाता है और आशिक तथा अपूर्ण ज्ञानतक ही पहुँचता लगता है। इस अवनतिका कारण यह है कि अतिमानम इमका उपयोग प्रमुखत विभेदीकरणके कार्यके लिए करता है जो कि सृष्टि और विश्वके होनेके लिए आवश्यक है स्वय अतिमानसमे, उसकी सारी सृष्टिमे यह विभेदकारिणी शक्ति, एकमे वहुकी और वहुमे एककी अभिव्यक्ति है, परन्तु उस एकको उसके वहुत्वमे कभी भी भुला नही दिया जाता, वह उसमे खो नही जाता और वह वहुत्व सदा ही शाश्वत एकत्वपर चेतन रूपसे निर्भर करता है और कभी भी उसके सामने अग्रगण्य नही होता। इसके विपरीत, मनमे वह विभेदीकरण, वह वहुत्व, अग्रगण्य हो जाता है और वैश्व एकत्वका चेतन वोध खो जाता है और अलग हुई इकाई अपने लिए और अपने द्वारा पर्याप्त आत्म-चेतन पूर्णाकके रूपमे या निष्प्राण पदार्थोमे निश्चेतन पूर्णाकके रूपमे अस्तित्ववान् लगती है। तथापि यह ध्यानमे रखना चाहिए कि मनोमय जगत् या भूमिका अज्ञान-राज्य होना आवश्यक नही जिसमे मिथ्यात्व, भूल-भ्रान्ति या निर्ज्ञानका स्थान हो ही, हो सकता है कि वह ज्ञानका स्वैच्छिक आत्म-परिसीमन ही हो। वह एक ऐसा जगत् हो सकता है जिसमे मनके द्वारा निर्देश्य सारी सम्भावनाएँ कालानुक्रममे अभिव्यक्त हो सकेगी और अपनी क्रियाका सच्चा रूप और क्षेत्र, अपनी अभिव्यजिका आकृति, अपने आत्म-विकासका सामर्थ्य पा सकेगी, एक प्रकारकी आत्मोपलब्धि कर सकेगी,

आत्माविष्कार कर सकेगी। यही चीज हमे वस्तुत तव मिलती है जव हम चैत्यानुभव्मे उस अवरोहण-रेखाका पीछा करते हैं जिससे होकर सवृतिक्रम चलता है जिसका अन्त जडतत्त्वमे और जड़विश्वकी सृष्टिमे होता है। यहाँ हमे वे अवरोहण-भूमियाँ या जगत् नही दिखाई देते जिनमे मन और प्राण अपने सत्यका कोई अश, अध्यात्म-ज्योतिका कोई अश, अपनी सच्ची और प्रकृत सत्ताका कोई अश साथ रख सकते हो, यहाँ हमे दीखती हैं एक आद्य निश्चेतना, दीखता है प्राण, मन और अध्यात्मका भौतिक निश्चेतनामेसे क्रमविकासका सघर्ष और निश्चेतनाके परिणामी अज्ञानमे अपने-आपको पाने और अपने पूरे मामर्थ्य और उच्चतम सत्ताकी ओर वढनेका सघर्ष। यदि मन उस प्रयासमे सफल होता है तो इसका कोई कारण नही कि वह अपने सच्चे स्वरूपको पुन क्यो नही प्राप्त करे, एक वार फिर ज्योति-तत्त्व और ज्योति-शक्ति क्यो न हो जाय और अपने ही तरीकेसे सच्चे और सम्पूर्ण ज्ञानकी क्रियाओमे सहायता भी क्यो न दे। अपने उच्चतम विन्दुपर वह अपने परिसीमनोमेसे निकलकर अतिमानसिक सत्यमे चला जा सकता और अतिमानसिक ज्ञानका अग और क्रिया हो जा सकता या, कमसे कम, उस ज्ञानके मेलमे विभेदीकरणके गौण कार्यके काम आ मकता है अतिमानसके नीचे निम्नतर क्रममे वह मानसिक विज्ञान, आध्यात्मिक या आध्यात्मीकृत प्रत्यक्षण, भावना, क्रिया और सवेदन हो सकता है जो अज्ञानके नही, ज्ञानके कार्य कर सके। अविक नीचेके स्तरपर भी वह वर्द्धमान ज्योतिवाला मार्ग हो सकता है जो प्रकाशसे प्रकाशकी ओर, सत्यसे सत्यकी ओर ले जाता है और अर्द्ध-सत्य तथा अर्द्ध-निर्ज्ञानकी भूलभुलैयोमे चक्कर काटना नही रह जाता। ऐसा उस जगत्मे सम्भव नही होगा जिसमे अरूपान्तरित मन या मानवीय मन जिसके साथ उसकी वाधाकारिणी अक्षमताएँ होगी, अभीकी तरह, नेतापद पर रहेगा या क्रमविकासकी उच्चतम उपलब्धि होगा, परन्तु यदि अतिमानस प्रधान और प्रमुख शक्ति हो जाय तो ऐसा भलीभाँति हो सकता हैं, और ऐसा होना मानव-जगत्मे अतिमानसके उतर आनेका और मानवताके मनपर उसके स्पर्शका एक परिणाम और लगभग अवश्यम्भावी परिणाम ही माना जा सकता है।

ऐसा कहाँ तक होगा? क्या समूची मानवजाति इसका स्पर्श पायगी या कि उसका वह अश ही जो इसके लिए तैयार हो? यह इसपर निर्भर करेगा कि विश्वकी चालू व्यवस्थामे क्या अभिप्रेत या सम्भव है। यदि पुराने क्रमवैकासिक तत्त्व और व्यवस्थाको सरक्षित रखना ही है तो जातिका केवल एक भाग आगे वढेगा, वाकी लोग आरोही क्रममे पुराने मानवीय पद, स्तर और कार्यको कायम रखेंगे। परन्तु ऐसा होनेपर भी सत्ताके दो स्तरो या वर्गोके वीच मार्ग या पुल होना ही चाहिए जिससे होकर

क्रमविकास एकसे दूसरेतक जायगा, वहाँ मन अतिमानसिक सत्यसे सम्पर्क करने और उससे सशोधित होनेमे समर्थ होगा और इस प्रकार जीवकी ऊर्ध्वमुखी यात्राका साधन होगा मनकी कोई ऐसी स्थिति होनी ही चाहिए जिसमे अतिमानसतक पहुँचनेका तो नही, किन्तु उसकी ओर ज्योतिमे वर्द्धन और ग्रहणका सामर्थ्य हो उसके द्वारा, जैसा कि अभी भी अधिक निष्प्रभ माध्यम द्वारा कम मात्रामे होता है, एक महत्तर सत्यका तेज अज्ञानस्थ जीवकी मुक्ति और उत्थानके लिए अपनी किरणोको नीचे भेजेगा। अतिमानस यहाँ पर्देके पीछे छिपा है और अपनी विशिष्ट स्व-क्रियाके लिये सगठित नही रहकर भी यहाँकी सारी सृष्टिका सच्चा कारण है, सत्य एव ज्ञानके वर्द्धन और प्रच्छन्न सद्वस्तुकी ओर जीवके आरोहणके लिए शक्तिस्वरूप है। परन्तु जिस जगत्-मे अतिमानस प्रकट हो गया है वहाँ वह बाकीसे विलग पृथक् तत्त्वके रूपमे शायद ही होगा, उसके द्वारा अतिमानवका सृजन ही नही, मनुष्यका परिवर्तन और उत्थान भी अवश्यम्भावी होगा। मनोमय तत्त्वके जिस समग्र परिवर्तनका सकेत किया गया है उसे असम्भव कहकर हटा नही दिया जा सकता।

मनको हम जैसा जानते हैं उसकी चेतनाशक्ति अतिमानससे बिल्कुल भिन्न है, वह अतिमानससे नि सृत, उससे सम्बन्धित और उसपर आश्रित शक्ति नही, बल्कि व्यवहारत अपने ज्योतिर्मय उद्गमसे विच्छिन्न है, मनमे कुछ ऐसी विशिष्टताओके लक्षण है जिनके बारेमे हम यह धारणा कर लेते हैं कि वे उसकी प्रकृतिके ही लक्षण हैं परन्तु उनमेसे कुछ तो अतिमानसकी भी वस्तुएँ हैं और अन्तर होता है उनकी क्रिया-की रीति और प्रसारमे, न कि उनके वस्तुसत्त्व या तत्त्वमे। अन्तर यह है कि मन सम्पूर्ण ज्ञानकी शक्ति नही, और जब वह अपनेसे परे जाने लगता है केवल तभी प्रत्यक्ष ज्ञानकी शक्ति होता है वह सत्यकी किरणे तो पाता है किन्तु सूर्यमे रहता नही वह मानो शीशोके द्वारा देखता है और उसका ज्ञान उसके उपकरणोसे रगा जाता है, वह नगी आँखोसे नही देख सकता, सूर्यको सीधे नही देख सकता। पूर्ण ज्ञानके सौर्यकेन्द्रमे या उसकी जाज्वल्यमान् देहमे कही भी या उसके मण्डलकी चमकती परिधिपर कही भी अवस्थित होना और अपने अचूक या शुद्ध ज्ञानके विशेषाधिकारका अर्जन करना या उसमे भाग लेना मनके लिए सम्भव नही। अतिमानसकी ज्योतिके समीप खिच आनेपर ही वह कही अपनी किरणोकी पूरी श्रीसे युक्त इस सूर्यके समीप या सत्यकी पूरी और सीधी चमक जैसी चीजमे रह सकेगा, और मानव-मन अपने शीर्ष बिन्दुपर भी उससे दूर होता है, अधिकसे अधिक, शुद्ध अन्तर्दृष्टि और प्रत्यक्ष दर्शनके सीमित वृत या सकीर्ण आरम्भोमे ही रह सकता है और उसके लिए तो, अपने स्वातिक्रमणमे भी, उस सीमित सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिमत्ताके स्वप्नके अनुकरणात्मक और खण्ड

प्रतिविम्वतक पहुँचनेमे भी वहुत ममय लगेगा जो कि प्रातिनिधिक दिव्यत्वका, देवताका, सृष्टिकर्त्ताका विशेपाधिकार है। वह सृष्टि-शक्ति तो है, परन्तु वह या तो आजमायशी और अनिश्चित होती है और सौभाग्यसे या परिस्थितिकी अनुकूलतासे या नही तो व्यावहारिक योग्यता या प्रतिभाकी किसी शक्तिके अवलम्वसे ही सफलता पाती है, और उसमे त्रुटि रहती ही है, अनिवार्य सीमाओका घेरा रहता ही है। उसका उच्चतम ज्ञान प्राय अमूर्त्त होता है, ठोम पकड नही होती, उसे लक्ष्यके लिए तदवीरो और अनिश्चित साधनोका व्यवहार करना होता है, युक्ति, तर्क-वितर्क और वाद-विवादपर, अनुमान, कल्पना, निगमनिक या आगमनिक न्यायपद्धतिपर निर्भर करना होता है और उसे केवल तव सफलता मिलती है जव उसे सही और पूरी तथ्यसामग्री दे दी जाती है और तव भी यह सम्भावना रहती है कि वह उसी तथ्यसामग्रीके आधारपर अलग-अलग नतीजो और भिन्न-भिन्न परिणामोपर पहुँचे, उसे ऐसी पद्धतिके साधनो और नतीजोको स्वीकार करना होता है जो निश्चितताके दावेके लिए भी सुरक्षित नही और मनको प्रत्यक्ष या अतिवौद्धिक ज्ञान होनेपर आवश्यक भी नही होगी। इस वर्णनको आगे खीचना आवश्यक नहीं, यह सव हमारे पार्थिव अज्ञानकी प्रकृति ही है और उसकी छाया मुनि और ऋषिके विचार एव दर्शनपर भी लगी रहती है और उससे केवल तव वचा जा सकता है जव कि ऋत-चिन्मय अतिमानसिक ज्ञान अवतरित होवे और पृथ्वी-प्रकृतिके शासनको हाथमे ले ले।

तथापि इसे ध्यानमे रखना चाहिए कि सवृति-अवरोहणमे सवसे नीचे भी, जड-मे चेतनाके अन्धकारमय तिरोभावमे निश्चेतनकी क्रियाके क्षेत्रमे भी, एक अचूक शक्ति-के श्रमके, निगूढ चेतनाके प्रचालन और प्रेरणोके चिह्न मिलते है, मानो स्वय निश्चेतन ऐसी शक्ति द्वारा अनुगर्भित या प्रचालित है जो प्रत्यक्ष तथा पूर्ण ज्ञानसे युक्त है, उसकी सृष्टि-क्रियाएँ हमारी मानवीय चेतनाकी उत्तम क्रियाओ या प्राण-शक्तिकी सामान्य क्रियाओकी अपेक्षा अनन्तगुना अधिक निश्चित हैं। ऐसा जान पडता है कि जडमे, या वल्कि जडगत ऊर्जामे, अपना एक अधिक निश्चित ज्ञान, अधिक अचूक चालन है, और एक वार उसके यन्त्र-विन्यासको चालू कर दिया गया तो उससे अधिकाशमे अपने कार्यको सही-सही और अच्छी तरह करनेकी आशा की जा सकती है। यही कारण है कि मनुष्य भौतिक ऊर्जाको पकडकर अपने स्वोद्देश्योके लिए उसका यन्त्रा-योजन कर सकता और उसपर यह भरोसा कर सकता है कि वह सही अवस्थाओमे उसके लिए उसका कार्य करे। स्वय-स्रष्ट्री प्राणशक्ति जो कि अपने आविष्कार और कल्पनामे आश्चर्यजनक रूपसे प्रचुर है, फिर भी त्रुटि, विचलन और विफलताके लिए अधिक समर्थ जान पडती है, यह वात ऐसी है मानो उसकी महत्तर चेतना भूल करनेके

महत्तर सामर्थ्यको साथ रखती है। फिर भी वह अपनी क्रियाओमे सामान्यत काफी निश्चित होती है परन्तु चेतना जैसे-जैसे प्राणके रूपो और क्रियाओमे वर्द्धित होती है वैसे-वैसे विक्षोभ भी बढते हैं, मनका प्रवेश होनेपर तो ऐसा सबसे अधिक होता है, बात ऐसी है मानो चेतनाका वर्द्धन अपने साथ केवल अधिक समृद्ध सम्भावनाओको ही नही, ठोकर, भूल-भ्रान्ति, त्रुटि और विफलताकी अधिक सम्भावनाओको भी साथ लाता है। मनमे, मनुष्यमे, हम इस परस्पर–विरोधकी चोटीपर पहुँचने लगते हैं,—एक ओर चेतनाकी महत्तम, उच्चतम, विस्तीर्णतम पहुँच और उपलब्धियाँ, दूसरी ओर अनिश्चिति, त्रुटि, विफलता और भूल-भ्रान्तिका सबसे बडा परिमाण। इसके कारणके बारेमे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि हो सकता है कि निश्चेतन प्रकृतिमे क्रियाशील ऊर्जाका सत्य है जो अपने स्व-विधानके अनुसरणमे अचूक है, एक ऐसी ऊर्जा है जो आँखोपर पट्टी बाँधकर भी लडखडाए बिना चल सकती है, क्योकि यदि बाह्य हस्तक्षेप या दखल न हो तो उसके अन्दर सत्यका स्वयक्रिय विधान विचलन या भूलके बिना और निश्चित रूपमे कार्य करता है। परन्तु यह विधान जीवनकी उन सारी प्रक्रियाओमे होता है जो सामान्यतया स्वयक्रिय होती हैं शरीरका भी अपना अव्यक्त ज्ञान होता है, उसकी क्रियामे कुछ सीमाओके अन्तर्गत एक सही सहजप्रवृत्ति होती है, और जब प्राणकी कामनाओ और मनकी भूलोका हस्तक्षेप नही होता तब यह चीज एक विशेष परिशुद्धता और निश्चयात्मकतासे काम कर सकती है। परन्तु सत्य-चेतना पूरेपनके साथ तो अतिमानसमे ही होती है और यदि वह नीचे उतर आय और हस्तक्षेप करे तो मन, प्राण तथा शरीर भी अपने अन्दरके सत्यकी पूरी शक्तिको और उनकी पूर्णताकी सम्भावनाको प्राप्त कर सकते है। निस्सन्देह, ऐसा तुरन्त ही नही हो जायगा, किन्तु उसकी ओर एक क्रमवैकासिक वर्द्धन आरम्भ हो सकेगा और वह बढती तेजीसे अपनी पूर्तिकी ओर बढ सकेगा। सारे मानवगण उस पूर्तितक किसी बादके समयमे ही पहुँच सकेगे, परन्तु मानवीय मन फिर भी उस ज्योतिमे पूर्णताको प्राप्त कर ले सकेगा और एक नयी मानवता नूतन व्यवस्थाके अगके रूपमे अपना स्थान ले सकेगी।

हमे इसी सम्भावनाको जाँचना है। यदि इसकी पूर्ति दैवनिर्दिष्ट है, यदि मनुष्य-का सदा ही अज्ञानका दास बना रहना नही बदा है, तो हमने मानव-मनकी जिन अक्षमताओकी बात कही है वे ऐसी नही हैं कि वे असाध्य बनकर अधिकार रखे रहे और उनका बन्धन चिरस्थायी हो। वह उच्चतर साधनो और उपकरणोका विकास कर सकेगा, अज्ञानके अन्तिम तटोको पार करके उच्चतर ज्ञानमे चला जा सकेगा, इतना अधिक सबल हो जायगा कि पशु-प्रकृति उसे पीछेकी ओर नही खीच सकेगी।

एक मुक्त मन होगा जो अज्ञानमेसे छूटकर आलोकमे जा रहा होगा, अतिमानसके साथ अपनी सम्बद्धताको जानता होगा, अतिमानसका स्वाभाविक प्रतिनिधि होगा और अतिमानसिक प्रभावको सत्ताके नीचेके देशोमे उतार लानेमे समर्थ होगा, ज्योतिमे सृष्टि करनेवाला, गहराइयोमे आविष्कार करनेवाला और अन्धकारमे प्रकाश करनेवाला होगा, *शायद निश्चेतनको भी निगूढ अतिचेतनाकी रश्मियोसे अन्तर्विद्ध करनेमे* सहायक होगा। एक नया मनोमय जीव होगा जो अतिमानसकी दीप्तिमे प्रबुद्ध होकर खडा होनेमे ही समर्थ नही होगा, अपितु उसकी ओर और उसमे चेतन रूपसे चढ भी सकेगा, साथ ही वह प्राण और शरीरको अतिमानसिक ज्योति, शक्ति एव आनन्दके अगको प्रतिबिम्बित करने और घेरे रखनेके लिए शिक्षित करेगा, निगूढ दिव्यत्वको आत्म-प्राप्ति, आत्म-परिपूर्ति एव आत्म-स्थितिमे मुक्त करनेकी अभीप्सा करेगा, दिव्य चेतनाकी ओर आरोहणकी अभीप्सा करेगा, और वह अपने-आपको दिव्य जीवनके पात्रके रूपमे तैयार करता हुआ दिव्य आलोक एव शक्तिके अवतरणको ग्रहण एव सहन कर सकेगा।

13 1 1950

क्रमविकासमें अतिमानस

अत नयी मानवजाति पृथ्वीपर और पार्थिव शरीरमे मनोमय जीवोकी जाति होगी परन्तु वैश्व अज्ञानके राज्यमे अपनी वर्तमान अवस्थाओमेसे इतनी दूर मुक्त हो चुकी होगी कि उसका मन पूर्णीकृत मन होगा, ज्योतिर्मानस होगा जो कि अतिमानस या सत्य-चेतनाकी गौण क्रिया भी हो सकेगा और उस सत्यके गृहीता-रूपमे कार्य करते मनकी पूरी सम्भावनाओके लिए और, कमसे कम, विचार तथा जीवनमे उसकी द्वितीयक क्रियाके लिए समर्थ हो ही सकेगा। वह पृथ्वीपर दिव्य जीवन कहे जा सकनेवाले जीवनका अग भी और, कमसे कम, सम्पूर्ण या प्रधान रूपमे अज्ञानमे होते क्रमविकास-के स्थानपर ज्ञानगत क्रमविकासके आरम्भोका अग हो सकेगा। ऐसा कहाँ तक होगा, अन्तमे उसके आलिंगनमे सारी मानवजाति आ जायगी या मानवजातिका आगे बढा हुआ भाग ही, यह निर्भर करेगा स्वय क्रमविकासके अन्दरके अभिप्रायपर, विश्वकी गतिविधिको निर्देशित करनेवाली जो भी वैश्व या विश्वातीत इच्छा है उसके अन्दरके अभिप्रायपर। हमने यह माना है कि पृथ्वीपर अतिमानसका अवतरण तो होगा ही, वह एक अतिमानसिक जातिमे सदेह भी होगा जिसके सारे स्वाभाविक परिणाम उद्भूत होगे और एक नई समग्र क्रिया होगी जिसमे नयी मानवजातिको अपना पूरा विकास और नयी व्यवस्थामे अपना निश्चित स्थान मिलेगा।

परन्तु यह स्पष्ट है कि यह सब तो पृथ्वीपर अभी हो रहे क्रमविकासके अपनी वर्तमान सीमाओसे आगे दूर निकल जाने और एक ऐसी मूलत नयी गतिधारामे चले जानेके परिणामके रूपमे ही हो सकेगा जो एक नूतन-तत्त्वसे शासित होगी जिसमे मन और मनुष्य गौण तत्त्व हो जायेंगे और न तो मन परमोपलब्धि रह जायगा, न मनुष्य शीर्ष या नेता ही। वर्तमानमे हम अपने चारो ओर जिस क्रमविकासको देख रहे हैं वह उस प्रकारका नही है और ऐसा कहा जा सकता है, ऐसी सम्भावनाके चिह्न उसमे कम ही दीखते हैं, इतने कम कि मनोबुद्धिको जो कि वर्तमानमे हमारी एकमात्र निश्चित निर्देशिका है, इसमे विश्वास करनेके साहसका अधिकार नही। पृथ्वी, वह पृथ्वी जो हमे दीखती है और जिसका जीवन निश्चेतना और अज्ञानमे गहरा डूबा हुआ और अधिष्ठित है, ऐसे विकासके लिए नही बनी है, या ऐसे आविर्भावको धारण करने-के लिए समर्थ नही है, उसकी भौतिकता और सीमाओके कारण उसका चिरकाल

वहुत ही निकृष्टतर व्यवस्थाका क्षेत्र वना रहना वदा है। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी व्यवस्थाके लिए कहीपर स्थान होना ही चाहिए और यदि अतिमानस निराधार कल्पना मात्र न हो, ठोस वास्तवता ही हो, तो भी यहाँ उसके मूर्त होनेकी आवश्यकता नही, उसका स्थान नही। अज्ञानमे ज्ञानकी जो पूरी क्रीडा सम्भव है उसका चिह्न है मन, और मनका क्षेत्र कहीपर होना ही चाहिए, और पृथ्वीको उसके स्वाभाविक क्षेत्रके रूपमे रखना विश्वप्रकृतिकी व्यवस्थाके लिए उत्तम होगा। जडवादी दर्शन जडतत्त्वके लोकमे दिव्य जीवनकी सम्भावनाको स्वीकार नही करेगा, परन्तु अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ताको माननेवाला या यहाँकी क्रमवैकासिक गतिधाराकी आध्यात्मिक मजिलको माननेवाला दर्शन भी दिव्य जीवनके लिये पृथ्वीके सामर्थ्यको माननेसे वहुत अच्छी तरह इनकार कर सकता है दिव्य जीवनकी प्राप्ति पृथ्वी और शरीरसे विदा लेकर ही हो सकेगी। विश्वजीवन यदि माया नही भी हो तो भी दिव्य जीव या पूरा आध्यात्मिक जीव किसी अन्य और कम भौतिक जगत्‌मे या केवल शुद्ध अध्यात्ममे ही सम्भव हो सकता है। जो कुछ भी हो, पृथ्वीपर किसी भी दिव्य वस्तुके शीघ्र जडरूपण होनेकी बात सामान्य मानववुद्धिको बहुत ही असम्भाव्य लगेगी।

फिर यहाँके क्रमविकासके वर्तमान या प्रतीयमान स्वरूपको भौतिक विज्ञान हमारे मामने जिस रूपमे रखता है उसपर यदि अति सवल जोर दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जडके जगत्‌मे मानव-मनकी अपेक्षा उच्चतर तत्त्वके उद्‌भव या अतिमानवीय जीवो जैसी किसी वस्तुके उद्‌भवकी आशाके लिए कोई आधार नही है। स्वय चेतना अपने जन्म और क्रियाओके लिए जडतत्त्व और भौतिक करणोपर निर्भर करती है और कोई अचूक सत्य-चेतना, जैसी कि अतिमानसके बारेमे हमारी मान्यता है, इन अवस्थाओका खण्डन होगी और उसे मरीचिका मानकर छोड देना है। मूलत भौतिक विज्ञान क्रमविकासको रूपो और प्राणिक क्रियाकलापोका विकास मानता है, विशालतर और अधिक समर्थ चेतनाका विकाम प्राण और रूपके विकासका गौण परिणाम है, न कि उसकी मूलगत या वडी विशिष्टता या परिस्थिति, और वह मन तथा प्राणके जड उद्‌गम द्वारा निर्दिष्ट सीमाओसे आगे नही जा सकता। मनने यह दिखलाया है कि वह वहुत सारी असाधारण उपलब्धियोके लिए समर्थ है, परन्तु भौतिक अवयव या शीरीरिक अवस्थाओकी ओरसे स्वातन्त्र्य या भौतिक साधनके विना प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञानके अर्जनकी शक्ति जैसी चीजका सामर्थ्य प्रकृति द्वारा आरोपित अवस्थाओसे परे होगा। अतएव एक ऐसा बिन्दु है जिससे आगे चेतनाका विकाम नही जा सकता। जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं वैसी कोई निश्चित और स्वतत्र चीज यदि है भी तो भी यहाँ, जहाँ कि जडतत्त्व आधार है, शारीरिक जीवन

परिस्थिति है और मन उच्चतम सम्भव करण, वह अपनी प्राकृतिक अवस्थाओसे सीमित है, शरीरसे अलग या इस अन्नमयी, प्राणमयी या मनोमयी प्रकृतिका अतिक्रमण करती चेतनाकी क्रियाकी सम्भावना नही। इस लोकमे हमारे विकासकी सीमाएँ इस बातसे तै हो जाती हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि जबतक अतिमानस जैसी साफ पहचानमे आनेवाली कोई चीज यहाँ किसी निश्चितता और पूरेपनके साथ अभिव्यक्त न हो जाय या जबतक वह उतर न आय और हमारी पृथ्वी-चेतनापर अधिकार न कर ले, तबतक हमे यह निश्चय नही हो सकता कि वह है ही, तबतक मन सामान्य पचका या सारे ज्ञानके लिए सदर्भ-क्षेत्रका स्थान लिए रहेगा और मन किसी निश्चित या पूर्ण ज्ञानके लिए असमर्थ है, उसे सबपर सशय करना होता है, सबको जाँचना होता है, फिर भी सबको प्राप्त करना होता है, किन्तु वह न तो अपने ज्ञानमे, न अपनी प्राप्तिमे निश्चित हो सकता है। प्रसगतया, इससे किसी भी बुद्धिगम्य विश्वमे अतिमानस या सत्य-चेतना जैसे तत्त्वकी आवश्यकता स्थापित होती है, कारण, उसकेबिना न तो जीवनके लिए लक्ष्य या मजिल है, न ज्ञानके लिए। उसके बिना चेतना न तो अपना पूरा अर्थ पा सकती है, न अपना परम फल ही, उसका अन्त निष्फलता या निरर्थकतामे होगा। अपने स्व-सत्य और सकल सत्यसे अवगत होना उसके अस्तित्वका लक्ष्य ही है, किन्तु ऐसा वह तबतक नहीं कर सकती जबतक कि उसे अज्ञानमे और अज्ञान द्वारा सत्यकी ओर, ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होना होता है उसे अपनी ऐसी शक्तिको विकसित या प्राप्त करना होगा जिसका स्वभाव ही होगा जानना, देखना, अपनी स्व-शक्तिमे अधिकृत करना। हम उसे ही अतिमानस कहते हैं, और यदि इसे मान लिया जाय तो बाकी सब बोधगम्य हो जाता है। किन्तु तबतक हम सन्देहमे रहते हैं और यह कहा जा सकता है कि यदि अतिमानसको वास्तविकता मान भी लिया जाय तो भी उसके आविर्भाव और राज्यकी निश्चिति नही हो सकती तबतक उसकी ओरके सारे प्रयत्नका अन्त वैफल्यमे हो जा सकता है। इतना ही यथेष्ट नही कि अतिमानस हमारे ऊपर वस्तुत विद्यमान हो, उसका अवतरण सम्भाव्य हो या प्रकृतिमे भावी अभिप्राय हो। हमे इस अवतरणकी वास्तवताकी निश्चिति तबतक नही होती जबतक कि वह हमारी पार्थिव सत्तामे वस्तुभूत तथ्य न हो जाय। ज्योतिने पृथ्वीपर प्राय उतरनेका प्रयत्न किया है किन्तु ज्योति अपूरित और अधूरी रही है, मनुष्य ज्योतिको अस्वीकार कर सकता है, जगत् अभी भी अन्धकारसे भरा है, और वह आविर्भाव किसी सयोगकी अपेक्षा अधिक हो ऐसा शायद ही लगता है, यह सन्देह भूतकालकी वास्तविकताओ और भविष्यकी अभीकी मान्य सम्भावनाओसे कुछ दूरतक पुष्ट भी होता है। उसके

खडे होनेका बल केवल तब विलीन होगा जबकि अतिमानस विश्वव्यवस्थाके परिणाम-जनित अगके रूपमे स्वीकृत हो जाय। यदि क्रमविकासमे जडसे अतिमानसकी ओर बढनेकी प्रवृत्ति है तो अतिमानसको जडमे उतार लानेकी प्रवृत्ति भी उसमे होगी ही और परिणाम अवश्यम्भावी है।

अनिश्चितिका सारा झझट इस बातसे उठता है कि जगत् अभी जैसा है उसके समूचे सत्यपर हमारी नजर नही जाती और उससे हम इस विषयमे सही निष्कर्ष नही निकालते कि जगत् कैसा होगा और होकर रहेगा। यह जगत्, निस्सन्देह, प्रकट रूपसे जडतत्त्वपर आधारित है किन्तु इसका शिखर है अध्यात्मतत्त्व और अध्यात्म-तत्त्वकी ओर आरोहणको ही इसका जीवन-लक्ष्य और इसका जीवन-औचित्य होना चाहिए, इसके अर्थ और उद्देश्यका सूचक होना चाहिये। परन्तु बुद्धिने आध्यात्मिकता-का जो मिथ्या या अपूर्ण भाव अपने अज्ञानवश और ज्ञानकी ओर अति जल्दबाज और एकागी पकडसे बनाया है उसके कारण अध्यात्मतत्त्वकी परमता और सर्वोच्च सत्तासे उद्गत होनेवाला स्वाभाविक निष्कर्ष आवृत हो गया है। अध्यात्मतत्त्वको किसी सर्वव्याप्त वस्तु और हमारी सत्ताके गुप्त सारके रूपमे नही, अपितु किसी ऐसी वस्तुके रूपमे माना गया है जो बस ऊँचाइयोपरसे नीचे देख रही है और हमे केवल ऊँचाइयोकी ओर और बाकी जीवनसे दूर खीच रही है। इससे हमे इस भावकी प्राप्ति होती है कि हमारी वैश्व और वैयक्तिक सत्ता महाभ्रम है और उससे विदाई और हमारी चेतना-मे विश्व तथा व्यक्ति दोनोका निर्वापण एकमात्र आशा, एकमात्र परित्राण है। या हम इस भावकी रचना करते हैं कि पृथ्वी अज्ञान, कष्ट और परीक्षाका जगत् है और हमारा एकमात्र भविष्य परेके स्वर्गोमे पलायन कर जाना है, इस लोकमे हमारे लिए कोई दिव्य भविष्य नही, पृथ्वीपर अधिकतम विकास होनेपर भी शरीरमे कोई परि-पूर्ति सम्भव नही, पार्थिव जीवनमे क्रियान्वयनके लिए कोई विजयी रूपान्तर, कोई परम उद्देश्य नही। परन्तु यदि अतिमानस हो, यदि वह उतरे, यदि वह शासक तत्त्व हो जाय, तो मनको असम्भव लगनेवाला सब कुछ सम्भव ही नही, अवश्यम्भावी हो जाता है। यदि हम ध्यानसे देखे तो पायेंगे कि मन और प्राण अपनी ऊँचाईयोपर अपनी स्व-पूर्णताकी ओर, किसी दिव्य परिपूर्तिकी ओर, अपने परम पदकी ओर जोर लगा रहे हैं। यही चीज, न कि केवल परेकी और अन्यत्रकी कोई वस्तु इस सतत क्रम-विकासका चिह्न और अर्थ है, जन्म और पुनर्जन्मका श्रम है, प्रकृतिका कुण्डलाकार आरोहण है। परन्तु वस्तुओके अन्दरका यह गुप्त अभिप्राय, अध्यात्मपुरुष एव प्रकृति-का यह छिपा हुआ अर्थ, अतिमानसके अवरोहण और मन तथा प्राणकी स्वातिक्रमण -जनित परिपूर्तिमे ही पूरा प्रकट हो सकता और अपने समग्र रूपमे सिद्ध हो सकता है।

यह अतिमानसका क्रमवैकासिक पहलू और सामर्थ्य है, किन्तु सत्य यह है कि वह एक शाश्वत तत्त्व है जो भौतिक विश्वमे भी अव्यक्त रूपसे रह रहा है, सारी सृष्टिका गुप्त अवलम्बदाता है, प्रतीयमान रूपसे निश्चेतन रहनेवाले जगत्‌मे चेतनाका उद्‌भव इसीसे सम्भव और पक्का होता है, प्रकृतिमे परम आध्यात्मिक सद्‌वस्तुकी ओर आरोहण इसीसे अनिवार्य होता है। वस्तुत वह सत्ताकी भूमिके रूपमे विद्यमान है और सदासे ही विद्यमान है, वह अध्यात्मतत्त्व और जडतत्त्वको जोडता है, वह विश्वके समूचे अर्थ और लक्ष्यको उसकी सत्यता और यथार्थतामे धारण किये हुए है और उसे निश्चित बनाता है।

यदि हम क्रमविकासके विषयके अपने वर्तमान भावोकी उपेक्षा करे, यदि हम प्राण और रूपको नही, अपितु चेतनाको मूलगत और सारगत क्रमवैकासिक तत्त्वके रूपमे और उसके उद्‌भव और उसकी सम्भावनाओके पूरे विकासको क्रमवैकासिक प्रेरणाके लक्ष्यके रूपमे देख सके, तो सब कुछ बदल जाता है। जडकी निश्चेतना अलघ्य बाधा नही हो सकती, कारण, इस निश्चेतनामे एक ऐसी सवृत चेतना दीख सकती है जिसका क्रमविकास होना है, प्राण और मन उस क्रमविकासके डग और उपकरण हैं, निश्चेतन भौतिक ऊर्जाकी सोद्देश्य प्रेरणा और क्रियाएँ ठीक ऐसी हैं कि हम कह सकते हैं कि वे एक सवृत चेतनाके कारण होती हैं जो स्वचल है, मनकी तरह विचारो-को काममे नही लेती अपितु एक अन्तर्निष्ठ भौतिक सहजवृत्ति जैसी चीज द्वारा निर्देशित होती है जो अपने सारे डगोमे व्यवहारत अचूक होती है, अभीतक परिज्ञानशील नही है, किन्तु अद्‌भुत रूपसे सृजनशील है। अतिमानसके बारेमे हम जिस समग्र और अन्तर्निष्ठ रूपसे प्रबुद्ध सत्य-चेतनाकी बात कहते हैं वह वही सद्‌वस्तु होगी जो क्रम-विकासके अन्तिम पर्वमे प्रकट होती है, अन्तिम रूपसे विकसित हो गयी होती है, न कि पूरी सवृत रहती है जैसी कि वह जडमे होती है, न ही वह आशिक और अपूर्ण रूपसे विकसित ही रहती है जिसके फलस्वरूप वह अपूर्णता और भूलभ्रान्तिके लिए समर्थ होती है जैसी कि वह प्राण तथा मनमे होती है, तब उसे उसकी स्वाभविक पूर्ति और पूर्णता आयत्त रहती है, वह ज्योतिर्मय रूपसे स्वचल और अचूक होती है। तब सम्पूर्ण क्रमवैकासिक सम्भावनाके विरुद्धकी सारी आपत्तियाँ दूर हो जाती है, इसके विपरीत यह चीज एक अवश्यम्भावी परिणाम होगी जो प्रकृतिके समग्र रूपके अन्दर ही नही, भौतिक प्रकृतिमे भी अन्तर्विष्ट होगा।

वस्तुओको इस तरह देखनेसे विश्व अपनी एकता और समग्रतामे एक ही सत्‌की अभिव्यक्तिके रूपमे प्रकट होगा, प्रकृति उसकी अभिव्यक्ति-शक्तिके रूपमे प्रकट होगी, क्रमविकास यहाँ जडतत्त्वमे उसके क्रमिक आत्म-प्राकट्यकी प्रक्रियाके रूपमे प्रगट

होगा। 'लोकोकी दिव्य श्रृखलाको हम जडसे परम अध्यात्मकी ओर आरोहण-सोपान-के रूपमे देखेगे, वहाँ यह सम्भावना होगी, भविष्यके लिए यह आशा होगी कि अध्यात्म-सत्ता और उसकी शक्तियोका अवरोहण अवगुण्ठित और रहस्यमय न रहकर चेतन होगा, उनके पूरेपनमे होगा, सबसे नीचेके इस जडलोकमे भी होगा और फलस्वरूप एक परमाविर्भाव होगा। जगत्की पहेलीका पहेली रह जाना आवश्यक नही होगा, वस्तुओकी सशयपूर्ण रहस्यमयता अपने रहस्यको, अपनी सतत सदिग्धताको हटा देगी, जटिल लेख पढनेमे आ जायेगे और बोधगम्य हो जायेगे। इस प्राकटयमे अति-मानस अपना स्वाभाविक स्थान लेगा और जगत्की जटिलतासे चकित बुद्धिके लिए सन्देह या प्रश्नका विषय नही रह जायगा, वह व्यक्त होगा मन, प्राण तथा जडके अनिवार्य परिणामके रूपमे, उनके अर्थ, उनके अन्तर्निष्ठ तत्त्व और प्रवृत्तियोकी परि-पूर्तिके रूपमे, सब कोई जिस शिखरकी ओर चढ रहे है उस शिखरके रूपमे, वह जिस दिव्य सत्ता, चेतना एव आनन्दकी ओर ले जा रहा है उसके उत्कर्षके रूपमे, वस्तुओके जन्मके अन्तिम फलके रूपमे और यहाँके जीवनमे हम जिस प्रगतिशील आविर्भावको देखते है उसके परम लक्ष्यके रूपमे।

अतिमानसका पूरा आविर्भाव सम्पादित हो सकता है एक परमाभिव्यक्ति द्वारा, पृथ्वी-चेतनामे उसकी शक्तियोके अवरोहण और द्रुत धारण द्वारा और उसके रूपोके प्राकट्य और अतिमानसिक जाति तथा अतिमानसिक जीवनकी सृष्टि द्वारा निस्सन्देह इसे प्रकृतिमे उसकी क्रियाका पूरा नतीजा होना ही चाहिए। परन्तु भूतकालमे पृथ्वी-पर क्रमवैकासिकी प्रकृतिका अभ्यास ऐसा नही रहा है और ऐसा भली भाँति हो सकता है कि यह अतिमानसिक क्रमविकास भी अपनी कालावधि नियत करेगा, हालाँकि यह विकास बिल्कुल ही उस विकासके समरूप नही होगा जिसे पृथ्वीने अभीतक देखा है। किन्तु एक बार जब वह शुरू हो गया तो सब कुछ अनिवार्य और पूर्ण रूपसे यथा-सम्भव अधिकसे अधिक ज्योतिर्मयता और पूर्णताको अभिव्यक्त करेगा और प्रकृति-के सारे अग उसकी ओर प्रवृत्त होगे। यह निश्चिति ही हमे यह विश्वास करनेका अधिकार देती है कि मन और मानवगण भी हमारे वर्तमान पूर्णता-स्वप्नोसे बहुत आगे-की सिद्धिकी ओर प्रवृत्त होगे। इस पार्थिव अज्ञानके वर्तमान सभ्रम और झमेलेके स्थानपर आयगा ज्योतिर्मानस, सम्भव है कि मानवजातिके उसतक नही पहुँच सकने-वाले भाग भी उसकी सम्भावनाको जानेगे और उसकी ओर चेतन रूपमे प्रवृत्त होगे, इतना ही नही, मानवका जीवन भी इस ज्योतिर्मय तत्त्व द्वारा प्रबुद्ध, उन्नीत, शासित और सामजस्यसम्पन्न होगा, और शरीर भी अपनी वृत्तियोमे बहुत ही कम निर्बल, अधकारपूर्ण और पशुवत् वस्तु होगा और उसके स्थानपर एक नयी और सामजस्य-

सम्पन्न पूर्णताके लिए समर्थ होगा। हमे इसी सम्भावनाको देखना है और इसका अर्थ होगा नयी मानवजाति जो कि ज्योतिमे उत्थित हुई होगी, आध्यात्मीकृत सत्ता एव क्रियाके लिए समर्थ होगी, सत्य-चेतनाके किसी आलोकके शासनकी ओर खुली होगी, मानसिक स्तरपर भी और अपनी स्व-व्यवस्थाओमे भी दिव्यीकृत जीवनका आरम्भ कही जा सकनेवाली वस्तुके लिए समर्थ होगी।

ज्योतिर्मानस

हमारे लिए नये मनुष्यका अर्थ होता है मनोमय जीवोके ऐसे प्ररूप या जातिका प्राकट्य और विकास जिसका मनस्तत्त्व वह अज्ञानस्थ मन नही रह जायगा जो ज्ञानको खोजता है किन्तु ज्ञानमे भी अज्ञानसे बँधा है, ज्योतिका खोजी है किन्तु उसका स्वाभाविक अधिपति नही, ज्योतिकी ओर खुला है किन्तु उसका निवासी नही, अभीतक पूर्णीकृत करण नही, ऋत-चिन्मय नही, अज्ञानमुक्त नही। इसके बदले उसे उस मनपर अधिकार हो चुका होगा जिसे हम ज्योतिर्मानस कह सकते हैं, जो सत्यमे रहनेके लिए समर्थ होगा, ऋत-चिन्मय होने और उसके जीवनमे परोक्ष ज्ञानके बदले प्रत्यक्ष ज्ञानको अभिव्यक्त करनेके लिए समर्थ होगा। उसकी मनोवृति अज्ञानका करण न रहकर ज्योतिका करण होगी। अपने शीर्षविन्दुपर वह अतिमानसमे चले जानेके लिए समर्थ होगा और इस नयी जातिमेसे अतिमानसिक जीवोकी जाति तैयार होगी जो पृथ्वी-प्रकृतिमे क्रमविकासके नेताओके रूपमे प्रकट होगे। और, ज्योतिर्मानसकी उच्चतम अभिव्यक्तियाँ अतिमानसका करणत्व, उसका अग या उसमेसे प्रक्षेप होगी, मानवतासे आगे अतिमानसिक तत्त्वकी अतिमानवतामे प्रवेश होगी। सबसे बडी बात यह होगी कि उसपर अधिकार पानेसे मनुष्य अपनी वर्तमान विचारणा, भावना और सत्ताकी सामान्यताओसे परे उठकर मनकी स्वातिक्रमणगत उन उच्चतम शक्तियोको पा लेगा जो हमारे मनस्तत्त्व और अतिमानसके बीच आती हैं और जिन्हे उस महत्तर तथा अधिक ज्योतिर्मय तत्त्वकी ओर ले जानेवाले डगोके रूपमे देखा जा सकता है। सम्भव है कि क्रमविकासमे आनेवाली अन्य प्रगतियोकी तरह यह प्रगति भी एक ही कुदानमे प्राप्य नही हो और उसका ऐसा न होना स्वाभाविक भी है, किन्तु वह आरम्भमे ही अवश्यम्भावी होगी ज्योतिर्मानसको ऊर्ध्वमे और अपने-आपमेसे सृष्ट करते अतिमानसका दबाव अन्तिम परिणामकी इस निश्चितिको प्रतिष्ठित करेगा ही। नवज्योतिकी पहली चमके अपने अन्दर उस ज्योतिकी सर्वोच्च ज्वालाओके बीजको लिए रहेगी, उनकी सर्वोच्च शक्तियोकी निश्चिति प्रथमारम्भोमे भी विद्यमान होगी, कारण, प्रत्येक क्रमवैकासिक आविर्भावकी कहानी सदा यही रही है उसकी उच्चतम पूर्णताका तत्त्व उस संवृतिमे छिपा रहता है जो निगूढ तत्त्वके क्रमविकाससे पहले आती और उसे अवश्यम्भावी बना देती है।

कारण, क्रमविकासकी कहानीमे सर्वत्र दो सहपूरक पहलू मिलते हैं जो उसकी क्रियाके अवयव है और उसकी समग्रताके लिए आवश्यक, प्रकृतिकी सवृतिमे सत्ताका वह गुप्त वल और तत्त्व छिपा है जो उसपर भौतिक प्रकृति द्वारा डाले गए अवगुण्ठनमे प्रच्छन्न रहता है और स्वय उस प्रकृतिमे उस तत्त्वकी अनिवार्य शक्ति रहती है जो उसकी अन्तर्निष्ठ शक्तियो और लक्षणोके आविर्भावकी, उसके प्रकृत स्वरूपके उपादान होनेवाले मूल गुणोके आविर्भावकी प्रक्रियाको प्रवृत्त करता ही है। जैसे-जैसे क्रम-वैकासिक तत्त्वका आविर्भाव होता है क्रमविकास-प्रक्रियाके भी दो लक्षण सदैव रहते हैं एक तो वे श्रेणियाँ होती हैं जिनसे होकर वह सवृतिमेसे ऊपर चढता है और अपनी शक्ति, अपनी सम्भावनाओ और अपने अन्दरके देवकी शक्तिको अधिकाधिक अभिव्यक्त करता है और उसकी सत्ताके सारे प्रकारो तथा रूपोकी सतत अभिव्यक्ति होती है, वे प्रकार तथा रूप उसकी मूल प्रकृतिके दृश्य, सकेतकारी और कार्यक्षम मूर्तायन होते हैं। क्रमवैकासिक प्रक्रियामे प्रकट होते हैं जडके सगठित रूप और क्रियाकलाप, प्राण और प्राणियोके प्रकार, मन और विचारधर्मी जीवोके प्रकार, आध्यात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक जीवोकी दीप्तियाँ और विभूतियाँ जिनकी प्रकृति, जिनके चरित्र और व्यक्तित्व क्रमविकासकी सर्वोच्च ऊँचाइयो और उसके उस स्वरूपकी अन्तिम विशालतम अभिव्यक्तिकी ओर आरोहणमे आनेवाली भूमिकाएँ होते हैं जैसा कि वह काल और सर्वोद्भासक अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे हो ही जायगा। जिसे हम क्रमविकासके रूपमे देखते हैं उसका सच्चा अर्थ और प्रवेग यही है रूपोकी गुणावृद्धि और विभिन्नता उसकी प्रक्रियाका साधन भर है। प्रत्येक श्रेणी अपनेसे आगेकी श्रेणियोकी सम्भावना और निश्चितिको अपने अन्दर लिए रहती है *अधिकाधिक विकसित* रूपो और शक्तियोके आविर्भाव अपनेसे आगेके अधिक पूर्णीकृत रूपो और महत्तर शक्तियोकी ओर इगित करते हैं और उसके उपयुक्त चेतना एव चेतन जीवोका प्रत्येक आविर्भाव आगेकी महत्तर चेतना और जीवोके उस महत्तर क्रमकी ओर उत्थानकी क्षमता देता है जिसके अन्तमे वे देवगण आयेंगे जिनके लिए प्रकृति उद्योग कर रही है और जिसके लिए अपने-आपको समर्थ दिखलाना प्रकृतिके लिए दैवनिर्दिष्ट है। जडतत्त्व अपने सगठित रूपोको तबतक विकसित करता गया जब तक कि वह सप्राण सघटनोको शरीर देनेमे समर्थ नही हो गया, तव प्राण वनस्पतिकी अवचेतनामेसे चेतन पशु-रूपायणोमे और उनसे होकर मनुष्यके विचारधर्मी जीवनमे उठ गया। प्राणमे अधिष्ठित मनने बुद्धिका विकास किया, अपने ज्ञान और अज्ञान, सत्य और भूलके प्रकारोका विकास किया जिसके अन्तमे वह आध्यात्मिक प्रत्यक्षण और द्योतन-तक पहुँच गया और अव वह अतिमानस तथा ऋत-चिन्मय जीवनकी सम्भावनाको

शीशेके द्वारा देखनेके धुंधलेपनसे देख सकता है। इस अवश्यम्भावी आरोहणमे ज्योतिर्मानिम एक श्रेणी है, अनिवार्य भूमिका है। क्रमविकासशील तत्त्वके रूपमे वह मानव-आरोहणमे आनेवाले एक पर्वका चिह्न होगा और एक नए प्रकारके मानव-प्राणीका उन्मेप करेगा, इस विकासको अपनी स्व-शक्तियोके आरोही श्रेणीक्रमको और आरोही मानवताके उन प्रकारोको अपने अन्दर लिए चलना ही चाहिए जो आध्यात्मिकताकी ओरके मोडको, ज्योतिके लिए सामर्थ्यको, दिव्यीकृत मानवता और दिव्य जीवनकी ओर आरोहणको अधिकाधिक मूर्त्त करेंगे।

वस्तुओकी वर्तमान प्रकृतिको देखते हुए और क्रमविकासकी वर्तमान प्रक्रियाके स्वरूपको भी देखते हुए, ज्योतिर्मानसके जन्ममे और उसके अपने स्पष्ट स्वरूप और अपनी सच्ची स्थिति और सही प्रान्तकी ओर आरोहणमे दो भूमिकाओको आना ही चाहिए। पहलीमे हम ज्योतिर्मानसको अपने-आपको अज्ञानमेसे एकत्र करते, अपने घटक तत्त्वोको सयोजित करते, शुरूमे अपने बहुत ही अपूर्ण रहनेवाले आकारो और प्रकारोका निर्माण करते और उन्हे पूर्णताकी ओर तबतक धकेलते जाते देख सकते हैं जबतक कि वह अज्ञानके सीमान्तको पार न कर सके और ज्योतिमे, अपनी स्व-ज्योतिमे प्रकट न हो सके। दूसरी भूमिकामे हम देखते है कि वह अपने-आपको उस स्वाभाविक ज्योतिमे तबतक विकसित करता जाता है, अपने महत्तर आकार और रूप धारण करता जाता है जबतक कि वह अतिमानसमे युक्त नहीं हो जाता और उसके अधीनस्थ अश या प्रतिनिधिकी तरह नहीं रहने लगता। इन दोनो ही भूमिकाओमे वह अपनी स्व-श्रेणियाँ निर्दिष्ट करेगा और अपने जीवोके क्रमको अभिव्यक्त करेगा जो उसे सदेह करेगे और समिद्ध जीवन देगे। इस प्रकार पहले, स्वय अज्ञानके अन्दर भी, निर्माण होगा दिव्य जीवनकी ओर मनुष्यके आरोहणकी सम्भावनाका, तब आयगा द्युतिमान दिव्य जीवन – वह आयगा इस ज्योतिर्मानसके द्योतन द्वारा जो कि विज्ञानमय मनस्तत्त्व कही जा सकनेवाली वस्तुकी महत्तर सिद्धिमे होगा मानवप्राणी-के रूपान्तरमे होगा, अतिमानसतक पहुँचनेसे पहले भी होगा, पृथ्वी-चेतनामे होगा, रूपान्तरित मानवतामे होगा।

अतिमानस और ज्योतिर्मानस

अतिमानसका मूलगत स्वभाव है वह ऋत-चित् जो अपनी प्रकृतिके अतर्निष्ठ अधिकारसे, अपनी स्वज्योतिसे जानता है, उसे ज्ञानतक जाना नही होता, ज्ञान उसे अधिकृत रहता है। निस्सन्देह, विशेषतया अपनी क्रमवैकासिकी क्रियामे, अतिमानस ज्ञानको अपनी प्रकट चेतनाके पीछे रख सकता और उसे मानो पर्देके पीछेसे सामने ला सकता है, परन्तु ऐसा होनेपर भी वह पर्दा प्रतीति मात्र है, यथार्थमे वह है नही ज्ञान वहाँ सदा ही था, चेतना उसकी स्वामिनी थी और अब उसे प्रकट कर रही है। यह भी क्रमवैकासिकी क्रीडामे ही है, अतिमानसिक भूमिपर तो चेतना सदा ही ज्ञान-की अव्यवहिततामे रहती और ज्ञानकी सीधी अव्यवहिततासे क्रिया करती है। हम मन को यहाँ जैसा देखते हैं उसमे क्रिया बहुत भिन्न हैं, उसका आरम्भ होता है ज्ञानके प्रतीय-मान अभावसे, एक प्रतीयमान अज्ञान या निर्ज्ञानसे, भौतिक प्रकृतिमे तो एक ऐसी निश्-चेतनासे जिसमे किसी भी प्रकारके जाननेका अस्तित्व ही नही मालूम होता। वह ज्ञान या ज्ञान-क्रियातक ऐसे डगोसे पहुँचता है जो बिलकुल ही अव्यवहित नही, बल्कि ज्ञान पहले तो बिलकुल असम्भव और इस जडतत्त्वके उपादानके लिए विजातीय ही लगता है। फिर भी, जडतत्त्वकी अन्धतामे भी प्रच्छन्न चेतनाके चिह्न हैं, वह चेतना अपनी छिपी हुई मूलगत सत्तामे देखती है और अपनी दृष्टिके अनुसार, यहाँ तक कि अपनी प्रकृतिमे अन्तर्निष्ठ एक अचूक अव्यवहिततासे भी, काम करनेकी ताकत रखती है। यह वही सत्य है जो अतिमानसमे प्रकट किन्तु यहाँ सवृत है और ऐसा लगता है कि है ही नही। ज्योतिर्मानिस अतिमानसकी गौण क्रिया है, वह जब सीधा उससे उद्‌गत होता नही दीखता तब भी वह उसीपर आश्रित रहता है, इस सम्बन्धका रहस्य उसमे स्पष्ट और गोचर होता है।

ऋत-चित् ज्ञान-शक्ति ही नही, चेतना एव ज्ञानकी सत्ता है, सर्वदर्शी अध्यात्म-पुरुषकी ज्योतिर्मयी बहुमुखी क्रियाशक्ति एव क्रीडा है, उसमे एक आध्यात्मिक अनुभव, एक आध्यात्मिक सवेदन, उपादान-वस्तुका एक आध्यात्मिक सारत्व हो सकता है जो जानता और प्रकट करता है, एक ऐसी सर्वदर्शितामे क्रियाशील और अभिव्यक्ति-शील है जो सर्वशक्तिमत्ताके साथ एक है। यह ऋत-चित् और उसके ये क्रियाकलाप मनके अन्दर हो सकते हैं और यद्यपि वह मनमे अपनेको सीमित करता है और उसकी

क्रिया गौण या परोक्ष होती है, फिर भी वह सारत वही हो सकती है। एक छिपी हुई अव्यवहितता भी हो सकती है जो किसी परमा वस्तुकी विद्यमानताका सकेत करती और उमी मर्वशक्तिमत्ता एव मर्वदर्शिताका प्रमाण होती है। जब ज्योतिर्मानम पूरा मण्डलाकार हो जाता है तब मत्यका यह स्वरूप प्रकट होता है, यह प्रकट होता है परिधानमे, ऐमे परिधानमे जो जब ढँकता लगता है तब भी पारदर्शी होता है कारण, यह भी ऋत-चित् है और ज्ञानकी आत्म-शक्ति है। यह भी अतिमानसमे नि मृत होता है और सीमित और गौण होकर भी अतिमानसपर आश्रित है। हमने जिमे विशिष्ट रूपसे ज्योतिर्मानम कहा है वह वस्तुत चेतनाकी अवरोहिणी भूमियोके क्रममे अन्तिम है जिसमे अतिमानस अपने ही वरण किये गये परिसीमन द्वारा या अपनेको प्रकट करने-वाली क्रियाओमे परिवर्तन ला करके अवगुण्ठित हो जाता है, परन्तु उसका मूल स्वरूप वही रहता है उमके अन्दर ज्योतिकी, मत्यकी, ज्ञानकी क्रिया होती है जिसमे निश्चेतना, अज्ञान और भूलभ्रान्ति म्यान नही माँगती। वह एक ज्ञानसे दूमरे ज्ञानकी ओर बढता है, हम तबतक ऋत-चिन्मयके तटोको पार करके अज्ञानमे नही आ गए हैं। वहाँ पद्धतियाँ भी एक म्वय-ज्योतिर्मय ज्ञान, दृष्टि और अनुभवकी और एक ऐसी क्रियाकी हैं जो अपनी सरहदोमे स्वय-मिद्धिकर है, वहाँ किसी ऐसी वस्तुको खोजनेकी आवश्यकता नही जिमका अभाव हो, कोई टटोलना नही, कोई हिचकिचाहट नही ' तबतक मब कुछ विज्ञानशक्ति और विज्ञानतत्त्वकी विज्ञानमयी क्रिया है। पूरे अतिमानममेसे मनमे एक अवरोहण हो गया है किन्तु यह मन स्वय-सीमित चेतना होकर भी तबतक ऐसी अविज्ञानमयी चेतना नही है जो अपने बारेमे या अपनी क्रियाओके बारेमे अनिश्चित हो, वहाँ फिर भी एक अवधारिका या प्रज्ञानमयी चेतना है जो सीधे अपने लक्ष्यपर जाती है, अपना लक्ष्य चूकती नही, न ही उसे उसके लिए अन्धकारमे या अपर्याप्त प्रकाशमे तलाश करनी होती है - वह देखती है, जानती है, अपनी वस्तुओ और प्रकृति-की वस्तुओपर तुरन्त ही हाथ रखती है। हम मनमे निकल आए हैं, किन्तु अबतक मनने अतिमानमिक तत्वके माथ अपना अन्तर्निष्ठ मम्बन्ध नही तोडा है।

फिर, एक बढता हुआ आन्म-सीमायन है जो अधिमानससे ही शुरू हो जाता है अधिमानम अतिमानसिक मत्यकी पूरी ज्योति एव शक्तिमे एक ज्योतिर्मय तट द्वारा ही पृथक् होता है और अतिमानम उसे जो कुछ दे मकता है उस सब तक उमकी सीधी पहुँच तब भी रहती है। अधिमानससे मबोधि, सबोधिसे आलोकित मन, आलोकित मनमे हमारे कथित उच्चतर मनकी ओर अवरोहणके हर डगमे और भी मीमायन होता है या विशिष्ट क्रियामे और भी परिवर्तन होता है ज्योतिर्मानस वह मक्रमण-मार्ग है जिमके होकर हम अतिमानस और अतिमानवतामे आलोकित

मानवतामे चले आ सकते है। कारण, नयी मानवता देखने और जीनेकी आशिक रूपमे दिव्यीकृत रीतिके लिए तो समर्थ होगी ही, क्योकि वह अज्ञानान्धकारमे नही, आलोकमे और ज्ञानमे रहेगी।

फिर भी अतिमानव और मानवके बीच भेद होगा, भेद होगा प्रकृति और शक्तिमे, परन्तु विशेषतया ऋत-चित् और उसके क्रियाकलापोतक पहुँचने और उनमे प्रवेश करनेकी रीतिमे वस्तुत उसके सत्यकी दो व्यवस्थाएँ हो सकती हैं, प्रत्यक्ष और अर्ध-प्रत्यक्ष, अव्यवहित और समीप या केवल दूरीसे ही ग्रहण मात्र। परन्तु इसपर हम बादमे ही विचार करेगे, अभी तो विज्ञानमनके यहाँ समाप्त होनेवाले अवरोहण-क्रमके कुछ भेदोको देख लेना पर्याप्त होगा। हम कह सकते हैं कि हमारी सत्ताका एक परार्द्ध है जिसमे अपनी क्रियाओके प्रति चेतन और ज्योतिर्मय रहनेवाला मन तब भी ज्योतिमे रहता है और उसे अतिमानसकी गौण क्रियाके रूपमे देखा जा सकता है, वह तब भी ऋत-चित्का करण है, एक ऐसी विज्ञानशक्ति है जो मानसिक अज्ञानमे नही उतर आयी है, वह एक ऐसे मानसिक विज्ञानके लिए समर्थ है जो श्रेष्ठतर ज्योति-के साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखता है और उसकी शक्तिसे कार्य करता है। अपनी स्वभूमिमे अधिमानसका यही स्वरूप है, यही स्वरूप अधिमानमपर आश्रित सारी शक्तियोका है अतिमानस वहाँ कार्य तो करता है, किन्तु एक डग हट करके, मानो किसी ऐसी वस्तुमे जिसे उसने प्रकट तो अपने-आपमेमे किया है परन्तु जो अब सम्पूर्ण-तया अतिमानस नही रह गयी है किन्तु तो भी सत्यकी प्रतिनिधि है और उसके अधिकार-से युक्त है। हम एक सक्रमण-तटकी ओर बढ रहे हैं जिससे आगे अज्ञानकी सम्भावना होती है, किन्तु जहाँ अभीतक अज्ञान है नही। क्रमवैकामिक अवरोहणकी धारामे हम ज्योतिर्मानिसमे उसी तटपर खडे होते हैं और वहाँसे नीचेकी ओरका डग हमे उसमे-से निकालकर एक ऐसे अज्ञानके आरम्भोमे ले जा सकता है जिसकी आकृतिपर उस ज्योतिर्मयताका कुछ अश रहता है जिसे वह अपने पीछे छोड रहा है। दूसरी ओर, क्रमविकासकी आरोहण-धारामे हम ऐसे सक्रमणपर पहुँचते है जिसमे हमे ज्योति दिखायी देती है, हम उसकी ओर मुडे होते हैं, वह हमारी चेतनामे प्रतिबिम्बित होती है और आगेका एक डग-हमे ज्योतिके प्रदेशमे ले जाता है। सत्य हमारे लिए दृश्य और श्रव्य हो जाता है और उसके सन्देशो और द्युतियोसे हमारा अव्यवहित ससर्ग होता है और हम उसमे विकसित हो सकते और उसके सत्त्वसे एकीभूत कर दिये जा सकते हैं। इस प्रकार चेतनाकी श्रेणियोका एक अनुक्रम है जिमे हम 'मन' कह मकते हैं परन्तु जो व्यवहारतया परार्द्धकी वस्तु है हालाँकि वे श्रेणियाँ अपनी सत्ता-स्थितिमे अपरार्द्धके प्रदेशमे हैं। कारण, समूची मत्ता सम्बद्ध समग्रता है और उसमे सत्य और

ज्योतिके तत्त्वमेंमे उनके विरोधी तत्त्वमे कोई आकस्मिक गमन नही होता। वस्तुओं-का मर्जनात्मक सत्य निश्चेतनमे भी कार्य करता है और अचूकतासे कर सकता है अध्यात्मतत्त्व जड़तत्त्वमें विद्यमान है और उसने ऐसा पदक्रम बना लिया है जिससे होकर वह जडतत्त्वमे अपनी ऊँचाइयोकी ओर अटूट श्रेणीधारामें यात्रा कर सकता है. गहराइयाँ ऊँचाइयोमे जुडी हुई हैं और उस अद्वय सत्यका विधान सर्वत्र सर्जन करता और कार्य करता है।

भौतिक जगत् हमे अज्ञानका-जगत्, एक अन्धी और निश्चेतन शक्तिकी क्रियाओं-का जगत् लगता है जो निश्चेतनामे आरम्भ करता, अज्ञानसे गुजरता हुआ बढता और कठिनाईसे अपूर्ण ज्योति तथा ज्ञानकी ओर पहुँचता है, फिर भी, उसमे भी, वस्तुओमे एक निगूढ सत्य है जो सब कुछ आयोजित करता है, सत्ताकी अनेक विपरीत शक्तियोको आत्माकी ओर निर्देशित करता है और अपनी ऊँचाईयोकी ओर उठता है जहाँ वह अपने उच्चतम सत्यको अभिव्यक्त कर सकता और विश्वके निगूढ उद्देश्यको पूरा कर सकता है। जीवनका यह भौतिक जगत् भी वस्तुओके अन्दरके उस सत्यके साँचे-पर बना हुआ है जिसे हम प्रकृतिका विधान कहते हैं, वह वह सत्य है जिससे उठकर हम एक महत्तर सत्यकी ओर तबतक चलते जाते हैं जबतक कि हम परमकी ज्योतिमे न निकल आयें। यह जगत् वस्तुत. प्रकृतिकी अन्धी शक्ति द्वारा सृष्ट नही है परम सत्यकी उपस्थिति निश्चेतनामे भी सक्रिय है, उसके पीछे एक दृष्टिसम्पन्न शक्ति है जो अचूकतासे कार्य करती है और स्वय अज्ञानके डग, जब वे ठोकर खाने लगते हैं तब भी, निर्देशित होते हैं, कारण, जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह अवगुण्ठित ज्ञान है, एक ऐसा ज्ञान है जो अपने स्व-शरीरमे कार्य नही कर रहा अपितु अपने परम आत्माविष्कारकी ओर बढ रहा है। यह ज्ञान प्रच्छन्न अतिमानस है जो सृष्टिका अवलम्ब है और सबको अपनी ओर ले जा रहा है और इन बहुतेरे मनो, प्राणियो और पदार्थोंको, जिनमेसे हर कोई अपने अपने स्वधर्मका अनुसरण करता लगता है, पीछेसे निर्देशित करता है, अस्तित्वके इस वृहत् और प्रतीयमानतया अस्तव्यस्त पुंजमे एक विधान है, सत्ताका एक अद्वय सत्य है, जगत्-जीवनका एक निर्देशक और पूर्तिदायी उद्देश्य है। यहाँ अति-मानस अवगुण्ठित है और अपने अस्तित्व तथा आत्मज्ञानके विशिष्ट विधानके अनुसार कार्य नहीं करता, परन्तु उसके बिना कोई भी चीज अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकती। अज्ञ मन द्वारा शासित जगत् शीघ्र ही अराजकतामे बह जायगा, वस्तुत, वह जिस निगूढ सर्वदर्शिताका आवरण है उसके अवलम्बके बिना वह अस्तित्वमे आ नही सकता था या उसका अस्तित्व टिक नहीं सकता था, अन्धी निश्चेतन शक्ति द्वारा शासित जगत् एक-सी यान्त्रिक क्रियाओंको बराबर दुहराता जा सकता है, किन्तु उसका अर्थ

कुछ भी नही होगा, वह कही भी नही पहुँचेगा। वह उस क्रमविकासका कारण नही हो सकता जो जडमेसे प्राणकी, प्राणमेसे मनकी, और जड, प्राण तथा मनकी भूमियोके ऐसे श्रेणीक्रमकी सृष्टि करता है जिसका अन्त अतिमानसके आविर्भावमे होता है। अतिमानसमे आविर्भूत होनेवाला गुप्त सत्य वहाँ सदा ही रहा है, किन्तु अब वह अपने-आपको, वस्तुओके अन्दरके सत्यको और हमारे जीवनके अर्थको अभिव्यक्त करता है।

हमे ज्योतिर्मानसको अस्तित्व-क्रमकी इस धारामे और सत्ताके नीचेके गोलार्द्ध-के अन्तिम शब्द और ऊपरके गोलार्द्धके प्रथम शब्दके रूपमे देखना है और यह देखना है कि उसका स्वरूप और वे शक्तियाँ क्या हैं जो उसकी विशिष्टताएँ हैं और जिन्हे वह अपनी स्वाभिव्यक्ति तथा क्रियाओके लिए व्यवहृत करता है, अतिमानसके साथ उसका क्या सम्बन्ध है और नूतन मानवके जीवनके लिए उसके परिणाम और सम्भावनाएँ क्या हैं।

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

अ

अतरात्मा	soul
अतर्विष्ट	contained
अतिमानस	Supermind
अधिमानस	overmind
अभिव्यजक	expressive
अभिव्यक्ति	manifestation
अवचेतना	subconsciousness
अस्तित्व	existence

आ

आलोकित मानस	illumined mind
आलोकीकरण	illumination
आविर्भाव	manifestation

ऋ

ऋत - चित्	Truth-Consciousness
ऋत - चेतना	Truth-Consciousness
ऋत - चैतन्य	Truth-Consciousness
ऋषि	seer

क्र

क्रमागत	consecutive

च

चेतना	consciousness
चैतन्य	consciousness
चैत्य	psychic
चैत्यिक	psychical

ज

जडतत्त्व	Matter
ज्योतिर्मानस	Mind of Light

द

देहान्तरगमन	transmigration
द्युति	illumination
द्योतन	illumination

प

परतत्त्व	Beyond
परप्राण	super-life
परिज्ञानशील	cognitive
पुन शरीरधारण	reincarnation
पुनर्जन्म	rebirth
पूर्वपद	antecedent
प्राणिक	vital

भ

भाव	idea

म

मन	mind
मानस	mind
मुनि	sage

व

विज्ञान	gnosis
विज्ञान	science
व्यजक	expressive

स

सबोधि	intuition
सत्ता	being
सत्य - चेतना	Truth-consciousness
सत्य - चैतन्य	Truth-consciousness
समकालिक	simultaneous
साधुता	rectitude